शब्दालंकार साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण

डा० रुद्रदेव त्रिपाठी

संस्कृत-विद्यापीठ-ग्रन्थमाला ५०वां पुष्प

संस्कृत के लक्षण एवं लक्ष्यग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में :—

शब्दालङ्कार-साहित्य
का
समीक्षात्मक सर्वेक्षण

☐

प्रस्तावना लेखक :—

माननीय श्रीकृष्णचन्द्र पन्त

शिक्षामन्त्री-भारत सरकार तथा अध्यक्ष—शासी परिषद्,
राष्ट्रियसंस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

☐

प्रधान-सम्पादक :—

डा० मण्डन मिश्र

निदेशक —राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
तथा
प्राचार्य —श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली

☐

लेखक एवं सम्पादक :—

डा० रुद्रदेव त्रिपाठी

साहित्य-सांख्ययोगाचार्य, एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच० डी०,
डी० लिट्०, काव्य-पुराणतीर्थ, साहित्यालङ्कार, बी० एड०,
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष—अनुसन्धान-प्रकाशन सङ्काय
संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

☐

प्रकाशकः—

श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,

शहीद जीतसिंह मार्ग, नई दिल्ली- ११००१६

प्रकाशक :—
डा० मण्डन मिश्र, प्राचार्य
श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
शहीद जीतसिंह मार्ग, नई दिल्ली- ११००१६
दूरभाषाङ्क ६५०८३१

□

प्रथम संस्करण— ५५० प्रतियाँ १९८५ ई०

□

□

मूल्य :—

□

मुद्रक :— पङ्कज प्रिन्टर्स, अर्जुन मुहल्ला, मौजपुर, दिल्ली-११००५३

Sanskrit-Vidyapeetha-BookSeries 50th Volume

Sanskrit ke Laksana evem Laksya granthon ke paripreksya mein.

Shabdalankar-Sahitya
ka
Samiksatmaka Sarveksana

□

Introduction :—

Hon'ble Shri KrishnaChandra Pant.

Education Minister, Govt. of India and Chairman Shasi-Parishad, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi

□

Chief Editor

Dr. Mandan Mishra

Director, Rashtriya Sanskrit Sansthan

&

Principal, Sri LalBahadur Shastri Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Shahid JitSingh Marg, New Delhi- 110016

□

Author & Editor

Dr. Rudradeva Tripathi

Sahitya-Sankhya-Yogacarya, M. A. (Sanskrit & Hindi), Ph. D., D. Litt., Kavya-Purana-Tirtha, Sahityalankar, B. Ed.

Professor & Head, Research & Publication Faculty

Sri L. B. S. K. Skt. Vidyapeetha, N. D,- 110016

□

Publisher

Sri LalBahadur Shastri Kendriya Sanskrit Vidyapeetha

Shahid JitSingh Marg, New Delhi- 110016

Publisher :—

Dr. Mandan Mishra, Principal,
Sri LalBahadur Shastri Kendriya Sanskrit Vidyapeetha,
Shahid JitSingh Marg, New Delhi- 110016.
Telephone :— 650831

□

First Edition — 550 Copies, 1985.

□

Published by :—

Sri Lal Bahadur Shastri Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, under the auspices of the Research & Publication Department.

□

Price :—

□

Printer:—Pankaj Printers, Arjun Muhalla, Mauzpur, Delhi- 110053

प्रस्तावना

□

विश्व साहित्य में संस्कृत-साहित्य का स्थान बहुत उत्कृष्ट है। अपनी अगाधता, गम्भीरता और व्यापकता के कारण समस्त संसार के साहित्यकारों के लिये आज तक यह प्रेरणा का स्रोत रहा है। इसी के माध्यम से एक उदात्त विश्व-संस्कृति का उदय और विकास हुआ और हमारे राष्ट्र को ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्चतम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। वर्तमान में भी संसार के ५० से अधिक विश्वविद्यालयों एवं अध्ययन-केन्द्रों में संस्कृत के शोध की व्यवस्था है और अनेक देशों में विश्व-संस्कृत सम्मेलनों के आयोजन हुए हैं। यह इस साहित्य की ही गरिमा के प्रमाण हैं। वैदिक-वाङ्मय को सभी समालोचकों ने प्राचीनतम साहित्य के रूप में स्वीकार किया है — इसके अनन्तर लिखा गया साहित्य भी विभिन्न विधाओं से परिपूर्ण है।

हजारों वर्षों की सर्जना-परम्परा के कारण आज इसके साहित्य का इतना व्यापक स्वरूप हमें प्राप्त होता है जिसकी परिगणना विभिन्न-खण्डों में ही करना सम्भव है। साहित्य-शास्त्र उसका एक अङ्ग है। आचार्यों ने शास्त्रीय-विवेचन और नवीन उद्भूतियों की प्रस्तुति में अनेक ग्रन्थों की रचना की तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन से अतीत की उपलब्धियां एवं वर्तमान की स्थिति से समालोचन के साथ-साथ भविष्य के लिये दिशा-निर्देश भी किये हैं — जिनमें अलङ्कार-शास्त्र भी एक है।

अलङ्कार शब्द, अर्थ और शब्दार्थ-मूलक माने गये हैं। उनमें शब्दालङ्कार को अपने शोध का विषय बनाकर डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने पहले — **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'** विषय पर कार्य किया और उसके बाद **'शब्दालङ्कार-साहित्य के समीक्षात्मक सर्वेक्षण'** को अपनी गवेषणा का विषय बनाया, उसी का प्रतिफलन यह ग्रन्थ है। इसके सिंहावलोकन से लेखक के विस्तृत अध्ययन का सहज आभास मिलता है तथा अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त होती है।

श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के प्रकाशनों की शृङ्खला में यह एक कड़ी और जोड़कर विद्यापीठ ने प्रशंसनीय कार्य किया है। मैं इसके लिए **प्राचार्य डा० मण्डन मिश्र** एवं ग्रन्थ के लेखक **डा० रुद्रदेव त्रिपाठी** को बधाई देते हुए इस ग्रन्थ को पाठकों के लिए अर्पित करता हूँ।

दिनाङ्क : २५-२-८५ — कृष्णचन्द्र पन्त

प्रधान-सम्पादकीय

वाङ्मय-चिन्तन के उदात्त आयामों में गवेषणात्मक आयाम का एक स्वतन्त्र महत्त्व है। गवेषणा के लिए अध्यवसाय तथा ज्ञान की परिपक्वता स्वभावतः अपेक्षित है ही। संस्कृत-वाङ्मय पूर्णिमा की निशा में नक्षत्रों की दिव्य छटा से विभासित पूर्णचन्द्र के महासाम्राज्य की समानता को प्राप्त है। कब कौन-सा नक्षत्र-तारा चमक उठता है और कब कौन अपनी लीला का संवरण कर लेता है, यह अध्यवसाय और गवेषणा से ही कुछ अंशों में समझा जा सकता है। ठीक, इसी प्रकार वाङ्मय की विविधता में किसी विषय-विशेष पर अपनी लेखिनी का सदुपयोग करते हुए साहित्यकार-साधक अपनी कृतियों को अर्पित करते रहे हैं। उनकी चमक कभी स्वल्प एवं कभी दिव्यरूप में जन-मानस को आलोकित उल्लसित करती रही है।

इस विशाल वाङ्मयरूप पूर्णचन्द्र की किरणों से केवल प्रकाश ही नहीं मिलता; अपितु एक अनुपम आह्लाद तथा अमृतोपम स्नेहिल स्पर्श भी प्राप्त होता है। वैदिक काल से आज तक लाखों ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं, अनेक रूप निखरे, अगणित ज्ञान के मोती बिखरे तथा कुछ अपने कर्तव्य का निर्वाह करके विलीन भी हो गए। संसृति का अजस्र प्रवाह, काल का निरन्तर चङ्क्रमण, जन-मानस की अभिरुचि का सतत परिवर्तन-ये सब भी वाङ्मय की सत्ता में भी सहचर बने। इतना सब होते हुए भी आज जो संस्कृत-वाङ्मय उपलब्ध है, जिस प्रकार का उपलब्ध है, जिस रूप में उपलब्ध है, वह विश्वसाहित्य की समता में कहीं न्यून नहीं, छोटा नहीं, पङ्गु नहीं।

ऐसे मरुद्वृद्ध एवं अनवरत उर्वर वाङ्मय की एक धारा ललित-साहित्य की है। लक्ष्य और लक्षण ग्रन्थों की परिधि में व्याप्त ललित-साहित्य के पूर्वापर दोनों ही तट सुघटित एवं सङ्घटित हैं। कहीं काव्य लिखे जाते हैं तो कहीं लक्षणों के निर्धारक शास्त्रों का प्रणयन होता है। और **'घृतमिव पयसि निगूढं'** के अनुसार गवेषकगण अपनी-अपनी मति-मथनी के द्वारा उन्हें मथकर नवनीत प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। यह मथन भी विविधता से किया जाता है, जिसके फलस्वरूप सूक्ष्म, बाह्य, आभ्यन्तर, एक पक्षीय, बहुपक्षीय जैसे अनेक प्रकार अवलम्बन बनते हैं। कभी-कभी तो पुन: पुनर्मथन भी हो जाता है, तथापि मूल अपने धर्म को नहीं छोड़ता और कुछ-न-कुछ नवनीतांश दे ही देता है। कहना न होगा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध भी उपर्युक्त कतिपय प्रकारों का समष्ट्यात्मक मथन से उपलब्ध नवनीत है।

शास्त्रों में 'वाक्' की महिमा सर्वोपरि है। मनुष्य जब अपने को व्यक्त करता है, तो

किसी न किसी वाक् का प्रयोग करता है और ब्रह्म जिस महिमा द्वारा अपने को व्यक्त करता है उसे भी वाक् कहा गया है। अतः शास्त्रों में वाक् आत्मा की स्व अथवा महिमा के रूप में वर्णित है। हम जिस वाणी को सुनते-बोलते हैं वह शब्दार्थमयी स्थूल वाक् आन्तरिक सूक्ष्म वाक् का व्यक्ततम रूप है। वाक् सूक्ष्मरूप 'परा' है जो पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में विभक्त हो जाती है। परा के उक्त तीनों भेदों को ही **'इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्ति'** भी कहते हैं। इन शक्तियों की अधिष्ठात्री देवियां क्रमशः **महासरस्वती, महालक्ष्मी** और **महाकाली** हैं। यद्यपि ये तीनों शक्तियां मिलकर ही सृष्टि में सहायक होती हैं, तथापि साहित्यकार अग्रिम दो की आभ्यन्तर रूप में उपासना करते हुए सौन्दर्यानुभूति कराने वाली इच्छा-शक्ति को ही फलवती बनाता है।

वैसे यह प्रसिद्ध ही है कि—

दधि मधुरं मधु मधुरं, द्राक्षा मधुरा सुधाऽपि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं, यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

कवि-वेधा अपनी इच्छा-शक्ति को अक्षर-देहाभिव्यक्ति देने में पूर्ण स्वतन्त्र है चाहे वह शब्द को प्रधानता दे अथवा अर्थ को, किंवा शब्दार्थ दोनों को ही। ऐसा होता भी आ रहा है। संस्कृत-साहित्य के इतिहास से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन कवियों ने **'यथाऽस्मै रोचते विश्वं तत्तथा परिवर्तते'** की उक्ति को चरितार्थ करते हुए केवल शब्द, केवल अर्थ और शब्दार्थ—सम्मिश्रित कृतियां प्रस्तुत कर प्रत्येक क्षेत्र में चूडान्त तक पहुंचने में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। आज भी ऐसी कृतियां यत्र तत्र यदा कदा निर्मित हो रही हैं, यह और भी गौरव की बात है।

यही स्थिति लक्षण-ग्रन्थों में भी रही है। साहित्य-शास्त्र के सभी पक्षों की पुष्टि में तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रत्युक्ति, शङ्का-समाधान एवं परमतनिरसन-पूर्वक स्वमत स्थापना के भी पर्याप्त प्रयास हुए और हो रहे हैं। रस, ध्वनि, अलङ्कार, वक्रोक्ति और औचित्य-सम्प्रदाय इनमें प्रमुख हैं तथा ये भी अपने-अपने अवान्तर भेद-प्रभेदों के कारण पर्याप्त विस्तार से पर्यालोचित किये गये हैं। इन्हीं में एक पक्ष शब्दालङ्कार का है जिसकी प्रतिष्ठा वैदिक काल से चली आई है किन्तु मध्यकाल में दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक प्रभाव होने से साहित्य में भी रस-चिन्तन के द्वारा दार्शनिक दृष्टि की व्यापकता बढ़ गई और काव्यात्मक विवेचन के बढ़ जाने से अलङ्कारों को गौण माना जाने लगा। उसमें भी शब्दालङ्कार को तो और हेय कहा गया, किन्तु यह सत्य है कि इसका प्रभाव आज भी कम नहीं हुआ।

गवेषणा 'अज्ञात से ज्ञात की ओर' तथा 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' ले जाने की प्रक्रिया पर अवलम्बित रहती है। शब्दालङ्कार के विवेचन के प्रति व्याप्त अनास्था ने ही डॉ० त्रिपाठी को अपने शोध का विषय बनाने की प्रेरणा दी होगी, और इन्होंने अपनी श्रम-साधना से **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'** पर शोध कार्य किया। संस्कृत-साहित्य के अक्षय कोश से खोज-खोज कर अनेक विस्मयकारी रत्न इन्होंने ढूंढ निकाले। ग्रन्थ मुद्रित होकर विद्वानों के

समक्ष आया तो सभी को आश्चर्य हुआ कि 'कितना अद्भुत साहित्य अब तक छिपा पड़ा था ?' और उसकी उतनी उपलब्धि से ही तृप्त न होने के कारण विद्वानों की अभिलाषा—उत्कण्ठा की पूर्ति को लक्ष्य में रखकर 'डी० लिट्०' उपाधि के लिए पुनः '**शब्दालङ्कार-साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण**' विषय को अपने शोध का आधार बनाकर डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी ने एक साधना को पूर्णता तक ले जाने का पुरुषार्थ किया।

इस महाप्रबन्ध की रचना के पीछे डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी की दीर्घकालीन ज्ञान साधना, अध्ययन का श्रम एवं अध्यापन अनुभव के साथ-साथ स्वाध्याय, निष्ठा और तत्परता का पूरा हाथ रहा है। साहित्य-सर्जना और साहित्य-पर्यालोचना दोनों ही यद्यपि एक-दूसरे के सहयोगी तत्त्व नहीं माने जाते, तथापि डॉ० त्रिपाठी में इनका साहजिक सन्तुलन देखकर आनन्द होता है। इनकी संस्कृत गीतियां, पद्यात्मक खण्डकाव्य, गद्यमूलक कृतियां, गद्य-पद्य मिश्रित चम्पूकाव्य और प्रहसन-परम्परा के पोषक स्फुट पद्य संस्कृतज्ञ-समाज को सदा आनन्दित करते रहे हैं, वहीं विभिन्न विषयों पर लिखे गए शोध-निबन्ध ग्रन्थ-समालोचनाएँ, टीकाएँ, संस्कृत-हिन्दी-गुजराती भाषाओं में किए गए अनुवाद एवं सम्पादित ग्रन्थों से भी बहुत कुछ मिला है और मिल रहा है।

संस्कृत विद्यापीठ-दिल्ली में अध्यापन के साथ-साथ शोध एवं प्रकाशन के क्षेत्र में की गई इनकी सेवाओं की परिणति इनके द्वारा रचित, अनूदित और सम्पादित प्रायः २५ से अधिक ग्रन्थ तथा '**शोधप्रभा**' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन वस्तुतः स्पृहणीय है।

मुझे अत्यधिक हर्ष है कि विद्यापीठ के प्रकाशनों की माला में यह एक और अभिनव पुष्प जुड़ रहा है और इस उत्तम कृति पर माननीय **श्रीयुत कृष्णचन्द्रजी पन्त** (शिक्षामन्त्री, भारत सरकार एवं राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की शासी परिषद् के अध्यक्ष) ने अपनी संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित प्रस्तावना लिखने की कृपा की, एतदर्थ उनका हृदय से आभार मानता हूं।

मैं डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी की इस उत्तम रचना के लिए बधाई देते हुए इनके सर्वाङ्गीण मङ्गलमय दीर्घ जीवन की कामना करता हूं और सहृदय पाठकों से प्रार्थना करता हूं कि इस ग्रन्थ का परिशीलन करके ग्रन्थकार के श्रम को सफल बनाएँ।

चैत्रपूर्णिमा सं० २०४२ वि०
दि० ५-४-८५ शुक्रवार

प्राचार्य
डॉ० मण्डन मिश्र

विषयानुक्रमणिका

पूर्वभाग

लक्षण-साहित्य

उत्तरभाग

संकेताक्षर

अ०……	:	अध्याय
अधि०…	:	अधिकरण
अ० मणिहार…	:	अलङ्कार मणिहार
आ० का०…	:	आदि काण्ड (रामायण)
ई० …	:	ईसवी
ऋग्०……	:	ऋग्वेद-संहिता
औ० वि० च०…	:	औचित्य-विचार-चर्चा
का०……	:	काण्ड
का० प्र० ..	:	काव्य प्रकाश
का० मी०…	:	काव्य-मीमांसा
का० लं०…	:	काव्यालङ्कार
काव्या०…	:	काव्यालङ्कार
तृ०……	:	तृतीय
द्वि० उ०…	:	द्वितीय उच्छवास, उल्लास
पृ० ……	:	पृष्ठ
प्र० प० …	:	प्रथम परिच्छेद
बा० का०…	:	बालकाण्ड
म० म० …	:	महामहोपाध्याय
मं० …	:	मन्त्र
माल०…	:	मालविकाग्निमित्र
यजु०…	:	यजुर्वेद-संहिता
रघु०…	:	रघुवंश-महाकाव्य
व० जी०…	:	वक्रोक्ति-जीवित
स० क० अथवा सर० कण्ठा०	:	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा० रत्ना०…	:	साहित्यरत्नाकर
सू० वृ० …	:	सूत्र, वृत्ति

।। विरूपाक्ष-वक्षोविहारिण्यै दाक्षायण्यै नमः ।।

संस्कृत-साहित्य के लक्ष्य एवं लक्षणग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में :—

शब्दालङ्कार-साहित्य
का
समीक्षात्मक सर्वेक्षण

मङ्गलालङ्कारः

गौरी वाक् प्रथमं समुद्गतिमिता तारेण मूलात् ततो,
हृयग्रे द्वि-त्रि- चतुष्पदाष्टनवधा नादात्मतां संश्रिता।
आज्ञायां लसिता सहस्रदलभाग् व्याप्ता सहस्राक्षरैः,
शब्दब्रह्ममयी तनोतु जननी सर्वात्मना मङ्गलम् ॥ १ ॥

काव्यं नाम कवेः कृतिः प्रसृतिमत्तत्त्वात्मनाऽलङ्कृतं,
शब्दार्थाञ्चित - सद्रसोचितगुणालङ्कार-झङ्कारितम् ।
श्रीमातुः करुणादृशा भवति तत् पूर्णं प्रशस्यं ह्यतः,
'काव्यालाप-विनोदिनी' कलयतात् कामेश्वरी मङ्गलम् ॥ २ ॥

काव्यश्रीः सुकुमारवर्णनिचिता भाव-प्रभाव-प्रभा—
भास्वद्-भूषण-भूषिता भवतु सा भव्याय नः सन्ततम् ।
यस्या अच्छगुणावलीं मसृणितां नादात्मतत्त्वान्विता —
माकर्ण्योक्तिमहो ! भवन्ति मनुजा आनन्दमग्नाश्चिरम् ॥ ३ ॥

सर्वाङ्गे मृदुलाऽपि याऽत्र यमक-श्लेषादिभिः सन्धिषु,
प्रौढत्वेन दधाति यत् समुचितं काठिन्यमापाततः ।
तद्दोषाय न मन्यतां बुधजना ! आस्ते तदावश्यकं,
लावण्येन सहैव सङ्घटनमप्यङ्गेषु काव्यश्रियः ॥ ४ ॥

शब्दालङ्कार-सारस्फुरदभिनव -रचनानोदमाद्यत्स्वभाव—
श्चित्रैर्ग्रन्थैः सुधीनां परिचितिममलां वर्धयन् मत्प्रबन्धः ।
अन्तर्बाह्यं स्वकीयं सरसकविवचश्चातुरी-चर्चितोऽयं,
ज्ञानानन्दामलात्मा भवतु मतिमतां सर्वदा मङ्गलाय ॥ ५ ॥

—डा० रुद्रदेव त्रिपाठी

प्राक्कथन

शक्तिः शब्दस्वरूपाऽखिल-निगमनुता ह्यागमेषु प्रसिद्धा,
साक्षादर्थश्च सिद्धः शिव इति गदितो वेद-तन्त्रागमेषु।
शक्त्या हीनः शिवः स्याच्छव इति विदितं तच्छिवत्वाप्तिमूलं,
शक्तेः शब्दाख्य-तत्त्वं मम हृदि सुचिरं संनिधत्तां प्रशस्तम् ॥

साहित्य :—

'शिव की प्रतिष्ठा और अशिव की निवृत्ति' मानव जीवन का परम लक्ष्य है। इसकी पूर्ति साहित्य के द्वारा होती है, अतः साहित्य के प्रति प्रत्येक बुद्धिसम्पन्न मानव की अभिरुचि उन्मुख हो, यह स्वाभाविक है। इस उन्मुखता के कारण ही साहित्य और जीवन परस्पर एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं तथा मानवजीवन को उदार, प्रगतिशील एवं स्वावलम्बी बनाकर स्वात्मविकास करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार जीवन को प्रकाश में लाकर विकास की ओर बढ़ते रहने की प्रेरणा का स्रोत साहित्य ही बन जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि—**'साहित्यहीन जीवन समाज के विकास में बाधक होता है और जीवनहीन साहित्य समाज की उन्नति में विघ्नरूप होता है'**। **'समाज'** मेधासम्पन्न मानवों के समुदायका ही एक परिनिष्ठित पर्याय है, अन्यथा वह समाज न कहलाकर **'समज'** ही कहा जाता है जिसमें पशुओं के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। यह सत्य है कि—**'साहित्य समाज का दर्पण होता है'** वैसे ही यह भी सत्य है कि—**समाज साहित्य का दर्पण होता है,** अतः साहित्यकार सामाजिकता को जिस तत्परता से साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं उसी प्रकार सामाजिक भी साहित्यिकता को समाज में प्रतिबिम्बित करते हैं। यह पारस्परिक आदान-प्रदान युग-युगों से चला आ रहा है और चलता ही रहेगा। किन्तु साहित्यकार केवल साहित्यकार ही नहीं होता; वह सामाजिक भी होता है, अतः उसे उभयधर्म का निर्वाह करना पड़ता है। इस निर्वाह में न्यूनाधिकता की स्थिति उसकी अपनी सुबलता अथवा दुर्बलता पर निर्भर रहती है। सामाजिकता और साहित्यिकता की एक योजक कड़ी है—**'मानवता'**। क्योंकि उक्त दोनों ही प्रकार मानव में ही होते हैं और उसी से प्रतिभासित होती है मानवता।

मानवता का मूल्याङ्कन कतिपय मानसूत्रों के आधार पर किया जाता है, जिनमें से प्रमुख पांच मानसूत्र इस प्रकार हैं —

१. स्वार्पणभावना, २. लक्ष्यसिद्धि, ३. आत्मबल, ४. उत्साह तथा ५. आचरण।

इन्हीं मानसूत्रों को आदर्श बनाकर साहित्यस्रष्टा अपने दस गुणों—"१. **स्वाध्याय, २. कल्पनाशक्ति**, ३. **शब्दसामर्थ्य**, ४. **मानवस्वभाव का परिशीलन**, ५. **याथातथ्यग्रहण**, ६. **कलासौष्ठव**, ७. **सर्जनशक्ति**, ८. **जीवन-चित्रणसामर्थ्य**, ९. **समाधि-सामर्थ्य तथा १०. आर्जव-ईमानदारी**"—को विकसित करते हुए अपनी कृतियों में आत्मविजयी की भांति उदात्तभावों को उर्वरित करता है। यद्यपि इस उर्वरण में उसका प्रारम्भिक सर्जन स्वच्छन्द-कूर्दन के समान ही होता है, किन्तु धीरे-धीरे वही कूर्दन सुन्दर नृत्य की कोटि में आकर आकर्षण का केन्द्र बन जाता है।

मानव मात्र में सौन्दर्य के आनन्द का आस्वाद करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह आस्वाद **इन्द्रियग्राह्य** और **मनोग्राह्य** होता है। इस सौन्दर्य की सृष्टि प्रतिभा से होती है क्योंकि प्रतिभा स्वयं अपनी अभिव्यक्ति के लिये सदा विकल रहती है और अवसर पाकर वह विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो जाती है।

'साहित्य जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है।' यह अभिव्यक्ति श्रव्य और दृश्यरूप धारण करने के लिये अक्षरों का आश्रय लेती है तथा प्रत्येक अक्षर और उनसे बने शब्दों में कविता भरी रहती है। इसे 'हम वृद्धसम्प्रयोग से आरम्भ कर नई पौध की नई पंखुड़ियों तक' की **'वाङ्मयी चमक'** से प्राप्त कर सकते हैं।

चूंकि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य ही है, अतः जीवन की समस्याओं का समाधान भी साहित्य ही करता है। यह साहित्य अतीत से उपदेश ग्रहण करके वर्तमान को पहचानने की दृष्टि प्रदान करता है। हमारा अतीत संस्कृत-साहित्य में सुरक्षित है इसलिये उसका परिशीलन करना आवश्यक है। इस परिशीलन की दिशाएं अनेक हैं और उनमें भी छोटी-बड़ी विभिन्न पगडण्डियां हैं, जिनपर पहुंच कर लक्ष्य को पा लेना प्रत्येक ज्ञान के उपासक का कार्य है। इसी उदात्त आशय से प्रेरणा पाकर हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में अपनी रुचि के विषय पर अनुसन्धान-पूर्वक कुछ तथ्य उजागर किये हैं और—

इस दृष्टि से **'शब्दालङ्कार-साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण'** करते हुए इससे सम्बद्ध साहित्य को **'लक्षण और लक्ष्यरूप'** कृतियों के प्रत्येक झरोखे से देखने-दिखाने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध (संयोजना-स्वरूप)

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शीर्षक है— **संस्कृत के लक्षण एवं लक्ष्यग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में "शब्दालङ्कार-साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण।"** यहाँ मुख्यरूप से संस्कृत में निबद्ध साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध **लक्षण-ग्रन्थों** में आये हुए शब्दालङ्कार के लक्षण तथा तत्सम्बन्धी विवेचनों का विवरण पूर्वभाग में प्रदर्शित है। इसके दूसरे भाग में **लक्ष्यग्रन्थ**—जिनमें प्रारम्भ से अब तक विभिन्न कविगणों द्वारा रचित साहित्य—का परिचय देते हुए उनमें प्रयुक्त शब्दालङ्कार से सम्बद्ध उदाहरणों के बारे में विवेचन और उनका मूल्याङ्कन किया गया है।

आचार्यों ने अलङ्कार के मुख्यतया तीन भेद किये हैं—**१- शब्दगत, २- अर्थगत और**

३- **शब्दार्थोभयगत** । यहां शब्दगत-अलङ्कार को ही 'शब्दालङ्कार' कहा गया है और उसी के भेद-प्रभेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।

प्रस्तुत शोध की आवश्यकता

शोध का लक्ष्य शृङ्खला-बद्ध ज्ञान है । इस शृङ्खलाबद्ध ज्ञान को हमने पहले **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'** शीर्षक **पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध** में शब्दालङ्कार के शास्त्रीय अध्ययन से समन्वित करते हुए प्रस्तुत किया था । शोध-प्रबन्ध के परीक्षकों में आदरणीय **पं० सरस्वतीप्रसादजी चतुर्वेदी** (प्रयाग) ने साक्षात्कार के अवसर पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था— **'आपने बहुत परिश्रम-पूर्वक इस शोध-प्रबन्ध में अनेक अनतिप्रसिद्ध ग्रन्थों का जो उपयोग किया है, वे कैसे हैं ? कहां हैं ? उनसे तो और भी कई शोध-प्रबन्ध बन सकेंगे'** आदि । ये वाक्य मेरे लिये प्रेरक थे । अतः मैंने अपनी पूर्व-प्रवृत्ति को मूर्तरूप देने के लिए मन ही मन अग्रिम अध्ययन में उन्हें प्रस्तुत करने का सङ्कल्प कर लिया ।

यथासमय इस अग्रिम उपाधि **'डी० लिट्०'** के लिये इसी विषय को चुना और ईश्वर-कृपा एवं अभिभावकों के सदाशय से यह प्रबन्ध प्रस्तुत कर उक्त उपाधि प्राप्त की तथा अब मनीषी पाठकों के करकमलों में इसे समर्पित करने का शुभ अवसर पा रहा हूं ।

शोधप्रबन्ध की रूपरेखा

प्रकृत शोधप्रबन्ध के प्रमुख दो भाग हैं, जो **'पूर्व और उत्तर भाग'** के रूप में अभिहित हैं । पूर्वभाग का विवेच्यविषय **'लक्षण-साहित्य'**[1] है और द्वितीय भाग का प्रतिपाद्य **'लक्ष्य-साहित्य'** है । प्रथमभाग में दो खण्ड बनाये हैं जिनमें **पहला खण्ड १-स्वरूप निरूपण, २-लक्षण-ग्रन्थ और ३-शब्दालङ्कार के भेदोपभेद-निर्धारण रूप है**; तथा **द्वितीय खण्ड** में सर्वेक्ष्य साहित्य का वर्गीकरण **१-पद्यबद्धकाव्य, २-गद्यबद्धकाव्य, ३-मिश्रकाव्य** तथा **४-दृश्यकाव्य** के रूप में विवेचित **है ।**

उत्तरभाग में तीन खण्ड हैं जिनमें पहला **१-पद्यबद्ध काव्य,** दूसरा-**२-गद्यबद्ध काव्य,** तथा तीसरा **३-गद्य-पद्य-मिश्रित काव्य** रूप है । इन तीनों खण्डों में क्रमशः **प्रारम्भिक काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, लघुकाव्य विज्ञप्तिकाव्य, गीतिकाव्य, स्तोत्रकाव्य** और **मुक्तक काव्य** प्रथमखण्ड के विषय हैं । द्वितीयखण्ड में-**गद्यबद्ध प्रारम्भिक साहित्य, कथासाहित्य, आख्यायिका-साहित्य तथा प्रकीर्ण गद्यसाहित्य** चर्चित हैं तथा अन्तिम तृतीय खण्ड में— **चम्पूकाव्य और दृश्यकाव्यों का परिशीलन** करके प्रबन्ध पूर्ण किया गया है ।

विवेचित विषय

इस प्रबन्ध में गृहीत विषयों का विवेचन इस प्रकार है —

---

१. यद्यपि **'लक्ष्यानुसारीणि लक्षणानि भवन्ति'** इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार लक्ष्यग्रन्थों को ही प्राथमिकता देना अभीष्ट था, किन्तु निर्धारकों के आदेश का सम्मान इस क्रम के लिये प्रेरक रहा है । (लेखक)

(क) विषय-प्रवेश

सर्वप्रथम प्रस्तुत शोधकार्य को लक्ष्य में रखकर यहां मुख्यतः तीन बातों पर विचार किया गया है, जिनमें पहली है— **१-साहित्यशास्त्र की परम्परा और शब्दालङ्कार**। इसमें साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा और प्रयोग परम्परा का परिशीलन करते हुए आचार्यों द्वारा प्रदत्त लक्षण तथा उसके विभागों का विचार किया है। यहीं साहित्यशास्त्र के उद्‌गम, उसकी विभिन्न धाराएं तथा उनमें अलङ्कारधारा के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत हैं। दूसरी है-**२-शब्दालङ्कार के सम्बन्ध में आचार्यों का दृष्टिकोण**। इसमें शब्द और अर्थ के सहभावरूप काव्य की परिभाषाएं, शब्द का महत्त्व एवं भरत से आरम्भ कर आचार्यों द्वारा शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में किये गये दो विभागों की चर्चा है। तीसरी में-**३-प्रस्तुत शोध की आवश्यकता और उपादेयता** चर्चित है। इसमें हमने अपने पूर्वविहित 'संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार' शीर्षक शोधकार्य की चर्चा और उससे प्राप्त प्रेरणा के आधार पर प्रस्तुत 'शब्दालङ्कार-साहित्य के समीक्षात्मक सर्वेक्षण' का औचित्य प्रतिपादित किया है।

(ख) स्वरूप -निरूपण

पूर्वभागगत प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में **१-शब्द और उसके स्वरूप का विमर्श** दिया है। शब्द के स्वरूप के बारे में आचार्यों के मतों में ऐक्य नहीं है। कुछ केवल शब्द को महत्त्व देते हैं तो कुछ अर्थ को। ऐसे मतों की समीक्षा करके यहाँ उसके सम्बन्ध में स्वीकृत मत का उल्लेख किया गया है। प्रसङ्गवश इसी अध्याय में **२-काव्य और शब्द के वैशिष्ट्य का निरूपण** तथा **'कवि और शब्द'** पर भी प्रकाश डाला गया है। **३-शाब्दिक और सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत-व्यवस्था** के प्रसंग में शाब्दिक प्रयोगगत व्यवस्था और सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत व्यवस्था को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत कर भिन्न-भिन्न आचार्यों और कवियों के सम्मिलित प्रयास से निःसृष्ट विचारों की प्रस्थापना का उद्‌घाटन हुआ है। **४-साहित्यिकों द्वारा विहित काव्योपयोगी शब्दप्रयोग और कतिपय नवाविष्कृत व्यवस्थाओं का चिन्तन** करते हुए **(क) सौन्दर्य और अलङ्कार**, (ख) **सौन्दर्यस्रोत अलङ्कार** तथा (ग) **सौन्दर्य स्रोतोविशेष अलङ्कार** जैसे लघुशीर्षकों में तत्तद् विषय पर उपलब्ध विचारों का समाकलन हुआ है तथा **५- सौन्दर्यस्रोतोविशेष अलङ्कार के परिनिष्ठित मत** को व्यक्त करते हुए भरत से पण्डितराज जगन्नाथ तक के **अलङ्कार-लक्षणों की समीक्षा, वस्तुतः अलङ्कार क्या है ? अलङ्कार का निर्दुष्ट लक्षण, प्रस्तुत लक्षण का समन्वय** आदि की चर्चा की है। यहीं ६-**शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार** और **उभयालङ्कार** को परिभाषित करते हुए **शब्दालङ्कार के स्वरूप और उसकी सीमा का निदर्शन** किया गया है।

(ग) लक्षण-ग्रन्थ

इस द्वितीय अध्याय में शब्दालङ्कार-निरूपक भरत से आज तक के यथोपलब्ध अलङ्कार-ग्रन्थों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत है। विवेचना के लिये कुछ मानबिन्दुओं का निर्धारण इस प्रकार किया गया है—**क-प्रत्येक ग्रन्थ में विवेचित शब्दालङ्कार, ख- पूर्ववर्ती दाय**

का निर्वाह, ग- स्वतन्त्र एवं नवीन उद्भावनाएं, घ- सहमति अथवा असहमति, ङ- प्रभाव विश्लेषण, जिसमें (१) व्यक्तिगत रुचि (२) साहित्यिक मूल्य एवं (३) मानवीय मूल्य को आधार रखकर आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक रूप में विवेचन किया गया है।

इनके साथ ही ऐतिहासिक-परिशीलन की दिशा में काल-विभाजन-सम्बन्धी दृष्टि की स्पष्टता एवं अपने स्वीकृत मत के अनुसार **१-आदिकाल**-(वैदिक काल से भरत तक), **२-पूर्वमध्यकाल**-(भरत काल से आनन्दवर्धन तक), **३-उत्तरमध्यकाल**-(आनन्दवर्धन काल से जगन्नाथ तक) और **४-आधुनिक काल** (जगन्नाथकाल से वर्तमान तक)। इन चार कालों में शास्त्रीय लक्षणग्रन्थों का विमर्श दिया है। इस विमर्श में चौंसठ ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का तथा अनुपूर्ति के रूप में अन्य १७ ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय देकर उनके द्वारा निर्दिष्ट शब्दालङ्कारों का स्फुट उल्लेख किया है। यहीं **२-लक्षणग्रन्थों में अचर्चित शब्दालङ्कार** के भेद-प्रभेद, तथा **३-लक्षण-विहीन शब्दालङ्कारों के लक्षण** की समस्या और समाधान की दिशा पर भी विचार हुआ है।

भेदोपभेद-निर्धारण

इस **तृतीय** अध्याय में **१- शब्दालङ्कार के भेद और उपभेदों** की मीमांसा, उनके कारण और व्यवस्था को उपक्रम में प्रस्तुत कर उसके **२- बहुचर्चित भेद, उनकी क्रमगत व्यवस्था, संख्यानिर्धारण, ३- शब्दालङ्कारों के सामान्य चर्चित भेद, ४- शब्दालङ्कार के सम्भाव्य किन्तु अचर्चित भेद** आदि बातों पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया है। तदनन्तर **५- सर्वेक्ष्य शब्दालङ्कारों के निर्धारित भेद-प्रभेदों** में क्रमशः **(क) अनुप्रास, (ख) यमक, (ग) पुनरुक्तवदाभास, (घ) वक्रोक्ति, (ङ) श्लेष** तथा **(च) चित्र** नामक भेद और इन सबके प्रभेदों का तालिका-क्रम से निर्देश किया गया है। साथ ही मूल अलङ्कारों के **व्यापक लक्षण** और उनके **भेद-प्रभेदों की व्यवस्था, वर्गीकरण** तथा **पारस्परिक सम्मिश्रण** आदि भी परिभाषित हैं जिनमें समीक्षा-दृष्टि का स्पष्टीकरण भी अनुस्यूत है।

सर्वेक्ष्य साहित्य का वर्गीकरण

इस **चौथे अध्याय** में जिन लक्ष्य-ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों का निदर्शन कराना है, उनके विभाजन पर विचार हुआ है। **श्रव्य** और **दृश्य-रूप** दो प्रकार के प्राथमिक भेदों के पश्चात् **पद्य, गद्य** और **गद्य-पद्योभयरूप** तीन भेद प्रस्तुत हुए हैं तथा इनमें भी **'बन्धसापेक्षता और बन्धनिरपेक्षता'** को आधार बनाकर विवेचन किया है। **'बन्धाबन्ध'** काव्यभेद पर संक्षिप्त टिप्पणी देकर **बन्धसापेक्ष के (क) महाकाव्य, (ख) खण्ड-काव्य** (ग) **विज्ञप्तिकाव्य** तथा **(घ) गीतिकाव्य** के लक्षण, **अलङ्कृत पद्धति** और छोटे-बड़े **कई** अन्य विभागों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार प्रस्तुत हुआ है। इसी विवेचना में **(क) स्तोत्र-काव्यों का वर्गीकरण करते** हुए (१) **स्तोत्रकाव्यों की बन्धनिरपेक्षता,** (२) **स्तोत्र की परिभाषा, (३) स्तोत्र** के **प्रकार, संख्या, फल, ध्यान-पूजा, मन्त्रपद, शास्त्र** तथा **काव्यकला पर आश्रित और**

उपदेशाश्रित सात उपप्रकारों का निर्धारण हुआ है। बन्धनिरपेक्ष काव्य के **(ख) मुक्तक भेद** पर भी इसी अध्याय में चर्चा की गई है।

इसके पश्चात् **पाँचवा अध्याय 'गद्यबद्ध श्रव्यकाव्य'** का है। इसमें **वैदिक, पौराणिक, शास्त्रीय, शिलालेख, कथा, आख्यायिका एवं प्रकीर्ण गद्य** के अन्य प्रयोगों का विमर्श दिया गया है।

मिश्रकाव्य-पद्धति का विवेचन

छठे अध्याय का विषय मिश्रकाव्य और उनकी पद्धति का दिवेचन प्रस्तुत करना है जिसमें **चम्पूकाव्य तथा उसके अन्य सम्भाव्य भेदों** का विषय विवेचित किया गया है। कुछ विद्वानों ने इसी परम्परा में रूपकों को भी चम्पूकाव्य के समान ही **'मिश्रकाव्य'** का भेद ही माना है। हमने दृश्यकाव्य के रूपक, नाट्य अथवा **नाटक की परिभाषा** और **शास्त्रीय लक्षण** प्रस्तुत किये हैं। तदनन्तर **रूपकों की संख्या, उपरूपक की परिभाषा** और **उनके भेदों की संख्या** देकर क्रमशः उनमें होने वाले विशिष्ट प्रयोगों का विचार किया है।

इस तरह **'पूर्व-भाग'** और उसके **दोनों खण्ड** 'छह अध्यायों' में पूर्ण हुए हैं।

लक्ष्य साहित्य

उत्तर भाग लक्ष्य-साहित्य का विवेचक है। इसमें पहला खण्ड 'पद्यबद्ध काव्य का' है। इसके पहले अध्याय में **१- वैदिक पद्य वाङ्मय में पदशय्या** को प्रदर्शित कराने के लिये अनुप्रासादि अलङ्कारों के उपलब्ध उदाहरण देकर स्पष्ट किया है और **२- पौराणिक-साहित्य, ३-उत्तर वैदिक साहित्य** तथा **४- आदिकाव्य रामायण** और **महाभारत** में शब्दालङ्कार के प्रयोगों का समीक्षण करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरणों को प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। अन्त में प्रस्तुत साहित्य में **५- शब्दालङ्कार-नियोजन की प्रवृत्ति का सामूहिक समीक्षण** इस अध्याय का उपसंहार है।

महाकाव्य

द्वितीय अध्याय में 'महाकाव्यों में शब्दालङ्कारों का संयोजन' दिखलाने के लिये **१- एक शब्दालङ्कार-गर्भ** और **२- अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ महाकाव्य** ऐसे दो विभाग किये है और वहीं इसके प्रथम विभाग में **'अनुप्रासगर्भ, यमकगर्भ, श्लेषगर्भ और चित्रालङ्कारगर्भ** ऐसे चार प्रविभागों में उपलब्ध महाकाव्यों का परिचय दिया है। सर्वेक्षण की दृष्टि से १. **ग्रन्थ और ग्रन्थकार**, २. **विषय-वस्तु विश्लेषण** तथा ३. **समीक्षा एवं मूल्यांकन** ऐसे तीन मानबिन्दु निश्चित करके **(क) ग्रन्थ का बाह्य एवं अन्तरङ्ग परिचय, (ख) ग्रन्थकार का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्वमूलक परिचय, (ग) कृति में प्रस्तुत शब्दालङ्कारमूलक अंशों का विश्लेषण, (घ) काव्यशास्त्रीय दृष्टि से परीक्षण** (ङ) **पूर्वप्रभाव एवं दाय** तथा **(च) सामूहिक समीक्षात्मक मूल्याङ्कन** जैसे तत्त्वों को न्यूनाधिकरूप में प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है, इन महाकाव्यों में **अनुप्रासगर्भ ३, यमकगर्भ ८, श्लेषगर्भ १७, शास्त्रगर्भ ५ तथा समस्यागर्भ ४** काव्यों का विवेचन

है, जिन्हें **'एक शब्दालङ्कार गर्भ'** माना है। **अनेक शब्दालङ्कारगर्भ महाकाव्य** २१ हैं; जिनमें शब्दालङ्कार के सभी भेदों का यथावसर प्रयोग हुआ है। अन्त में सब का सामूहिक मूल्याङ्कन करके अध्याय को पूर्ण किया है। यहीं महाकाव्य और खण्डकाव्यों के मध्य की धारा में विकसित कतिपय अन्य महाकाव्यकल्प कृतियों का भी परिचय दिया गया है।

खण्डकाव्य

इस विवेचन के लिये **'तीसरा अध्याय'** कल्पित है। इसमें सबसे पहले खण्डकाव्य का क्षेत्रविस्तार स्पष्ट करके पूर्वस्वीकृत पद्धति के अनुसार ही (१) **एक शब्दालङ्कारगर्भ और २. अनेक शब्दालङ्कारगर्भ खण्डकाव्यों** का परिचय दिया है, किन्तु स्पष्टता की दृष्टि से यहां खण्डकाव्यों का विवेचन वर्गीकरण के आधार पर किया है, जिनमें (१) **दूतकाव्य,** (२) **अन्य खण्डकाव्य,** (३) **शतकरूपखण्डकाव्य,** (४) **विज्ञप्तिकाव्य,** (५) **गीतिकाव्य** ऐसे पांच विभाग विहित हैं। प्रथमभाग की कृतियों में अनुप्राससम्बन्धी स्वतन्त्र खण्डकाव्य की प्रवृत्ति सामान्यतः सर्वसुलभ न होने से उसका परिचय न देकर यमकगर्भ-खण्डकाव्यों से ही आरम्भ किया है। ऐसे नौ काव्यों के परिचय के पश्चात् चित्रालङ्कारगर्भ खण्डकाव्यों का विवेचन है। इनमें १. **विलोमकाव्य,** २. **च्युतचित्रगर्भकाव्य** तथा ३. **समस्यापूर्तिमूलक** काव्यादि का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है।

(१) अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ खण्डकाव्यों में मेघदूत और उसकी परम्परा में निर्मित बारह दूतकाव्य तथा अन्य कुछ दूतकाव्यों की नामसूची देकर **'अन्य खण्डकाव्यों में शब्दालङ्कार'** शीर्षक से कुछ खण्डकाव्यों का परिचय प्रस्तुत करते हुए उनमें प्रयुक्त शब्दालङ्कारों के दर्शन करवाये हैं।

(२) आकार की दृष्टि से कुछ स्वल्पकाय ललित-साहित्यात्मक **शतक-काव्य** भी इसी के साथ चर्चित हैं। तदनन्तर एक विहंगावलोकन के रूप में इनका मूल्याङ्कन प्रस्तुत है।

विज्ञप्तिकाव्य

यह खण्डकाव्य-शृंखला की एक अभिनव कड़ी है। इस साहित्य की आलेखन-प्रवृत्ति श्वेताम्बरजैन सम्प्रदाय में ही गतिमती होने से संस्कृतज्ञसमाज अब तक इनका परिचय प्राप्त नहीं कर पाया है। अब तक प्रकाशित **'संस्कृतसाहित्य के इतिहास'** ग्रन्थों में इसकी चर्चा कहीं नहीं हुई है। हमने इस साहित्य में उपलब्ध अनेक कृतियों में से कतिपय शब्दालङ्कारगर्भ विज्ञप्तियों को चुनकर उनका परिचय दिया है और उनमें निविष्ट शब्दालङ्कार-चित्रालङ्कार आदि का दर्शन करवाया है। यहां ऐसी पन्द्रह कृतियों का विवेचन है, जिनमें कुछ अप्रकाशित भी हैं। अन्त में इनका मूल्याङ्कन भी किया गया है।

गीतिकाव्य

गेय-पद्धति की रचनाएं अपनी स्वतन्त्र-पद्धति के कारण अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। इनमें यद्यपि केवल गीत ही नहीं होते, अपितु पद्य और गद्यखण्ड भी होते हैं; फिर भी

'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार इनकी यह संज्ञा प्रचलित है। सर्वसाधारण की धारणा के आधार पर गीतिकाव्यों का आरम्भ **जयदेव कवि के 'गीतगोविन्द' काव्य** से ही माना जाता है, किन्तु हमने इस पद्धति का आरम्भ क्षेमेन्द्र के **'दशावतार-चरित'** से मानकर विवेचन किया है। साथ ही केवल दो काव्यों का परिचय देते हुए शेष गीतिकाव्यों को अनुकरण-मूलक मानकर उनके नाम, कर्ता और समय को व्यक्त करनेवाली तालिका के रूप में प्रदर्शित कर दिया है। अन्त में गीतिकाव्यों में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों का मूल्याङ्कन इसकी विशेष उपलब्धि है।

स्तुतिकाव्य

छन्दोमयी काव्यधारा का महत्त्वपूर्ण अङ्ग स्तुतिकाव्य है और यह काव्यप्रवृत्ति का प्रथम उन्मेष भी है। इस अङ्ग का विकास कई रूपों में हुआ है, अतः हमने इसके पूर्ववत्— **'एक शब्दालङ्कार-गर्भ'** और **'अनेकशब्दालङ्कार-गर्भ'** जैसे विभागों को भी (१) **सहस्रक-स्तोत्र**, (२) **शतकस्तोत्र** और (३) **अवान्तरनामाश्रित स्तोत्र** के रूप में वर्गीकृत कर दिया है। इनमें **सहस्रक-स्तोत्र** के दो प्रकार हैं। (१) **केवल नामसञ्चयात्मक** और (२) **नामगुम्फनरूप काव्यात्मक**।

इनके संक्षिप्त परिचय के पश्चात् अन्य **सङ्ख्याश्रित स्तोत्रों का निर्देश** करके **शतक-काव्यों** का विश्लेषण किया है। ऐसे शतक काव्यों में **एकशब्दालङ्कार-गर्भ** काव्यों की अपेक्षा अनेक **शब्दालङ्कार-गर्भ शतक** अधिक समृद्ध हैं। इन शतकों में **चित्र-बन्धात्मक शतक** मुख्यतः वर्णित हैं।

अन्त में उपर्युक्त दोनों प्रकारों के (क) **अवान्तरनामाश्रित स्तोत्र** सङ्कलित हैं। स्तोत्रकाव्यों की रचना में स्तोता कवि को अपने निवेदन का पूरा अवकाश रहता है। उसकी वाणी को जैसा उन्मुक्त वातावरण वहां प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र नहीं। सम्भवतः इसीलिये ऐसी स्तुतियों में अलङ्कार-विन्यास को बहुत अपनाया गया है। यहां एकशब्दालङ्कार-गर्भ स्तुतियों में अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रालङ्कार-मूलक स्तुतियों का विवेचन अधिक है। यमक को लक्ष्य करके लिखी गई ५ **चतुर्विंशतिकाओं का वर्णन**, कतिपय **यमक-स्तुतियों का परिचय, वर्णपरिहारमय, युष्मदस्मद् अष्टादशस्तवी, ५ शिवमहिम्नःस्तोत्र की समस्यापूर्तियां, ५ वेदपादान्तस्तव (समस्यापूर्तिरूप,) १० कल्याणमन्दिर स्तोत्र की पादपूर्तियोंवाले स्तोत्र** तथा २८ **भक्तामरस्तोत्र की पादपूर्तिवाले स्तोत्रों** का विवेचन इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। यहीं **चित्रबन्धात्मक स्तोत्र, जिनप्रभसूरि के स्तोत्रकाव्य** (सूचीरूप), **समयसुन्दरगणि के स्तोत्र (सूचीरूप)** एवं अन्य **अनेक चित्रबन्धात्मक स्तुतियों** का परिचय है, जिनमें बहुत सी अप्रकाशित रचनाओं का परिचय प्रथमबार ही प्रस्तुत हुआ है। इसके अन्त में कतिपय ऐसी ही अज्ञातकर्तृक महत्त्वपूर्ण स्तुतियों की सूची भी दी गई है।

(ख) **अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ** (अवान्तर नामाश्रित) स्तोत्रों का विश्लेषण हमने दो प्रकारों से किया है। इसमें सर्वप्रथम तीन ऐसी सङ्ग्रहात्मक कृतियां हैं, जिनका कर्ता तो एक ही है, किन्तु उनकी रचनाएं अनेक होकर एक ग्रन्थ में सङ्कलित हैं और द्वितीय हैं स्वतन्त्र

बहुमुखी कृतियां। इन कृतियों में भी शब्दालङ्कार की वैसी ही विविधता व्याप्त है जो कि सहृदयों के हृदय को आवर्जित करने में सर्वथा सक्षम है। तथा अन्त में यहां भी मूल्याङ्कन दिया गया है।

मुक्तक-काव्य

इस पांचवें अध्याय में कुछ ऐसी भी रचनाएं हैं, जो आकार की दृष्टि से दो अथवा एक पद्यात्मक ही हैं, किन्तु वे किसी विशेष रचनामूलक बन्धन से सर्वथा मुक्त हैं, उन्हें इस अध्याय में स्थान दिया गया है। इस साहित्य का परिचय दो प्रकारों में विभक्त है (१) **स्फुटपद्यात्मक** और (२) **सुभाषितसङ्ग्रहरूप**। पहले विभाग में यहां शब्दालङ्कारगर्भता को ध्यान में रखकर उन पद्यों की चर्चा की है जिनके आचार्यों ने **एक सौ, एक सौ आठ** और **एक सौ सोलह** अर्थ किये हैं। यहीं उस एक चरणात्मक पद्य की भी चर्चा है जिसके **आठ लाख से अधिक** अर्थ किये हैं। ये सब श्लेष अलङ्कार के अन्तर्गत हैं। इनके पश्चात् **कङ्कणबन्ध रामायण** के पद्य विवेचित हैं, जिनके ६४ **और १२८ पद्य** बनते हैं और उनमें रामायण की कथा का समावेश होता है। तदनन्तर चौदह **सुभाषित सङ्ग्रहों का परिचय** देकर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उर्वरित पद्यों में शब्दालङ्कार की संयोजना के उदाहरण दिये हैं तथा उपलब्धि और सम्भावनाएं देकर अध्याय पूर्ण किया है।

गद्यबद्ध काव्य, खण्ड —२

उत्तरभाग का यह दूसरा खण्ड **'प्रागालोच्य गद्यबद्धवाङ्मय में शब्दालङ्कारों के विवेचन'** से आरम्भ होता है। इसके प्रथम अध्याय में (१) **वैदिक गद्य-वाङ्मय में शब्दशय्या का स्वरूप दर्शन'** प्रस्तुत किया है, जिसमें **संहिता ब्राह्मण, आरण्यक** और **उपनिषदों के गद्यस्वरूप** दिये हैं और उनमें शब्दालङ्कार का पूर्वाभास किस रूप में विकसित हो रहा था, इसका संक्षिप्त निदर्शन स्थापित किया है। (२) **पौराणिक और शास्त्रीय गद्य साहित्य में शब्दालङ्कार-नियोजन** की यहां पृथक्-पृथक् दो शीर्षकों में कुछ उदाहरणों के साथ चर्चा प्रस्तुत हुई है। (३) **शिला-लेखीय गद्य-साहित्य में शब्दालङ्कारों का विहङ्गावलोकन** प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्राचीनकाल के कुछ शिलालेखों में किस प्रकार के अलङ्कृत गद्यों का प्रस्तुतीकरण हुआ है यह दिखाया गया है और अन्त में इस नियोजन का मूल्याङ्कन देकर अध्याय पूर्ण किया गया है।

गद्य कथा-साहित्य में शब्दालङ्कार

इस विधा का परिज्ञान कराने के लिये द्वितीय अध्याय की योजना की गई है। इसमें (१) **एक शब्दालङ्कारगर्भ कथाओं** में दो कथाओं का तथा (२) **अनेक शब्दालङ्कारगर्भ कथाओं** में सात कथा-ग्रन्थों का परिचय समाहित है। यहीं **'अन्य लघुकथाएं तथा प्रकीर्ण गद्य-साहित्य'** (जिसमें उपन्यास आदि की चर्चा है) में शब्दालङ्कारों पर विचार किया गया है। (३) **आख्या-यिकाओं में शब्दालङ्कारों का संयोजन** किस प्रकार होता रहा है ? इसका विवेचन करते हुए हर्षचरित आदि चार कृतियों का परिचय देकर (४) **प्रकीर्ण गद्य-कथानिकाओं में शब्दालङ्कार** इस शीर्षक से पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि से आरम्भ कर आधुनिक बहुप्रचलित लघुकथानिकाओं

को वर्गीकरण-पूर्वक उपस्थापित किया है तथा अन्त में (५) **गद्यसाहित्य में शब्दालङ्कार-संयोजन का मूल्याङ्कन** देकर यह प्रकरण समाप्त किया गया है ।

गद्य-पद्योभयरूप मिश्र-काव्य, खण्ड-३

शोध-प्रबन्ध के उत्तरभाग का यह तीसरा और अन्तिम खण्ड दो विभागों में वर्गीकृत है। प्रथम में चम्पूकाव्यों को स्थान दिया गया है और द्वितीय में दृश्यकाव्यों को । प्रथम वर्ग में गद्य एवं गद्यबद्ध (मिश्र) साहित्य में शब्दालङ्कारों का परिचय कराने के लिये प्रथम अध्याय आयोजित है । इसमें (१) **एकशब्दालङ्कार-गर्भ दो चम्पू काव्यों का परिचय** तथा (२) **अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ चम्पूकाव्यों में चार का परिचय** देकर उनकी सोदाहरण परिचर्चा की है । साथ ही कुछ चम्पूकाव्यों की सूची देकर उनके कर्ता और समय का परिचय भी दिया है । चम्पूकाव्यों में शब्दालङ्कारों के अनुप्रास, यमक और श्लेष नामक भेदों का प्रयोग बहुत ही उदारता से होता रहा है यह इसके मूल्यांकन से प्रत्यक्ष होगा ही ।

दृश्यकाव्यगत शब्दालङ्कारों को लक्ष्य में रखकर यहां दो वर्गों में परिचर्चा की गई है जिसमें १-**नाटकलक्षण और शब्दालङ्कार**, २-**काव्य और नाटक में शिल्पसाम्य**, ३-**नाट्यलक्षण**, ३-**नाट्यालङ्कार और शब्दालङ्कार**, ४-**वृत्ति, वीथ्यंग और लास्यांगों की समायोजना में शब्दालङ्कारों का योगदान**, तथा ५-**नाटक और उसके भेदोपभेदों की प्रयुक्त विधाओं में निहित शब्दालङ्कारों के तत्त्व का विचार** किया है । यहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि नाटककार मूलतः कवि है और नाटक काव्य । अतः इनमें काव्यों के समान ही शब्दालङ्कारों का नियोजन विहित है, तथापि यहाँ एक शब्दालङ्कारगर्भ जैसा कोई प्रयोग उपलब्ध नहीं होता ।

द्वितीय वर्ग में— **कतिपय प्रसिद्ध रूपक और उपरूपकों में उपलब्ध शब्दालङ्कारों का सर्वेक्षण** करते हुए विवेचन प्रस्तुत करने के लिये प्रसिद्ध नाटकों का सोदाहरण परिचय दिया गया है ।

इसका उपसंहार १-**विगत अध्यायों** के सारांश, २-**प्रस्तुत अध्ययन की उपलब्धियां**, तथा (३) **अध्ययन की दिशा में अन्य सम्भावनाएं** प्रदर्शित कर आवश्यक परिशिष्टों के साथ सम्पन्न किया है ।

प्रस्तुत शोधकार्य का साङ्ख्यिक समीक्षण

इस समग्र प्रबन्ध में साङ्ख्यिक समीक्षण की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१- चार कालों में विभक्त संस्कृत काव्यशास्त्र के ६४ तथा १७ अन्य ग्रन्थों का परिचय —जिनमें प्रायः १० ग्रन्थ अमुद्रित भी हैं ।

२- (क) अनुप्रास के २४ प्रमुख भेद तथा २०० से अधिक उपभेद ।

(ख) यमक के स्थानादि भेद से बने प्रायः ४०० भेदोपभेद ।

(ग) पुनरुक्तवदाभास के ८ भेद ।

(घ) वक्रोक्ति के ५ भेद।

(ङ) श्लेष के ६ भेद तथा ७५ से अधिक उपभेद।

(च) चित्र के भेदों में स्वरचित्र के ६, स्थानचित्र के ४, वर्णचित्र के ११, गतिचित्र के ११, प्रहेलिकाचित्र के २१ से अधिक, च्युतचित्र के २४ से अधिक, गूढचित्र के २४ से अधिक, प्रश्नोत्तर के ४८ भेद तथा समस्याचित्र के १७ और भाषाचित्र के ७ भेद प्रभेद।

(छ) आकारचित्रों में--मंगलमयचित्र के ४ वर्गों में ६० से अधिक भेद, वनवैभवमयचित्र के ४ वर्गों में ७५ से अधिक भेद, आभरणमय चित्र के ४ वर्गों में ४४ भेद, शस्त्रास्त्रमय चित्र के चार वर्गों में ७७ भेद, प्राणिचित्र के ४ वर्गों में १५ भेद और प्रकीर्ण चित्र के ५ वर्गों में ४४ भेद। इन भेद-प्रभेदों का यहां सूची के रूप में निर्देश है, जब कि हमने इनका विवेचन अपने पूर्व शोधप्रबन्ध में प्रकाशित कर दिया है।

३- एकशब्दालङ्कार-गर्भ महाकाव्य ३६,

४- अनेक शब्दालङ्कारगर्भ महाकाव्य २१ एवं अन्य,

५- एक शब्दालङ्कारगर्भ खण्डकाव्य २०,

६- अनेकशब्दालङ्कारगर्भ खण्डकाव्य १८ तथा अन्य सूची,

७- शतकरूप खण्डकाव्य (ललितसाहित्यात्मक),

८- विज्ञप्तिकाव्य-शब्दालङ्कार-मूलक-१५,

९- गीतिकाव्य-३ तथा ४४ की सूची,

१०- स्तोत्रकाव्य — सहस्रक-एकशब्दालङ्कारगर्भ - ११, अनेक शब्दालङ्कारगर्भ-२, शतकस्तोत्र एकशब्दालङ्कारगर्भ और सूची तथा अनेकशब्दालङ्कारगर्भ-५। लहरीकाव्य ३ और सूची, एकशब्दालङ्कारगर्भ (अवान्तर नामाश्रित) स्तोत्रकाव्य तथा अनेकशब्दालङ्कारगर्भ (अवान्तरनामाश्रित) स्तोत्रकाव्य।

११- मुक्तक— एकशब्दालङ्कारगर्भ अनेकार्थी १०, अनेक शब्दालङ्कारगर्भ सुभाषित संग्रह १४।

१२- गद्यबद्ध कथाएं एकशब्दालङ्कारगर्भ २, तथा अन्य-७।

१३- गद्यबद्ध आख्यायिकाएं ४, प्रकीर्ण गद्यकथानिकाएं २ तथा सूची।

१४- एकशब्दालङ्कारगर्भ चम्पूकाव्य १ और अन्य ४ तथा सूची।

१५- दृश्यकाव्य-नाटकादि।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की मौलिक देन

१- सुदीर्घकाल से उपेक्षित शब्दालङ्कार-साहित्य की महत्ता और उसकी व्यापकता का यथाक्रम दिग्दर्शन ।

२- साहित्यशास्त्र के लक्षण-ग्रन्थों में शब्दालङ्कार और उसके सौन्दर्यमूलक तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में उसका स्वरूप-निरूपण ।

३- काव्यशास्त्र के आचार्य भरत से आज तक यथोपलब्ध अलङ्कार-ग्रन्थों में शब्दालङ्कार एवं उसके भेद-प्रभेदों का विभिन्न मानबिन्दुओं के आधार पर विवेचन करने वाले लक्ष्यग्रन्थों का क्रमिक परिचय ।

४- अब तक समुपलब्ध शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों का विस्तार-पूर्ण परिचय । (इसमें अनेक अर्चाचित भेदों का निदर्शन तथा उनके लक्षणों की समस्या एवं समाधान की दिशा का भी निर्देश है ।)

५- सर्वेक्ष्य-साहित्य का वर्गीकरण करते हुए बन्धसापेक्ष तथा बन्धनिरपेक्ष रूपों का विभाजन कर उसमें समस्त साहित्य-प्रकारों का आकलन किया गया है ।

६- दृश्य काव्य में भी कवि की वही आत्मा काम करती है जो श्रव्यकाव्य का निर्माण करती है । इस भावना को व्यक्त करने के पूर्व दृश्यकाव्य के भेद-प्रभेदों का विवेचन और अन्त में इस साहित्य में उपलब्ध शब्दालङ्कारों का यहां पहली बार विवेचन हुआ है ।

७- महाकाव्य और खण्डकाव्य अथवा लघुकाव्यों में शब्दालङ्कारों की उपलब्धि को प्रत्यक्ष कराने के लिये इनके पूर्ववर्ती वैदिक, पौराणिक आदि साहित्य का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया है तथा तदनन्तर प्रत्येक के दो विभाग- १- एकशब्दालङ्कारगर्भ शब्दालङ्कार और २- अनेकशब्दालङ्कारगर्भ शब्दालङ्कार के रूप में किये है और इन्हीं में उन अंशों का सोदाहरण विमर्श भी प्रस्तुत है ।

८- गीतिकाव्य, विज्ञप्तिकाव्य, स्तोत्रकाव्य और मुक्तक साहित्य का भी यहां सूक्ष्म विभाजन कर उनमें शब्दालङ्कारों की योजना को दिखाने का प्रक्रम किया है । उनमें विज्ञप्ति-काव्यों का विवेचन सर्वप्रथम हुआ है । इस साहित्य की ओर पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों का ध्यान ही नहीं गया था ।

९- उत्तर भाग के द्वितीय खण्ड का गद्यबद्ध काव्य के रूप में विभाजन कर इसमें वैदिक गद्य, पौराणिक गद्य और शिलालेखीय गद्य में शब्दालङ्कारों की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है तथा इसके साथ ही कथा और आख्यायिकाओं में भी एकशब्दालङ्कारगर्भता तथा अनेकशब्दालङ्कारगर्भता का पर्यालोचन किया है ।

१०- पद्य और गद्य के सम्मिलित रूप से बना 'चम्पू-साहित्य शब्दालङ्कार की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसमें भी पूर्वोक्त दोनों प्रकार से समन्वित ग्रन्थों का परिचय दिया है ।

श्रुति में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की यह नित्य कामना रही है कि **'स श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि'** (अथर्व०) अर्थात् हम शास्त्र और स्वाध्याय से जुड़े रहें तथा हमारा कभी इनसे वियोग न हो। **'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** भी इसी बात का आदेश है। शोधकर्ता ज्यों-ज्यों गहरे पानी में पैठता है, उसे कुछ न कुछ मिलता ही रहता है। हमने इसी दृष्टि से 'शब्दालङ्कार' के व्यक्तित्व को परखने के लिये उसके उद्भव और विकास की यात्रा का अनुशीलन किया और तदनन्तर उसके कर्तृत्व का ज्ञान प्राप्त करने/कराने के लिये उसके विभिन्न परिवार, अभिभावक एवं आश्रितों का भी परिचय प्राप्त किया।

भारतीय संस्कृत-वाङ्मय की पारिवारिक सृष्टि ही इतनी विशाल है कि उसका समग्र रूप देख पाना किसी भी स्थिति में किसी के लिये भी सम्भव नहीं है। इस पर भी जब उसका क्षेत्र केवल अपने ही घर में न रहकर पड़ौसियों, ग्रामवासियों और नागरिकों के परिसर में पहुंचकर ही अवरुद्ध नहीं हुआ हो, अपितु प्रान्तों की सभी भाषाओं में भी घुल-मिल गया हो तब तो उसकी व्यापकता का अनुमान लगा पाना भी कठिन हो जाता है। हमारे ज्ञान की सीमा से भी परे, देश की सीमा से भी परे, विदेशी भाषाओं की परिधि में भी व्याप्त[1] इस **'शब्दालङ्कार की विराट् शक्ति और भक्ति'** का परिशीलन कैसे सहज एवं सम्भव हो सकता है।

इस समग्र विवेचन में प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार के ग्रन्थों का विवेचन होने से बहुत-सी नवीन रचनाओं, कृतियों और कृतिकारों का परिचय सहज ही सम्भव हो गया है।

हमारा संस्कृतज्ञ-परिवार देश की गली-गली में, कोने-कोने में संस्कृत-साहित्य की रचना में हजारों वर्षों से सम्पूर्ण मनोयोगपूर्वक लगा हुआ है, तथा **'नरि नरि किमपि विचित्रं द्योतते काव्यतत्त्वं'** के अनुसार कुछ-न-कुछ काव्यमयी कान्ति चमकती ही रही है। किन्तु खेद है कि आज तक ऐसा कोई इतिहास हम नहीं बना पाये हैं कि जिसमें यह सब देखा जा सके।[2]

यहां यह भी स्मरणीय रहा है कि—

१- हमने **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'** शीर्षक अपने पी-एच० डी० के शोधप्रबन्ध के उपसंहार में **'शब्दालङ्कारों का परवर्ती भाषा-साहित्य पर प्रभाव'** दिखलाते हुए—प्राकृत, अर्धमागधी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, उड़िया, राजस्थानी, फारसी, कन्नड़, तेलुगु, नेपाली, बंगला एवं अंग्रेजी भाषाओं में प्रायः साहित्य का कुछ निदर्शन कराया है, और हमारी प्रेरणा से ही हमारे सहयोगी मित्र **डा.किशोर कावरा द्वारा 'रीति कालीन साहित्य में शब्दालङ्कार' पर अहमदाबाद से शोधकार्य पूर्ण किया गया है। इसी प्रकार अन्य गवेषक भी इस कार्य को आगे बढ़ाएंगे तो अवश्य ही नवीन तथ्य सामने आयेंगे।**

२- कुछ वर्ष पूर्व 'अखिल भारतीय संस्कृत-साहित्य सम्मेलन' दिल्ली के तत्त्वावधान में आदरणीय पं० केदारनाथ जी सारस्वत की योजना के अनुसार तत्कालीन सम्मेलन के महामन्त्री, (वर्तमान निदेशक-राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान एवं प्राचार्य, संस्कृत विद्यापीठ

योरप में **'चार्मेज फिगरेतम'** के नाम से चित्र-रचनाएं लिखी जाती थीं, जिनमें कोई पद्य ईसा के **क्रास** या **मदिरा-चषक** का रूप ग्रहण कर लेता था। इनकी विशेषता यह भी थी कि जिस वस्तु का पद्य में वर्णन होता था उसी वस्तु का चित्र भी बना था। यूनान में इन्हें **'तैक्तो पै ग्निमन'** कहते थे। स्पेन की पद्यात्मक प्रहेलियां **'प्रगुण्टा'** के नाम से प्रचलित थीं। चित्र प्रयोगों में **'पैलिन्ड्रोम'** कविता का निर्माण भी विदेशी भाषाओं में आदृत हुआ जिसमें **लोम-विलोम पठन** करने का भी **'वाक्य-साम्य'** रहता था।

अतः इस सम्बन्ध में हमारी सदैव यहीं कामना रहती है कि—

मातर्भारति ! वाङ्निधौ कति कति प्रत्नानि रत्नानि नो,
ग्रन्थानामिह सन्ति यानि बहुशो लुप्तानि लिप्तान्यतः।
लुप्तानां पुनरुद्धृतौ हृदि सदा निष्ठाऽस्तु तेषां, तथा,
लिप्तानां च परिष्कृतौ भवतु मे प्रज्ञा चिराय स्थिरा॥

आत्मनिवेदन तथा उपकृति-स्मरण

'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्' इस उक्ति के अनुसार बाल्यकाल में विद्वत्-समारोहों में सुनाने के लिये कण्ठस्थ किये गये चमत्कार-पूर्ण, श्रवण-सुखद, चटपटे, अनुप्रास और यमकालङ्कारों से अन्वित पद्यों के बीजारोपण एवं मां सरस्वती की कृपादृष्टि तथा अपने पूज्य पितृचरणों के अनुग्रह से संस्कृत में रचना करने की प्रवृत्ति प्रस्फुटित होने पर क्रमशः वैसे ही पद्यों की निर्मिति करते हुए शब्दालङ्कार के प्रति मानसिक आकर्षण प्रवर्धमान होता गया। इस रुचि ने चित्रालङ्कार में भी गति पाई।[1] **'चित्रालङ्कार-चन्द्रिका'** एवं कतिपय अन्य स्तुतियों की रचना भी की और **'आकारचित्रों के विशिष्ट विश्लेषण से अनुप्राणित शास्त्रीय अध्ययन के रूप में 'संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार'** नामक शोध-प्रबन्ध के पश्चात् जो भावना दृढमूल हो रही थी, उसी की परिणति यह शोध-प्रबन्ध है।

इसके निर्माण में अनेक अभिभावकों, मित्रों, ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थपालों का उदार सहयोग मेरा सम्बल रहा है। अनेक अप्रकाशित पाण्डुलिपियों को दिखाकर उनकी प्रतिलिपि करने और परिचय देने में भी कई साथियों एवं परिवार के स्वजनों ने सहयोग किया है।

दिल्ली) के प्रधानसम्पादकत्व में **'शताब्दी ग्रन्थ-योजना'** आरम्भ हुई थी, और उसमें काश्मीर, आन्ध्र और राजस्थान से सम्बन्ध शताब्दी-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, ऐसी योजना और भी कार्यान्वित हो, तो कुछ अंश में ऐसे इतिहास की पूर्ति हो सकती है।

१. नाथद्वारा (राजस्थान) के **'श्रीगोवर्धन संस्कृत महाविद्यालय'** में अध्ययन करते हुए वहां के प्रधानाचार्य **'पं० रामचन्द्र जी मिश्र'** के सौजन्य से चित्रालङ्कार से युक्त रचना करने में प्रवेश पाया। अतः उनके प्रति मैं अपनी आदराञ्जलि अर्पित करना अपना कर्तव्य समझता हूं। **लेखक**।

इस प्रबन्ध में प्रयुक्त ग्रन्थों के परिचय के लिये संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों में विख्यात सर्वश्री **पं० बलदेव उपाध्याय, डा० रामजी उपाध्याय, वाचस्पति गैरोला, डा० वर्णेकर, डा० हीरालाल शुक्ल** आदि के ग्रन्थों से बहुत सहायता मिली है। **डा० एम० कृष्णमूर्ति चारियार की 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, डा० पाण्डुरङ्ग वामन काणे** तथा **डा० सुशीलकुमार डे** के इतिहासों का उपयोग काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के लिये किया गया है। मैं इन सबके प्रति प्रणति और आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूं।

उज्जयिनीस्थित विक्रम विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष **प्रो० वि० वेङ्कटाचलम्** तथा इन्दौर संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य तथा उक्त विश्वविद्यालय के कुलपति **डा० प्रभाकर नारायण कवठेकर** का भी मैं आभारी हूं कि उन्होंने मेरे इस विषय की स्वीकृति में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

जिनके स्नेहिल वरद-हस्त से इस प्रबन्ध की रूपरेखा बनी और मुझे उक्त कार्य करने के लिये पूर्ण प्रोत्साहन मिला, उन विद्वत्प्रवर **डा० राममूर्ति त्रिपाठी,** (प्राध्यापक एवं सङ्कायाध्यक्ष हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय) को मैं कभी नहीं भूल सकता। उनकी इस कृपा के लिये मैं सादर प्रणाम करता हूं।

जीवन की भाग-दौड़, दैनिक कार्यकलापों की बहुलता तथा श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ-दिल्ली के अनुसन्धान-प्रकाशन-विभाग का कार्यभार मुझे बहुधा निराश बनाता रहा, तथापि विद्यापीठ के प्राचार्य **डा० मण्डन मिश्रजी** की सदाशयता परमपूज्य गुरुदेव **श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रीजी महाराज)** एवं गुरुप्रवर **पूज्यपाद स्वामी श्री विद्यारण्य जी** महाराज की अनन्य कृपा से यह प्रबन्ध इस रूप में प्रस्तुत हो सका। अतः इनके लिये भी प्रणति अर्पित है।

इस महाप्रबन्ध के परीक्षक- **स्व० डा० मधुकर गो० माइनकर, डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री तथा डा० अरुणोदय नटवरलाल जानी**-महानुभावों ने मेरी इस साहित्य-समज्या को उपयुक्त माना तथा अपने अमूल्य सुझावों के साथ शीघ्र मुद्रण के लिये प्रेरित किया, एतदर्थ इस विद्वत्त्रयी को मैं प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूं।

लेखन और उपाधि-प्राप्ति के पश्चात् एक और साध लेखक के मन में घर बनाये रहती है कि उसका यह श्रम अक्षर-देह से जन-जन तक पहुंचने का भी सौभाग्य प्राप्त करे। मेरी भी यह अभिलाषा स्वाभाविक थी, यद्यपि मैं अपनी अनेक कृतियों के क्रमशः प्रकाशित होते रहने के कारण आश्वस्त था, तथापि मेरी इस अभिलाषा को मूर्तरूप देने का सुअवसर मेरे पूर्ववत् अभ्युदयाकांक्षी, संस्कृत-जगत् के देदीप्यमान नक्षत्र, राष्ट्रपति सम्मानित डा० मण्डनमिश्र जी (निदेशक-राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान एवं प्राचार्य श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली) ने सुलभ कराया तथा उनकी सत्प्रेरणा और अनुग्रह से यह प्रबन्ध मुद्रित होकर पाठकों तक पहुचने के शुभ क्षणों को प्राप्त कर सका, इसके लिये मैं कृतज्ञताज्ञापन के साथ-साथ अविस्मरणीय आत्मीयता का भी अनुभव करता हूं।

इस महाप्रबन्ध का यह प्रकाशन मेरे ६०वें वर्ष के प्रवृत्ति-काल में हो रहा है। यह मेरे लिये अतीव प्रसन्नता का विषय है। अध्ययन, अध्यापन, स्वाध्याय और इष्टदेव-स्मरण में यथासाध्य लगे रहने के कारण पारिवारिक दायित्व से मुक्त रखने में पूर्ण सहायिका मेरी सहधर्मिणी **श्रीमती कमलादेवी त्रिपाठी** और परिवार के अभिन्न अङ्ग सहजचतुष्टय, पुत्रद्वय एवं पुत्रियों के सर्वविध सहयोग का स्मरण ऐसे समय आता ही है। यदि, ऐसा नहीं होता तो मैं क्या कर पाता? अतः इस स्मृति-सुधा का आनन्द कराने में एकमात्र अवलम्ब जगदम्बा के आशीर्वाद की उनके लिये प्रार्थना करता हूं।

इस महाप्रबन्ध की रचना के लिये सदा आग्रह रखने और उपाधि प्राप्त होने पर गौरव-मिश्रित आनन्द की अनुभूति कर इसको शीघ्र मुद्रित देखने की इच्छा रखनेवाले मेरे अत्यन्त आत्मीय मझौले भाई डा० **भवानीशङ्कर** (स्नेह नाम-**भीमदेव**—प्राचार्य— शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, गान्धी सागर म. प्र.) का २३ नवम्बर ८४ ई० को सहसा स्वर्गवास हो गया और उसकी इच्छा मन ही मन रह गई, इसका मुझे दुःख है। आज उस चिर-स्नेही की प्रथम मासिक पुण्यतिथि पर उसका पुण्यस्मरण करते हुए यह कृति मैं—उसी प्रिय स्वर्गीय भाई की स्मृति में अर्पित करता हूं।

भवानीशङ्कर ! भ्रातस्त्वदीयप्रेरणावशात् ।
निर्मितेयं कृतिर्हन्त ! तव स्मृत्यै समर्प्यते ।।

भगवती राजराजेश्वरी की चिर-अनुकम्पा सदा इसी प्रकार बनी रहे और मैं शब्दब्रह्म की उपासना में अपने कृतिपुष्प अर्पित करता रहूं, यही कामना है। शमिति।

नई दिल्ली-२३-१२-८४ — **डा० रुद्रदेव त्रिपाठी**

विषय-प्रवेश

१. साहित्यशास्त्र की परम्परा और शब्दालङ्कार

भारतीय वाङ्मय में 'साहित्य' शब्द पर्याप्त विख्यात है। प्राचीन ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग 'साहचर्य' के अर्थ में बहुधा देखने में आता है। व्याकरण की दृष्टि से धारणार्थक 'धा' धातु अथवा गत्यर्थक 'हि' धातु से 'क्त' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'हित' और 'सह' को 'स' आदेश होकर बने 'स' के योग से पहले 'सहित' शब्द बना है। तदनन्तर इसी शब्द के भाव-वाचक अर्थ की उपलब्धि के लिये 'ष्यञ्' प्रत्यय और 'वृद्धि' करने से 'साहित्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। "हितेन सह सहितं, सहितस्य भावः साहित्यम्" यह व्युत्पत्ति एतदर्थ प्रसिद्ध है। यहां हित की व्युत्पत्ति है—'दधातीति हितम्।'

धारण और गमन में सहभाव की अभिव्यक्ति करनेवाला यह 'साहित्य' शब्द प्रारम्भ में 'परस्पर-सापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यम्'[1] तथा 'तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं बुद्धिविशेष-विशेष्यत्वं वा साहित्यम्'[2] जैसे निर्देशों के आधार पर 'सहभाव' और 'समभाव' अथवा 'दोनों के सम्मिश्र अर्थ' को प्रकट करता रहा। सहावस्थिति एवं सहगति का बोधक यही शब्द क्रमशः 'साहित्य-सङ्गीत-कला' तथा 'साहित्य-पाथोनिधि-मन्थनोत्थ'[3] जैसे प्रयोगों से वाङ्मयमात्र का वाचक बना और धीरे-धीरे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[4] जैसी उक्तियों के आधार पर कविकर्म से उद्भूत 'काव्य' के रूप में उभर आया। आज साहित्य शब्द यद्यपि उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रचलित है तथापि 'काव्यात्मक कृति'-रूप अर्थ की ओर ही हमारा अधिक झुकाव होता है।[5] इसी दृष्टि से साहित्य शब्द का निःसृष्टार्थ-निम्नलिखित होगा—

"जहां शब्द और अर्थ, तथा विचार और भाव का, परस्परानुकूलता के साथ सहभाव हो वही साहित्य है।"

साहित्य शब्द व्यापक और सङ्कुचित दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्यापक अर्थ में साहित्य शब्द सारे वाङ्मय का पर्याय है। समस्त शब्दभाण्डागार और वाणी का विस्तार इसमें आ जाता है। सङ्कुचित अर्थ में यह शब्द 'काव्य' का पर्याय है, जो कि रूढ हो गया है।

---

१. श्राद्धविवेकः। २. शब्दशक्तिप्रकाशिका। ३. भर्तृहरि—नीतिशतक तथा बिह्लण-कृत विक्रमाङ्कदेवचरित, (१।११)। ४. भामह—काव्यालङ्कार।

५. इस शब्द की विवेचना का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी का 'साहित्य-तत्त्व-विमर्श' नामक लेख भी पठनीय है। (द्रष्टव्य-'सागरिका' १९७० ई० का अङ्क।)

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में साहित्य को 'पञ्चमी साहित्यविद्या' कहकर 'विद्या' के रूप में प्रस्तुत किया और भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में 'किं साहित्यम् ?' इस प्रश्न के 'उत्तर में **(१) अभिधा, (२) विवक्षा, (३) तात्पर्य, (४) प्रविभाग, (५) व्यपेक्षा, (६) सामर्थ्य, (७) अन्वय, (८) एकार्थीभाव, (९) दोषहान (१०) गुणोपादान, (११) अलङ्कारयोग तथा (१२) रसावियोग**'-रूप शब्दार्थ के बारह सम्बन्धों को 'साहित्य' कहा।

इसी द्वादशविध अथवा ऐसे ही कुछ न्यूनाधिकसङ्ख्यक सम्बन्ध-विशेषों का शासन **गूढतत्त्व-प्रतिपादन**[1] करनेवाले ग्रन्थ **'साहित्य-शास्त्र'** कहलाये। वर्तमान विद्वद्वर्ग में **'क्रियाकल्प, काव्य-शास्त्र, अलङ्कार-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र'** एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

साहित्य के रचना-विधान का निर्देश करनेवाले शास्त्रों की परम्परा में आदि-ग्रन्थ के प्रणेता भामह ने इस शास्त्र के लिये **'काव्यालङ्कार'** शब्द को ही स्वीकृत किया था, जो कि वहां 'अलङ्कार' शब्द से **'सौन्दर्य'** अर्थ को लेकर **'काव्यसौन्दर्य की विवेचना करनेवाला'** शास्त्र माना गया। उद्भट, वामन और रुद्रट आदि ने भी भामह का ही अनुकरण किया है।[2]

भामह के **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** को प्रधानता देते हुए कुन्तक ने काव्य के सौन्दर्याधायक शब्दार्थयुगल की मनोहारिणी स्थिति को 'साहित्य'[3] बतलाकर इस शब्द की पुष्टि की तो उत्तरकाल में इस शास्त्र के लिये रुय्यक की **'साहित्य-मीमांसा'**, विश्वनाथ के **'साहित्य-दर्पण'** आदि ग्रन्थों का प्रचलन हुआ और **'व्याकरण-मीमांसा-तर्क-साहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगित्वात्**[4] जैसी उक्तियों को पूर्णरूपेण आत्मसात् करने से **"साहित्यशास्त्र"** नाम को महत्त्व मिल गया।[5] वैसे अनुभव की अभिव्यक्ति के लिये पठित-व्यक्ति जो व्यवहार करता है उसमें **(१)** ज्ञान, (२) भावना तथा (३) सङ्कल्पात्मक मनोवृत्ति का प्रकटन शब्दों के द्वारा ही होता है। उपर्युक्त तीनों मनोवृत्तियों के साथ उसकी प्रवृत्तियां भी होती हैं जिनमें **'आत्मभिव्यक्ति'** भी एक प्रमुख है। आत्माभिव्यक्ति में जो शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है

---

१. शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से मानी गयी है—**१. शासनाद् शास्त्रम्** और २. **'शंसनाद् शास्त्रम्'**। प्रथम का अर्थ **'विधि-निषेधात्मक शासन'** है और दूसरी का अर्थ **'गूढतत्त्व-प्रतिपादन।'** अतः यहाँ द्वितीय व्युत्पत्तिगत अर्थ ही अभिप्रेत है।

२. इनके काव्यालङ्कार-सारसङ्ग्रह, काव्यालङ्कारसूत्र तथा काव्यालङ्कार आदि ग्रन्थ-नाम प्रसिद्ध हैं।

३. **साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।**
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ १।१७ ॥ (वक्रोक्तिजीवित)

४. 'अभिधावृत्तिमातृका' में **'पदवाक्यप्रमाणेषु'** इत्यादि कारिका के व्याख्यान में।
(पृ० २२)

५. इस नाम और शास्त्र के अन्य विशेष विवेचन के लिये म० म० पी० वी० काणे का **'संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास'** (पृ० ४२२-२३) तथा आचार्य विश्वेश्वर द्वारा लिखित **'काव्यप्रकाश'** हिन्दी अनुवाद की भूमिका (पृ० ४-५-६) भी द्रष्टव्य हैं।

उसमें विशेष स्थायित्व होता है, सामाजिकता उसमें व्याप्त रहती है और (१) स्थायित्व एवं (२) सामाजिकता ही साहित्य के प्रधान तत्त्व बन जाते हैं।

साहित्य के (१) व्यापक अर्थ में समस्त शाब्दिकरचना का परिगणन होता है जब कि (२) सङ्कुचित अर्थ में भावना-प्रधान काव्यादि का समावेश होता है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में साहित्य के दो विभाग हो जाते हैं—एक काव्य और दूसरा शास्त्र। ये ही शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' कहलाते हैं।

साहित्य-शास्त्र के उद्‌गम के बारे में दो पक्ष हैं जिनमें पहला राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में पौराणिक आख्यायिका के ढंग से दिया है और दूसरा है वैदिक वाङ्मय में उपलभ्यमान साहित्यशास्त्रीय बीज। किन्तु साहित्य-शास्त्र का आरम्भ आज का साहित्यिक समाज तथा साहित्येतिहास के प्रणेतृगण भरत के **'नाट्यशास्त्र'** से मानते हैं। यह ग्रन्थ इस परम्परा के सभी उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीन है तथा उत्तरकाल के आचार्यों ने किसी न किसी रूप में नाट्यशास्त्र को प्रमाणतः अवश्य स्वीकृत किया भी है। भरत के पश्चात् साहित्य-शास्त्र की परम्परा विभिन्न-धाराओं में बह निकली। साहित्य के क्षेत्र में आनेवाली प्रवृत्तियों के पोषणार्थ और पल्लवनार्थ जिन-जिन विषयों के प्रति दृष्टि गई उसे क्रमिकरूप से शास्त्रीयरूप देते हुए उसके आधार निश्चित किये गये, लक्षण बनाये गये, उदाहरणों का समन्वय स्थापित किया गया और पूर्ववर्ती विचारों का ऊहापोह उपस्थित कर स्थिर-प्रक्रिया का निर्देश किया गया।

साहित्यशास्त्र की विभिन्न धाराएँ

भरत के पश्चात् जो विभिन्न धाराएं इस शास्त्र की प्रवाहित हुई उनमें निम्नलिखित छह सम्प्रदायों का योग रहा है—

(१) रससम्प्रदाय, (२) अलङ्कारसम्प्रदाय, (३) रीतिसम्प्रदाय, (४) वक्रोक्तिसम्प्रदाय, (५) ध्वनिसम्प्रदाय तथा (६) औचित्यसम्प्रदाय।

इसमें 'अलङ्कार-सम्प्रदाय' का प्रारम्भ में पर्याप्त विकास हुआ और आज भी वह व्याप्त है। समय-समय पर इस सम्प्रदाय के खण्डन-मण्डन भी हुए हैं किन्तु 'साहित्यशास्त्र' में इसका स्वरूप न तो सर्वथा तिरस्कृत किया जा सका और न विकृत ही। इतना ही हुआ है कि कहीं इसे प्रधानता मिली है तो कहीं गौणता। इच्छा अथवा अनिच्छा से भी ऐसी तो कोई भी रचना नहीं मिलती कि जिसमें अलङ्कार ही नहीं हो।

मम्मट ने **'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'** कह कर ध्वनि की प्रतिष्ठा के लिये शब्दार्थ की आलङ्कारिकता का होना आवश्यक नहीं माना है। उनका वहां आशय यही रहा है। कि— 'साधारणतः सर्वत्र अलङ्कार-सहित शब्द और अर्थ होने चाहिये, परन्तु कहीं जहां व्यङ्ग्य या रसादि की स्थिति विद्यमान हो, वहां स्पष्टरूप से सत्ता न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि साहित्य में और साहित्यशास्त्र में अलङ्कार की प्रधानता सबसे ही अधिक रही है।

इधर साहित्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में आज भी कुछ न कुछ नवीन चिन्तन जुड़ते ही चले जा रहे है। हमारे शोध का क्षे त्र-अलङ्कार के एक प्रमुख अङ्ग शब्दालङ्कार से सम्बद्ध है। अङ्ग इसलिए कि अलङ्कार के तीन अङ्ग-भेद आचार्यों ने स्वीकृत किये हैं और वे हैं—**(१) शब्दालङ्कार, (२) अर्थालङ्कार (3) उभयालङ्कार।**

इन तीनों में प्रथम शब्दालङ्कार को अलङ्कारशास्त्रों में प्रथम स्थान मिला है। मनः-प्रसादन और चेतना परिष्काररूप उद्दिष्ट परिणामों की सिद्धि के लिये शब्दों का आलङ्कारिक प्रयोग प्रारम्भकाल से होता आया है। सर्वसाधारण जन वाग्व्यवहार में आवृत्तिरूप पदों का प्रयोग करता है, उसके आलाप-संलाप में वर्णों की मृदुता के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की 'वर्णमैत्री' होती है, 'रसानुकूल स्वर-वर्णयोजना' तथा 'वाणी में वक्रता' का समावेश रहता है। 'आरोह-अवरोह का शास्त्रीय ज्ञान' न होने पर भी वह अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिये उनका आश्रय लेता है। 'पदावृत्ति' उसके प्रेरक तत्त्व का काम करती है तथा स्मृतिशक्ति को तीव्र करती है। 'पदों की पुनरुक्तता' विशेषार्थ समझने की उत्सुकता प्रदान करती है। 'श्लिष्ट-प्रयोग' सङ्केत-पद्धति का विकास करते हैं तो 'प्रश्नादि-चित्र-पद्धतियां' उनमें प्रबुद्धता लाकर 'विस्मयोत्पादकता,' 'कुतूहलता' और 'गम्भीरचिन्तन की प्रवृत्ति' को जगाते हैं।

'साहित्य समाज का दर्पण होता है' इस उक्ति का परिणाम ही साहित्य-शास्त्रों में विवेच्य बना है। अतः साहित्यशास्त्र की परम्परा में शब्दालङ्कार ने पर्याप्त प्रसार प्राप्त किया है जिसे हम अग्रिम अध्यायों में स्पष्ट करेंगे।

२. शब्दालङ्कार के सम्बन्ध में आचार्यों का दृष्टिकोण

हम ऊपर यह विचार कर चुके हैं कि—साहित्यशास्त्र की परम्परा में शब्दाङ्कार को प्रश्रय तो बहुत अधिक मिलता रहा है, किन्तु उसे स्वतन्त्ररूप से स्वीकार करने में अथवा स्पष्टरूप से उसका एकाधिपत्य स्वीकार करने में प्रायः सङ्कोच ही रहा है। इसी बात को हम यहां आचार्यों के दृष्टिकोण के माध्यम से सोदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रस्तुत शीर्षक में दिये गये **'आचार्य'** शब्द से हमारा तात्पर्य उन दोनों प्रकार के आचार्यों से है जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थों में अलङ्कारों का विवेचन करते हुए शब्दालङ्कार के सम्बन्ध में यत्र तत्र अपने अभिमत दिये हैं और जिन्होंने लक्ष्यग्रन्थों में आनुषङ्गिक रूप से शब्दालङ्कार की महत्ता को स्वीकृत कर उसके प्रयोग-विशेण में अपना पूर्ण सहयोग दिया है।

साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने प्रारम्भ से शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को 'काव्य' कहा है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने **'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** इस प्रकार काव्य का लक्षण देकर 'वेद और पुराणादि शास्त्रों के लक्षण के समान ही काव्यलक्षण की भी

---

१. (१) **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**—(भामह १, १६)
(२) **शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली।** (दण्डी- १, १०)

शब्दनिष्ठता को उचित ठहराया है।[1] यद्यपि इस विषय पर अनेक टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार के तर्क देते हुए पर्याप्त ऊहापोह भी किया है, तथापि यदि हम शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानें तो भी उसमें शब्द की महत्ता ही सर्वत्र सुप्रतिष्ठित प्रतीत होती है, क्योंकि 'शब्द' का ही अनुगामी 'अर्थ' है। स्वरूप-प्रतिष्ठा भी शब्द की ही प्रत्यक्ष होती है। शब्द ही नित्य है। शब्द से अर्थों का विस्तार होता है और शब्द ब्रह्मरूप है।

प्रत्येक दर्शन में शब्द की महत्ता पर विचार किया गया है। वेदों को प्रमाण के रूप में स्वीकृत करनेवाले शब्द को ही प्रमाणरूप में स्वीकृत करते हैं। साहित्य-जगत् में आकर शब्द ज्योतिःस्वरूप तत्त्व को प्राप्त हुआ है।[2] इसी शब्द की ज्योति से अज्ञान-तिमिर का आवरण हटाने के लिए कवि-मनीषी ने अपनी सर्जनात्मक-चेतना का सहयोग लिया और लोकयात्रा के प्रवर्तन में सदा-सदा के लिये आबाल-वृद्ध, आगोपाल-भूपाल को आवश्यक साथी बना लिया।

शब्दसाधना का अखण्ड-प्रवाह युगों से बराबर बढ़ता आया है। आदिकाल में यह साधना स्वर, व्यञ्जन और उनके समन्वित उच्चारण में मूर्त हुई और पाणिनि तक इसके सूक्ष्म तत्त्व का चिन्तन हुआ।[3]

इसी के निकट काल में शब्द के प्रसाद-मधुर स्वरूप को 'सितशर्करा-साधीयसी प्रक्रिया' से द्रष्टा और श्रोता के हृत्पटल पर अमिट छाप छोड़ने के लिये कलापक्ष का सहारा लिया गया। स्वयं उसके उदात्त-तत्त्व से परिपुष्ट होने पर भी अलङ्करण-पक्ष का विश्लेषण वैदिक-वाङ्मय में नहीं हुआ। वहां का 'अरङ्कृति' शब्द शिक्षाओं और प्रातिशाख्यों में वर्णित होकर भी शब्द-सज्जा तक ही सीमित रहा। साहित्य की अनेक विधाएं तो वहां प्रकट हुईं किन्तु उनका

---

(३) काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। (वामन १, १)

(४) शब्दार्थौ काव्यम् (रुद्रट-२, १)

(५) शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ (कुन्तक १, ७)

(६) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनङ्कृती पुनः क्वापि। (मम्मट, १, १)

(७) अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। (हेमचन्द्र पृ० १६)

(८) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्। (वाग्भट पृ० १४)

(९) शब्दार्थालङ्कृतीद्धम्० (अजितसेन-१, ७)

(१०) शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र० (विद्याधर पृ० ४२)

(११) गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। (विद्यानाथ १, १३)

१. रसगङ्गाधर, पृ० ५, 'यन्तु प्राञ्चः' इत्यादि अंश।

२. इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥ (काव्यादर्श १।४)

३. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पाणिनीयशिक्षा)

साहित्यशास्त्रीय विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र से ही पल्लवित हुआ। भरत के नाटकाश्रयी अलङ्कारों में शब्द और अर्थ के अलङ्कार संश्लिष्ट ही रहे।[1] वामन ने इस रहस्य को और स्पष्ट किया तथा शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार को अपने 'काव्यालङ्कार-सूत्र' के चतुर्थ अधिकरण में क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय अध्याय के रूप में विवेचित किया। वहीं से शब्दालङ्कार के प्रति आचार्यों के दृष्टिकोण में स्पष्टता आने लगी। रुद्रट ने स्पष्टरूप से कहा—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालङ्काराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥ (का० २ अ०)

भोज ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा कि—

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालङ्कार-संज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधैः॥ २.२॥ (सरस्वतीकण्ठाभरण)

आचार्य मम्मट ने 'अन्वय-व्यतिरेक' के सिद्धान्त के आधार पर शब्दालङ्कार का स्वरूप निर्धारित किया। तदनन्तर उत्तरवर्ती सभी आचार्य शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों के विवेचन में प्रवृत्त रहे।

इस प्रकार संक्षेप में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'शब्दालङ्कार के सम्बन्ध में आचार्यों का दृष्टिकोण यद्यपि एक समान तो नहीं रहा है, किन्तु समान्यतः वे इसके प्रति उदासीन भी नहीं रहे हैं'।

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

इस सूक्ति के अनुसार जिसको जो प्रिय प्रतीत हुआ, उसी पर रीझ गया। इसी के अनुसार शब्दालङ्कार का 'शास्त्रकार के रूप में विवेचन' तथा 'काव्यकार के रूप में विशिष्ट सर्जन' होता रहा, हो रहा है और होता भी रहेगा, जिसका निदर्शन अग्रिम अध्यायों में किया जा रहा है।

३. प्रस्तुत शोध की आवश्यकता और उपादेयता

संस्कृत-साहित्य अनन्त धाराओं में बिखरता और निखरता हुआ अपनी अमृतमयी रससृष्टि से मानव-मन को आप्यायित करता आ रहा है। द्रष्टा और स्रष्टा इसकी धाराओं के दो तट हैं, जो लक्षण एवं लक्ष्य के माध्यम से पाठकों को भाव-विभोर करने में सहायक होते हैं।

'साहित्य की मूल-प्रवृत्ति आनन्द-प्रदान के उदात्त उपादानों का उपचय' है, इस उपचिति के कतिपय सहायकों में-'रस, अलङ्कार, ध्वनि, गुण, रीति, तथा औचित्य' प्रमुख हैं, जो साहित्य-धाराओं में अवगाहन की प्रेरणा, क्षमता और पटुता प्रदान करते हैं। इनके साहचर्य से (१) 'पाठक की रुचि में तीव्रता' आती है, (२) 'परीक्षण की पैनी दृष्टि मिलती है' और (३) 'प्रतिभा को पहचानने में बल मिलता है।'

---

१. **उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।**
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥१७।६३॥ (नाट्यशास्त्र)

इन सहायकों में अलङ्कारों का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये अलङ्कार आचार्यों द्वारा तीन रूपों में विभक्त किये गये हैं (१) शब्दालङ्कार, (२) अर्थालङ्कार तथा (३) उभयालङ्कार। इन भेदों में प्रथम भेद 'शब्दालङ्कार' अलङ्कार-चिन्तन की परम्परा में पर्याप्त प्रचार-प्रसार को प्राप्त होकर भी सम्प्रदाय-विशेष के प्रचलन के कारण क्रमशः उपेक्षा की कोटि में आता गया और स्थिति यहाँ तक आ गई कि यह केवल 'विनोद, कुतूहल या पाण्डित्य-प्रदर्शन का एक साधन मात्र' कहा जाने लगा। कहीं-कहीं तो यह 'अधम' पद से भी भर्त्सना का पात्र बना है।

'अपेक्षित का आदर और उपेक्षित का अपमान' लोक-स्वभाव का मूर्त प्रतिफलन है' किन्तु 'उपेक्षित निरा निन्द्य कभी नहीं होता' यह भी एक कटु सत्य है—यदि हम उसे आश्वस्त भाव से, आत्मीयता के परिप्रेक्ष्य में टटोलने का प्रयत्न करें!

हमने अपने पी-एच० डी० के शोध-निबन्ध की रचना के समय शब्दालङ्कार में कुछ ऐसे आकर्षक तत्त्वों को देखा और परखा है, जिसकी साहित्य-सम्पदा का आंशिक-परिचय उदाहरणों के माध्यम से **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'**[1] नामक अपने शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है। वहां शब्दालङ्कार के प्रत्येक भेद पर सूक्ष्म विचार करते हुए पारम्परिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उपलब्ध उदाहरणों को खोज कर सविवेचन प्रस्तुत किया गया है। यमक और चित्रालङ्कार के विशिष्ट विश्लेषण द्वारा यह भी व्यक्त किया गया है कि—"हमारी तटस्थ दृष्टि के अभाव में शब्दालङ्कार का बहुत बड़ा साहित्य हमारी दृष्टि से ओझल बना हुआ है तथा उसके प्रति अज्ञान, उपेक्षा तथा कुछ अंशों में निन्द्य-विचारों के कारण वर्षों के आर्ष-पुरुषार्थ से की गई वाङ्मयी-अर्चना के सदा प्रत्यग्र रहनेवाले रंग-बिरंगे पुष्पों के सौरभ से जनता-जनार्दन की आनन्द-मन्दाकिनी सुवासित नहीं हो पायी है।' अतः 'लक्षण और लक्ष्य -ग्रन्थों का समीक्षात्मक-सर्वेक्षण' नहीं हो पाया, जब कि उस पूर्ववर्ती शोधकार्य की पूर्णता इसके बिना अधूरी ही है।

शब्दालङ्कार की सम्पदा कितनी अधिक विस्तृत है? यह स्पष्ट करते हुए उसकी विभिन्न परम्पराओं का समीक्षण यदि सूक्ष्मता से किया जाय तो **'अनेकानेक भूली-बिसरी प्रक्रियाओं का ज्ञान' विश्रृङ्खलित कड़ियों का पारम्परिक अनुशीलन, इतिहास के पत्रों में अनवतरित आचार्यों की चर्चा, उपेक्षित अथवा अर्चाचित कवियों का विश्लेषण, आलोचकों द्वारा आरोपित दोषों का पुनः परीक्षण एवं वास्तविकता का प्रस्फुटन'** आदि सहज सम्भव हो सकेगा!

'शब्दालङ्कार जनजीवन का मूर्तिमान सहयोगी' है। यह **'वाणी का आभरण ही नहीं, आन्तरिक उल्लास की अभिव्यञ्जना'** भी है। **इसकी प्रतिमा सर्वत्र प्राणप्रतिष्ठा-पूर्वक साहित्य-मन्दिर में प्रतिष्ठापित ही नहीं होती, अपितु स्वयम्भू-रूप में भी प्रादुर्भूत होती**

---

१. यह प्रबन्ध 'श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्या पीठ—नई दिल्ली' से प्रकाशित है।

रही है। यह केवल 'कुतूहलाध्यायी प्रयास' मात्र नहीं बल्कि प्रेरणा की प्रसूति में भी सहयोगी भी बनता है।'

यह निर्विवाद सत्य है कि—'आरम्भ में निर्द्वन्द्व और निर्हेतुक स्वच्छन्द रचनाओं की उद्भूति होती है और उन्हें देखकर ही समीक्षक ऊहापोह-पूर्वक परवर्ती जिज्ञासुओं के लिये लक्षणों का निर्धारण करते हैं।' इस पर भी कविवेधा तो अपनी अन्तःप्रेरणा के आधार पर नित्य नये-नये प्रयोग प्रस्तुत करते ही रहते हैं। इस प्रकार यह परम्परा अजस्र प्रवाहित रहती हुई जनमानस को आप्यायित करती रहती है। अतः संस्कृत-शब्दालङ्कार का साहित्य भी इससे अछूता नहीं है।

इस साहित्य का पहला तट है '**लक्षण ग्रन्थों का**'। लक्षणग्रन्थकार केवल लक्षणग्रन्थों से लक्ष्यों को चुनकर लक्षणों के निर्माण मात्र से ही कृतकृत्य नहीं हुए। उनकी भी प्रतिभा ने उसमें अपना सहयोग दिया है, जिसके फलस्वरूप उत्तरवर्ती साहित्यकारों को अनवरत उत्प्रेरणा मिलती रही है। ऐसी रचनाओं के हमें तीन रूप प्राप्त होते हैं—(१) **स्वतन्त्र विवेचनात्मक,** (२) **आंशिक विवेचनात्मक** तथा (३) **यत्किञ्चित् निर्देशक।** इसमें निहित तथ्यों का मन्थन कर चर्चित शब्दालङ्कारों का स्वरूप-बोध कराना एवं अचर्चित भेद-प्रभेदों के लक्षणों के सम्बन्ध में यथोचित समाधान ढूंढना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, प्रत्युत अनिवार्य भी था।

अलङ्कार-प्रस्थान की इस सुदीर्घ यात्रा में केवल '**श्रव्य-काव्यों में परस्पर कौन किससे कब किस रूप में प्रभावित हुआ और किसने किस रूप में क्या नवीन दिया? 'इसका समीक्षात्मक सर्वेक्षण करते हुए उपलब्ध साहित्य को क्रमिक रूप में उपस्थित करना**' इस शोध की आवश्यकता और उपादेयता का सबल पक्ष है। स्रष्टा की देन के रूप में इस साहित्य का दूसरा तट है '**संस्कृत-वाङ्मय**', जिसमें उत्तरवैदिक साहित्य एवं आर्षकाव्य-रामायण, महाभारत, पौराणिक-साहित्य तथा श्रेण्य ललित-साहित्य समाविष्ट है। वस्तुतः महाकाव्य खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, स्तोत्रकाव्य, मुक्तक, गद्य-काव्य, दृश्य-काव्य आदि साहित्य की कोई भी विधा ऐसी नहीं है, जो शब्दालङ्कार के विविध प्रयोगों में प्रसार नहीं पाई हो? इस प्रकार के दर्शन हमें मुख्यतः (१) **एकशब्दालङ्कार-गर्भ** और (२) **अनेकशब्दालङ्कार-गर्भ** इन दो रूपों में प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ रचनाएँ किसी एक प्रकार-विशेष को आदृत कर पूर्ण हुई हैं तो कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं जिनमें परम्परा-निर्वाह के लिये ही प्रयोग हुआ है।

इसके माध्यम से 'संस्कृत-साहित्य की अनेक 'प्रकाशित एवं अप्रकाशित' तथा "परिचित और अल्प परिचित-अपरिचित' कृतियों का परिचय कराते हुए उनमें सर्वात्मना व्याप्त 'शब्दालङ्कार का समीक्षात्मक सर्वेक्षण' प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य है।

इस प्रकार के सर्वेक्षण के द्वारा जहां शब्दालङ्कार के प्रति निहित दृष्टि का परिमार्जन होगा वहीं वास्तविक तथ्य का परिस्फुटन भी होगा और वह आगामी चिन्तकों और गवेषकों के लिये एक आवश्यक उपादेय पाथेय भी बन सकेगा।

———

[प्रथम अध्याय]

स्वरूप-निरूपण

१. शब्द और उसका स्वरूप (विविध मत एवं स्वीकृत मत)

प्रकृति-प्रदत्त अभिव्यक्ति के उपादानों में 'ध्वनि' का सर्वाधिक महत्त्व है। यह ध्वनि पञ्चमहाभूत—(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु और (५) आकाश से उत्पन्न है। '**पञ्चदशी**'कार ने स्पष्ट कहा है कि—

क्षितौ चटचटाशब्दो जले बुदुबुदुध्वनिः।
वह्नौ भुगुभुगुध्वनिर्वायौ सीसीति शब्दनम्॥ इत्यादि।

इस तरह यह ध्वनि स्थूल भूतों में रहते हुए भी आघात से उत्पन्न होती है। '**वाक्यपदीय**' के '**ब्रह्मकाण्ड**' में भर्तृहरि ने इस बात की पुष्टि करते हुए कहा है कि—

अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद् वायुरिव स स्वनिमित्तात् प्रतीयते॥ १२७॥

इसमें जैसे व्यजन से वायु का ज्ञान होता है उसी प्रकार शब्द की प्रतीति उनके निमित्त से ही होती है, यह सङ्केत दिया है और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने '**प्रतीतिपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते**' कहकर ध्वनि और शब्द के ऐक्य को स्पष्ट किया है। अतः ध्वनि और शब्द दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं।

'शब्द' पद का धातुगत अर्थ है-आविष्कार करना और शब्द करना। इसके लिये '**शब्द-आविष्करणे**' तथा '**शब्द-शब्दकरणे**' धातुओं का उपयोग हुआ है। कोशकार 'शब्द' का अर्थ 'अक्षर, यश, गीतिवाक्य, आकाश, श्रवण और ध्वनि' करते हैं।[1] इस शब्द से ही वर्णों की उत्पत्ति हुई है। भर्तृहरि ने कहा है कि—

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥
स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥ ११४॥
अन्तःकरण-तत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते॥ ११५॥ (वाक्यपदीय)

---

१. शब्दोऽक्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये रवे श्रवणे ध्वनौ। (अभिधानचिन्तामणि-हेमचन्द्र)

इसके अनुसार सूक्ष्मवागात्मक रूप में स्थित आन्तर ज्ञान ही अपने रूप की अभिव्यक्ति के लिये शब्द के रूप में परिणत होता है और वह परा, पश्यन्ती, मध्यमा के स्वरूप में अव्यक्त रहता हुआ ही वैखरी (विखरी, शरीर, शारीरिक, वर्णात्मक वाणी) के आकार में व्यक्त होता है।

'**अकारो वै सर्वा वाक्**' इस श्रुति के अनुसार सर्वप्रथम अकार तथा—'**ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्राह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥**'[1] के अनुसार ओङ्कार तथा अथ शब्द का आविर्भाव हुआ। तदनन्तर वर्ण-समुदाय, पद और पद-समुदाय वाक्याकार में परिणत होते गये।

शब्द का यह शास्त्रीय स्वरूप है जब कि कुछ भाषावैज्ञानिक भाषा की उत्पत्ति में अनेकविध वादों को प्रस्तुत करते हुए 'अनुरणन' एवं 'अनुकरण' से वागात्मक शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। जो भी; हो शब्द का स्वरूप प्रारम्भ में ध्वनि और बाद में अक्षरात्मक हुआ यह मत सर्वथा मान्य है।

शब्द की महत्ता भी शास्त्रों में बहुत अधिक बतलाई है। वाक्यपदीय में ही—'**अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्**' कहकर इस का ब्रह्म रूप दिया है तो दण्डी ने इसका ज्योतिर्मय स्वरूप व्यक्त करते हुए—**इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते**'[2] यह कहकर शब्द को ही लोकयात्रा का **प्रवर्तक** कह दिया है।

शब्द में ही अर्थ भी निहित रहता है '**सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे**' और महाकवि कालिदास के '**वागर्थाविव सम्पृक्तौ**' इत्यादि सङ्केत से यह स्पष्ट है। यही सार्थक शब्द ज्ञातव्य है, इसके सम्यग् ज्ञान और सुप्रयोग से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, यह भी '**एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति**' तथा '**शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति**' जैसे कथनों से सिद्ध है।

इधर—'**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते**'। 'तथा '**अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते**' जैसी उक्तियों के द्वारा शब्द की आराधना की प्रेरणा निरन्तर मिलती रही है। यही कारण है कि शब्द की इस प्रसन्न-विशद पवित्रता को अखण्ड बनाये रखने के लिये ऋषियों ने शिक्षा, प्रातिशाख्य और व्याकरण द्वारा इसका परिष्कार किया और रहस्य को अभिव्यक्त करके इसकी आसेवा के लिये बुद्धिजीवियों को उत्प्रेरित किया।

२. काव्य और शब्द (वैशिष्ट्य-निरूपण)

हमने प्रारम्भ में व्याकरण और दर्शन के आधारपर 'शब्द' के सम्बन्ध में यत्किञ्चित् विवेचन किया है और वहीं शब्द के 'सुप्रयोग' की भी बात' **एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्त**':

---

१. ब्रह्मसूत्र १, भाष्य भामती। २. काव्यादर्श, १।४

में आयी है। यह सुप्रयोग वैसे समस्त वाग्व्यवहार में मान्य है ही, तथापि इसका महत्त्व काव्य में अधिक परिलक्षित होता है। काव्य की रचना करनेवाला 'कवि' कहलाता है और उसी के कर्म का प्रतीक 'काव्य' की अभिख्या को प्राप्त है। अतः यहां संक्षेप में कवि और काव्य के बारे में विचार करना भी अनुपयुक्त नहीं होगा।

कवि और काव्य

अग्नि, सूर्य, सोम, मेधावी, अनूचान तथा क्रान्तदर्शी के अर्थों में प्रयुक्त वैदिक कवि-शब्द[1] उपनिषद्युग में ब्रह्म-वाचक[2] बना और श्रेण्य-संस्कृत काल में **कवते** (भ्वादि), **कौति** (अदादि), **कवते** (तुदादि) एवं **कवयति**(चुरादिगण प्रोक्त) धातुगत अर्थों के आधार पर वर्णन करनेवाला **'कवि'** प्रसिद्ध हो गया।[3] यही कवि-प्रकृति-तत्त्वान्वेषी, विद्वान, सामाजिक नेता एवं विचारक ऋषि-साहित्य के परिसर में शब्दसृष्टि का यथेच्छविधाता बनकर काव्यों का प्रणेता कहलाया।[4]

''**कवेः कर्म स्मृतं काव्यम्**'' के अनुसार कवि अपने 'मानस-प्रत्यक्ष' एवं 'जागतिक-प्रत्यक्ष' से उद्भूत भावों को शब्ददेह प्रदान कर उन्हें नैसर्गिक लावण्य से संवलित गद्य, पद्य अथवा उभयरूप में प्रस्तुत करता है तो उस सङ्कलित इकाई को **'काव्य'** की संज्ञा दी जाती है। यह 'काव्य'-जनमानस को आन्दोलित करता है, हठात् अपनी ओर आकृष्ट करता है तथा भावों के सरोवर में नहला कर अपूर्व आनन्द प्रदान करता है।

शाब्दिक और सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत-व्यवस्था

शब्द-स्वरूप और काव्य-गत शब्द की व्यवस्था के विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'काव्य में शब्दों का प्रयोग लोकोत्तर होना चाहिए।' अतः भाषा-सामान्य अथवा शास्त्रभाषा

---

१. **कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीव चातन ॥** १।१।२३ ॥ (ऋग्वेद)
मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवेः। अद्या वृणुहि वीतये ॥ १।२।२४॥
अग्निर्होता कविक्रतुः। (ऋ० १ १ ५)

२. **स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।**
कविर्मनीषी स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥
(ईशावास्योपनिषद्)

३. **कविशब्दश्च 'कवृ वर्णने स्तुतौ च' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्।'**
(काव्यमीमांसा, ३।१।३)

४. **अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।**
यथास्मै रोचते विश्वं तत्तथा परिवर्तते ॥ (साहित्यदर्पण, प्र० प०)
ये वै विद्वांसस्ते कवयः। (शतपथब्राह्मण, ७।१।४।४)

इसके अनुसार सूक्ष्मवागात्मक रूप में स्थित आन्तर ज्ञान ही अपने रूप की अभिव्यक्ति के लिये शब्द के रूप में परिणत होता है और वह परा, पश्यन्ती, मध्यमा के स्वरूप में अव्यक्त रहता हुआ ही वैखरी (विखरी, शरीर, शारीरिक, वर्णात्मक वाणी) के आकार में व्यक्त होता है।

'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुति के अनुसार सर्वप्रथम अकार तथा—**'ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्राह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥'**[1] के अनुसार ओङ्कार तथा अथ शब्द का आविर्भाव हुआ। तदनन्तर वर्ण-समुदाय, पद और पद-समुदाय वाक्याकार में परिणत होते गये।

शब्द का यह शास्त्रीय स्वरूप है जब कि कुछ भाषावैज्ञानिक भाषा की उत्पत्ति में अनेकविध वादों को प्रस्तुत करते हुए 'अनुरणन' एवं 'अनुकरण' से वागात्मक शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। जो भी; हो शब्द का स्वरूप प्रारम्भ में ध्वनि और वाद में अक्षरात्मक हुआ यह मत सर्वथा मान्य है।

शब्द की महत्ता भी शास्त्रों में बहुत अधिक वतलाई है। वाक्यपदीय में ही—**'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्'** कहकर इस का ब्रह्म रूप दिया है तो दण्डी ने इसका ज्योतिर्मय स्वरूप व्यक्त करते हुए—**इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते**"[2] यह कहकर शब्द को ही लोकयात्रा का **प्रवर्तक** कह दिया है।

शब्द में ही अर्थ भी निहित रहता है **'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे'** और महाकवि कालिदास के **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'** इत्यादि सङ्केत से यह स्पष्ट है। यही सार्थक शब्द ज्ञातव्य है, इसके सम्यग् ज्ञान और सुप्रयोग से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, यह भी **'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'** तथा **'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'** जैसे कथनों से सिद्ध है।

इधर—**'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते'**। 'तथा **'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते'** जैसी उक्तियों के द्वारा शब्द की आराधना की प्रेरणा निरन्तर मिलती रही है। यही कारण है कि शब्द की इस प्रसन्न-विशद पवित्रता को अखण्ड बनाये रखने के लिये ऋषियों ने शिक्षा, प्रातिशाख्य और व्याकरण द्वारा इसका परिष्कार किया और रहस्य को अभिव्यक्त करके इसकी आसेवा के लिये बुद्धिजीवियों को उत्प्रेरित किया।

२. काव्य और शब्द (वैशिष्ट्य-निरूपण)

हमने प्रारम्भ में व्याकरण और दर्शन के आधारपर 'शब्द' के सम्बन्ध में यत्किञ्चित् विवेचन किया है और वहीं शब्द के 'सुप्रयोग' की भी बात' **एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः'**

---

१. ब्रह्मसूत्र १, भाष्य भामती। २. काव्यादर्श, १।४

में आयी है। यह सुप्रयोग वैसे समस्त वाग्व्यवहार में मान्य है ही, तथापि इसका महत्त्व काव्य में अधिक परिलक्षित होता है। काव्य की रचना करनेवाला 'कवि' कहलाता है और उसी के कर्म का प्रतीक 'काव्य' की अभिख्या को प्राप्त है। अतः यहां संक्षेप में कवि और काव्य के बारे में विचार करना भी अनुपयुक्त नहीं होगा।

कवि और काव्य

अग्नि, सूर्य, सोम, मेधावी, अनूचान तथा क्रान्तदर्शी के अर्थों में प्रयुक्त वैदिक कवि-शब्द[1] उपनिषद्युग में ब्रह्म-वाचक[2] बना और श्रेण्य-संस्कृत काल में **कवते** (भ्वादि), **कौति** (अदादि), **कवते** (तुदादि) एवं **कवयति**(चुरादिगण प्रोक्त) धातुगत अर्थों के आधार पर वर्णन करनेवाला **'कवि'** प्रसिद्ध हो गया।[3] यही कवि-प्रकृति-तत्त्वान्वेषी, विद्वान, सामाजिक नेता एवं विचारक ऋषि-साहित्य के परिसर में शब्दसृष्टि का यथेच्छविधाता बनकर काव्यों का प्रणेता कहलाया।[4]

"**कवेः कर्म स्मृतं काव्यम्**" के अनुसार कवि अपने 'मानस-प्रत्यक्ष' एवं 'जागतिक-प्रत्यक्ष' से उद्भूत भावों को शब्ददेह प्रदान कर उन्हें नैसर्गिक लावण्य से संवलित गद्य, पद्य अथवा उभयरूप में प्रस्तुत करता है तो उस सङ्कलित इकाई को **'काव्य'** की संज्ञा दी जाती है। यह 'काव्य'-जनमानस को आन्दोलित करता है, हठात् अपनी ओर आकृष्ट करता है तथा भावों के सरोवर में नहला कर अपूर्व आनन्द प्रदान करता है।

शाब्दिक और सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत-व्यवस्था

शब्द-स्वरूप और काव्य-गत शब्द की व्यवस्था के विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'काव्य में शब्दों का प्रयोग लोकोत्तर होना चाहिए।' अतः भाषा-सामान्य अथवा शास्त्रभाषा

---

१. **कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीव चातन ॥** १।१।२३ ॥ (ऋग्वेद)
मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवेः। अद्या वृणुहि वीतये ॥ १।२।२४॥
अग्निर्होता कविक्रतुः। (ऋ० १ १ ५)

२. **स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।**
कविर्मनीषी स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥
(ईशावास्योपनिषद्)

३. **कविशब्दश्च 'कवृ वर्णने स्तुतौ च' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्।'**
(काव्यमीमांसा, ३। १। ३)

४. **अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।**
यथास्मै रोचते विश्वं तत्तथा परिवर्तते ॥ (साहित्यदर्पण, प्र० प०)
ये वै विद्वांसस्ते कवयः। (शतपथब्राह्मण, ७। १। ४। ४)

की अपेक्षा काव्य-भाषा कुछ भिन्न हो ही जाती है। कवि का प्रतिपाद्य 'काव्य-सत्य को श्रोता तक पहुंचाना' तो है ही, साथ ही उसके पहुंचाने का प्रकार भी कुछ अनूठा होता है जिसे अभिव्यञ्जना-शैली, सङ्घटना अथवा प्रकार-विशेष कहते हैं। उसके बिना कथन में कोई महत्त्व नहीं आता और महत्त्व से शून्य उक्ति 'ग्राम्य' कहलाती है। ऐसी बातों का विचार करते हुए आचार्यों ने शाब्दिक और सौन्दर्योपयोगी प्रयोगों से सम्बद्ध कुछ व्यवस्थाएँ दी हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) **शाब्दिक-प्रयोगगत व्यवस्था**—वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दों को आलोचकों ने तीन भागों में विभक्त किया है—(१) **वेद-शब्द**, (२) **शास्त्र-शब्द** और (३) **काव्य-शब्द**। 'वेद-शब्द' का तात्पर्य है, वेदमन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों की अपरिवर्तनीयता। अर्थात् जो शब्द जिस रूप में, जिस स्थान पर, जिस प्रकार प्रयुक्त होता है उसका वैसा ही ग्रहण अभीष्ट होता है। 'शास्त्र-शब्द' का अभिप्राय है, शास्त्रों में प्रयुक्त शब्दों के अभिधीयमान अर्थों का ग्रहण। अर्थात् इतिहास, पुराण और शास्त्रों में प्रयुक्त शब्द अपने अभिधेय को स्वाभाविक रूप से पाठक के सामने रख देते हैं, उसका तात्पर्य-ग्रहण कराने में शास्त्र-शब्द किसी प्रकार आग्रह नहीं करते। 'काव्य-शब्द' इन दोनों से विलक्षण है। काव्य का तात्पर्य शिक्षा प्रदान करना नहीं है, प्रत्युत चमत्कार उत्पन्न कर श्रोताओं अथवा पाठकों के हृदय में आनन्द का उन्मीलन करना है। इसके अनुसार इन तीनों का पार्थक्य निम्न तालिका से जाना जा सकता है—

वेद—	प्रभुसम्मित	शब्दप्रधान	रूपक
शास्त्र—	सुहृत्सम्मित	अर्थप्रधान	स्वभावोक्ति
काव्य—	कान्तासम्मित	व्यापारप्रधान	वक्रोक्ति

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में इसी ओर सङ्केत किया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ १।२॥ (काव्यप्रकाश)

तथा भट्टनायक ने इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापार-प्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥ (हृदयदर्पण का अंश)

इस प्रकार काव्य-शब्द में वक्रोक्ति की अपेक्षा प्रारम्भ से ही स्वीकृत हुई है और इस वक्रकथन को ही **'लोक की सामान्य उक्ति से विलक्षण कथन'** कहते हैं। अभिनवगुप्त ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि—शब्द और अर्थ की वक्रता से अभिप्राय है इनका लोकोत्तररूप से अवस्थित होना—**'शब्दस्य हि वक्रताऽभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमिति।'**[1] कुन्तक ने इसी वक्रकथनात्मक काव्य-शब्द को लोकोत्तर-चमत्कारकारी और वैचित्र्य-

---

१. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० २०८।

सिद्धि का तत्त्व माना है ।[1] 'वक्रकविव्यापार, कविव्यापार-वक्रता, लोकोत्तरवर्णनानिपुण-कविकर्म, कविप्रतिभोल्लिखितकर्म, कविप्रतिभानिर्वर्तितत्व[2] और अम्लानप्रतिभोद्भिन्न-नवशब्दार्थबन्धुर' आदि वाक्य इसी ओर सङ्केत करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि आचार्यों ने काव्य के लिये प्रयोज्य शब्दों के प्रयोग के लिये अन्यत्र प्रयोजनीय शब्दों की अपेक्षा एक स्वतन्त्र व्यवस्था दी है, जो कि लोकोत्तर होती है ।

(२) **सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत व्यवस्था**—कवि के शब्द-प्रयोग में जो विलक्षणता आती है उसका विनियोग कैसे हो ? यह प्रश्न स्वाभाविक है । इस व्यवस्था के लिये आचार्यों ने काव्यदोषों से रहित, गुण, अलङ्कार और रस से युक्त काव्य-निर्माण का उपदेश दिया है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।। (सा० द०, प्र० परि०)

इस दृष्टि से काव्य की निर्दुष्टता सर्वप्रथम अपेक्षित है ।[3] यह निर्दुष्टता शास्त्र-विहित शब्द-प्रयोग पर ही निर्भर है । अतः सभी आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता से काव्य में प्रयोज्य-शब्दों में होनेवाले दोषों का सोदाहरण विवेचन किया है ।

दोषमुक्त हो जाने के पश्चात् किसी वस्तु विशेष में सौन्दर्याधान किया जाता है । इसके लिये 'रस, अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति, मार्ग, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य' का विचार भी पर्याप्त विशद हुआ है । अलङ्कार इनमें एक सौन्दर्योपयोगी प्रयोग की व्यवस्था का अभिन्न उपादान है, और 'सौन्दर्यमलङ्कारः' यह इसका सूचक है ।

यहां यह भी स्मरणीय है कि 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में केवल अलङ्कारों के लिए ही प्रयुक्त न होकर रसादि सभी विषयों के लिए होता था, यही कारण है कि अलङ्कार-शास्त्रों में इन सबका वर्णन हुआ है । हाँ, इतना अवश्य था कि वे इन्हें स्वतन्त्र महत्त्व-स्थान न देकर अलङ्कारों में ही अन्तर्निविष्ट कर लेते थे । रसवदादि और समासोक्ति, आक्षेपादि अलङ्कार रस एवं प्रतीयमानार्थ ध्वनि के सूचक हैं । रीति और गुण भी काव्य के अलङ्कार हैं, तभी तो वामन ने 'काव्यालङ्कार' में इन्हें व्यक्त किया है । वक्रोक्ति और औचित्य भी प्रारम्भ में तो अलङ्कारशास्त्रों में अन्तर्निविष्ट ही रहे बाद में ही इनका स्वतन्त्र विश्लेषण किया गया ।

---

१. **लोकोत्तरचमत्कारकारि-वैचित्र्यसिद्धये ।**
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो निगद्यते ।। (व० जी० १ । २ ।)

२. **व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः । कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वमन्तरेण वक्रोक्ति-रेव न स्यात् ।**
(जयरथ, अलङ्कारसर्वस्व टीका, पृ०८)

३. **तदल्पमपि नापेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।**
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।। १।७ ।। (दण्डी-काव्यादर्श)

भामह ने '**वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते**'[1]—कहकर सर्वप्रथम वक्रार्थवाले शब्दों के प्रयोग को अलङ्कारों का उत्पादक व्यक्त किया है। तथा इसी बात को और आगे बढ़ाकर विभिन्न रूपों में प्रतिपादित करते हुए '**गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः**'[2] जैसी उक्ति में केवल समय की सूचकता 'वार्ता' मानी है, काव्य नहीं। और '**वाचां विचित्र-मार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्**'[3]—वाणी के विचित्र मार्गों की क्रियाविधि का पूर्वाचार्यों द्वारा किये गये निबन्धन का सूचन करते हुए '**अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्**'[4]—से वैदर्भ और गौडमार्ग का विवेचन किया है। इन्हीं दोनों मार्गों पर विचार करते हुए भामह ने तो स्पष्ट कह दिया था कि—

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।। (का० अ० १। ३५।)

इस प्रकार सुन्दर काव्य के पांच गुण—१. अलङ्कारवत्ता, २. अग्राम्यता, ३. अर्थ्यत्व, ४. न्याय्यत्व और ५. अनाकुलत्व उभर आये। इन्हीं के आधार पर रीतियों का आविर्भाव हुआ, दण्डी ने रीतियों का सम्बन्ध गुणों के साथ नियत किया और श्लेषादि दस गुणों को वैदर्भ-मार्ग का प्राण बतलाया।[5] इन्हीं गुणों में माधुर्यगुण से 'श्रुत्यनुप्रास और वर्णानुप्रास' तथा श्लेष-गुण से 'गाढबन्धता' का विकास प्रारम्भ हुआ। समता-गुण से 'रचनागत एकरूपता' लाने की दृष्टि से तीन बन्ध—१. मृदुबन्ध, २. स्फुटबन्ध तथा ३. मध्यमबन्ध की कल्पना की गई और 'मध्यम अथवा मिश्रबन्ध' में उक्त गुण की स्थिति मानी गयी। इधर 'सौकुमार्य' गुण से कोमल तथा परुषवर्णों के रमणीय मिश्रणरूप 'सुकुमार-मार्ग' सामने आया। कुन्तक ने इसे स्वभाव के तीन भेद—१. सुकुमार, २. विचित्र और ३. मध्यम के रूप में स्पष्ट करते हुए सुकुमार स्वभाव-वाले कवि की शक्ति को ही 'सुकुमार-मार्ग' बतलाया और इन तीनों मार्गों के—'१. माधुर्य, २. प्रसाद, ३. लावण्य एवं ४. आभिजात्य' नामक चार विशिष्ट गुण दिखलाये।

इस प्रकार 'सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत व्यवस्था' के लिए पूर्वाचार्यों ने सुदीर्घ यात्राएं की हैं और शब्दालङ्कार के क्षेत्र को उर्वर बनाने का भी पूरा प्रयास किया है।

४. साहित्यिकों द्वारा विहित काव्योपयोगी शब्द-प्रयोग और कतिपय नवाविष्कृत व्यवस्थाएं

'**शास्त्रकार तथा शास्त्र**' और '**साहित्यकार एवं साहित्य**' ये परस्पर एक दूसरे-से इतने अधिक घुले-मिले हैं कि इन्हें किसी एक से पृथक् करना कठिन हो जाता है। इतना अवश्य है कि

---

१. काव्यालङ्कार।

२. वहीं, २। ८७, भामह, तथा काव्यादर्श-२। २४४ दण्डी।

३. काव्यादर्श, १। ९ दण्डी।

४. वहीं, १। ४०।

५. **इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।** (वहीं १। ४२।)

'कभी शास्त्र से साहित्य बनता है तो कभी साहित्य से शास्त्र ।' इस सम्बन्ध में **'ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यः'** वाली कालिदासीय उक्ति ही चरितार्थ होती है।

इससे पूर्व हम यह देख चुके हैं कि 'शाब्दिक और सौन्दर्योपयोगी प्रयोगगत व्यवस्था' के लिये आचार्यों ने कैसी व्यवस्था दी है ? 'अब साहित्यिकों द्वारा काव्योपयोगी शब्दप्रयोग और कतिपय नवाविष्कृत व्यवस्थाएँ' किस रूप में प्राप्त होती हैं ? इस सम्बन्ध में संक्षिप्तचिन्तन किया जा रहा है ।

सर्वप्रथम 'साहित्य' शब्द पर पुनः विचार करने से 'वक्रोक्तिजीवितकार' आचार्य कुन्तक का यह कथन कि—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व-मनोहारिण्यवस्थितिः ।। १ । १७ ।।

काव्य में सौन्दर्याधान के लिए शब्द और अर्थ दोनों की एक-सी मनोहारिणी स्थिति का नाम 'साहित्य' है । अर्थात्, काव्य में जितने सुन्दर अर्थ का वर्णन किया जा रहा हो, उतने ही सुन्दर शब्दों का सन्निवेश होना चाहिए । अथवा जैसे सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया जा रहा हो उसी के अनुरूप सुन्दर अर्थ का भी समन्वय होना चाहिए--इसके अनुसार ही समन्वयमूलक साहित्य के प्रयोगकर्ता साहित्यिकों ने काव्योपयोगी शब्दप्रयोग की ओर संकेत करते हुए 'मृदुललित पद-प्रयोग, विन्यास-विशेष भव्यता, एक विचित्र पदानुपूर्वी, नवरसरुचिरता,' आदि से सम्वद्ध अनेक सङ्केत दिये हैं । यथा—

१. **मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं** इत्यादि । (भरत, नाट्यशास्त्र)

२. **यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव शब्दान् वयमुल्लिखामः ।**
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ।।
(ध्वन्यालोक १ । ६)

३. **किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी, यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।**
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता, चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ।।
(शिवलीलार्णव १ । १३)

यही तत्त्व आत्मा की अमृतमयी कला वाणी के प्रयोग में **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'** (ऋग्वेद, अष्टक ८, अ० २ वर्ग ३) में भी सङ्केतित है ।

कवि की वर्णविन्यास-चिन्ता एक-एक वर्ण और उसके औचित्य पर अवश्य ही ध्यान दिलाती है । इन शब्द-प्रयोगों के लिए अनेक व्यवस्थाएँ कालानुसार प्रस्तुत होती रही हैं । इनमें रस, अलङ्कार, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य तथा प्रत्येक के भेद-प्रभेदों के अनुसार दी गई व्यवस्थाएँ काव्य के लिये उपयोगी मानी गई हैं । इन्हीं को विभिन्न शब्द-भेदों से प्रस्तुत करते हुए उत्तरकाल के चिन्तकों ने 'कवि-शिक्षा' और 'काव्य-शिक्षा' के माध्यम से नवाविष्कृत व्यवस्था के रूप में पुरस्कृत किया है, जिनमें अलङ्कार-योजना भी एक व्यवस्था है ।

(क) सौन्दर्य और अलङ्कार

'सौन्दर्य' शब्द भारतीय-साहित्य में जिस परिप्रेक्ष्य से देखा जाता रहा है वह केवल ऐन्द्रिय-बोध से उत्पन्न आह्लाद का द्योतक था किन्तु काव्य-चिन्तन की सीमा में आकर इस शब्द ने अपना एक विशिष्ट स्वरूप भी प्राप्त किया, जिसमें 'प्रियता, मधुरता, मादकता और चारुता' जैसे मुख्य तत्त्वों को आवर्जित किया गया। काव्य की साहित्य-शास्त्रानुसारी सर्वप्रथम उपलब्ध परिभाषा में 'मृदुललित' और 'जनपदसुखभोग्य'[१] पद काव्य-सौन्दर्य-विषयक दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं और उनसे काव्य को रसनीय बनाने के लिये मृदु और ललित पदों का चयन तथा जनपद-सुखभोग्यता के लिये सारल्य एवं आनन्दप्रद-तत्त्वों से संवलित करने की आवश्यकता पर बल मिलता है।

काव्य-चिन्तन का और विकास होने पर काव्य के आधारभूत तत्त्वों को लेकर आचार्यों ने जिन सम्प्रदायों का आविर्भाव किया तथा जिनमें से प्रत्येक ने अपने तत्त्व को अंगी और शेष को अंग सिद्ध करने की चेष्टा की, उन सभी में 'सौन्दर्य' समानरूप से आदृत हुआ। उदाहरणार्थ अलङ्कार-शब्द स्वयं भूषणवाचक है, जो कि काव्य के आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकृत है। अलङ्कारवादी सम्प्रदाय के आचार्यों में दण्डी ने '**काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते**'[२] कह कर शोभा को आधार माना, वामन ने '**सौन्दर्यमलङ्कारः**'[३] और रुद्रट ने **ज्वलदुज्ज्वल-वाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यं**[३]—कहकर सौन्दर्य को ही काव्य का तत्त्व सिद्ध किया। इस प्रकार अलङ्कार-सम्प्रदाय में सौन्दर्य का आदर यथावत् होता रहा।

रीतिसम्प्रदाय में रीतियों के स्वरूप-वर्णन में सौन्दर्यवाचक शब्दों का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—**ओजः कान्तिमती गौडी,**[४] **माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली**[५] और '**समग्रगुणा वैदर्भी**'[७]। गुणों में सौन्दर्य का निर्देश—'**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः**'[८] करके उन्हें भी सौन्दर्य पर निर्भर माना है। इसी प्रकार 'कान्ति, प्रेयस्, माधुर्य, समता और गति' नामक गुण भी सौन्दर्य के निकट हैं।

ध्वनि-सम्प्रदाय में आनन्दवर्धन ने काव्य के समग्र प्रभाव को लावण्य की समानता में स्थापित करते हुए कहा है कि—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥[९]

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय में कवि की वाणी को 'रसोद्गार-सौन्दर्य-निर्भर' कहते हुए कुन्तक

---

१. काव्यादर्श, २।१। २. काव्यालङ्कारसूत्र, १।१।२। ३. काव्यालङ्कार, १।४.'
४. काव्यालङ्कारसूत्र (वामन) १। १। ११। ५. वहीं १। १। १३। ६. वहीं
७. काव्यालङ्कारसूत्र, ३।१।१
८. **ध्वन्यालोक, १।४।**

ने कहा है कि—

निरन्तर-रसोद्‌गारगर्भ-सौन्दर्य-निर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥[1]

इस प्रकार वक्रोक्ति की परिभाषा में भी '**वैदग्ध्य-भङ्गीभणिति**'[2] का तात्पर्य कौशलपूर्ण उक्तिसौन्दर्य है। औचित्यसम्प्रदाय में—'**औचित्यस्य चमत्कारिणश्चारुचर्वणे**'[3] में चारु शब्द सौन्दर्य का ही वाचक है। रससम्प्रदाय में भरत ने पहले ही '**मृदुललितपद**' का निर्देश किया है, जिसे उत्तरकाल के रसवादी आचार्यों ने यथावत् स्वीकृत किया है। इस प्रकार सौन्दर्य की सत्ता १-'काव्य-चिन्तन' और २-'काव्यतत्त्व-चिन्तन' दोनों में पूर्णतः स्वीकृत कही जा सकती है।

सौन्दर्य का प्रयोग दो प्रकार से होता है—१. **रूपसृष्टि द्वारा** और **२. सौन्दर्यानुभूति द्वारा**। इनमें पहला रूपसृष्टिमूलक प्रयोग अलङ्कारों के द्वारा अधिक सम्भव है। वक्रोक्ति और रीति आदि भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अलङ्कार में जो 'अलं' शब्द है वह पूर्णता-वाचक है। अतः कवि के कथन की पूर्णता भी अलङ्कार से सम्भव है। यह पूर्णता सौन्दर्य से ही प्राप्त होती है। इसी सौन्दर्य को ध्यान में रखकर काव्यसर्जना के मूल तक पहुंचते हुए आचार्यों ने '**अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा**' की ओर '**नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा**' की आवश्यकता पर बल दिया और कवियों ने—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।[4]

कहकर सौन्दर्य के महत्त्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'सौन्दर्य और अलङ्कार एक दूसरे के पर्याय भी हैं और पूरक भी।'

(ख) सौन्दर्य-स्रोत : अलङ्कार

अलङ्कार को सौन्दर्यस्रोत भी कहा जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि—"आलङ्कारिक-प्रयोग द्वारा उक्ति में जो सरसता और मधुरता आती है, वह सर्वग्राही होती है।" इस सर्वग्राहिता के लिए ही कवि अपनी सर्जना को उत्तमोत्तम बनाने का प्रयास और अभिलाषा करता है। क्योंकि—"**काव्यमय्यो गिरो यावच्चरन्ति विशदा भुवि। तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते**" के अनुसार सारस्वत-स्थान-प्राप्ति का यही एक आधार है। इस काव्यमयी वाणी की कल्पान्तरस्थायिता में कवि का पुरुषार्थ भी इसीलिए जागरूक रहता है और वह उत्तमोत्तम सौन्दर्य-सम्पन्न रचना प्रस्तुत कर— यश, अर्थ, व्यवहार, शिवेतर-क्षति, सद्यः परनिर्वृति और कान्तासम्मितोपदेश[5]— जैसी फलाप्ति का भागी बनने का प्रयास करता है।

---

१. वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष ४,
२. वक्रोक्तिजीवित १, ११।
३. औचित्यविचारचर्चा।
४. शिशुपालवधमहाकाव्य, माघ।
५. **काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।**
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (काव्य प्र० १। ३।)

'यह सौन्दर्य किस प्रकार उसकी रचना में व्याप्त हो और पाठक अथवा श्रोताओं के मन को मुग्ध कर उसकी श्लाघा करने के लिए उन्हें बाध्य कर दे, इसके लिए वह काव्य-रचना में अभिप्रेत सभी सौन्दर्य-व्यञ्जक तत्त्वों को चुन-चुनकर एक उत्तम जड़िये की भाँति वर्ण-रत्नों के माध्यम से यथास्थान विन्यस्त करता है। यह कौशल उसे चिरकालिक चिन्तन, मनन, स्वाध्याय एवं एकतान-साधना से प्राप्त होता है। इसकी उपलब्धि 'दैव' और 'पुरुषकार' दोनों की समन्वित अथवा प्रत्येक की विशिष्ट अभिव्यक्ति से सुलभ बनती है।

सौन्दर्य के साहित्यिक उपादानों में-१-सांवेगिक सौन्दर्य और २-वर्णन-सौन्दर्य, ये दो प्रमुख हैं। इनमें सांवेगिकसौन्दर्य की सृष्टि के लिए रस और ध्वनि का आश्रय अपेक्षित होता है एवं वर्णनसौन्दर्य के लिए निरीक्षणशक्ति तथा चयनकौशल की आवश्यकता रहती है। इन सौन्दर्य-तत्त्वों का सम्प्रेषण और सम्मूर्तन करने के लिए भावव्यञ्जना, बिम्बविधान, अप्रस्तुतयोजना, शैलीगत उदारता और रूपातिशायी काव्य-सौन्दर्य की सहायता ली जाती है, जो आन्तरिक अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं जबकि बाह्य अभिव्यक्ति में भाषागत इन्द्रिय-गोचर पक्ष की पुष्टि हेतु वर्णध्वनि तथा अनुरणन-प्रभाव, पद-संघटन एवं अर्थव्यक्ति, छन्दो-विधान और सङ्गीततत्त्व, कल्पना-चातुर्य तथा शिल्प-सौष्ठव आदि आते हैं।

अलङ्कार और सौन्दर्य को पूर्वाचार्यों ने एकरूप ही माना है। यह एकरूपता अलङ्कार शब्द के व्यापकार्थ के कारण ही निर्धारित हुई थी और इसका स्रोत वेदों में प्रयुक्त 'अरङ्कृत, परिष्कृत, शुम्भन, भूषण'-जैसे पदों से होता हुआ चारुत्व और अलङ्कार के रूप में आते हुए काव्यशास्त्र में आकर रूढ हो गया। इसी अलङ्कार में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति अन्तर्हित हैं किन्तु स्वभावोक्ति में कुछ अपवादों को छोड़कर वैसा आकर्षण नहीं है जैसा कि वक्रोक्ति में। वक्रोक्ति में एक प्रकार का चातुर्य और कौशल रहता है जो सहृदय को प्रभावित करता है। कथन-भङ्गिमा रूप को रमणीयता प्रदान करती है, और उसमें बाँकपन भर देती है जिसके परिणामस्वरूप काव्य हृदयहारी हो जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में शब्दालङ्कारों के वर्णध्वनि-सौन्दर्य का विचार हुआ है। वर्णध्वनि के अतिरिक्त विशिष्टार्थ-बोधक विशिष्ट शब्द के सौन्दर्य का विश्लेषण भी किया गया है। उपमा, रूपक, परिकरादि अर्थालङ्कार सांवेगिक-सौन्दर्य की सृष्टि में सहायक माने गये हैं। अतः अलङ्कारों को सौन्दर्यस्रोत कहना युक्तिसङ्गत ही है।

(ग) सौन्दर्यस्रोतोविशेष : अलङ्कार

वैसे तो काव्य में सौन्दर्य का आधान करने के लिए कवि वाणी के वैभव को अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही प्रकारों से सजाता आया है-सँवारता आया है। किन्तु उन सब में अलङ्कार का प्रसार इतना अधिक घर कर गया है कि वह सौन्दर्य-स्रोत ही नहीं अपितु **"सौन्दर्यस्रोतोविशेष"** ही बन गया है।

सौन्दर्य-बोध के साधन 'नेत्र और कर्ण' ये दो मुख्य माने गये हैं। इस बोध में जो

सौन्दर्य के रूप हमारे समक्ष प्रत्यक्ष होते हैं, उनमें (१) ऐन्द्रिय-सौन्दर्य, (२) विधानगत-सौन्दर्य तथा (३) अभिव्यक्ति-सौन्दर्य ये तीन प्रमुख हैं। मानव की अन्तरात्मा की तृप्ति ही काव्य है और वह आत्मा की तृप्ति, काव्य के सौन्दर्य में निहित रहती है। इसी काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि के लिए काव्यकार प्रयत्नशील रहते हैं किन्तु सीधे-सादे भावों में यह सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं होता है। अतः रचना में भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ उक्ति-सौन्दर्य भी अत्यावश्यक होता है। सौन्दर्यशास्त्रज्ञ विदेशी विद्वानों में **डा० होम** का कथन है कि—"भावावेश की स्थिति में अलङ्कार स्वतः उद्भूत होते हैं।[1] **ब्लेयर** महोदय का कहना है कि—भावावेश से भाषा स्वयं अलङ्कृत बन जाती है।[2] इन कथनों में भाव-सौन्दर्य और उक्ति-सौन्दर्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर दोनों का ऐक्य-स्पष्ट हो जाता है। अभिव्यक्ति और अनुभूति में अन्तर दिखानेवाली कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। इसके अतिरिक्त भाषापरिष्कार करनेवाले अलङ्कार ही भाव-प्रयोजन की अन्तर्दृष्टि के भी सूचक होते हैं। इस प्रकार अलङ्कार न केवल काव्यालङ्कृति के हेतु हैं अपितु ये वस्तु और पात्र में निहित मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्य को भी विशद बनाते हैं। इसी प्रकार अलङ्कार शब्द में जो "**अलम्**" शब्द है वह सामर्थ्य का वाचक है, इसलिए अलङ्कार केवल काव्य को अलङ्कृत ही नहीं करते हैं अपितु वे उसमें भावाभिव्यञ्जन का सामर्थ्य भी उत्पन्न करते हैं। इसी से कवि के हृद्गत भाव आविष्कृत होते हैं और मन में स्थित भावों में उज्ज्वलता आती है। इन्हीं कारणों से अलङ्कारों को "सौन्दर्यस्रोतो-विशेष" कहना भी अयथार्थ नहीं है।

५. सौन्दर्यस्रोतोविशेष अलङ्कार का स्वरूप (परिनिष्ठितमत)

इस प्रकार अलङ्कार की इस सौन्दर्यस्रोतोविशेषता से प्रभावित शास्त्रकारों ने अलङ्कार के लक्षणों में भी यथारुचि-यथामति परिष्कार किया है, **"अलं करोति"** और ,**'अलं क्रियतेऽनेन"** इस कर्त्तृवाच्य और करणवाच्य द्वारा इस शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। प्रथम व्युत्पत्ति के आधार 'पर जो भूषित करता है वह अलङ्कार है' और द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है वह अलङ्कार है।' सामान्यतः दोनों व्युत्पत्तियों का एक ही प्रतीक होता है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर कर्तृवाच्य में अलङ्कार काव्य का सहज अथवा स्वाभाविक धर्म है और करणवाच्य में वह साधन मात्र है, सहज अथवा स्वाभाविक नहीं। प्रथम में अलङ्कार ही अलङ्कार्य है, परस्पर कोई भिन्नता नहीं है जबकि दूसरी व्युत्पत्ति में अलङ्कार से भिन्न अलङ्कार्य है। यहाँ अलङ्कार बाह्य धर्म है, अन्तरङ्ग धर्म नहीं। किन्तु इसके विपरीत यह भी कहना उचित प्रतीत होता है कि अलङ्कार यदि हारादि के समान बाह्यधर्म है तो जिस प्रकार हारादि शरीर

---

1. Adol Bergaige : Some observation on the figures of speech in the Rigveda :"Annuals of Bhandarkar Oriental Research institute" Poona, (Vol. 17)

2. Gonda : Stylistic Repetitions in Rigveda.

से उतार कर पृथक् रख दिये जा सकते हैं वैसे ही क्या अलङ्कार भी काव्य से पृथक् किये जा सकते हैं, तो इसका उत्तर निषेध में ही देना होगा।

प्राचीन प्रयोग तथा अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं के आधार पर अलङ्कार-शब्द के अर्थ, स्वरूप एवं प्राप्त परिभाषायें इस प्रकार हैं—

प्रयोग की दृष्टि से ऋग्वेद में अलङ्कार के पर्याय में "अरङ्कृति" और "अरङ्कृत" शब्द प्राप्त होते हैं। यथा :—"**का ते अरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम।** (७।२९।३) तथा—**वायवायाहि ते सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधि हवम्** (।१।१। २।१) इन मन्त्रों में उक्त दोनों शब्द अलङ्कृति और अलङ्कृत के अर्थ में ही प्रयुक्त हैं।[1]

यास्क ने अलङ्कार के पर्याय का प्रयोग "**अलङ्करिष्णु**" तथा "**रोचिष्णु**" शब्दों से किया है।[2]

आलङ्कारिक आचार्यों का मन्तव्य है कि "अलङ्कार" काव्य के वाह्य शोभाकारक धर्म हैं, इस धर्म का फल काव्य का अलङ्करण है। इस दृष्टि से इसका प्राचीनतम अभिधान "अलङ्कार" है। जैसे हारादि रमणी के नैसर्गिक शरीर की शोभावृद्धि के कारण उपकारक होते हैं, वैसे ही ये अलङ्कार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्ष-विधायक हैं। वास्तव में अलङ्कार वाणी के विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभुविष्णुता एवं प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है।

अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह का अलङ्कार से अभिप्राय ऐसी शब्दोक्ति से है, जो वक्रार्थ की विधायिका हो। वक्रोक्ति के बिना कोई अलङ्कार नहीं है, क्योंकि अर्थ को विभामय बनानेवाली समस्त विधा वक्रोक्ति ही है तथा वे काव्य में अलङ्कार

---

१. अन्यत्र भी ऐसे ही प्रयोग निम्न रूप में प्राप्त होते हैं :—

क. **ईडते त्वामवस्यवः करावासो वृक्तबर्हिणः। हविष्मन्तो अरङ्कृताः॥**

(ऋ० १।४।१४।५।)

ख. **वायवायाहि दर्शनीयेमे सोमा अरङ्कृताः। तथा—सोमा अरङ्कृता अलङ्कृतः।**

(यास्क, निरुक्त १०।२२—डा० लक्ष्मणस्वरूप, पृ० १७३)

२. **तितनिषुं धर्मासन्तानादपेतमङ्करिष्णुमयज्वानम्॥ ६।१९॥**

अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः।

(३।१५) इत्यादि।

अञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छत्येव ह मानुषोऽलङ्कारः। (शतपथ, १३।८।४।)

तथा यूनानी में **अरम्-औरम्** का अर्थ सुवर्ण होता है। इसी आधार पर वहाँ भी **अरङ्कार-अलङ्कार** का अर्थ विभूषण माना गया है।

की स्थिति भी आवश्यक मानते हैं।[1] आचार्य दण्डी सदलङ्कृति-काव्य को चिरस्थायी बनाने का कारण बतलाते हुए "काव्यशोभा के सम्पादक धर्मों" को अलङ्कार कहते हैं तथा आगमान्तर में जो सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्यङ्ग, और लक्षण आदि हैं उन्हें भी अलङ्कार मानते हैं।[2] उद्भट इस दिशा में मौन हैं। किन्तु वामन दण्डी के कथन का विरोध करते हुए स्पष्टीकरण देते हैं कि—"काव्य की शोभा बढ़ानेवाले धर्म गुण हैं और अलङ्कार अतिशय के हेतु हैं", अतः अलङ्कार उनकी दृष्टि से शोभाधायक नहीं है।[3]

वामन ने अलङ्कार को सङ्कीर्ण और व्यापक ऐसे दो अर्थों में माना है। फलतः शोभाकर तथा सौन्दर्यमात्र ये दोनों अर्थ उनके अभिप्रेत हैं। इनके अन्तर्गत वे सभी प्रकार इनमें आजाते हैं, जिनके कारण काव्य हमारे मन को आकृष्ट करता है। व्यापक अर्थ में उनका कहना है कि—"अलङ्कार के कारण ही काव्य ग्राह्य-उपादेय है और वह अलङ्कार है "सौन्दर्य"[4]। आचार्य रुद्रट अलङ्कार के महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा रचना के लिये 'चारुत्व' को आवश्यक बताते हुए आग्रह करते हैं कि—'कवि उसी शब्द की रचना करे, जो काव्य को सुन्दर बनाये।[5] ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए 'वाणी की अनन्त शैलियों को "अलङ्कार" कहा है तथा अङ्गी रस के अङ्गाश्रित कटकादि के समान अलङ्कार होते हैं' यह स्पष्ट किया है। वहीं यह भी कहा है कि—"जिसका योग रसाक्षिप्त होने के कारण सफल हो और उसके लिए कवि को स्वतन्त्र प्रयास न करना पड़े, ध्वनिकार के मत में वही अलङ्कार है।" तथा "बाह्यालङ्कार" के समान ही अलङ्कार अङ्गीरस के चारुत्व का हेतु है।[6]

---

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। (काव्यालङ्कार—२। ८५।)
न कान्तमपि निर्भूषं, विभाति वनितामुखम्॥ (वहीं—१। १३।)

२. काव्यं कल्पान्तरस्थायि, जायते सदलङ्कृति। १। १९। तथा—
काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श—२। १।)

३. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः॥ ३। १। १॥ तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः॥
(काव्यालङ्कारसूत्र। ३। १। २।)

४. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। १।१।१। सौन्दर्यमलङ्कारः (१-१-२ वहीं)

५. काव्यमलङ्कर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति॥ १। ३॥ तथा—
रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम्॥ (काव्यालङ्कार। २। ९।)

६. अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः,
(वृत्ति, ध्वन्यालोक, ३। ३७)

क. अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा, मन्तव्याः कटकादिवत्॥ २। ६॥ (वही)

ख. रसाक्षिप्ततया यस्य, बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥ २॥ ६॥ (वही)

ग. अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादतिशयचारुत्वहेतुरुच्यते॥
(दि० उ० कारिका॥ १७॥—वही)

अग्निपुराण में दण्डी के लक्षण को दुहराया गया है।[1] कुन्तक भामह के कथन की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि—"विदग्धों के कथन-प्रकार ही वक्रोक्ति हैं और वे ही "अलङ्कार" हैं।[2] अलङ्कार-युक्त शब्दार्थ ही उनके मत में काव्य है।[3] भोजदेव ने "शृङ्गार-प्रकाश" के दशम प्रकाश में कहा है कि—"काव्य शरीर के चारुत्वरूप उत्कर्ष की सिद्धि के लिये "अलङ्कार" उपकारक है तथा उसके बाह्य, आभ्यन्तर एवं बाह्याभ्यन्तर ऐसे तीन भेद किये हैं। इस दृष्टि से भी "अलङ्कार" हारादिवत् ही सिद्ध होते हैं।[4] क्षेमेन्द्र अलङ्कारों को शोभाकारक वहीं मानते हैं जहाँ उचित स्थान पर उनका निवेश हो।

मम्मट हारादि आभूषणों के समान अलङ्कार और उनमें कादाचित्क रसोपकारकत्व मानते हैं।[6] वैसे अलङ्कार के सम्बन्ध में मम्मट द्वारा कारिकाओं पर निर्मित वृत्ति के चयन से कहीं—"वृत्ति-वैचित्र्य ही अलङ्कार है" तो कहीं "अतिशयोक्ति अलङ्कार है" ऐसे विचार भी उपलब्ध होते हैं। वैचित्र्य के अलङ्कारत्व की पुष्टि वे एक स्थान पर दृष्टान्त द्वारा भी करते हैं। इस परम्परा में रुय्यक ने प्राचीन सभी आलङ्कारिकों के मत का विवेचन तो किया है, किन्तु वे अलङ्कार की परिभाषा पूर्वोक्त ही मानते हैं। वाग्भटद्वय और हेमचन्द्राचार्य ने इसी प्रकार अपनी मूक सम्मति दी है। एक-निष्ठ शैली में निर्मित "चन्द्रालोक" के निर्माता जयदेव कवि केवल 'रसवती कविता को स्वैरिणी' तथा 'निर्विचार' कहते हैं जबकि अलङ्कारयुक्त रचना को 'विचार का उल्लास करने वाली'। उनकी दृष्टि में अलङ्कार के विना कविता उसी प्रकार है

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ॥ (अग्निपुराण ३४२। १७।)

२. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गीभणितिरुच्यते ॥ (वक्रोक्तिजीवित १। १०॥)
यत्रालङ्कार-वर्गोऽसौ, सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१।२०॥ (वहीं)

३. सालङ्कारस्य काव्यता ॥१।६॥ (वही)

४. काव्यशरीरस्य चारुत्वोत्कर्षप्रसिद्धये प्राप्तकालोऽलङ्कारयोग उच्यते।
अलङ्काराश्च त्रिधा—बाह्या आभ्यन्तरा बाह्याभ्यन्तराश्च ॥ (शृङ्गारप्रकाश—दसवां प्रकाश, आरम्भ।)

५. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ॥ (औ० वि० चर्चा ६।)

६. उपकुर्वन्ति तं सन्तं, येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ (का० प्र० ६७।)

क. किञ्च वैचित्र्यमेवालङ्कार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भ-गोचरस्तत्रैव विचित्रतेति वैचित्र्यमेवालङ्कारभूमिः ॥ (शब्दश्लेषवृत्ति, वहीं)

ख. सर्वत्रैवं विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्। ('विशेष' पर वृत्ति—वहीं)

ग. 'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष हेतुः न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। ('कारणमाला' पर वृत्ति, वहीं)

जैसे उष्णता के बिना अग्नि।[1] एकावलीकार विद्यानाथ ने अलङ्कारों के वर्गीकरण में पूरा परिश्रम किया है किन्तु अलङ्कार के लक्षण के सम्बन्ध में वे पूर्वाचार्यों पर ही निर्भर हैं। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ भी 'उत्कर्ष हेतु' के अतिरिक्त कोई विशिष्ट लक्षण नहीं देते। केशव मिश्र और पण्डितराज जगन्नाथ भी इस दिशा में अधिक विवेचन नहीं दे पाये हैं।

(क) वस्तुतः अलङ्कार क्या है ?

अब इस परिभाषा-दर्शक विवेचन के पश्चात् यह पूछा जा सकता है कि—'वस्तुतः अलङ्कार क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त कथन के साररूप में यह दिया जा सकता है :—

१. वर्णन करने की अनेकविध चमत्कृतिपूर्ण शैलियां हैं, जिन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारों के नाम रख लिये और लक्षण बनाये हैं। किन्तु ये शैलियाँ अनन्त हैं, अतः इनका परिगणन सम्भव नहीं।

२. चमत्कार और अनुरञ्जन की भावना से अलङ्कार की उत्पत्ति होती है। यहां "**अलं**" का अर्थ 'पूर्णता' का सूचक है।

३. अलङ्कार यद्यपि बाहरी साधन हैं, तथापि उनके पीछे अलङ्कृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है एवं बाह्य-साधन होने के कारण सर्वप्रथम इस पर दृष्टि जाती है।

४. अभिव्यक्ति की आवश्यकतापूर्ति का उत्तम और सरल माध्यम अलङ्कार है।

५. अलङ्कार शैली की उत्कृष्टता में सहायक होते हैं। वे इतने ऊपरी नहीं हैं, जितने समझे जाते हैं। अलङ्कारों का भी रस से सम्बन्ध है। इनकी भी उत्पत्ति हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्य मात्र की, (नारी के भौतिक अलङ्कारों को धारण करने में भी एक मानसिक उल्लास के अभाव में विधवा स्त्री अलङ्कार धारण नहीं करती।)

६. अलङ्कारों के मूल में हृदय का ओज विद्यमान है। वे मानसिक-चित्रों में स्पष्टता प्रदान करते हैं, विचारों को पुष्टि देते हैं, सादृश्य को विविध रूप में प्रस्तुत करते हैं और रचना में क्रम-निर्देश करते हैं। कुछ अलङ्कारों से विरोध द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके विधाता की सृष्टि से कवि की सृष्टि की विलक्षणता दिखलाई जाती है, कुछ से प्रभाव बढ़ाया जाता है तथा कहीं भाषा में सजीवता लाई जाती है और शब्दमाधुर्य की सृष्टि की जाती है।

---

१. **हंहो चिन्मय चित्त ! चन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्,**
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते ! मास्मत् प्रकाशीभव।
उल्लासाय विचारवीचि-निचयालङ्कारवारांनिधे-
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती॥ १।२॥ तथा—
अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ (चन्द्रालोक—१ ८।)

७. वर्णों के विन्यास-वैचित्र्य के माध्यम से अलङ्कार मानव की कुतूहलाध्यायीवृत्ति के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसे आश्चर्यान्वित करते हैं तथा निरन्तर उत्कर्ष की ओर प्रवृत्त रहने की प्रेरणा देते हैं।

(ख) अलङ्कार का निर्दुष्ट लक्षण (परिनिष्ठितमत)

आलङ्कारिक आचार्यों की ग्रन्थ-परम्परा में 'अलङ्कार' का लक्षण भी विभिन्न रूपों में हमारे समक्ष आया है। और उन सब की धारणाओं में अलङ्कार के जो-जो तत्त्व सामने आये हैं उन सबका ऊहापोह करके किसी एक लक्षण का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। लक्षण-आख्यान की प्रक्रिया में नैयायिक-पद्धति का आश्रय लेकर निम्न पङ्क्तियों में जो निर्दुष्ट लक्षण देने का प्रयास किया है, वह दर्शनीय है—

"अपराङ्गीभूत-रसभावादिभिन्न-व्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति अनुप्रासोपमादिविशिष्ट-शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्न-चमत्कारनिष्ठकार्यता—निरूपित—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-तादृशज्ञाननिष्ठकारणतानिरूपितविषयित्वसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकता तन्निरूपितालङ्कारीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वमलङ्कारत्वम्।"[1]

अर्थात् "अपराङ्गीभूत जो रसभावादि उससे भिन्न जो व्यङ्ग्य उपमादि उससे भिन्न होता हुआ, अनुप्रासादि-विशिष्ट शब्द अथवा उपमादिविशिष्ट अर्थ दोनों में से किसी एक में रहने वाली समवाय-सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई जो चमत्कारनिष्ठ कार्यता, उससे निरूपित जो समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई चमत्कारजनकतावच्छेदकता, उसका जो अलङ्कारीय स्वरूप-सम्बन्ध से अवच्छेदक हो वे,अनुप्रासादि अथवा उपमादि अलङ्कार हैं।"

(ग) प्रस्तुत लक्षण का समन्वय

इस लक्षण का समन्वय यह है कि "वाच्य उपमादि अलङ्कार हैं और व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं हैं" अतः व्यङ्ग्यभिन्न कहा गया, तब आपत्ति आई कि—"रसवत्, प्रेय" आदि तो व्यङ्ग्य ही रहते हैं अतः व्यङ्ग्यभिन्न कहने से कैसे काम चलेगा? तब कहा गया कि रसाभावादि-भिन्न जो व्यङ्ग्य है उससे भिन्न उपमादि को लेना चाहिए। इस पर पुनः आपत्ति हुई कि रसभावादि से भिन्न व्यङ्ग्य हुए उपमादि तथा उनसे भिन्न हुए रसभावादि जो कि ध्वनि हैं; अतः कहा गया कि ऊपर के अङ्ग रसभावादि यहां लेने हैं, जो कि अलङ्कार हैं तब कोई आपत्ति अर्थात् अतिव्याप्ति नहीं होगी।

न्यायशास्त्र में 'अवच्छेदक' शब्द प्रायः तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है— (१) सम्बन्ध, (२) विशेषण और (३) धर्म। यहां लक्षण में यह शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।

---

१. यह लक्षण पं० मधुसूदन शास्त्री ने रसगङ्गाधर की 'मधुसूदनी टीका' की भूमिका में दिया है तथा अन्य अर्थविस्तार भी हमने वहीं से उद्धृत किया है।

अतः अवच्छेदकता के अवच्छेद का अर्थ हुआ—"विशेषणता में विशेषण।" अनुप्रास से युक्त शब्द का अथवा उपमादि से युक्त अर्थ का ज्ञान—कारण है जनक और चमत्कार-कार्य है जन्य। चमत्कार-सुख आनन्दरूप है, अतः वह आत्मा में समवाय-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इससे चमत्कारनिष्ठा कार्यता समवाय-सम्बन्धावच्छिन्ना कही गई है। लक्षण में "समवायसम्बन्धावच्छिन्ना" न कहते तो चमत्काररूपी कार्य जब कालिकादि-सम्बन्ध से कालादि में रहता और उपर्युक्त शब्दार्थ-ज्ञान समवाय-सम्बन्ध से आत्मा में रहता तब कार्य एवं कारण में वैयधिकरण्य हो जाता। क्योंकि सामानाधिकरण्य में ही कार्य-कारणभाव होता है वह सामानाधिकरण्य इस प्रकार भग्न हो गया है। अतः वैयधिकरण्य को लाने के लिए कार्यतावच्छेदक-सम्बन्ध समवाय कहा है। यही स्थिति कारणता की भी है। यदि उपर्युक्त शब्दार्थज्ञान कालिकादि में रहता है तब वही विभिन्नाधिकरणता की आपत्ति यहां भी आती है, अतः कारणतावच्छेदक-सम्बन्ध भी समवाय कहा गया एवं समवाय-सम्बन्धावच्छिन्ना तादृशज्ञाननिष्ठा कारणता कही गई है। ऐसी कारणता के अवच्छेदक विशेषण शब्द और अर्थ हैं। अतः कारणावच्छेदकता अनुप्रासोपमादि-विशिष्ट शब्दार्थान्यतरनिष्ठा रही। कारण है, अनुप्रासादि-विशिष्ट-शब्दज्ञान तथा उपमादि-विशिष्ट अर्थज्ञान, कारणता रही ज्ञान में और ज्ञान में और विशेषण है शब्द एवं अर्थ। अतः कारणतावच्छेदकता शब्द और अर्थ में रही। और शब्द में विशेषण है अनुप्रास, तथा अर्थ में विशेषण है उपमादि, अतः कारणतावच्छेदकता के अवच्छेदक अनुप्रास अलङ्कार और उपमा अलङ्कार हैं।

लक्षण में तादृशज्ञाननिष्ठकारणता से निरूपित की गई अवच्छेदकता को विषयित्व-सम्बन्धावच्छिन्ना क्यों कहा गया? उसकी क्या आवश्यकता है? इसके सम्बन्ध में कहना है कि—यह तो हमने बतलाया है कि अवच्छेदक के तीन अर्थ हैं उसमें एक 'धर्म' भी है। तब विशेषण होने से जैसे शब्द और अर्थ कारणतावच्छेदक होते हैं वैसे ही ज्ञानत्व भी धर्म होने से कारणतावच्छेदक हो सकता है, ऐसे ही वह अवच्छेदकता ज्ञानत्वनिष्ठा भी हो सकती है। उसका निवारण करने के लिए अवच्छेदकता को विषयित्वसम्बन्ध से अवच्छिन्ना कहा गया। ज्ञानत्व तो ज्ञान में समवाय-सम्बन्ध से रहता है और वही हमें विवक्षित है। अतः उस अवच्छेदकता को विषयित्व-सम्बन्धावच्छिन्ना कहा गया।

पुनः प्रश्न होता है कि इस अवच्छेदकता में जो अवच्छेदक है उसको अलङ्कारीय-स्वरूप-सम्बन्धावच्छिन्न क्यों कहा? उसका क्या फल है? इसका उत्तर यह है कि— जैसे उस अवच्छेदकता में विशेषण होने से अवच्छेदकता अनुप्रासादि और उपमादि हैं वैसे ही **"कामिनीगण्डपाण्डुताम्"** इन अनुप्रासादिवाले शब्दों में ण के ठीक बाद पड़नेवाले शब्दों में रहनेवाली आनुपूर्वी (**अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन** शब्द-विशिष्ट-शब्द-रूपानुपूर्वी) और 'चन्द्र के समान मुख' इन उपमादि से युक्त अर्थों में मुखादि में रहनेवाले चन्द्रत्व, मुखत्वादि भी धर्मविधया अवच्छेदक हो सकते हैं। अतः अलङ्कारीय स्वरूप-सम्बन्ध से

अवच्छिन्न अवच्छेदक को कहा गया है। यद्यपि कोई भी आनुपूर्वी शब्दों में रहेगी वह स्वरूप-सम्बन्ध से ही रहेगी तथापि प्रातिस्विकस्वरूप से भिन्न-भिन्न रहेगी। क्योंकि यहां अलङ्कारादि-स्वरूप से रहनेवाली आनुपूर्वी सामान्य-स्वरूप से नहीं रहती। अतः यह लक्षण निर्दुष्ट है।"

६. शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार (वर्गीकरण)

विवेचनशील मानव ने वैज्ञानिकता के आधार पर वस्तु के सही स्वरूप को खोजने का पूर्ण प्रयास किया है। अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यों ने भी अलङ्कारों का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिए प्रस्तुत अनेक अलङ्कारों का मूलाधार ढूंढने का प्रयास किया, यही प्रवृत्ति अलङ्कारों के वर्गीकरण की जन्मदात्री है।

महर्षि भरत ने अलङ्कार-वर्गीकरण की दिशा में कोई मत नहीं दिया है। किन्तु उनके "**शब्दाभ्यासस्तु यमकम्**" इस लक्षण के द्वारा यमक के शब्दालङ्कार होने की धारणा का अनुमान अवश्य होने लगा था। आचार्य भामह ने नामतः शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का निर्देश तो नहीं किया किन्तु 'अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा' अलङ्कारों के कथन में शब्दालङ्कार के प्रथम सूचन से कुछ विभाजन का संकेत अवश्य कर दिया था।[1] आचार्य दण्डी ने सम्भवतः इस विभाजन की दिशा में मध्यम-मार्ग ग्रहण किया। क्योंकि "काव्यादर्श" में अनुप्रास का वर्णन प्रथम परिच्छेद में करके यमक का वर्णन तीसरे परिच्छेद में किया है जबकि उपमादि अलङ्कारों को दूसरे परिच्छेद में आवर्जित कर लिया है। उद्भट ने भी अलङ्कारों के वर्गीकरण में जो पहला वर्गीकरण किया है उसमें आठ अलङ्कार हैं, उनमें चार शब्दपरक और चार अर्थपरक हैं। परन्तु उद्भट उसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं करते हैं। वामन ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं कि जिन्होंने 'काव्यालङ्कार-सूत्र' के चतुर्थ अधिकरण का पहला अध्याय "**शब्दालङ्कार-विचार**" नाम से दिया है और द्वितीय अध्याय का नाम है "**उपमा-विचार**"। द्वितीय अध्याय का नाम "**अर्थालङ्कार-विचार**" न देने में क्या हेतु था? इसका उत्तर केवल यही दिया जा सकता है कि उस समय (९ वीं शती के अर्धांश) तक इस प्रकार का विभाजक-तत्त्व निर्णीत नहीं हो पाया होगा!

अतः आचार्य रुद्रट ही ऐसे आचार्य हैं कि जो शब्दालङ्कार का स्पष्ट विभाजन करते हैं तथा "**शब्दस्य** और **अर्थस्य**" कह कर स्वतन्त्र विभाजन भी प्रस्तुत करते हैं।

रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार में द्वितीय से पञ्चम अध्याय तक शब्दालङ्कार तथा सप्तम से दशम अध्याय तक अर्थालङ्कार का विवेचन किया है। दूसरे अध्याय में ही वे

---

१. द्रष्टव्य, काव्यालङ्कार, भामह-रचित।

कहते हैं—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् ।
शब्दस्यालङ्काराः श्लेषेऽर्थस्यापि सोऽन्यत्तु ॥ १३ ॥

रुद्रट के उपर्युक्त षष्ठ्यन्त पदों के द्वारा हमें दिशाज्ञान अवश्य होता है किन्तु इससे भी अधिक स्पष्टीकरण में प्राथमिकता "अग्निपुराण" को ही प्राप्त होती है । यहां केवल निर्देश ही नहीं है, अपितु शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा शब्दालङ्कार के पृथक् पृथक् लक्षण भी निर्धारित कर दिये हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं :—

जो अलङ्कार व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दों की विशिष्ट संयोजन-शैली द्वारा शब्द को अलङ्कृत करते हैं, उन्हें शास्त्र के ज्ञाता "शब्दालङ्कार" कहते हैं ।[1]

अर्थों के चमत्कार को "अर्थालङ्कार कहते हैं । इसके बिना काव्य शब्द-सौन्दर्य-समन्वित होते हुए भी हृदयस्पर्शी नहीं होता ।[2]

शब्दार्थालङ्कार (उभयालङ्कार) शब्द और अर्थ, दोनों को समान-रूप से उस प्रकार अलङ्कृत करते हैं जिस प्रकार स्त्रियों के वक्ष को हार उरोजों के साथ-साथ उनके ग्रीवा-सौन्दर्य को भी बढ़ाता है ।[3]

भोजराज ने "सरस्वतीकण्ठाभरण" में शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार के नाम से अलङ्कारों को विभक्त करके उन्हें ही बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तरालङ्कार नाम से तीन वर्गों में विभक्त किया है ।[4] तथा व्युत्पत्त्यर्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि "जो शब्द का अलङ्करण करता है वह शब्दालङ्कार है, जैसे जाति आदि । जो अर्थ का अलङ्करण करता है, वह विद्वानों द्वारा अर्थालङ्कार कहा गया है, जैसे जाति (स्वभावोक्ति) आदि ।[5]

---

१. ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः ।
शब्दालङ्कारमाहुस्तान् काव्यमीमांसका विदः ॥ (अग्निपुराण ३४२ अध्याय १८-१९)

२. अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते ।
तं विना शब्द-सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥१॥ (वहीं ३४४ अ०)

३. शब्दार्थयोरलङ्कारौ, द्वावलङ्कुरुते समम् ।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियः ॥१॥ (वहीं ३४५ अ०)

४. शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलङ्कारान् कवीश्वराः ।
बाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति ॥२-१॥ (सरस्वती-कण्ठाभरण ।)

५. ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुं मिह क्षमाः ।
शब्दालङ्कार-संज्ञास्ते, ज्ञेया जात्यादयो बुधैः ॥२-२॥ (वहीं)
अलमर्थमलङ्कर्तुं, यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना ।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेऽर्थालङ्कारसंज्ञया ॥३-१॥ (वहीं)

जिन शब्दों और पदार्थों से उपमादि-विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, वे उभयालङ्कार हैं, ऐसा कविगण मानते हैं।[1]

आचार्य मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धान्त ही इनका नियामक माना है। शब्दालङ्कार में "शब्द-विशेष" से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध रहता है और अर्थालङ्कार में शब्द परिवर्तित हो जाने पर भी अर्थ-विशेष से अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध बना रहता है। जो अलङ्कार शब्दार्थ में जिसके आश्रित रहता है, वह उसी का अलङ्कार होता है।[2]

यहीं से उत्तरवर्ती सभी आलङ्कारिक आचार्यों में अलङ्कारों का यह तीन प्रकार का वर्गीकरण सर्वसम्मत बन गया। उभयालङ्कार को मिश्रालङ्कार के नाम से विद्यानाथ ने सम्बोधित किया है जो कोई नवीनता का सूचक नहीं है।

इसके पश्चात् यदि कहीं विसंवाद हुआ है तो इस बात में कि किस अलङ्कार को किस विभाग में स्थान दिया जाय? इस दृष्टि से 'पुनरुक्तवदाभास, श्लेष और वक्रोक्ति' बहुचर्चित हैं,, जिनका विचार हम उन-उन अलङ्कारों के विवेचन में करेंगे।

७. शब्दालङ्कार : स्वरूप और सीमा

उपर्युक्त विवेचनों से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि शब्दालङ्कार अलङ्करण और सौन्दर्य की दृष्टि से जन-जीवन के अतिनिकट है। प्रत्येक वाग्व्यवहार में इसका प्रवेश ही नहीं अपितु स्वाभाविक समावेश है। नेत्रेन्द्रिय के लिए दृश्यगत, कर्णेन्द्रिय के लिए शब्दगत तथा मन में रसगत आस्वाद की विविधता के समान ही अपने विभिन्न रूपों से परिपूर्ण शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेद उसकी अनिवार्यता को भी व्यक्त करते हैं।

शब्दालङ्कार का लक्षण अग्निपुराण के अनुसार निम्नलिखित है—

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिमह क्षमाः।
शब्दालङ्कारमाहुस्तान् काव्यमीमांसका विदः ॥३४२।१८।१९॥

अतः जो व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दों की विशिष्ट संयोजन-शैली द्वारा शब्दों को अलङ्कृत करते हैं, उन्हें काव्यमीमांसक विद्वान् "शब्दालङ्कार" कहते हैं। यहां **"शब्द"** से उसके अंशरूप वर्णों और वाक्यों का भी समावेश हो जाता है।[3]

---

१. **शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य, उपमादिः प्रतीयते।**
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालङ्क्रिया मताः।। ४। १॥ (वही)

२. काव्य-प्रकाश, मम्मट पृ० ५३५।

३. (क) भामह के कथन "**सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।** (१-४) की पुष्टि इससे होती है। (काव्यालङ्कार)
(ख) भोज ने तो इसी पद्य को सामान्य परिवर्तन के साथ ही उद्धृत कर दिया है। (द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण २। २)

शब्दों का अलङ्करण कैसे होता है यह भी विचारणीय है। इसके लिए उपलब्ध अलङ्कृत रूपों से ही प्रक्रियाओं का चयन किया जाए तो उनमें निहित-**"विन्यास-वैशिष्ट्य"** की प्रक्रिया में सभी का समावेश हो जाता है। साथ ही उस अलङ्करण-विधा में औचित्य पर भी पूर्ण ध्यान रहना चाहिए-जिससे "मुकुट में काच और चरण-पादुकाओं में मणि" लगाने से बचा जा सके।[1]

इस तरह शब्दालङ्कार का स्वरूप समस्त वाङ्मय में वर्ण-विन्यास-सौष्ठव पर अवलम्बित है और वह अन्वय-व्यतिरेकभाव[2] अथवा आश्रयाश्रयिभाव[3] से व्याप्त है। यह शब्दालङ्कार—

१. भाषा की परिष्कृत सृष्टि **२. नादसंसार की परिव्याप्ति,**

३. चमत्कार-प्रवणता, **४. मनोवैज्ञानिक दृष्टि**

५. भावतीव्रता **६. विशिष्ट अन्तर्दृष्टि का विवेचन तथा**

७. वस्तुजगत् में प्रच्छन्न भाव— को विभिन्न दृष्टि से उभारकर गति प्रदान करता है।

शब्दगत सौन्दर्य और श्रवण की रमणीयता, वर्णावृत्ति, शब्दावृत्ति, पदावृत्ति, अर्धश्लोकावृत्ति और श्लोकावृत्ति, प्रयत्नलाघव, उच्चारण-साम्य, ध्वनिसाम्य एवं कौतुक-सृष्टि के कारण इस अलङ्कार के प्रति पूर्णानुराग की अभिवृद्धि होती रही है और यही कारण है कि इसके प्रयोग की सीमा किसी एक अंश में नियन्त्रित न रहकर सर्व-साधारण साहित्य में व्याप्त हो गयी है।

ऐसे व्यापक प्रभावी शब्दालङ्कार के वास्तविक 'स्वरूप और सीमा' को साहित्य के क्षेत्र से निरीक्षण एवं परीक्षण-पूर्वक चयन कर सर्वेक्षण करने का प्रयास हम अग्रिम अध्यायों में कर रहे हैं।

———

१. **यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते भवति योजयितुर्वचनीयता॥** (पञ्चतन्त्र)

२. **योऽलङ्कारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलङ्कारः।** (काव्यप्रकाश, १०-१४१ वृत्ति)

३. **लोके हि योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलङ्कारः।** (अलङ्कारसर्वस्व)

[द्वितीय अध्याय]

(१) शब्दालङ्कार-निरूपक 'लक्षण-ग्रन्थ'

[भरत से आज तक यथोपलब्ध अलङ्कार-ग्रन्थों की क्रमशः विस्तृत विवेचना]

१ ग्रन्थ विवेचना के मानबिन्दु

प्रस्तुत ग्रन्थ का क्षेत्र काव्यशस्त्र के एक प्रमुख अङ्ग अलङ्कार के प्रथम भेद 'शब्दालङ्कार' तक ही सीमित है। अतः यहां शब्दालङ्कार और उसके भेद-प्रभेदों का लक्षणात्मक-विवेचन करनेवाले काव्यशास्त्रान्तर्गत लक्षण-ग्रन्थों की ही विवेचना की जाएगी।

अलङ्कारों का लक्षणात्मक-विवेचन करनेवाले ग्रन्थों की परम्परा अतिदीर्घ है। भरत से आज तक इतने अधिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है कि जिनका सम्पूर्ण सङ्कलन एक दुष्कर कार्य हो गया है। साथ ही लक्षणग्रन्थों पर ही टीका करनेवाले आचार्यों ने यत्रतत्र अपने अभिमत भी प्रस्तुत किये हैं जो कि लक्षण की कोटि में ही आ जाते हैं। हम यहां अपनी सीमा, अपेक्षा एवं उपयोगिता आदि को ध्यान में रखकर 'उपलब्ध 'ग्रन्थ' और 'ग्रन्थकारों' का क्रमशः परिचय दे रहे हैं। इनके कालनिर्धारण के लिये हम संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों पर ही अवलम्बित रहते हुए विवेचना करेंगे।[१]
प्रस्तुत विवेचन के मानबिन्दु हमने निम्नलिखित निर्धारित किये हैं :—

(क) प्रत्येक में विवेचित शब्दालङ्कार।

(ख) पूर्ववर्ती दाय का निर्वाह।

(ग) स्वतन्त्र एवं नवीन उद्भावनाएं (अंशतः नवीन अथवा सर्वथा नवीन)।

(घ) सहमति अथवा असहमति।

(ङ) प्रभाव-विश्लेषण :—

(१) **व्यक्तिगत रुचि,** (२) **साहित्यिक मूल्य एवं** (३) **मानवीय मूल्य** (के आधार पर प्रत्येक प्रकार का विश्लेषण।)

साथ ही हमने पहले अध्याय में शब्दालङ्कार और उसके प्रमुख भेदों का संक्षिप्त सूचन कर दिया है तथा अग्रिम तीसरे अध्याय में इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर सञ्चित भेद-प्रभेदों की विस्तृत सूची भी प्रस्तुत कर रहे हैं, अतः यहां केवल सङ्ख्यात्मकनिर्देश

---

१. कालक्रम का उपलब्ध निर्देश 'ग्रन्थ और ग्रन्थकार' के नामसूचन के साथ शीर्षक की पङ्क्ति में ही चापबन्धनी (   ) में अङ्कित किया जा रहा है।

द्वारा ही विषय-वस्तु की प्रस्थापना करेंगे किन्तु अपने अङ्ग का पूरा परिचय प्राप्त हो सके इस दृष्टि से—

१- ग्रन्थकार की अलङ्कार-सम्बन्धी धारणा,

२- शब्दालङ्कारों का क्रम,

३-उदाहरण-योजना और निरूपण-शैली तथा

४- प्रमुख टीका एवं टीकाकार—

जैसे विषयों को भी इसमें आवर्जित करने का प्रयास हमारा पक्ष रहेगा।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि काव्यशास्त्र के विवेचक आचार्यों की ग्रन्थरचनाओं के मुख्यतः निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं —

१-समग्र काव्यशास्त्र-विवेचक ग्रन्थ,

२-काव्यशास्त्र के कुछ विशिष्ट विषय-विवेचक ग्रन्थ,

३-शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थोभयविध अलङ्कार-विवेचक ग्रन्थ,

४-अलङ्कार के किसी एक भेद के विवेचक ग्रन्थ।

इन चारों प्रकार के ग्रन्थों की रचना में भी दो प्रकारों का और प्रयोग हुआ है जिनमें पहला है -(१) विभिन्न कवियों द्वारा निर्मित रचनाओं से तथा यत्र-तत्र स्वनिर्मित रचनागत और स्वतन्त्र पद्यादि के उदाहरणों से संयुक्त एवं दूसरा है—(२) किसी एक आश्रयदाता की प्रशंसा में निर्मित पद्यादि के उदाहरणों से संयुक्त।[1]

ऐसे ग्रन्थों में जिन आचार्यों ने केवल अर्थालङ्कारों का ही विवेचन किया है उनका इस शोधप्रबन्ध के परिवेश में समावेश न होने से हम निर्देश नहीं करेंगे।

---

१. अलङ्कारशास्त्र-निरूपण के रूपों का सङ्ग्रह हमने अपने ग्रन्थ '**संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार**' पृ० २१-२२ में इस प्रकार दिया है। यथा—

१. काव्यशास्त्र के सर्वाङ्ग-निरूपण में अलङ्कार-निरूपक।

२. विभिन्न सम्प्रदायगत विषयों के निरूपण में अलङ्कार-निरूपक।

३. शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के निरूपक।

४. केवल अर्थालङ्कार के निरूपक।

५. केवल शब्दालङ्कार के किसी विशेष भेद के निरूपक।

और इन ग्रन्थों की 'निरूपण-शैली' के विभिन्न मार्ग इस रूप में सङ्कलित किए हैं—

१. लक्षण और लक्ष्य शैली (भामह, दण्डी आदि के ग्रन्थ)।

२. सूत्र और कारिका शैली—(वामन आदि के ग्रन्थ)।

(क) काल-विभाजन : एक दृष्टि

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का इतिहास लिखते समय डा० सुशीलकुमार डे और म० म० पी० वी० काणे ने ऐसा कोई 'काल-विभाजन' नहीं किया है कि जिसमें सभी आचार्यों के ग्रन्थों को उसमें विभाजित किया जा सके। आचार्य विश्वेश्वर ने अपने 'काव्य-प्रकाश' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में इस बात की ओर ध्यान दिया है और अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास को अज्ञात काल से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक चार कालों में विभाजित किया है। यथा—

१. **प्रारम्भिक काल** (अज्ञातकाल से लेकर भामह तक)
२. **रचनात्मक काल** (भामह काल से लेकर आनन्दवर्धन तक, अर्थात् ६०० विक्रमी से ८०० विक्रमी तक)
३. **निर्णयात्मक काल** (आनन्दवर्धन काल से लेकर मम्मट तक, अर्थात् ८०० विक्रमी से १००० विक्रमी तक)
४. **व्याख्याकाल** (मम्मट से लेकर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित तक, १००० विक्रमी से १७५० विक्रमी तक)।

वहीं प्रकारान्तर से अन्य विद्वानों के अभिमतानुसार काल-विभाग दिखलाते हुए ध्वनिसिद्धान्त को साहित्यशास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मानकर तीनों विभागों में विभक्त दिखलाया है। यथा—

१. **पूर्व ध्वनिकाल** (प्रारम्भ से आन्दवर्धन ८०० विक्रमी तक)
२. **ध्वनिकाल** (आनन्दवर्धन ८०० विक्रमी से मम्मट १००० विक्रमी तक)
३. **पश्चात् ध्वनिकाल** (मम्मट १००० विक्रमी से जगन्नाथ १७५० विक्रमी तक)

उपर्युक्त काल-विभाजनों में प्रकारान्तर से निरूपित तीन भागों का सम्बन्ध ध्वनि से है, अतः यह एकाङ्गी ही है। इसी प्रकार से साहित्यशास्त्र के अन्य सम्प्रदाय (१) रस, (२) अलङ्कार, (३) रीति, (४) वक्रोक्ति एवं (५) औचित्य आदि के भी भाग हो सकते हैं किन्तु उनसे पारस्परिक एकवाक्यता का कोई स्वरूप नहीं बैठता है। प्रथम चार काल-विभाजनों में द्वितीय भाग 'रचना' के स्थान पर 'लक्षण-निरूपण' शब्द देकर इसे

---

३. **कविकर्म-प्रधान केवल लक्ष्यशैली**—(भट्टिकाव्यादि)।
४. **लक्षणोदाहरण-समन्वित शैली** (चन्द्रालोक आदि)।
५. **देवस्तुति, राजस्तुति एवं अन्यान्यमाध्यमों के आधार पर निरूपित प्रकीर्ण शैली** (विद्यानाथ, नञ्जराज आदि के ग्रन्थ)।
६. **काव्य-शिक्षा** के माध्यम से विचरित ग्रन्थ (काव्य-मीमांसा, काव्य-शिक्षा आदि)।

'लक्षण-निरूपणात्मक-काल' कहा जाए तो समीचीन होगा। 'निर्णयात्मक-काल' के स्थान-पर यदि **'स्वरूप-विकासात्मक काल'** और 'व्याख्यात्मक-काल' के स्थान पर **'प्रयोग-विस्तारात्मक काल'** नाम दें तो अनुचित न होगा। वैसे हम डा० नेमिचन्द्रशास्त्री के इस विचार से भी सहमत हैं कि इसे (१) **आदिम स्थिति**, (२) **विकसित स्थिति** एवं (३) **प्रतिष्ठित स्थिति** जैसे तीन स्वरूपों में विभक्त माना जा सकता है।[1] और इन सबसे अधिक उत्तम विभाजन यह हो सकता है—

१. **आदि काल** (वैदिक काल से लेकर भरत तक)
२. **पूर्वमध्य काल** (भरतकाल से लेकर आनन्दवर्धन तक)
३. **उत्तर मध्यकाल** (आन्नदवर्धन काल से लेकर जगन्नाथ तक)
४. **आधुनिक काल** (जगन्नाथ काल से लेकर वर्तमान तक)

इस विभाजन में पूरी परम्परा का पर्यालोचन हो जाता है और अर्वाचीन विद्वानों के श्रम एवं विचारों को भी देखा-परखा जा सकता है। अतः हम इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर 'शब्दालङ्कार-निरूपक लक्षण-ग्रन्थों' का इतिहास यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) आदिकाल

(अज्ञात काल से ईसा पूर्व २००; वैदिक काल से भरत के समय तक)

(क) वैदिक एवं वेदाङ्ग-साहित्य में शब्दालङ्कार

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने विश्व साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ **'ऋग्वेद'** को माना है और हमारे प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोण के अनुसार वेद सभी सत्य-विद्याओं के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। सभी सत्यविद्याओं की उत्पत्ति और विकास वेदों से ही हुआ है इसलिए सभी विद्याओं के मूल तत्त्वों का अनुसन्धान वेदों में किया जाता है। साहित्यशास्त्र की अनुसन्धान-प्रक्रिया में भी इसके मूल सिद्धान्तों का अन्वेषण वेदों में करने का यत्न हुआ है और इस शास्त्र का वेदों से कोई साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी **'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**[2] जैसे श्रुतिवाक्य के आधार पर इन्हें **'देवकाव्य'** के रूप में देखा गया है। इस दृष्टि से वेदों में काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है और काव्यसौन्दर्य के निरूपक साहित्यशास्त्र में काव्य-सौन्दर्य के आधायक जिन गुण, रीति, अलङ्कार, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है, वे सभी मूल तत्त्व वेदों में प्राप्त होते हैं।

अनेक विद्वानों ने वेदों में उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों के प्रयोगों को वेदमन्त्रों में दिखलाते हुए अलङ्कारों के स्वरूप-दर्शन भी कराये हैं।[3] हमने भी शब्दालङ्कारों से सम्बद्ध वेद-मन्त्रों का संक्षिप्त निदर्शन अपने ग्रन्थ में प्रत्येक शब्दालङ्कार के **'ऐतिहासिक पर्यालोचन'**

---

१. द्रष्टव्य—"अलङ्कार-चिन्तामणि"—भूमिका,
२. तथैव—**देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यो ममार सह्यः समान।** (ऋग्० १०।५५।५०)
३. द्रष्टव्य म० म० पी० वी० काणे, डा० सुशील कुमार डे, आचार्य विश्वेश्वर आदि।

में किया है[1] तथा प्रस्तुत प्रबन्ध के उत्तर भाग खण्ड १, अध्याय १ से **'वैदिक पद्य वाङ्मय में शब्दशय्या'** (स्वरूप दर्शन) में भी विस्तार करने जा रहे हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि "वेदों में शब्दालङ्कारों के मौलिक प्रयोगों का सुन्दर समावेश हुआ है तथा इन्हीं का विस्तार उत्तरकालीन साहित्य में निखरते हुए विस्तार को प्राप्त हुआ है।"

'वैदिक-साहित्य में ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपषिदों को भी आवर्जित किया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक सिद्धान्तों को अनेक सरस, रोचक और आकर्षक आख्यानों द्वारा समझाया गया है। इन्हीं आख्यानों में शब्दशय्या के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं। यही स्थिति आरण्यकों की भी है। वानप्रस्थाश्रम के यज्ञ, महाव्रत एवं होत्र आदिक कर्मों, उनकी व्याख्याओं एवं विधियों का प्रतिपादन आरण्यक ग्रन्थों का प्रमुख विषय है। कुछ शब्दालङ्कारों के रूप इनमें भी दर्शनीय हैं। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग होने के कारण उनके सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं। आत्मतत्त्व एवं परमात्मतत्त्व के निरूपण के लिये प्रयुक्त उपनिषदों की शैली साहित्यिक-पद्धति के अधिक निकट है। शब्दालङ्कार के उदाहरणों की उपलब्धि भी इनमें पर्याप्त मात्रा में हो सकती है।

इसी वाङ्मय की दूसरी कड़ी है 'कल्पसूत्र'। श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व के नाम से विभक्त चतुर्विध कल्पसूत्रों में वैदिक-विधानों को सूत्रों की संक्षिप्त एवं सङ्केतपरक भाषा में लिखा गया है इनमें प्रयुक्त गद्यशैली में हमारे शब्दगत अलङ्कारों के दर्शन होते हैं।

वेदाङ्गों में छह अङ्ग सम्मिलित हैं, जिनमें 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष' की गणना होती है।[2] वैदिक मन्त्रों के शुद्ध एवं उचित उच्चारण के लिये शिक्षा की, कर्मकाण्ड तथा यज्ञिय अनुष्ठान के लिये कल्प की, अर्थ-ज्ञान के लिये शब्दों के निर्वचन हेतु निरुक्त की, वैदिक छन्दों के लिये छन्द की और अनुष्ठानों के उचित काल-निर्धारण के निमित्त ज्योतिष की आवश्यकता होने से ये अङ्ग उसके पूरक बने। इन सबका अपने-अपने क्षेत्र में ज्यों-ज्यों विकास होता गया ये शब्दालङ्कार का पोषण करने में उपयोगी सिद्ध हुए।

इतना सब होते हुए भी इस काल के ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय लक्षणों के लिये निरुक्त को छोड़कर कहीं भी कोई चर्चा नहीं हुई है। निरुक्तकार ने उपमा के कुछ रूपों का नामतः निर्देश किया है किन्तु अलङ्कार के रूप में उनके लक्षण नहीं दिये गये हैं। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि इन अलङ्कारों के वीज अवश्य ही वैदिक-वाङ्मय में विद्यमान थे किन्तु उनके अङ्कुरित रूप के प्रथम दर्शन कराने का श्रेय भरतमुनि को ही प्राप्त है।

---

१. द्रष्टव्य—**संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार।**

२. **शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः।**
ज्यौतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु॥ (पाणिनीय शिक्षा)

(१) नाट्यशास्त्र : भरतमुनि (ई० पू० २०० से ई० सन् २०० के बीच)

अलङ्कार-योजना और शब्दशय्या-मूलक वाक्यविन्यासों का प्रारम्भिक रूप वेद और वेदाङ्ग साहित्य में तथा आदिकाव्य रामायण एवं महाभारत में उनका कुछ विकसित रूप जब हम देखते हैं तो सहज आभास हो जाता है कि इन दोनों धाराओं के मध्यवर्ती काल में अवश्य ही लाक्षणिक-साहित्य की रचना प्रारम्भ हो गई होगी ! यास्क द्वारा उद्धृत गार्ग्य[1] का कोई ग्रन्थ प्राप्त न होने तथा यास्क के निरुक्तकार आचार्य की कोटि में सुसम्मानित होने के कारण भरत ही अलङ्कारशास्त्र और नाट्यशास्त्र के सर्वप्राचीन आचार्य एवं उनका 'नाट्यशास्त्र' ही इस परम्परा का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसमें उल्लिखित **सुवर्णनाथ, नन्दिकेश्वर** तथा **कुचुमार**[2] आदि प्राचीन आचार्यों के भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

जैसा कि **'नाट्यशास्त्र'** नाम से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ मुख्य रूप से 'नाट्य' को लक्ष्य में रखकर लिखा गया था किन्तु इसके सोलहवें अध्याय में काव्यशास्त्रीय-सिद्धान्तों का भी विवेचन है। इस अध्याय का नाम **'अलङ्कार-लक्षण'** है। यहां अलङ्कार शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, शास्त्रीय अर्थ में नहीं। इस अध्याय में ३६ काव्य-विभूषण, ४ अलङ्कार, १० काव्यदोष तथा २० काव्यगुणों के अनन्तर इनका प्रयोग समझाया गया है। इनमें निर्दिष्ट ४ अलङ्कारों में **उपमा, रूपक** और **दीपक** के पश्चात् चौथा अलङ्कार **'यमक'** है।

"**शब्दाभ्यासस्तु यमकम्**--शब्दाभ्यास ही यमक है,"—इस लक्षण के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ अर्थालङ्कार को स्थान मिला है। इस यमक के १० भेद बताते हुए भरत ने इनके उदाहरणों के आधार पर ही लक्षण-ज्ञान का सङ्केत दिया है। यमक के इन १० भेदों के नाम इस प्रकार है—

(१) पादान्त, (२) काञ्ची, (३) समुद्ग (४) विक्रान्त, (५) चक्रवाल, (६) सन्दष्ट, (७) पादादि, (८) पादान्ताम्रेडित, (९) चतुर्व्यवसित तथा (१०) माला।

इन भेदों के नामकरण में कहीं 'स्थानगत' तो कहीं 'वाक्यगत-वैशिष्ट्य को महत्त्व मिला है। किन्तु इस भेद-निरूपण में किसी व्यवस्थित-पद्धति का आश्रय नहीं लिया गया, यह स्पष्ट है।[3] इसके दो कारण हम मानते हैं। पहला है—विषय की आनुषंगिकता, और दूसरा है—स्थिर-दृष्टि का अभाव। इससे यह भी निश्चित हो जाता है कि भरत को किसी 'पूर्ववर्ती दाय' की प्राप्ति नहीं हुई थी। उन्होंने अपने चिन्तन को बीजरूप में यहां प्रस्तुत कर दिया। यह उनकी सर्वथा स्वतन्त्र एवं नवीन उद्भावना ही मानी जानी चाहिये क्योंकि यदि पूर्वदाय मिलता तो वे परिष्कार करके ही नाम और भेद प्रस्तुत करते।

---

१. अथात उपमा यद्—"अतत्-तत् सदृशमिति गार्ग्यः।" निरुक्त ३।१३ १८
२. नाट्यशास्त्र ९। १३०; ९। ११४; ९। १६६।
३. इस सम्बन्ध में लेखक ने तालिकाओं द्वारा स्पष्टता करके एक व्यवस्थित रूप भी प्रस्तुत किया है। द्रष्टव्य—संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार—पृ० ११२—१२०

तटस्थ विचारक होने के नाते भरत ने इन अलङ्कारों के सम्बन्ध में सहमति अथवा असहमति तो नहीं दिखलाई है किन्तु एक शब्दालङ्कार दिखला कर उसके दस भेदरूप नाम और उदाहरणों की प्रस्तुति उनकी इसके प्रति अभिरुचि अवश्य व्यक्त करती है। इस यमक और इसके दस भेदों का प्रभाव उत्तरवर्ती समस्त अलङ्कारशास्त्र-निर्माताओं पर पड़ा है तथा **'अनुप्रास'** की उत्पत्ति एवं अन्याय भेदोंपभेदों का यही मूलस्रोत रहा है। भरत की अलङ्कार-सम्बन्धी धारणा, क्रम-विन्यास की लक्ष्य और उदाहरण-योजना एवं निरूपण-शैली का कोई स्वरूप यहाँ स्पष्ट नहीं हो पाया है।

नाट्यशास्त्र पर प्रायः नौ प्रख्यात आचार्यों ने टीकाएं लिखी हैं जिनमें 'हर्ष, उद्भट, लोल्लट, शङ्कुक, मातृगुप्त, भट्टनायक और अभिनव गुप्त' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अभिनव गुप्त की **'अभिनव-भारती'** इन सब में सर्वोपरि है[1]। यमक के उदाहरणों में आवृत्त शब्दों में कहीं-कहीं भिन्नार्थ दिखलाने का प्रयास अभिनव गुप्त ने किया है,[2] जो उत्तरकालिक-लक्षण के प्रभाव का सूचक है।

इस प्रकार भरत-प्रोक्त ''यमक ही शब्दालङ्कारों का मूल है भरत द्वारा यमक में भिन्नार्थता को महत्त्व न देना तथा पादगत शब्दों के विकल्प से विविध भेद प्रस्तुत करना पुरोवर्ती आचार्यों के लिए अवश्य ही मार्ग-दर्शक रहा है।

(२) पूर्व मध्यकाल

(भरत के काल से लेकर आनन्दवर्धन तक)

भरत से परवर्ती एवं भामह से पूर्ववर्ती आचार्य

भामह के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों का यद्यपि कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है किनतु भामह के द्वारा अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का 'अन्य, **कश्चिद्, अपरे, केचित्** आदि पदों से और रामशर्मा, मेघाविन्, राजमित्र, अच्युतोत्तर एवं शारदावर्धन आदि नामों से; तथा दण्डी के द्वारा ज्ञात होता है कि इनसे पूर्व अलङ्कार-सम्प्रदाय और उनका विवेचन अवश्य ही आरम्भ हो चुका था। शब्दालङ्कार के क्षेत्र में अनुप्रास का जन्म, प्रहेलिका और यमक के दुष्कर भेदों का विकास तथा अर्थालङ्कारों से पूर्व शब्दालङ्कारों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना सम्भवतः इसी काल की देन है। इसके अतिरिक्त इस काल में काव्यशास्त्र का पर्याप्त विकास, अनुप्रास के 'ग्राम्य' और 'लाट' नामक भेदों का निरूपण और मत-मतान्तरों का खण्डन भी होने लगा था, जिसे भामह ने 'गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः, स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः। (३।५८ काव्यालङ्कार) कहकर स्पष्ट किया है। इसके साथ ही इस काल में निर्मित रघुवंशादि काव्य भी इस बात के पूर्ण साक्षी हैं कि अवश्य ही शब्दालङ्कारों का विस्तार एवं विवेचन इस काल में हुआ होगा।

---

१. यही टीका अब उपलब्ध है तथा अन्य अप्राप्य है।

२. नाट्यशास्त्र अ० १६ में पादादियमक का उदाहरण और उसकी टीका।

(२) काव्यालङ्कार : भामह (सन् ५०० से ६०० ई० के बीच)

रक्रिल गोमिन् के पुत्र भामह ने 'काव्यालङ्कार' के छह परिच्छेदों में से द्वितीय परिच्छेद में गुणों की अतिसंक्षिप्त चर्चा करके अलङ्कारों का विवेचन किया है। अलङ्कार से भामह का अभिप्राय ऐसी वाणी/उक्ति से है, जो वक्रार्थ की विधायिका हो। 'वक्रोक्ति के बिना कोई अलङ्कार नहीं है, क्योंकि अर्थ को विभामय बनानेवाली समस्त विधा वक्रोक्ति ही है। अतः समस्त अलङ्कार वक्रोक्ति-मूलक हैं। यह कहकर केवल पांच अलङ्कारों का ही विवेचन किया है, जिनमें प्रथम दो 'अनुप्रास और यमक' शब्दालङ्कार हैं। अनुप्रास के ग्राम्य और लाट नामक दो भेदों की चर्चा उनके उदाहरणों द्वारा उपेक्षा-भाव से है तथा यमक के "आदि, मध्यान्त, पादाभ्यास, आवली और समस्तपाद" ऐसे पांच भेदों का सलक्षण विवेचन किया है।

भरत एवं अन्य स्वपूर्ववर्ती आचार्यों के दाय का निर्वाह करते हुए भी भामह ने "अनुप्रास' अलङ्कार और उसके दो भेदों की नवीन उद्भावना की है जिसे सर्वथा नवीन कहना भी अनुचित नहीं होगा। यमक की पूर्वोक्त भेद प्रक्रिया में 'अनन्तर' और' एकान्तर' का सूत्रपात भी भामह की देन है। महायमक और प्रहेलिका (जो कि इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उद्भावित हो चुकी होगी) की 'व्याख्यापेक्षणीयता' के कारण उपेक्षा और इसीलिए यमक के अतिशय दुरूह भेदों के प्रयोग के प्रति अपनी असहमति, भरत-प्रोक्त दस भेदों की अस्वीकृति करके केवल पांच भेद मानना आदि बातों में भामह ने आत्म-निर्णय को ही प्रश्रय दिया है।

व्यक्तिगत रुचि एवं साहित्यिक तथा मानवीय मूल्यों को ध्यान में रख कर ही भामह ने काव्यालङ्कार में वाङ्मय के दो भेद माने हैं जिनमें काव्य 'शब्दार्थ-उक्ति' का नाम है, यह प्रकृत होगी अथवा वक्र (सालङ्कार)। वक्र शब्दार्थोक्ति[1] (सालङ्कार काव्य) आभामय है, प्रकृत शब्दार्थोक्ति—'निर्भूषं काव्यम्, होने से कान्त तो हो सकती है किन्तु विभापूर्ण नहीं। इसलिये भामह स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं मानते, उनमें शब्दालङ्कारों का भी महत्त्व कम है[2]। अलङ्कारों से सम्बद्ध भामह के निम्नलिखित विचार भी स्मरणीय हैं—

(क) प्रकृत कान्त होने पर भी वनिता के मुख पर भूषण के बिना आभा नहीं आती।[3]

(ख) नितान्त प्रकृतरूप से वाणी में चारुता नहीं आती, वाणी की अलङ्कृति के लिये वक्राभिधेय शब्दोक्ति इष्ट है।[4]

---

१. वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ॥ ५।६६ ॥ (काव्यालङ्कार, भामह)

२. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं ? वार्तामेनां प्रचक्षते ॥ २।८७ ॥ (वहीं।)

३. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥१।१३॥ (वहीं)

४. न नितान्तादि-मात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ॥१।३६॥ (वहीं)

(ग) मनोहर वेश में दुरुक्त भी रमणीय लग जाता है।[1]

(घ) यह चन्द्रमुखी कन्या स्वभाव से ही मनोहर है, इसके शरीर पर कनक; भूषण शोभा की अतिशय वृद्धि करेगा।[2] आदि

इस विचार-राशि का सारांश यह है कि अलङ्कार-सौन्दर्य के विधायक हैं, जो उक्ति अन्यथा सुन्दर नहीं है उसको ये अलङ्कार रमणीय बनाते हैं और जो प्रकृत-सुन्दर है उसके सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं। कान्ति प्राकृतिक गुण है और आभा आलङ्कारिक। इस दृष्टि से आचार्य भामह अलङ्कार के पक्षपाती, शब्दालङ्कार के पोषक एवं दो भेदों सहित अनुप्रास के प्रथम विवेचक हैं।

क्रम-विन्यास में भी भरत-प्रोक्त क्रम को बदल कर पहले शब्दालङ्कारों को स्थान देने का उपक्रम तथा यमक से पूर्व 'अनुप्रास' को ला बिठाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी भामह ने ही किया है। उदाहरण-योजना और निरूपण में स्पष्टवादिता है। इसी कारण इनके ग्रन्थ नाम—'काव्यालङ्कार' का उपयोग उत्तर काल में बहुधा समादृत हुआ एवं अलङ्कार-क्रम की पद्धति को प्रायः बाद के सभी आचार्यों ने स्वीकृत कर उसी का अनुकरण-अनुसरण किया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अलङ्कार-शास्त्र को व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक शैली से लिखनेवाले ये सर्वप्रथम आचार्य थे। भामह और उनके इस ग्रन्थ के प्रकाश से पूर्ववर्ती अनुमानमूलक और अज्ञातकालमूलक अन्धकार युग का अन्त हो गया।

भामह के काव्यालङ्कार की टीका **'भामहालङ्कार-विवरण'** अथवा **'भामह-विवरण'** के नाम से आचार्य उद्भट ने की थी किन्तु वह अब प्राप्त नहीं है।

(३) काव्यादर्श : दण्डी (ई० सन् ६०० के पूर्व)

आचार्य दण्डी ने **'काव्यादर्श'** के तीन परिच्छेदों में से प्रथम परिच्छेद में काव्य की परिभाषा और उसके भेद आदि का वर्णन करके मार्ग-विभाग में ही अनुप्रास और यमक की चर्चा की है तथा वहां **'पश्चाद् विधास्यते'** ऐसा सङ्केत देकर वे अग्रिम विवेचन कर गये हैं। किन्तु द्वितीय परिच्छेद में में अलङ्कार की परिभाषा और ३५ अर्थालङ्कारों का वर्णन करके तीसरे परिच्छेद में पुनः अपने पूर्वोक्त संकेत की पूर्ति के लिये क्रमशः यमक चित्र एवं प्रहेलिका का विस्तार से वर्णन करते हैं।

इस प्रकार शब्दालङ्कारों के भामह प्रोक्त दो भेद—अनुप्रास और यमक के साथ-साथ अन्य दो नये भेदों की सृष्टि दण्डी ने की है। इनके पूर्वोक्त प्रभेदों में भी यहां पर्याप्त नवीनता आई है क्योंकि दण्डी ने अनुप्रास के श्रुति और वृत्तिगत दो भेद यहाँ देकर वृत्ति के पादगत एवं पदगत प्रभेद भी दिये हैं इसी प्रकार यमक के तीन सौ पन्द्रह भेदों का व्यवस्थित

---

१. **सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ॥ १।५४॥** (वहीं)

२. **इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा।**
अस्यां सुवर्णालङ्कारः पुष्णाति नितरां श्रियम् ॥ ६।३० ॥ (वहीं)

निर्देश, उनकी व्यवस्था एवं यथासम्भव उदाहरण-संगति से इस अलङ्कार का राजमार्ग प्रशस्त कर दिया।[1] चित्रकाव्य को 'दुष्कर-चित्र' कहते हुए उसके आकृतिमूलक (१) **गोमूत्रिका**, (२) **अर्धभ्रम तथा** (३) **सर्वतोभद्र'** नामक तीन भेद प्रस्तुत किये। इसी प्रकार स्वर, स्थान तथा वर्ण-नियम से बननेवाले चार-चार भेद भी यहां दिये गये, ये भी चित्र काव्य के ही भेद कहलाये। यहीं प्रहेलिका के सोलह भेद भी प्रदर्शित हैं। इन सबके व्यवस्थित लक्षण और उदाहरणों की योजना में दण्डी ने मनोयोग-पूर्वक ध्यान दिया है और शब्दालङ्कार के क्षेत्र-विस्तार के लिये अनेक मार्ग उद्घाटित कर दिये।

जहां भरत और भामह दोनों के दाय को दण्डी स्वीकार कर उसे पल्लवित करते हैं वहीं क्रम से भी दोनों का अनुसरण करते हैं। उदाहरण-योजना स्वयं की है तथा निरूपण में स्वतःप्रत्यय का अवलम्बन लिया है। अनेक स्थलों पर लक्षणों में कहे गये कैश्चित् आदि पदों से ज्ञात होता है कि कुछ भेदों को वे जानबूझ कर छोड़ भी गये हैं। दण्डी के इन भेद-प्रभेदों की प्रक्रिया का उत्तरकाल में सर्वत्र आदर हुआ है तथा इनसे प्रेरणा पाकर शब्दालङ्कार के विकास की परिधि को भी विशाल बनाया है। लगता है कि आचार्य दण्डी की व्यक्तिगत रुचि शब्दालङ्कार की ओर थी तथा वे इसकी महत्ता बढ़ाकर साहित्यिक-मूल्य की अभिवृद्धि भी करना चाहते थे। ये बात इनकी निम्नलिखित अलङ्कार-सम्बन्धी धारणा से स्पष्ट हो जाती है—

अलङ्कार से दण्डी का अभिप्राय है ''काव्य की शोभा को समृद्ध करने वाले धर्म। तथा एक अन्य परिभाषा में'' सन्धि तथा उसके अंग, वृत्ति तथा उसके अंग एवं अन्य लक्षणादि को ही अलङ्कार माना है ''इस परिभाषा से अलङ्कारों का पक्ष दृढ़ बन गया है। भामह ने वक्रोक्ति पर बल दिया था तो दण्डी ने **'अतिशयोक्ति'** और **'श्लेष'** पर अधिक बल दिया है। साथ ही इनकी दृष्टि में वाङ्मय के दो प्रकार स्वभावोक्ति वक्रोक्ति को भी उच्च स्थान मिला है।[2]

दण्डी की अलङ्कार-विषयक धारणा इस प्रकार है—

(क) सदलङ्कृत काव्य कल्पान्तर स्थायी बन जाता है।[3]

(ख) यद्यपि शब्दगत तथा अर्थगत अलङ्कार अर्थ में रस का सेवन करते हैं, तथापि इस का भूयिष्ठ भार अग्राह्यता[4] ही वहन कर सकती है।[5]

---

१. इन भेदों के नाम हम अगले अध्याय में दे रहे हैं। (लेखक)

२. **भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्** ॥२।३६३॥ (काव्यादर्श)

३. **काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति** ॥१।१९॥ (वहीं)

४. **अग्राम्यता—ग्राम्यो हालिकादिप्राकृतजनव्यवहृतस्तद्भिन्नो ग्राम्यः, तस्य भावस्तता। विदग्धजनव्यवहार इति भावः।** (प्रभाख्य व्याख्या)

५. **कामं सर्वोप्यऽलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु।**
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ १।६२॥ (वहीं)

(ग) अलङ्कार वे धर्म हैं, जिन से काव्य की शोभा होती है।[1] साथ ही देशगत अलङ्कारानुराग के विमर्श का नया सूत्रपात—'अनुप्रास के प्रिय गौड़ हैं दाक्षिणात्य नहीं' यह कह कर किया है।[2] यह भी कथन है कि 'इन अलङ्कारों का पूर्णता से कोई विवेचन नहीं कर सकता क्यों कि आज भी इनकी उद्भावना[3] हो रही है। तथापि पूर्वाचार्यों ने जिन अलङ्कारों की प्रकल्पना की है, उन्हीं के बीज[4] का यहां विशदीकरण है। इसी प्रकार दण्डी काव्य में अलङ्कार का इतना महत्त्व तो स्वीकार नहीं करते जितना कि भामह, किन्तु इनमें भी अलङ्कार का आग्रह अवश्य है। '**यमकचक्र, चित्रालङ्कार** और **प्रहेलिका-चक्र**" पर विशेष ध्यान देकर विविधता प्रदर्शन करने के कारण ये शब्दालङ्कार[5] के पोषक माने जाते हैं। ये प्रहेलिकादि-चित्रकला का ज्ञान अत्यावश्यक मानते हैं। इनका कथन है कि—'इस सुमार्ग से बुद्धि विशद होती है और सुगम तथा दुर्गम रचना का ज्ञान होता है। इसके बिना जाने दूसरे मार्गों में परिश्रम करने पर इसका ज्ञाता नहीं हो सकता।[6]

काव्यादर्श की तरुणवाचस्पति, अज्ञात कर्तृक की 'हृदयङ्गमा,' प्रेमचन्द्र, जीवानन्द, हरिनाथ, नरसिंह, भगीरथ, विजयानन्द, त्रिभुवनाचार्य, कृष्णकिङ्कर, वादि-जङ्घाल, जगन्नाथ-तनय मल्लिनाथ, रङ्गाचार्य तथा रामचन्द्र मिश्र आदि अनेक सुधियों ने टीकाएं की हैं जो इस ग्रन्थ की महत्ता की द्योतक हैं। उत्तरकाल के आचार्यों में 'काव्यप्रकाशकार' ने भी इनके अनुप्रास-लक्षण को '**वर्णावृत्तिरनुप्रासः**' से '**वर्णसाम्यमनुप्रासः**' कह कर ग्रहण किया है।

(४) काव्यालङ्कार-सार-सङ्ग्रह : उद्भट (ई० सन् ८०० के निकट)

उद्भट ने 'काव्यालङ्कार-सार-संग्रह' के छह वर्गों में अलङ्कारों का विवेचन किया है। उनमें पहला वर्ग शब्दालङ्कारों का है। इनमें (१) **पुनरुक्तवदाभास** तथा (२) **अनुप्रास** को स्थान मिला है। इनमें पहला सर्वथा नवीन है और दूसरा पूर्ववर्ती आचार्यों से प्राप्त है।

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ॥ २।१ ॥

२. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः ॥ १ । ५४ ॥

३. (क) अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥ १ । ६० ॥
   (ख) ते चाद्यापि विकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यते ॥ २।१ ॥

४. किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम् ।
   तदैव परिसंस्कर्तुंमयमस्मत्-परिश्रमः ॥२।२॥ (काव्यादर्श)

५. इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।
   वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ ३।१
   इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
   यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥ ४।१० ॥

६. विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकर-दुष्करमार्गमवौति हि ।
   नहि तदन्यनयेऽपि कृतश्रमः प्रभुरिमं नयमेतुमिदं विना ॥ २६।३ ॥ (काव्यादर्श)

द्वितीय अनुप्रास के भेदों में 'छेकानुप्रास' की सर्वप्रथम उद्भावना हुई है और इसे ये अनुप्रास से पृथक् ही बतलाते हैं। इसी प्रकार **'अनुप्रासस्त्रिधा'** कहकर वृत्त्यनुप्रास के (१) परुषा, (२) उपनागरिका और (३) ग्राम्यावृत्तिगत तीन भेद किये हैं तथा अन्त में लाटानुप्रास, को भी पृथक् बतलाया है।[1] इस दृष्टि से इनके द्वारा निर्दिष्ट शब्दालङ्कारों की संख्या चार हो जाती है किन्तु गौण-भेदों को मिलाने से (एक पुनरुक्तवदाभास और पांच अनुप्रास-भेद मिलाकर) ६ की संख्या हो जाती है।

उद्भट ने तात्कालिक आचार्यों की मान्यता को ध्यान में रखते हुए जो शब्दालङ्कार दिये हैं उनमें लाटानुप्रास भामह द्वारा उल्लिखित है किन्तु; इसका यहां लक्षण भी दिया है तथा अन्य भेदों में छेकानुप्रास और वृत्ति के तीन भेद इनकी स्वतन्त्र देन हैं। इसी प्रकार पुनरुक्तवदाभास भी इनकी महत्त्वपूर्ण देन है जिसका उत्तरकाल में सर्वत्र आदर हुआ है। हाँ, यमक का सर्वथा अभाव अवश्य-ही खटकता है। उसका निरूपण न करने में कुछ हेतु हो सकते हैं जिनमें प्रथम तो यह कि 'दण्डी ने इसका अतिविस्तार-से वर्णन कर ही दिया है और दूसरा यह कि दण्डी ने **'तत्तु नैकान्तमधुरम्'** कहकर उपेक्षा भी दिखलाई थी साथ ही यमक से निःसृत एक नवीन अलङ्कार **'पुनरुक्तवदाभास की उद्भावना'** ये कर ही चुके थे, अतः यमक के प्रति उदासीन रहे हों, यह स्वाभाविक है। इन्होंने पूर्वसूचित भेदों के प्रति सहमति अथवा असहमति भी नहीं दिखलाई है।

इनके द्वारा उद्भावित पुनरुक्तवदाभास अग्रिम आचार्यों के लिये प्रभावक रहा है। रुय्यक, शोभाकर एवं विश्वनाथ ने तो अपने अलङ्कार-विवेचन में इनके समान ही इस शब्दालङ्कार को प्राथमिकता भी दी है। **'छेकानुप्रास'** आगे चलकर स्वीकृत तो हुआ किन्तु स्वतन्त्र अपना अस्तित्व न रखकर अनुप्रास का एक भेद माना गया। इसी प्रकार **वृत्त्यनुप्रास** भी उतरोत्तर परिष्कार को प्राप्त हुआ है। साहित्यिक एवं मानवीय मूल्य के आधार पर ही आचार्य उद्भट ने सम्भवतः यह विचार किया होगा कि—"यमक का अतिशय-प्रयोग व्याख्या-सापेक्ष होने से, काव्यास्वाद में कुछ बाधक होने से तथा एकान्तमधुर न होने से यदि स्वीकार नहीं किया जाता और कोई कवि वैसे प्रयोग में सफल नहीं होता है तो वह यत्र-तत्र वर्ण, शब्द अथवा वाक्यगत आन्दोलन-माधुरी को कैसे प्रस्फुट करेगा? अतः उसे पुनरुक्तवत् आभासित होने से **पुनरुक्तवदाभास** एवं व्यञ्जन-सङ्ग की सरस-योजना से छेक विदग्धजनों के प्रयोग से **छेकानुप्रास** को ही क्यों न व्यक्त करूं? और इसमें वे सफल ही हुए।"

यहीं अनुप्रासादि का एक सहयोगी और इनसे मिलने के लिये छटापटाहट व्यक्त करने लगा। वह था **'श्लेष'**। इसकी आतुरता ने उद्भट को अपने प्रति आकृष्ट किया और उसके परिणाम-स्वरूप भरत के **'अभीष्टार्थसमूह से परस्पर अनुसम्बद्ध पदमूलक'** तथा **'स्वाभाविक**

---

१. **पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च।**
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः ॥ १ ॥ (काव्या० सारसङ्ग्रह)

रूप से स्फुट और गहन विचार-सम्पृक्त शब्दों की सुप्रतिबद्धतारूप श्लेषगुण'[१] भामह के **रूपक-श्लेषरूप साङ्कर्यमूलक अर्थालङ्कारत्व**'[२] एवं दण्डी के '**अनेकार्थप्रतिपादक अर्थश्लेष**'[३] की परिधि से इसे बाहर निकालने की एक युक्ति प्रस्तुत की। जिसके अनुसार यह '**शब्दश्लेष**, और '**अर्थश्लेष**'[४] जैसे विभाग को तो प्राप्त हुआ किन्तु स्वतन्त्र शब्दालङ्कार नहीं बन पाया। यह भी उद्भट की एक नवीन देन है इतना तो कहा ही जा सकता है। अलङ्कारशास्त्र पर उद्भट का प्रभाव बहुत अधिक है और भामह इनके समक्ष तिरोहित-से हो गये हैं। इतना ही नहीं, उत्तरकालिक आलङ्कारिकों ने तो यत्र-तत्र मतभेद होने पर भी इनका सादर उल्लेख किया है। अतः ये इस **सम्प्रदाय के मुख्य प्रतिनिधि** माने गये हैं।[५]

इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्य के सभी अङ्गों को लक्ष्य में रखकर ग्रन्थ का प्रणयन किया था जब कि इनकी रचना में केवल अलङ्कारों का ही विवेचन है। यह भी एक नवीनता है। इनकी आलङ्कारिक-धारणा का ज्ञान 'मम्मट' और 'रुय्यक' के आधार पर इस प्रकार है—

"लोक में प्रयुक्त गुण और अलङ्कार यदि परस्पर भिन्न हैं तो हुआ करें। क्यों कि वहां लौकिक गुण शौर्यादि-समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध रहा करते हैं तथा लौकिक अलङ्कार हारादि संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध रहा करते हैं। परन्तु 'काव्य के ओज आदि गुण और अनुप्रास, उपमादि अलङ्कार—ये दोनों ऐसे भेद हैं, जो कि शब्द तथा अर्थ के साथ समवाय-वृत्ति से सम्बद्ध दिखाई दिया करते हैं। अतः यह भेद गड्डलिका-प्रवाह मात्र है।[६] **इसी-**

---

१. **ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानुपरस्परम्। श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते॥**
विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम्॥ (ना० शा० १६।९८, ९९)

२. **उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते। गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते॥**
लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु। इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः॥
(काव्यालङ्कार ३-१४, १५)

३. **श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः। (काव्यादर्श २।३१०)**

४. **एकप्रयत्नोच्चार्यमाण-तच्छायां चैव बिभ्रताम्।**
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते॥
अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः। द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्॥
(का० लं० सा० सं० ४।९, १०)

५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, काणे पृ० १७०।

६. **एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः। संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः॥ (काव्यप्रकाश ३८। उल्लास १०, यह उद्धरण सम्भवतः इनके 'भामहविवरण' से लिया गया है।)**

प्रकार गुण और अलङ्कार में जो भेद है, वह केवल विषय अथवा आश्रय की दृष्टि से है क्योंकि 'गुणसङ्घटना पर आश्रित हैं और अलङ्कार शब्दार्थ पर'। एक सङ्घटन के धर्म हैं तो अन्य शब्दार्थ के।[1]

उद्भट ने अपने '**कुमार-सम्भव**' नामक काव्य से अधिकांश उदाहरण दिये हैं। इनका शब्दालङ्कार-क्रम नवीन है और उदाहरण-निरूपण में उद्भट की इस कृति की पूर्ति 'प्रतीहारेन्दुराज' की लघुवृत्ति से ही होती है। इनके द्वारा केवल सूत्र और कुछ पद्य ही लिखे गये हैं। भामह और दण्डी इनके अनुकरणीय हैं तथापि इन्होंने प्रत्येक वर्ग में '**अपरे, परैः, पूर्वैः**' आदि पदों से मतभेदका भी उल्लेख किया है।

टीकाओं में कोंकणवासी प्रतीहारेन्दुराज (९५० ई०) की लघुवृत्ति ही अतिप्रसिद्ध है। द्वितीय टीका राजानक तिलक (११२५ ई०) की है। जिसका नाम '**उद्भटविवेक**' या '**विचार**' है। इस कृति के नाम भी '**काव्यालङ्कार-सङ्ग्रह, अलङ्कार-सार-संग्रह** और **काव्यालङ्कार-सार**' इस रूप में विभिन्न प्राप्त होते हैं तथा कुछ विद्वान् इस कृति को अपूर्ण भी मानते हैं।

(६) काव्यालङ्कार-सूत्र : वामन (सन् ८५० से पूर्व)

वामन ने पांच अधिकरण और उनके बारह अध्यायों से युक्त अपने '**काव्यालङ्कार-सूत्र**' के चौथे अधिकरण का नाम '**आलङ्कारिक अधिकरण**' दिया है और इसी अधिकरण का पहला अध्याय '**शब्दालङ्कार-विचार**' नाम से प्रस्तुत है जिसमें—यमक और अनुप्रास—इन दो शब्दालङ्कारों का विवेचन है।

भरत के अनुकरण में यमक को प्राथमिकता देकर वामन ने दण्डी-प्रोक्त चौदह भेदों का विवेचन किया है तथा '**अक्षर-यमक, अनेकाक्षर-यमक, पदयमक, मालायमक, अद्भुत-यमक, तिङन्त-पदवैभिन्न्य, तिङन्तपद-मिश्रण, सुबन्त-विभक्तिगत, वचनगत एवं कारकगत**' भेदवाले यमकों का नवीनरूप से विमर्श प्रस्तुत किया है। और अन्त में सुबन्त और तिङन्त के मिश्रण से जनित भेद का निरूपण करते हुए यमक के भङ्ग-प्रकारों का विशेष निर्देश किया है, जो वामन की मौलिक देन है। अनुप्रास के भेदों में भी पूर्वदर्शित भेदों को स्थान न देते हुए '**स्थान-नियमन**' के आधार पर विवेचन किया है। इसमें 'पादानुप्रास' को 'पादयमक' के समान दिखलाकर 'वृत्त्यनुप्रास' और 'अन्त्यानुप्रास' का भी आनुषङ्गिक वर्णन किया है। इनमें '**मुक्तग्रह पदरूप अनुप्रास**' का भी एक नवीन निदर्शन है।

उपर्युक्त दो शब्दालङ्कारों का स्वतन्त्ररूप से वर्णन करना और अर्थालङ्कारों को पृथक् अध्याय में स्थान देकर विभक्तरूप में प्रस्तुत करने का कार्य वामन ने सर्वप्रथम किया

---

१. **उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात् सङ्घटना-धर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन च।** (अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ६)

है किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा सङ्गृहीत "पुनरुक्तवदाभास आदि को स्थान न देना और अनुप्रास के छेकादि-भेद तथा यमक के अन्य भेदों का त्याग करना' कुछ आश्चर्यपूर्ण प्रतीत होता है। इसके आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि—वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में सिद्ध करने के कारण अलङ्कार-पक्ष पर अधिक बल नहीं दिया होगा।"

अलङ्कार से वामन का अभिप्राय 'सौन्दर्य' है। और इस शब्द का प्रयोग यहां दो अर्थों में किया गया है, जिनमें पहला है '**सङ्कीर्णार्थ**' जिसमें कहा गया है कि—अलङ्कार काव्य के वे धर्म हैं, जिनसे काव्य की 'शोभा' बढ़ती है और दूसरा है '**व्यापकार्थ**' जिसमें—सौन्दर्यमात्र को अलङ्कार माना है।' इसके अन्तर्गत वे सभी प्रकार आ जाते हैं जिनके कारण काव्य हमारे मन को आकृष्ट करता है। दण्डी के शोभाकर धर्म ही अलङ्कार हैं 'इस कथन में वामन का विरोध है। इनका कथन है कि 'काव्य के शोभाकर धर्म तो गुण हैं अलङ्कार नहीं, वे तो उसके अतिशय-हेतु हैं। इससे वामन की दृष्टि में अलङ्कार अर्थ-सापेक्ष और बाह्य हैं, स्वतः मधुर नहीं।[1] इसका सारांश यह है कि—

"यदि गुण बन्ध-रचना, पदरचना, अनुक्रम रचना अथवा व्यवस्था का सौन्दर्य है तो अलङ्कार उक्ति-वैचित्र्य या शब्दार्थ-प्रसाधन का। पहला वस्तुगत या विषयगत शैली का पर्याय है तो दूसरा विधान-प्रकार का। काव्य एक चित्र है उसमें रीति रेखाएं हैं।[2] अलङ्कार रंग है जो रेखा-सौन्दर्य को उभार देता है। गुण यौवन हैं और अलङ्कार कुसुम तथा कुङ्कुम। कुसुम मुरझाते हैं, कुङ्कुम घुल जाता है और यौवन भी चला गया तो फिर लौटता नहीं। भले ही एक बहिरङ्ग है और दूसरा अन्तरङ्ग; पर आत्मा कोई नहीं। गुणालङ्कार में तारतम्य है, रूपभेद है, स्थितिभेद है पर परिणाम-भेद नहीं है। दोनों ही सौन्दर्य के साधन हैं।"

उपर्युक्त अलङ्कार-सम्बन्धी धारणाओं में पर्याप्त बल है और नवीनता भी। क्रम में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। यमक के नवीन प्रयोगों—भेदों की दृष्टि तथा अनुप्रास के नये ढंग के भेद-प्रदर्शन से वामन का स्थान शब्दालङ्कार के पोषक आचार्यों में स्पृहणीय है किन्तु ऐसे भेदों को अग्रिम आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है।

उदाहरण स्वकीय एवं स्वकीय दोनों ही हैं इसीलिये वामन ने स्वप्रयुक्त उदाहरणों के बारे में मौलिकता का दावा नहीं किया है। प्रसिद्ध ग्रन्थों से उद्धृत एवं स्वनिर्मित होने के कारण उनकी उदाहरण-योजना उत्तम है। निरूपण-शैली में वामन ने सूत्र और स्वरचित '**कविप्रिया**' नामक '**स्वोपज्ञ वृत्ति**' का आश्रय लिया है[3] स्वतन्त्र चिन्तन को प्रमुखता देते

---

१. **काव्य-शोभायाः कर्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥३।२।२-२॥**
(काव्यालङ्कार सूत्र)

२. **एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्वस्य चित्रं काव्ये प्रतिष्ठितम्।** (वहीं वृत्ति)

३. **प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामिनेन कविप्रिया।**
काव्यालङ्कार सूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विरच्यते ॥ (का० लं० सूत्र)

हुए नवीन उद्भूतियों को प्रस्तुत करने का लक्ष्य वामन का इस क्षेत्र में अभिनव प्रयोग है। इस ग्रन्थ पर (१) गोपेन्द्र तिप्प भूपाल की '**कामधेनु**', (२) महेश्वर की '**साहित्य-सर्वस्व**' तथा (३) महादेव की एक 'अनामा' टीका, इस प्रकार तीन टीकाएं हैं।

(७) **काव्यालङ्कार : रुद्रट** (सन् ८०० से ८५० के बीच)

रुद्रट ने सोलह अध्यायों में विभक्त '**काव्यालङ्कार**' के द्वितीय से पञ्चम अध्याय तक शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है जिनमें '**वक्रोक्ति**' को सर्वप्रथम शब्दालङ्कार माना है, तथा शेष चार हैं—'**अनुप्रास, यमक, श्लेष** और **चित्र** ।'

शब्दालङ्कारों में वक्रोक्ति के 'श्लेष' और 'काकु' नामक दो भेद, अनुप्रास का वृत्त्यनुप्रास' नामक एक भेद और उसके 'मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा' नामक वृत्तियों के आधार पर पांच उपभेद, यमक के पूर्वस्वीकृत भेदों के नामकरण-पूर्वक 'मुख, सन्दंशादि' के रूप में मुख्य ग्यारह भेद एवं उनके पादगत, पदगत, सजातीय, विजातीय-मिश्रण, देशावयव-विभाग और द्विधा-विभक्त, त्रिधाविभक्त' आदि प्रतिक्रियाओं के आधार पर दण्डी के **तीन सौ पन्द्रह भेदों** से भी अधिक **साढ़े चार सौ** के करीब उपभेद किये हैं। श्लेष के 'वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन' के आधार पर आठ भेद किये हैं जिनमें 'भाषाश्लेष' के द्वि-त्रि-चतुः-पंच-षट्-भाषाओं के योग से प्रायः सत्तावन भेदों की व्यवस्था बतलाई है। इसी प्रकार चित्र के चक्र, खड्ग, मुसल, बाणासन, बाण, शक्ति, शूल, हल, चतुरङ्गपीठरचित रथ, तुरग और गजपद, अनुलोम, प्रतिलोम, अर्धभ्रम, मुरज, सर्वतोभद्र, पद्म, एक श्लोक से अन्य श्लोकोत्पत्ति' नामक भेदों का विवेचन करते हुए चित्रालङ्कार की अनन्तता भी दिखलाई है। साथ ही अन्य चित्रभेदों को क्रीडामात्रोपयोगी बतलाते हुए 'मात्रा-बिन्दु-च्युतक, प्रहेलिका, कारक-क्रियागूढ और प्रश्नोत्तर' का भी विविध भेदों के साथ विवेचन किया है।

इस सुदीर्घ तालिका में रुद्रट ने वक्रोक्ति, श्लेष और चित्र की शब्दालङ्कार में नवीन प्रतिष्ठा की है किन्तु अनुप्रास के सर्वस्वीकृत छेक आदि भेदों को छोड़ दिया है, यमक में दण्डी का अनुकरण करते हुए अपनी मौलिक सूझ का परिचय दिया है तथा दण्डी ने अनुलोम-प्रतिलोम को जो यमक में स्थान दिया था, उसे यमक की परिधि से मुक्त कर चित्र में विराजित किया है। 'गोमूत्रिका' का यहां नामतः स्मरण भी नहीं है जब कि अन्य अनेक नवीन 'आकार-चित्र' प्रस्तुत हुए हैं। इसी प्रकार दण्डी ने प्रहेलिका के सोलह भेदों में ही 'च्युत, गूढ और प्रश्नोत्तरों' को आवर्जित कर लिया था तो रुद्रट ने उनकी 'क्रीडामात्रोपयोगी भावना' को यथावत् ग्रहण करते हुए भी उन्हें प्रहेलिका की परिधि से निकाल कर स्वतन्त्र रूप से वर्णित किया है।

रुद्रट के समय अलङ्कार, गुण और **रीति-सम्प्रदाय** पूर्ण विकसित हो चुके थे तथा **ध्वनि-सम्प्रदाय** का उद्भव हो रहा था। अलङ्कार की विधा में **रस-सौन्दर्य** का भी समावेश करना इनकी समन्वयवादिता का उदाहरण है। रुद्रट की अलङ्कार-सम्बन्धी धारणाओं

का कोई स्पष्ट निर्देश न होते हुए भी—"कवि की उदारमति सालङ्कार-काव्य की रचना में सफल होती है, अलङ्कार के योग से वाणी का प्रसार देदीप्यमान होता है तथा वह उसी शब्द की रचना करे जो काव्य को सुन्दर बनाये"[1]—इत्यादि वाक्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अलङ्कारपूर्ण रचनाओं के प्रति इनका पूर्ण आग्रह था। रुद्रट अलङ्कारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करनेवाले प्रथम आचार्य हैं। इनका प्रतिपाद्य भी अलङ्कार ही है तथा इनसे पूर्ववर्ती सभी आचार्यों से अधिक अलङ्कारों का विवेचन इन्होंने किया है।

अलङ्कारों का क्रम-विन्यास रुद्रट का कुछ नवीन है। यहां भामह द्वारा 'अभिव्यक्ति के वैचित्र्य की जननी' के रूप में जिस वक्रोक्ति को प्रस्तुत किया गया, दण्डी द्वारा जिसका क्षेत्र सीमित करके भी स्वभावोक्ति को छोड़ अन्य सभी अलङ्कारों के लिये उपयोगी माना गया और वामन द्वारा अर्थालङ्कार के रूप में व्यक्त किया गया उसी को सर्वप्रथम शब्दालङ्कार के रूप में प्रतिष्ठित करके एक नया क्रम स्थापित किया है। अनुप्रास और यमक के पश्चात् श्लेष तथा चित्र का क्रम इनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रायः यथावत् अपनाया है। रुद्रट अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य हैं। उदाहरणों की रचना अधिकांश इनकी अपनी है। ग्रन्थ में '**आर्या**' छन्द का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

विभिन्न 'सात अन्य चित्रबन्धों के साथ आठ पद्यों का '**महाचक्रबन्ध**' इनकी प्रौढ रचना है। निरूपण-शैली में सङ्ग्राह्य-वृत्ति अधिक है। विवेचन के क्षेत्र में स्वतन्त्र मार्ग का अनुसरण किया है। इनके टीकाकार '**वल्लभ देव, नमिसाधु** और **आशाधर**' हैं। नमिसाधु ने अपने टिप्पण को बड़ी ही प्रौढता के साथ प्रस्तुत किया है। रुद्रट का समादर उत्तरकाल के आचार्यों में अवश्य ही सराहनीय रहा है।

(८) अग्निपुराण : (सन् ८००-९०० के निकट अनुमानित)

'अग्निपुराण' को भारतीय एवं वैदेशिक विद्वानों ने एकस्वर से 'भारतीय ज्ञान-कोष' की गौरवान्वित संज्ञा से मण्डित किया है। इस ग्रन्थ की यह विशिष्टता इसके काव्य-शास्त्रीय भाग के कारण भी है। यह निरूपण सङ्ग्रहात्मक है। इसमें दिये गये भेदोपभेदों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे अधिकांशतः नूतन हैं, जिनका नामोल्लेख उत्तरवर्ती ग्रन्थ '**सरस्वतीकण्ठाभरण**' के अतिरिक्त कहीं उपलब्ध नही होता।

काव्य-शास्त्रीय वर्ण्यसामग्री को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ प्राचीन और अर्वाचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के मध्य एक शृङ्खला का कार्य करता है। इसकी

---

१. (क) **काव्यमलङ्कार्तुमलं कर्तु रुदारा मतिर्भवति ॥ १।३ ॥**

(ख) **ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः ॥ १।४ ॥**

(ग) **रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम् ॥ (२।९ काव्यालङ्कार)**

रचना के सम्बन्ध में डा० विलसन,[1] श्री मेक्डोनल,[2] डा० विण्टरनिट्ज[3] और श्री एफ० ई० पार्जिटर ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं, जिनका सार यह है कि—यह ग्रन्थ एक विश्वकोष है और इसका सङ्कलन विविध कालों में, वंशपरम्परा से सम्बद्ध बहुत समय तक होता रहा है। इसके रचयिता धार्मिक परम्परा के अनुसार तो महर्षि वेदव्यास ही मान्य हैं किन्तु गवेषकों को इस पर आस्था न होने से वे इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना मानते हैं जिनमें श्री एस० के० डे भी प्रमुख हैं। वैसे इसके सर्वप्रथम उपदेशक अग्निदेव माने गये हैं।

डा० **पार्जिटर** तथा **हाजरा** के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना नौवीं शताब्दी के बाद हुई। शब्दालङ्कार के लिये ३४३ वां अध्याय प्रमुख है और शब्दार्थालङ्कार के लिये ३४५वां अध्याय पठनीय हैं। वैसे अग्निपुराण का 'अलङ्कार-प्रकरण' नवीन है। यहां शब्दालङ्कारों के नौ भेद किये हैं—"छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फन, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र और दुष्कर" तथा इनके उपभेद ३४ और गौणभेद ३८ हैं। अग्निपुराण में अलङ्कार के सम्बन्ध में वही प्राचीन—'काव्य के शोभाकर धर्म अलङ्कार हैं'—उक्ति दुहराई गई है तथा 'अर्थालङ्कार से रहित वाणी को विधवा स्त्री के समान बताया है।[4] इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि इसमें सर्वप्रथम उभयालङ्कार का विवेचन किया गया है जिनमें 'प्रशस्ति, कान्ति' आदि छः भेद अनूठे ही हैं। किन्तु ऐसे भेदों का प्रचार और विचार उत्तरकाल के किसी आचार्य ने नहीं किया है।

शब्दालङ्कार के क्षेत्र में अनेक नये भेद-प्रभेदों की उद्भूति अग्नि-पुराण में दिखाई देती है। व्युत्पत्ति आदि से शब्द को अलङ्कृत करनेवाले पद-काव्यादि को शब्दालङ्कार की संज्ञा देते हुए[5] निम्नलिखित क्रम से भेद-प्रभेद प्रस्तुत किये गये हैं—

१. **छाया** (४ प्रभेद) —लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति और मत्तोक्ति।

२. **मुद्रा** अथवा **शय्या** —इसके भेदोपभेद नहीं हैं।

३. **उक्ति**, (६ प्रभेद) —विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प और परिसङ्ख्या।

४. **युक्ति**, (६ भेद) —पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, विषय और प्रपञ्च।

५. **गुम्फना**, (३ भेद) —शब्द-साम्य, अर्थ-साम्य और शब्दगत स्वाभाविक क्रमवती।

---

१. विष्णुपुराण की भूमिका : अग्निपुराणः एम० एन० दत्त, पृ० ५

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ३००,

३. ए हिंस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर प्रथम० पृ० ५६६, एन्श्येंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडेशन पृ० ८०, तथा संस्कृत पोइटिक्स भाग-२, पृ० २५४।

४. **अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।** (वहीं)

५. **'ये व्युत्पत्त्यादिना शब्द'० इत्यादि। ३४३।** (अग्निपुराण)

६. **वाकोवाक्य**, (२ भेद)---ऋजु और वक्रोक्ति। वहीं इनके भी क्रमशः १-'अप्रश्न, ऋजु और २-प्रश्नपूर्वक ऋजु तथा प्रथम-भङ्गिमा द्वारा और द्वितीय-काव्य के द्वारा, ऐसे प्रभेद बतलाये हैं।

७. **अनुप्रास**, (३ भेद) —पदगत वर्णावृत्ति और वाक्यगतवर्णावृत्ति; वर्णावृत्ति के २ प्रकार एकवर्णगत और द्वितीय अनेकवर्णगत। पदगत एकवर्णावृत्ति के पांच भेद—मधुरा, ललिता, प्रौढा, भद्रा और परुषा। पदगत अनेक वर्णावृत्ति में यमक और उसके प्रायः १६ भेद हैं तथा वाक्यगत अनेक वर्णावृत्ति को यमक और अनुप्रास दोनों में प्रयोज्य माना है।

८. **चित्र** (७ भेद) —प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त, च्युत, दत्त, च्युतदत्त और समस्या। तथा इनके भेदोपभेद किये हैं।

९. **दुष्कर** (३ भेद) —नियम, विदर्भ और बन्ध। इनमें नियम के स्वर, व्यञ्जन, स्थानादिगत, विदर्भ के प्रतिलोम अनुलोम के द्वारा शब्दार्थ-विन्यासादिगत, तथा बन्ध के आठ भेद—गोमूत्रिका, अर्धभ्रमादि और उनके भी कतिपय उपभेदों की चर्चा की है।

इस प्रकार शब्दालङ्कार के प्रधान नौ भेद, ३४ उपभेद और ३८ गौणभेद किये हैं। इन के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य बन्धों के नाम देकर उन्हें स्वयं जान लेने का भी सङ्केत किया है। इनकी यह क्रम-योजना स्वतन्त्र है।

इस दृष्टि से शब्दालङ्कार के क्षेत्र में अग्निपुराण की देन चिरस्मरणीय है। उदाहरण न होने से अलङ्कारगत सूक्ष्म पर्यालोचन को अवकाश नहीं मिल पाया है किन्तु निरूपण में स्पष्टता के कारण जटिल नहीं प्रतीत होते। विद्वानों का कथन है कि... 'अलङ्कार शास्त्र-परम्परा में इस ग्रन्थ में प्रदत्त शब्दालङ्कारों की यह महती संख्या आश्चर्य उत्पन्न करती है। इनमें कुछ अलङ्कार यथावत् ग्रहण कर लिये गये हैं और कुछ के नाम परिवर्तित हो गये जबकि कुछ ऐसे भी हैं जिनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। अग्निपुराण का सर्वाधिक अनुकरण भोज के **'शृङ्गार-प्रकाश'** एवं **'सरस्वती-कण्ठाभरण'** में मिलता है।[1]

(९) विष्णुधर्मोत्तर-पुराण : (सन् ८००-९२५ के बीच)

'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' के तीसरे काण्ड के १४वें अध्याय में शब्दालङ्कारों की चर्चा की गई है। जिनमें अनुप्रास (भेद-रहित) और यमक (पाद के आदि, मध्य, अन्त, स्थान

---

१. अग्निपुराण में उद्‌भावित नये शब्दालङ्कारों के सम्बन्ध में द्रष्टव्य—**"शब्दालङ्कार के अल्पचर्चित भेद और उनकी सोदाहरण-मीमांसा"-डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, 'शोधप्रभा'** पृ० ६४-८४, वर्ष १९७८, अङ्क० ८।

(के विभाग से तथा सन्दष्टक और समुद्ग नाम से) विवेचित है ; साथ ही समस्तपाद यमक को 'दुष्कर' कहा है ।

'मार्कण्डेय-वज्र-संवाद' में चौदहवां अध्याय यहाँ 'अलङ्काराध्याय' के नाम से ही निर्दिष्ट है किन्तु किसी विशेष आलङ्कारिक दृष्टि का निदर्शन अथवा नवीन अलङ्कार का सूचन यहां नहीं किया गया है। इसी पुराण के तृतीय-खण्डान्तर्गत सोलहवें अध्याय में प्रहेलिकाओं का लक्षण-सहित विवेचन हुआ है, जो पन्द्रह पद्यों में है। प्रहेलिका-निर्माण के लिये पुराणकार का कथन है कि—

'काव्य में कुछ विद्वानों ने जिन्हें दोष कहा है, उनसे और कुछ अन्य प्रकार से प्रहेलिकाएं बनानी चाहिये तथा ये प्रहेलिकाएं एक अथवा दो पद्य से अधिक न हों।'[1]

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रहेलिकाएं काव्यदोष से उद्भूत हैं, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि काव्यों में जो दोष कहें गये हैं उन्हीं को प्रहेलिका में स्थान देकर अलङ्कार के रूप में व्यक्त करें। इन प्रहेलिकाओं की संख्या प्रायः बाईस है जिनमें दण्डी-प्रदर्शित सोलह भेदों से कुछ और नवीन हैं।

अग्निपुराण और इस पुराण की रचना को इतिहासकारों ने निकटतम माना है। डा० सुशीलकुमार डे इसे अग्निपुराण से पर्याप्त पूर्ववर्ती (४००-५०० ई० का) भी मानते हैं। किन्तु अग्निपुराण के चित्र, प्रश्न, गुप्त, च्युत आदि शब्दालङ्कारों का इसमें विवेचन न होना आश्चर्य का कारण माना जाता है। श्लेष को यहां अर्थालङ्कार माना गया है जो अग्निपुराण के अनुरूप है किन्तु उसके शब्दालङ्कार की यहां तनिक भी चर्चा नहीं हुई है।

(९) ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन (सन् ८४०-८९०)

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में अलङ्कारों का विवेचन नहीं किया है किन्तु अलङ्कार-सम्बन्धी कतिपय स्वतन्त्र धाराओं तथा विवेचनों के कारण इनका सम्मान भी आलङ्कारिक क्षेत्र में अक्षुण्ण है। ये अलङ्कारों को काव्य का अस्थिर धर्म मानते हैं तथा इनकी धारणा है कि—काव्य में अलङ्कारों की उपयोगिता काव्य के वाच्य-वाचकरूप अङ्गों की शोभावर्धकता के कारण ही है, क्योंकि वे कटकादि लौकिक अलङ्कारों के समान ही अङ्गों पर अवलम्बित हैं।[2] इनकी इस धारणा को अग्रिम आचार्यों ने यथावद् ग्रहण कर लिया। इसी प्रकार

---

१. काव्ये येऽभिहिता दोषाः कैश्चिल् तेभ्यः प्रहेलिकाः ।
कर्तव्याश्च तथैवान्यास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१६।१॥
श्लोकेनैकेन वा द्वाभ्यां कर्तव्यास्तु नरोत्तम ।
न कर्तव्याश्च ता राजन् बहुश्लोकनिबन्धनाः ॥१६।२॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

२. विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। इत्यादि २।१८-१९ (ध्वन्यालोक) तथा अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् । (ध्वन्यालोकलोचन)।

अलङ्कार-ध्वनि का विवेचन एवं स्थान-स्थान पर दिये गये अलङ्कार-प्रयोग-सम्बन्धी सुझाव सदा माननीय रहे हैं। इनका कथन है कि—

"वियोग शृङ्गार में एकाकाररूप से निरन्तर अनुप्रास का प्रयोग रस की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं होता है। परन्तु गुणीभूत शृङ्गार में अनुप्रास का प्रयोग हो सकता है, और ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में यमक तथा श्लेष का प्रयोग सर्वथा वर्जित है।[1] इसी प्रकार चित्रालङ्कार के बारे में शब्दचित्र और अर्थचित्र का विवेचन करते हुए दी गई चित्र की परिभाषा तथा मुख्य काव्य की परिधि से उसका पृथक्करण आदि भी मननीय हैं।"[2]

आनन्दवर्धन ने **'देवी-शतक'** की भी रचना की है। इस स्तोत्र-काव्य में शब्दालङ्कार को बहुत महत्त्व मिला है, जिसका वर्णन आगे किया जाएगा।

ध्वन्यालोक पर लिखी गई **'लोचन'** व्याख्या अभिनव गुप्त की अमूल्य देन है। उसमें भी शब्दालङ्कार के सम्बन्ध में यत्र-तत्र महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है।

(३) शब्दालङ्कार का विकासोन्मुख काल

उत्तर मध्य काल (आनन्दवर्धन काल से लेकर जगन्नाथ तक)

आनन्दवर्धन तक सभी आचार्यों ने जहां काव्यशास्त्र के अन्यान्य तत्त्वों के चिन्तन में प्रावीण्य प्रकट किया वहीं शब्दालङ्कार की परम्परा में भी विशिष्ट चिन्तन करते हुए उसकी श्रीवृद्धि में अपना योग अवश्य दिया है। जैसे-जैसे यह परम्परा आगे बढ़ती गई इसमें नई-नई उद्भावनाएं होती गई। अतः यह **"शब्दालङ्कार का विकासोन्मुख काल"** भी कहा जा सकता है। इस काल के प्रमुख आचार्य तथा उनकी कृतियों का विवेचन इस प्रकार है—

रसाक्षिप्ततय यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥२।१६॥

१. शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥२।१४॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादि-निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः २।१५। (ध्वन्यालोक)

२. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥ ३।४१॥
रसभावादिविषये विवक्षाविरसेति च ।
अलङ्कार-निबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥ (वहीं)

१०-काव्यमीमांसा : राजशेखर (सन् ९५० से १०२६ के बीच)

राजशेखर ने अठारह अध्यायों में विभक्त अपनी 'काव्यमीमांसा' में कवियों के लिये व्यवहारोपयोगी एवं मार्गदर्शक सूचनाएं दी हैं। वहीं आरम्भ में काव्य-विद्या का स्नातकों को उपदेश देते हुए पृथक्-पृथक् शास्त्रों के रचयिताओं का निर्देश किया है, जिनमें अनुप्रास के प्रचेतायन, यमक और चित्र के चित्राङ्गद, शब्दश्लेष के शेष तथा उभयालङ्कार के आचार्य कुबेर को बतलाया है। इसी प्रकार छः वेदाङ्गों के अतिरिक्त अलङ्कार को भी सातवां अङ्ग मानने का आग्रह किया है। कवि के विभिन्न भेदों में शब्दकवि और अलङ्कार-कवि, पाक-विवेक, पाठ-प्रतिष्ठा, वक्रोक्ति-विचार तथा 'शब्द-हरण-प्रकरण' में श्लेष और यमक का परस्पर-हरण राजशेखर की शब्दालङ्कार के क्षेत्र में स्पृहणीय देन है। अनेक स्थानों से सङ्गृहीत उदाहरण और तार्किक-निरूपण-शैली इस ग्रन्थ की विशेषता हैं।

तीसरे अध्याय में सरस्वती से काव्यपुरुष के जन्म की पौराणिक कथा वर्णित करते हुए—**'शब्दार्थौ शरीरम्'···प्रश्नोत्तरं प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः ?, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति'** कहकर शब्दालङ्कार के कुछ भेदों को आवर्जित किया है। स्वयं संस्कृत एवं प्राकृत के विशिष्ट कवि[1] होने के कारण राजशेखर ने शब्दालङ्कार की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। इनका **'कमलबन्ध-पद्य'** भोज ने उद्धृत किया है जिसमें **'राजशेखर-कमल'** यह अङ्कित है। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी ने भी अलङ्कार-विवेचन से सम्बद्ध ग्रन्थ लिखा था, जो अब अनुपलब्ध है।

काव्यमीमांसाकार के प्रतिपाद्य अलङ्कार मात्र न होकर काव्य-निर्माणोपयोगी तत्त्व थे। अतः वे किसी आलङ्कारिक उद्भावना और सहमति अथवा असहमति में नहीं पड़े। यही कारण है कि इन्होंने अपने विवेचन में अलङ्कारों पर आनुषङ्गिक विचार ही उपस्थित किये हैं। काव्यमीमांसा का प्रभाव उत्तरकाल में व्यापक रहा है फलतः इस विधा पर एक स्वतन्त्र धारा ही चल पड़ी थी। इसका **'नादिन शोपाक'** तथा **'लुई रेनो'** ने फ्रेञ्च अनुवाद भी किया है।

११-वक्रोक्ति-जीवित : कुन्तक (सन् ९२५ से १०२५ के बीच)

आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-जीवित' में पूर्वाचार्यों द्वारा अलङ्कार के रूप में निरूपित **'वक्रोक्ति'** को पुनः भामह के अनुकरण में काव्य-व्यापिनी सिद्ध किया तथा अलङ्कारों की संख्या को न्यून करने के लिए वाक्यवक्रता में अखिल अलङ्कार-वर्ग का अन्तर्भाव किया

---

१. चेदि के शासक युवराजदेव द्वितीय के बिलहारी शिलालेख के अन्त में—

'सुश्लिष्टबन्धघटनाविस्मितकवि-राजशेखरस्तुत्या' इत्यादि अंश द्रष्टव्य है।

है।[१] कुन्तक के विचार में—"विदग्धों के कहने के ढंग ही वक्रोक्ति हैं और वे ही अलङ्कार हैं।[२] भोज ने अपने ग्रन्थ **"शृङ्गार-प्रकाश"** में उसी वक्र की महत्ता को स्वीकार किया है।[३] इस वक्रोक्ति के भेदों में वर्ण-विन्यास-वक्रता, पद-पूर्वार्ध-वक्रता और पद-परार्ध-वक्रता में अनुप्रास (कुछ भेदों के साथ),[४] यमक[५] एवं अन्य शब्दालङ्कारों का अन्तर्भाव स्पष्ट है। वक्रोक्ति के वर्ण, पद, लिङ्ग और प्रत्ययादि भेदों के लिए कुन्तक रुद्रट के ऋणी हैं जिन्होंने श्लेष के भेदों में इन प्रकारों का निर्देश किया गया है। कुन्तक ने अपनी इस कृति को **'काव्यालङ्कार'** भी कहा है।[६] इस दृष्टि से कुन्तक को शब्दालङ्कार का पोषक माना जा सकता है।

इनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण सङ्गृहीत है। कुन्तक ने अलङ्कार-विकास में नवीन अलङ्कारों का निर्देश नहीं किया है क्योंकि उनके समय में अलङ्कारों का पर्याप्त विकास हो चुका था, तथापि स्थान-स्थान पर अपना अभिमत अवश्य दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना लिए भरसक प्रयास किया, फलतः वक्रोक्ति को काव्यव्यापी बना दिया। इससे अलङ्कार-सम्प्रदाय को महत्त्व मिला तथा शब्द या अर्थ में स्वीकृत अलङ्कारों ने अपनी वाच्य-शक्ति से सर्वत्र महत्त्व प्राप्त कर लिया। **'रससम्प्रदाय'** के विरोध में अलङ्कार-सम्प्रदाय का यह दूसरा रूप **'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय'** था।

यह सम्प्रदाय उत्तरकाल में आगे नहीं चल पाया, और इस आत्मवादी दृष्टि से कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना भी नहीं हुई। हां, केवल अलङ्कार के रूप में इसका सम्मान अवश्य स्थिर है।

१२-सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजदेव (सन् १०१० से १०५५ के बीच)

भोजदेव ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के द्वितीय परिच्छेद में शब्दालङ्कार का विवेचन किया है जिसमें शब्दालङ्कार के २४ प्रकार और फिर प्रत्येक के प्रायः ६-६

---

१. **वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।**
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१।२०॥ (वक्रोक्तिजीवित)

२. **वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥१।१॥** (वहीं)

३. **यदवक्रं वचः शास्त्रे, लोके च वच एव तत्।**
वक्रं यदर्थवादौ च तत्तकाव्यमिति स्मृतिः ॥ (शृङ्गारप्रकाश,—भोज)

४. **लोकोत्तरचमत्कारकारि-वैचित्र्यसिद्धये।**
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥१।२॥ (वक्रोक्तिजीवित)

५. **एको द्वौ बहवो वर्णा बदध्यमानाः पुनः पुनः।**
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ॥२-१-२॥ (वक्रोक्तिजीवित)

६. **यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।**
स तु शोभान्तराभावादिह नातिप्रपञ्च्यते ।२।७॥ (वहीं)।

भेद किये हैं। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रतिपाद्य विषय को जितना अधिक विस्तृत बनाया जा सका, बनाया है और उसे विविध उदाहरणों द्वारा परिपुष्ट भी किया है। इनकी आलङ्कारिक दृष्टि प्रथम परिच्छेद में ही स्पष्ट हो जाती है। ये अलङ्कारवादी थे इसका प्रमाण इससे प्राप्त होता है कि—'दोष-गणना में इन्होंने अलङ्कार-विहीन वाक्यों में 'निरलङ्कार-दोष' माना है।[1] साथ ही निरलङ्कार-पूर्ण-वाक्यावली में असाधुता का कारण भी अन्यत्र प्रदर्शित किया है।[2] इनकी दृष्टि में अलङ्कार काव्य को अलङ्कृत करने में समर्थ हैं, किन्तु वह काव्यगत-विशिष्टता को ही चमत्कृत करता है, चेतना-विहीन को नहीं।[3]

द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में अलङ्कार के तीन वर्ग बताये हैं—**१-बाह्य, २-आभ्यन्तर** तथा **३-उभय।** १-बाह्य शब्दालङ्कार हैं, जिनमें—**जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य तथा अभिनीति** ये २४ शब्दालङ्कार हैं। इस परिच्छेद में 'औचित्य' को अलङ्कार का मूलाधार माना है और काव्य के जितने शब्द-सम्बन्धी गुण हैं, वे शब्दालङ्कार के नाम से सम्बोधित किए गए हैं।

उपर्युक्त २४ शब्दालङ्कारों में इतनी व्यापकता है कि प्रायः कोई भी अङ्ग छूट नहीं पाया है। 'यमक, अनुप्रास और चित्र'[4] इन तीनों शब्दालङ्कारों के भेद तथा अवान्तर भेदों की संख्या बहुत विस्तृत है। शेष अलङ्कारों में प्रत्येक के छः या उससे अधिक भेद सोदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इनके विभाजन बड़े ही मौलिक, क्रम-विन्यस्त एवं सुलझे हुए हैं। कहीं-कहीं भावी आचार्यों के लिए मार्गदर्शन करते हुए अनन्तभेद आदि का संकेत भी किया है।

एक बात अवश्य है कि इनके द्वारा प्रदर्शित यह विशाल शब्दालङ्कार-समूह उत्तरकाल में स्थिर नहीं रह पाया। उसमें से कुछ बिलकुल छोड़ दिये गये, कुछ नामान्तर से गृहीत हुए और कुछ इनके सङ्कलन से भी आगे बढ़ गए। उदाहरणार्थ **यमक के भेदों में— १-आवृत्ति की अधिकता, २-आवृत्त्येकरूपता, ३-स्थूलावृत्ति, ४-सूक्ष्मावृत्ति, ५-अन्य-भेदोच्छेद, ६-अन्य-भेदानुच्छेद, ७-स्वभेद में पूर्वभेदानुच्छेद,** तथा **८-स्वभेद में पूर्वभेदोच्छेद** के प्रकार। **अनुप्रास के भेदों में —१-श्रुति, २-वृत्ति, ३-वर्ण, ४-पद, ५-नामद्विरुक्ति,** और **६-लाटानुप्रास,** के विभिन्न नवीन और सहृदयग्राह्य प्रकार एवं **चित्र के भेदों में—१-वर्ण, २-स्थान, ३-स्वर, ४-आकार, ५-गति और ६-बन्ध** के छः प्रकारों का निर्देश और प्रत्येक के यथाशक्य भेद

---

१. द्रष्टव्य-सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, प्रथम परिच्छेद, पद्य ५३, १५१ तथा २-७६, १।१५८।

२-३-४. भोज के चित्रालङ्कार-सम्बन्धी विचार, भेद-प्रभेद और पूर्वापर विमर्श के लिए देखिये **'भोजस्य सरस्वतीकण्ठाभरणे चित्रालङ्कारास्तेषां पूर्वापर-विमर्शश्च"** —डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, (सङ्गमनी' वर्ष ६, अङ्क ३, पृ० ९)

अवश्य ही दर्शनीय हैं। क्रम भी इन्होंने अपने ढंग से निर्धारित किया है। उदाहरण सङ्गृहीत और स्वनिर्मित हैं, और निरूपण-शैली विशद है। यत्र-तत्र **'स्वमत-स्थापन** और **परमत-खण्डन'** का भी आश्रय लिया है। इस निरूपण में भामह, दण्डी, रुद्रट एवं अग्निपुराण से भोज ने पर्याप्त सहयोग प्राप्त किया है।

चित्रालङ्कार के ६ भेदों में इनकी प्रतिभा का प्रयोग और भी मुखरित हुआ है। गति-चित्र में दिये गये **'गोमूत्रिका'** के जिन **'शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, कोटि** और **कामधेनु-चित्रों** का सोदाहरण विवेचन भोज ने किया है, वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है।

भोज ने शब्दालङ्कार के पक्ष में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया है कि—जो अर्थालङ्कार की परिधि में आनेवाले उपमादि अलङ्कार आज तक सर्वसम्मति से अर्थालङ्कार ही माने जाते रहे हैं उन्हें भी उभयालङ्कार कहा है।[1] इस दृष्टि को स्पष्ट करते हुए भोजदेव ने कहा है कि 'जिन अलङ्कारों में पूर्वादि शब्दों से विशिष्ट उपमादिरूप अर्थों का ज्ञान होता है, वे उभयालङ्कार कहलाते हैं।'[2] इस तरह **"उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक तथा संसृष्टि"** ये २४ अलङ्कार शब्दालङ्कार के भी पोषक माने गए हैं। भोजदेव की दृष्टि में अनुप्रास की सर्वाधिक महत्ता भी उनके शब्दालङ्कार के प्रति पूर्णानुराग की सूचक है। इस प्रकार 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और उनके निर्माता भोजदेव 'शब्दालङ्कार' के इतिहास में सम्मान्य आचार्य हैं, यह कहना असङ्गत न होगा।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' की टीका 'रत्नदर्पण' के नाम से राजा रामसिंह देव के आदेश से **म०म० रत्नेश्वर मिश्र** (१४वीं शती) ने की है। यद्यपि यह टीका प्रथम तीन परिच्छेद तक ही प्राप्त है तथापि शब्दालङ्कार-विचार पर इनकी टीका सुवर्ण में सौरभ का कार्य करती है। अनेक स्थानों पर भोज ने रहस्य को खोलने में इस टीकाकार ने पर्याप्त नैपुण्य का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर १-मार्जना (हरिदत्त कृत), २-दुष्कर-चित्रप्रकाशिका (लक्ष्मीधर) तथा अन्य ३-टीका श्री जगद्धर ने भी की है।

(क) शृङ्गार-प्रकाश : भोजदेव

भोज ने पूर्वाचार्यों की दबी हुई वाणी को मुखरित किया और पुरोवर्ती आचार्यों

---

१. इस विषय में अधिक जानकारी के लिए देखिये—
'शब्दालङ्काराणां सन्दर्भे लाटानुप्रासस्य समीक्षात्मकं सर्वेक्षणम्'
डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, शोधप्रभा, अक्तूबर-मार्च १९८१-८२ पृ० से ९६।

२. **शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।**
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालङ्क्रियाः प्रियाः ॥३।१॥

का मार्ग प्रशस्त किया है। इनकी द्वितीय रचना 'श्रृङ्गार-प्रकाश' के १०वें अध्याय में भा उपर्युक्त चौबीस शब्दालङ्कारों का निर्देश है। किन्तु यहां कोई विस्तृत विवेचन नहीं है।

१३-औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र (सन् १०६३ से पूर्व)

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में शब्दालङ्कारों का साक्षात् निर्देश तो नहीं किया है किन्तु इनसे सम्बद्ध **'औचित्य'** का अवश्य ही विश्लेषण दिया है। भरत से लेकर इनके पूर्ववर्ती आचार्यों में यथा-तथा औचित्य के सम्बन्ध में सङ्केत अवश्य ही मिलते रहे, किन्तु मूलतः इसी को लक्ष्य करके लिखा गया यह ग्रन्थ प्रथम है। क्षेमेन्द्र ने जीवन से उदाहरण लेकर यह बतलाया है कि—'उचित देश-काल के बिना अलङ्कार हास्यास्पद बन जाता है। उचित स्थान पर विन्यास करने से ही अलङ्कार अलङ्कार कहलाते हैं।'[1] अतः औचित्य को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए उसके २७ प्रभेद किये हैं जिनमें अधिकांश प्रभेदों का सम्बन्ध शब्द से है। उदाहरणार्थ पदौचित्य में—'कृशाङ्ग्याः सन्तापं०' इत्यादि पद्य में प्रयुक्त कृशाङ्गी पद का औचित्य, अलङ्कारौचित्य में रसानुकूल वर्णों का प्रयोग, लिङ्गौचित्य, नामौचित्य, वृत्तौचित्य और क्रिया, कारक वचनौचित्यादि इसी प्रकार शब्दालङ्कार के विन्यास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। लेखक ने इस पर 'स्वोपज्ञ-वृत्ति' भी लिखी है।

(क) अन्य रचनाएं

क्षेमेन्द्र की द्वितीय रचना **'सुवृत्त-तिलक'** भी इस सम्बन्ध में सहायक है तथा तृतीय रचना **'कविकण्ठाभरण'** में पांच सन्धियां हैं जिनमें—'१-कवित्वप्राप्ति, २-शिक्षाप्राप्ति, ३-चमत्कृतिप्राप्ति, ४-गुणदोषोद्गति एवं ५-परिचयप्राप्ति,— का निर्देश है। यहीं चमत्कार के दस भेद भी बतलाये हैं, जिनमें शब्दालङ्कारोपयोगी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। इसमें कविशिक्षा की दृष्टि से प्रस्तुत 'लक्ष्य और लक्षण' भी अलङ्कार-शास्त्र में उपयोगी हैं।

१४-व्यक्तिविवेक : महिम भट्ट (सन् १०७५ से ११२५ के बीच)

महिम भट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में स्पष्ट कहा है कि—'मेरा मुख्य उद्देश्य ध्वनिकार के मत का विवेचन करना है'[2] और अपने इस प्रयास में उन्होंने ध्वनिकार के पाठ की परीक्षा की है तथा कारिका और वृत्ति में सूक्ष्म उद्धरण देकर आनन्दवर्धन और उनके टीकाकार अभिनव गुप्त के अंशों की आलोचना की है। अतः अलङ्कार-विवेचन से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। तथापि इन्होंने प्रासङ्गिक चर्चा में छन्द को शब्दालङ्कार मानने की बात बड़ी महत्त्वपूर्ण कही है। इनका कथन है कि—

---

१. **उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ॥६॥** —(औचित्यविचारचर्चा)

२. **अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ॥**
(व्यक्तिविवेक, विमर्श १, प्रथम पद्य पूर्वार्ध)

"तस्य छन्दसः श्रव्यतामात्रलक्षणत्वात् पदापेक्षयैव वसन्ततिलकादाविव गुर्वन्ततानियमस्य सकर्णकैरन्त्राप्यनादृतत्वात् । अत एव यमकानुप्रासयोरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमुपगतमस्माभिः ।[1]"

यह कथन एक निर्भीक कथन है । इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों में दण्डी ने कहा था कि— "वह छन्द-सम्बन्धी विद्या गम्भीर काव्यसागर में डुबकी लगानेवालों के लिये नौका के समान है । इसी नौका का आश्रय लेकर उत्तरकालीन भोज आदि आचार्यों ने शब्दालङ्कार के गति-चित्रादि अनेक नवीन रूप तो अवश्य ही प्रस्तुत किये किन्तु साहसपूर्वक यह कहीं नहीं कहा कि **'छन्द' शब्दालङ्कार** है ।" अतः महिम भट्ट ही इसके प्रथम (और अन्तिम भी) प्रवक्ता हैं । इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के द्वितीय विमर्श में दोषप्रसङ्ग पर **'शब्दपुनरुक्तत्व'** दोष के विवेचन में **'यह दोष कहां नहीं होता...'**[2] इस बात को स्पष्ट करने के लिए जो विवेचन किया है वह भी शब्दालङ्कार के तत्त्वों को प्रस्तुत करता है । 'शब्दों के आशय की भिन्नता दोष न होकर अलङ्कार ही होती है ।'

इस ग्रन्थ पर एक अपूर्ण टीका 'अलङ्कार-सर्वस्व' के वृत्तिकार (११३५-११४५ ई०) की प्राप्त होती है तथा द्वितीय टीका **'तिलकरत्न'** का उल्लेख प्रो० एस० आर० भाण्डारकर की रिपोर्ट में मिलता है ।

१५-काव्यप्रकाश : मम्मट (सन् १००० ई० के निकट)

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के नवम उल्लास में क्रमशः—'१-वक्रोक्ति, २-अनुप्रास, ३-यमक, ४-श्लेष, ५-चित्र तथा ६-पुनरुक्तवदाभास' नामक छह[2] शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है ।

ये शब्दालङ्कार 'शब्द के परिवर्तन-सहत्व' पर निर्भर हैं । वक्रोक्ति के तीन भेद— १-सभङ्गश्लेष-वक्रोक्ति, २-अभङ्ग श्लेष-वक्रोक्ति और ३-काकु-वक्रोक्ति हैं । अनुप्रास के पहले दो भेद १-छेक तथा २-वृत्तिगत हैं जिन्हें **'वर्णानुप्रास'** कहते हैं । वृत्ति के यहां तीन भेद १-उपनागरिका, २-परुषा और ३-कोमला को स्थान मिला है । लाटानुप्रास को **'पदानुप्रास'**[3] कहते हुए पांच भेद दिये हैं—

१-अनेकपदावृत्तिमूलक, २-एकपदावृत्तिमूलक, ३-समास में पदावृत्तिमूलक, ४-भिन्न-भिन्न समासों में एकपदावृत्तिमूलक तथा ५-समास और असमास में एकपदावृत्तिमूलक ।

---

१. व्यक्तिविवेक—पृ० १९५, (चौ० सं०)

२. काव्यप्रकाश के टीकाकार 'सोमेश्वर' ने इन्हीं के आधार पर कहा है—

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेष-चित्रके ।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालङ्कृतयस्तु षट् ॥ (वहीं)

३. **एष एव पदानुप्रास इत्यन्ये ।** (वृत्ति) तथा **'पदानां सः'** (सू० ११२ काव्यप्रकाश)

यमक के मुख्य ग्यारह भेद तथा पादगत भागों की आवृत्ति के भेदों से इनके ४० भेद वृत्ति ग्रन्थ में समझाये हैं और अन्त में इनकी अनन्तता का भी सङ्केत किया है। यमक के ऐसे सूक्ष्म भेदों को 'काव्यान्तर्गडुभूत' कहते हुए केवल ८ उदाहरण दिये गये हैं। **श्लेष की** शब्दालङ्कारता को सिद्ध करने के लिए मम्मट ने पर्याप्त विवेचन दिया है। ये सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेषों को शब्दालङ्कार मानते हैं। इसकी शब्दालङ्कारता का मूल **'जतुकाष्ठन्याय'** है। इसके यहां १-वर्ण, २-पद, ३-लिङ्ग, ४-भाषा, ५-प्रकृति, ६-प्रत्यय, ७-विभक्ति एवं ८-वचन' रूप आठ भेद स्वीकृत हैं। ये सभी सभङ्ग श्लेष हैं जो कि पहले रुद्रट द्वारा प्रतिपादित हैं। इनके अतिरिक्त एक नौवां भेद भी मम्मट ने दिया है,[1] जो प्रकृति-प्रत्ययादि के भेद के बिना ही स्वरभेद के कारण **'भिन्नप्रयत्नोच्चार्य'** अथवा उस स्वर-भेदादि का भी अभाव होने पर **'अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य'** अनेक पदों का श्लेष है। चित्र को **'कष्ट-काव्य'** कहकर भी उसके—'१-खड्ग, २-मुरज, ३-पद्म (अष्टदल) और ४-सर्वतोभद्र' नामक चार भेद दिये हैं। पुनरुक्तवदभाास के १-सभङ्ग शब्दनिष्ठ और २-अभङ्गशब्दनिष्ठ दो भेद शब्द के दिये हैं जबकि इस अलङ्कार को 'उभयालङ्कार' कहकर 'अर्थनिष्ठ' का भी एक उदाहरण दिया है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों के विचारों को स्थिरचित्त से तोलने और अपेक्षित खण्डन करने के कारण तथा सारसङ्कलन की वृत्ति और अनुपयोगी विषय के प्रति औदासीन्य के कारण पुरोवर्ती आलोचकों के हृदय पर इनकी पूरी छाप जम गई है। **मम्मट** **'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य'** की संज्ञा से सम्बोधित किये जाते हैं। इनकी अलङ्कार-विषयक धारणाएं कारिका की अपेक्षा वृत्ति में अधिक स्पष्ट हुई हैं। जिनमें भामह के विचारों पर विश्वास रखते हुए वक्रोक्ति को ही समस्त अलङ्कारों का प्राण माना है। ये अलङ्कार को हारादि आभूषणों के समान मानते हैं।[2] अलङ्कार रस के उपकारक हैं और रसहीन वाक्यों में भी रह सकते हैं। वैसे अर्थालङ्कार से पूर्व शब्दालङ्कारों को स्थान दिया है। **'अलङ्कार की भूमि विचित्रता है और वैचित्र्य ही अलङ्कार है।'** यह विचार इन्होंने शब्दश्लेष पर लिखी वृत्ति में स्पष्ट किया है।

गुण और अलङ्कार का अन्तर स्पष्ट करते हुए उनका भेद रस पर आश्रित माना है। गुण रस से नित्य सम्बद्ध हैं अलङ्कार नहीं।[3] अलङ्कार केवल उपकारक हैं अलङ्कार का कर्म अङ्गवत् है। अतिशयोक्ति के बिना अलङ्कार नहीं होता।[4] वैचित्र्य के अभाव में अलङ्कार नहीं

---

१. **भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत्।** (वहीं सू० ११९)

२. **उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।**
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥६७॥ (काव्यप्रकाश)

३. **ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।**
उत्कर्षहतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥६६॥

४. **सर्वत्र एवं विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते, तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।** (विशेषालङ्कार पर वृत्ति पृ० २९५)।

होता।[1] चित्र को कष्टकाव्य कहकर दिङ्मात्र-प्रदर्शन किया है तथा उसके अनेक भेदों का सङ्केत में कहा है कि—'वे शक्तिमात्र के प्रकाशक होते हैं।"[2] इन विचारों के आधार पर मम्मट ने उपादेय-बुद्धि से काम लिया है, हठबुद्धि से नहीं। शब्दालङ्कार के उदाहरण भी प्रचलित ही उपस्थित किये हैं तथा विशेष भेदोपभेद-प्रदर्शन को महत्त्व नहीं दिया है।

इनके द्वारा अभङ्गपदश्लेष के शब्दालङ्कार के समर्थन में दिया गया विस्तृत विचार पूर्ण मननीय है।

मम्मट ने उदाहरण-योजना में सङ्ग्रहवृत्ति से काम लिया है। निरूपण-शैली बड़ी प्रौढ है। रुद्रट के प्रभाव के अतिरिक्त उद्भट का भी इन पर प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है फिर भी स्वतन्त्र-चिन्तन के कारण उसे धूमिल बना दिया है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों की अनेकता ही इस ग्रन्थ की महत्ता सूचित करती है। टीकाकारों में साहित्यिक के अतिरिक्त वैयाकरण, दार्शनिक और धार्मिक व्यक्ति भी हैं।[3]

मम्मट मूलतः वैयाकरण थे, अतः शब्द की महत्ता उनकी दृष्टि में उन्नत थी किन्तु ध्वनि के प्रस्थापन में उसका उपयोग अधिक हुआ है अतः 'काव्य-प्रकाश' से अलङ्कार-साहित्य में नया युग आरम्भ हुआ है। ध्वनि के क्षेत्र में **'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि'** के दो भेद वस्तु और अलङ्कार ध्वनि का मार्मिक विवेचन, स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार-व्यङ्ग्य, तथा स्वतः सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार-व्यङ्ग्य, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु और अलङ्कार-व्यङ्ग्य की चर्चा ध्वनिकार से अधिक विशद मम्मट ने ही की है।

१६-साहित्य मीमांसा : रुय्यक (सन् ११०० से ११५५ के बीच)

रुय्यक की प्रारम्भिक कृति के रूप में 'साहित्य-मीमांसा, का उल्लेख विद्वानों ने किया है और कतिपय विद्वान् इस रचना को रुय्यक के शिष्य मङ्खक की रचना भी मानते हैं, किन्तु रुय्यक को ही इसके कर्ता मानने का पक्ष अधिक प्रबल है। तदनुसार इसके पांचवें प्रकरण में—'१-अनुप्रास, २-क्रम, ३-श्लोक, ४-मुद्रा, ५-दीपक, ६-युक्ति ७-पठिति, ८-गुम्फना ९-चित्र और १०-यमक" नामक दस शब्दालङ्कारों का विवेचन है। परम्परागत शैली में लिखित इस ग्रन्थ में गद्यमय विवेचन है। अलङ्कारों को **'काव्य में शोभाकर धर्म'** मानते

---

१. **कष्टं काव्यमिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते।** (चित्रालङ्कार पर वृत्ति, पृ० २१७)

२. **'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष हेतुः न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्।** (कारणमाला पर वृत्ति : पृ० २७९)

३. टीकाकारों के विशेष परिचय के लिये द्रष्टव्य—श्री यशोविजय उपाध्याय-प्रणीत २-३ उल्लास की टीका सहित प्रकाशित — **"काव्यप्रकाश"** की विस्तृत भूमिका, ले० डा० रुद्रदेव त्रिपाठी। इसमें प्राय २०० से २५० टीकाओं का परिचय है।

हुए गुण और अलङ्कार दोनों का ही योग काव्य के लिए आवश्यक माना है। गुण निसर्गतः रहते हैं और वे नित्य हैं जबकि अलङ्कारयोग अतिशायिनी शोभा के लिए आकांक्षित होता है, वह आगन्तुक है।[1] अलङ्कारस्वरूप के सम्बन्ध में रुय्यक का अभिमत है कि—"कुछ अलङ्कार काव्य में शोभाकर होते हैं और कुछ उचित-सौष्ठव में तत्पर रहते हैं।"[2] शब्दालङ्कार-क्रम में विचित्रता है। अनुप्रास के १-क्रिया, २-कारक और ३-श्लोकरूप भेद इसमें नवीन हैं।[3] **क्रम** और **दीपक** को शब्दालङ्कार के क्षेत्र में प्रथम स्थान मिला है और अन्य अलङ्कारों में सरस्वती-कण्ठाभरण का भी अनुकरण हुआ है किन्तु उतना विस्तार नहीं। उदाहरण सङ्गृहीत हैं तथा निरूपण-शैली उत्तम है।

यह सम्भव है कि रुय्यक ने इस प्रारम्भिक रचना के पश्चात् ही 'अलङ्कार-सर्वस्व' की रचना की हो। वैसे रुय्यक की तीन अन्य कृतियों '**१-अलङ्कारानुसारिणी, २-अलङ्कार-मञ्जरी** और **३-अलङ्कार-वार्तिक**' का भी उल्लेख मिलता है।

(क) अलङ्कारसर्वस्व : रुय्यक

रुय्यक ने 'अलङ्कार-सर्वस्व' के आरम्भ में ही शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। तदनुसार '१-पुनरुक्तवदाभास, २-छेकानुप्रास, ३-वृत्त्यनुप्रास, ४-यमक, ५-लाटानुप्रास और ६-चित्र' अलङ्कारों का विमर्श है। अलङ्कारों के विभाजन में रुय्यक ने अपना दृष्टिकोण नवीन रूप से प्रस्तुत किया है तदनुसार शब्दार्थालङ्कार-स्वभाव चित्रकाव्य में पौनरुक्त्य के तीन प्रकार हैं—१-शब्दपौनरुक्त्य' २-अर्थपौनरुक्त्य तथा ३-शब्दार्थ-पौनरुक्त्य, और पौनरुक्त्य के पांच अलङ्कार—'१-पुनरुक्तवदाभास, २-छेकानुप्रास, ३-वृत्त्यनुप्रास, ४-यमक तथा ५-लाटानुप्रास' बतलाये हैं। इनमें **पुनरुक्तवदाभास को अर्थपौनरुक्त्याश्रित, छेक, वृत्ति और यमक को शब्दपौनरुक्त्याश्रित तथा लाटानुप्रास को शब्दार्थ-पौनरुक्त्याश्रित** माना है। चित्र अलङ्कार को रुय्यक उपचारतः शब्दालङ्कार मानते हैं और **वर्ण-पौनरुक्त्य** में उसे स्थान देते हैं। श्लेष और वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार ही माना है तथा छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास को भिन्न-भिन्न माना है। धारणाओं की दृष्टि से रुय्यक ने अलङ्कार की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं दी है पर 'व्यक्तिविवेक' के व्याख्यान में तथा विभिन्न अलङ्कारों के निरूपण से यह स्पष्ट है कि ये ध्वनिवादी मान्यताओं के निर्वाह के साथ अलङ्कारत्व की दृष्टि से कुन्तक तथा महिम भट्ट के अनुयायी हैं। तदनुसार अलङ्कार-निबन्धन को ये भिन्न-काव्य मानते हैं। चित्रकाव्य

---

१. आमुञ्चन्ति शरीरेषु गुणवत्तु निसर्गतः।
अलङ्कारान् जनाः शोभामाकाङ्क्षन्तेऽतिशायिनीम्॥ (साहित्यमीमांसा पृ० ३२)

२. केचित् केचिदलङ्काराः काव्ये शोभाकरत्वतः।
केचिदर्थानलङ्कारानुक्ति-सौष्ठव-तत्पराः॥ (वहीं पृ० ५२)

३. पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा। क्रियाणां कारकाणां च यथासङ्ख्यनिवेशनम्॥
तथा—श्लोकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतत्वोक्तत्वात्। (वहीं।)

होता।[1] चित्र को कष्टकाव्य कहकर दिङ्मात्र-प्रदर्शन किया है तथा उसके अनेक भेदों का सङ्केत में कहा है कि—'वे शक्तिमात्र के प्रकाशक होते हैं।"[2] इन विचारों के आधार पर मम्मट ने उपादेय-बुद्धि से काम लिया है, हठबुद्धि से नहीं। शब्दालङ्कार के उदाहरण भी प्रचलित ही उपस्थित किये हैं तथा विशेष भेदोपभेद-प्रदर्शन को महत्त्व नहीं दिया है।

इनके द्वारा अभङ्गपदश्लेष के शब्दालङ्कार के समर्थन में दिया गया विस्तृत विचार पूर्ण मननीय है।

मम्मट ने उदाहरण-योजना में सङ्ग्रहवृत्ति से काम लिया है। निरूपण-शैली बड़ी प्रौढ है। रुद्रट के प्रभाव के अतिरिक्त उद्भट का भी इन पर प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है फिर भी स्वतन्त्र-चिन्तन के कारण उसे धूमिल बना दिया है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों की अनेकता ही इस ग्रन्थ की महत्ता सूचित करती है। टीकाकारों में साहित्यिक के अतिरिक्त वैयाकरण, दार्शनिक और धार्मिक व्यक्ति भी हैं।[3]

मम्मट मूलतः वैयाकरण थे, अतः शब्द की महत्ता उनकी दृष्टि में उन्नत थी किन्तु ध्वनि के प्रस्थापन में उसका उपयोग अधिक हुआ है अतः 'काव्य-प्रकाश' से अलङ्कार-साहित्य में नया युग आरम्भ हुआ है। ध्वनि के क्षेत्र में **'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि'** के दो भेद वस्तु और अलङ्कार ध्वनि का मार्मिक विवेचन, स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार-व्यङ्ग्य, तथा स्वतः सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार-व्यङ्ग्य, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु और अलङ्कार-व्यङ्ग्य की चर्चा ध्वनिकार से अधिक विशद मम्मट ने ही की हैं।

१६-साहित्य मीमांसा : रुय्यक (सन् ११०० से ११५५ के बीच)

रुय्यक की प्रारम्भिक कृति के रूप में 'साहित्य-मीमांसा, का उल्लेख विद्वानों ने किया है और कतिपय विद्वान् इस रचना को रुय्यक के शिष्य मङ्खक की रचना भी मानते हैं, किन्तु रुय्यक को ही इसके कर्ता मानने का पक्ष अधिक प्रबल है। तदनुसार इसके पांचवें प्रकरण में—'१-अनुप्रास, २-क्रम, ३-श्लोक, ४-मुद्रा, ५-दीपक, ६-युक्ति ७-पठिति, ८-गुम्फना ९-चित्र और १०-यमक" नामक दस शब्दालङ्कारों का विवेचन है। परम्परागत शैली में लिखित इस ग्रन्थ में गद्यमय विवेचन है। अलङ्कारों को **'काव्य में शोभाकर धर्म'** मानते

---

१. **कष्टं काव्यमिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते।** (चित्रालङ्कार पर वृत्ति, पृ० २१७)

२. **'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष हेतुः न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्।** (कारणमाला पर वृत्ति : पृ० २७९)

३. टीकाकारों के विशेष परिचय के लिये द्रष्टव्य—श्री यशोविजय उपाध्याय-प्रणीत २-३ उल्लास की टीका सहित प्रकाशित — **"काव्यप्रकाश"** की विस्तृत भूमिका, ले० डा० रुद्रदेव त्रिपाठी। इसमें प्राय २०० से २५० टीकाओं का परिचय है।

हुए गुण और अलङ्कार दोनों का ही योग काव्य के लिए आवश्यक माना है। गुण निसर्गतः रहते हैं और वे नित्य हैं जबकि अलङ्कारयोग अतिशायिनी शोभा के लिए आकांक्षित होता है, वह आगन्तुक है।[1] अलङ्कारस्वरूप के सम्बन्ध में रुय्यक का अभिमत है कि—"कुछ अलङ्कार काव्य में शोभाकर होते हैं और कुछ उचित-सौष्ठव में तत्पर रहते हैं।"[2] शब्दालङ्कार-क्रम में विचित्रता है। अनुप्रास के १-क्रिया, २-कारक और ३-श्लोकरूप भेद इसमें नवीन हैं।[3] **क्रम** और **दीपक** को शब्दालङ्कार के क्षेत्र में प्रथम स्थान मिला है और अन्य अलङ्कारों में सरस्वती-कण्ठाभरण का भी अनुकरण हुआ है किन्तु उतना विस्तार नहीं। उदाहरण सङ्गृहीत हैं तथा निरूपण-शैली उत्तम है।

यह सम्भव है कि रुय्यक ने इस प्रारम्भिक रचना के पश्चात् ही 'अलङ्कार-सर्वस्व' की रचना की हो। वैसे रुय्यक की तीन अन्य कृतियों '**१-अलङ्कारानुसारिणी, २-अलङ्कार-मञ्जरी** और **३-अलङ्कार-वार्तिक**' का भी उल्लेख मिलता है।

(क) अलङ्कारसर्वस्व : रुय्यक

रुय्यक ने 'अलङ्कार-सर्वस्व' के आरम्भ में ही शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। तदनुसार '१-पुनरुक्तवदाभास, २-छेकानुप्रास, ३-वृत्त्यनुप्रास, ४-यमक, ५-लाटानुप्रास और ६-चित्र' अलङ्कारों का विमर्श है। अलङ्कारों के विभाजन में रुय्यक ने अपना दृष्टिकोण नवीन रूप से प्रस्तुत किया है तदनुसार शब्दार्थालङ्कार-स्वभाव चित्रकाव्य में पौनरुक्त्य के तीन प्रकार हैं—१-शब्दपौनरुक्त्य' २-अर्थपौनरुक्त्य तथा ३-शब्दार्थ-पौनरुक्त्य, और पौनरुक्त्य के पांच अलङ्कार—'१-पुनरुक्तवदाभास, २-छेकानुप्रास, ३-वृत्त्यनुप्रास, ४-यमक तथा ५-लाटानुप्रास' बतलाये हैं। इनमें **पुनरुक्तवदाभास को अर्थपौनरुक्त्याश्रित, छेक, वृत्ति और यमक को शब्दपौनरुक्त्याश्रित तथा लाटानुप्रास को शब्दार्थ-पौनरुक्त्याश्रित** माना है। चित्र अलङ्कार को रुय्यक उपचारतः शब्दालङ्कार मानते हैं और **वर्ण-पौनरुक्त्य** में उसे स्थान देते हैं। श्लेष और वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार ही माना है तथा छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास को भिन्न-भिन्न माना है। धारणाओं की दृष्टि से रुय्यक ने अलङ्कार की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं दी है पर 'व्यक्तिविवेक' के व्याख्यान में तथा विभिन्न अलङ्कारों के निरूपण से यह स्पष्ट है कि ये ध्वनिवादी मान्यताओं के निर्वाह के साथ अलङ्कारत्व की दृष्टि से कुन्तक तथा महिम भट्ट के अनुयायी हैं। तदनुसार अलङ्कार-निबन्धन को ये भिन्न-काव्य मानते हैं। चित्रकाव्य

---

१. **आमुञ्चन्ति शरीरेषु गुणवत्तु निसर्गतः।**
अलङ्कारान् जनाः शोभामाकाङ्क्षन्तेऽतिशायिनीम्॥ (साहित्यमीमांसा पृ० ३२)

२. **केचित् केचिदलङ्काराः काव्ये शोभाकरत्वतः।**
केचिदर्थानलङ्कारानुक्ति-सौष्ठव-तत्पराः॥ (वहीं पृ० ५२)

३. **पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा। क्रियाणां कारकाणां च यथासङ्ख्यनिवेशनम्॥**
तथा—श्लोकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतत्वोक्तत्वात्। (वहीं।)

का निरूपण इनके सर्वस्व का प्रतिपाद्य था। इनकी दृष्टि में **'अलङ्कार शब्द और अर्थ पर आश्रित हैं, उसी शब्दार्थ की विच्छित्ति,**[1] **अलङ्कार है तथा वस्तुसंन्निवेशी धर्मों के उप-निबन्धन में अलङ्कारत्व का अधिवास रहता है न कि तार्किकप्रक्रिया** अथवा शुष्क **कार्यकारणभाव के के उपनिबन्धन** में।[2] इसी प्रकार रुय्यक कवित्वमात्रगम्य वस्तु तथा चित्तवृत्ति अथवा भाव के वर्णन में अलङ्कारत्व-प्रतिष्ठान मानते हैं।[3] इस प्रकार कवि-प्रतिभा से उल्लसित विच्छित्ति को ही अलङ्कार-सर्वस्व के व्याख्याता **जयरथ** ने **'वाच्यवाचकरामणीयक'** कहा है। इनके अन्य टीकाकार **'समुद्रबन्ध'** ने **काव्यशोभाकर धर्म को भी अलङ्कार** कहा है।[4] जबकि तृतीय टीकाकार **श्री विद्याचक्रवर्ती 'विच्छित्ति और वैचित्र्य को अलङ्कार'** कहते हैं।[5] रुय्यक ने अलङ्कारों के शब्दाश्रित और अर्थाश्रित होने से अनेकत्व की सूचना भी दी है। मङ्खक ने चित्र की शब्दालङ्कारता सिद्ध करते हुए कहा है कि—**"चित्र की शब्दालङ्कारता में कोई बाधकता नहीं है यद्यपि—खड्ग आदि आकृति में अक्षरनिवेश की ही विशिष्टता रहती है, तथापि श्रोत्राकाश-समवेत वर्णों की शब्द से अभिन्न प्रतीति होने के कारण चित्र को शब्दालङ्कार माना जाता है।"**

वैसे ग्रन्थ-पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजानक रुय्यक का उद्देश्य अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन नहीं था, प्रत्युत वे उनके लक्षण देकर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहते थे। यही कारण है कि शब्दालङ्कार में श्लेष को कोई स्थान न देकर अर्थालङ्कार में 'विशेष्ययुक्त विशेषता-साम्य का श्लेष' ग्रहण किया है। रुय्यक का मत है, कि—'काव्य का जीवन व्यङ्ग्य है, गुणण और अलङ्कार उसके चारुत्व हेतु हैं, अतः रसादि को अलङ्कार कहना उचित नहीं।' महाराजा समुद्रबन्ध ने इसकी टीका लिखकर इनके विचारों को और भी परिष्कृत कर दिया है। इनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण सङ्गृहीत हैं, निरूपण में सूक्ष्म-चिन्तन की छाप है। पूर्वाचार्यों के विचार और अपनी दृष्टि का स्थापन रुय्यक की मौलिक देन है। अलङ्कार की शब्दपरता या अर्थपरता के लिए आश्रयाश्रयिभाव और लौकिक अलङ्कारों की स्थिति की धारणा को महत्त्व दिया है। उत्तरकाल में रुय्यक के अनुयायी भी अनेक आचार्य बन गये थे।

रुय्यक के उक्त ग्रन्थ की टीकाएं **जयरथ**, **श्री विद्याचक्रवर्ती** और **समुद्रबन्ध** आदि मनीषियों ने की है तथा वहीं अपने-अपने मन्तव्यों को भी प्रस्तुत किया है। जयरथ ने स्वतन्त्र रूप से **'अलङ्कारोदाहरण,'** तथा श्री विद्याचक्रवर्ती ने **'अलङ्कार-सर्वस्वनिकृष्टार्थकारिका'** की रचना की है। समुद्रबन्ध ने स्वरचित उदाहरणों के योग से इस ग्रन्थ का उपबृंहण किया है।

---

१. अलङ्कार-सर्वस्व पृ० ६१-६२। २. वहीं पृ० ५८। ३. वहीं पृ० २२३।
४. समुन्द्रबन्ध, व्याख्या पृ० ३ तथा पृ० १६३।
५. **अलङ्कारो हि विच्छित्तिः।** (सञ्जीवनी पृ० ३०)
यतो वैचित्र्यमलङ्कारः। (सम्प्रदायप्रकाशिनी, भाग-२, पृ० २३८)

रुय्यक के विचार परिष्कृत एवं विचारणीय हैं। शोभाकर ने **'अलङ्कार-रत्नाकर'** में इनके विचारों का बहुशः खण्डन भी किया है।

१७-वाग्भटालङ्कार : वाग्भट (प्रथम) (सन् ११३३ के निकट)

महाराजा सिद्धराज के समकालीन वाग्भट (प्राकृत नाम वाहड) के वाग्भटालङ्कार' चतुर्थ परिच्छेद में '१-चित्र, २-वक्रोक्ति, ३-अनुप्रास तथा ४-यमक' इन चार ध्यन्यलङ्क्रियाओं-शब्दालङ्कारों का विवेचन है। वेवर के अनुसार बर्लिन की पाण्डुलिपि संख्या १७१८ में इस ग्रन्थ का एक छठा परिच्छेद भी है, जिसमें यमक के विस्तृत भेदों की चर्चा है। इस तरह ग्रन्थान्त में यमक का वर्णन दण्डी के अनुकरण पर हुआ है। यहां चित्रालङ्कार के लक्षण में "कल्पना के द्वारा जहां मानसिक प्रसत्ति हो, उसे तथा आश्चर्यकारक रचना को **'चित्र'** की संज्ञा दी है।"[1] भेदों में षोडशदल पद्म, गोमूत्रिका, एकस्वर, मात्रा-बिन्दु-वर्णच्युतक और एकव्यञ्जन-चित्र का संग्रह है। प्रथम परिच्छेद में कवि-समय की चर्चा करते हुए हारबन्ध और छत्र-बन्ध के उदाहरण भी दिये हैं जिनमें 'हारबन्ध' का उदाहरण पूर्वापेक्षा सर्वप्रथम प्रस्तुत हुआ है। अन्य वक्रोक्ति, श्लेष और अनुप्रास के भेदों में नवीनता नहीं है। इसी ग्रन्थ के अज्ञात टिप्पण-कार के अनुप्रास की व्यवस्था समझाते हुए लिखा है कि—**'छेकानुप्रास अभिन्नपद होता है** और **'लाटानुप्रास' भिन्नपद होता है।** सर्वांश में तुल्य न्यायवाली 'वृत्ति' कहलाती है।' यह विश्लेषण सर्वथा नवीन है। इसी प्रकार यमक की आवृत्ति के सम्बन्ध में भी टिप्पणकार का कहना है कि आवृत्ति दो प्रकार की होती है—१-संलग्न और २-असंलग्न—जो पाद, पद और वर्ण के भेद से छः प्रकार की हो जाती है तथा इनके भी तीन भेद—१-पादाद्यक्षर-विषयक, २-पादवर्णमध्यविषयक और ३-पादप्रान्तवर्णविषयक होते हैं, जो वृत्त के चतुर्थांश पाद, विभक्त्यन्त पद और अक्षरों की आवृत्ति से बहुविध हैं।[2] इनके उदाहरण भी विविध छन्दों के आधार पर प्रस्तुत हुए हैं जो इनके **'नेमिनिर्वाण-महाकाव्य'** से लिए गए हैं। अलङ्कार के सम्बन्ध में वाग्भट का कथन है कि—'दोषों से मुक्त और गुणों से युक्त होने पर भी जिसके विना स्त्री के रूप के समान सौन्दर्य नहीं आता, उस अलङ्क्रिया का मैं वर्णन करता हूं।[3] यहां **'चित्रालङ्कार को प्रथम कोटि का शब्दालङ्कार** मानने में वाग्भट प्रथम आचार्य हैं। इसी प्रकार द्वितीय वाग्भटादि आचार्यों ने भी चित्रालङ्कार को प्राथमिकता दी है। यह इनके काव्य-चमत्कारवादी दृष्टिकोण का भी परिचायक है

---

१. **यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना ।**
सत्यां प्रसत्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत् ॥ ४।७॥ (वाग्भटालङ्कार)

२. द्रष्टव्य—वाग्भटालङ्कार, टिप्पण पृ० २१

३. **दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः ।**
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलङ्क्रियोच्चयम् ॥४।१॥ (वाग्भटालङ्कार)

यह ग्रन्थ जैन-सम्प्रदाय का प्रथम अलङ्कार-ग्रन्थ होने के कारण बहुत प्रिय हुआ है। वाग्भट ने भी इस लघुकाय ग्रन्थ में पूर्ववर्ती आचार्यों की दाय को स्वीकृत करते हुए चिन्तन और सङ्ग्रहवृत्ति दोनों के समवेत रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि इस पर ग्यारह टीका-टिप्पणी और दो 'बालावबोध' प्राप्त होते हैं।[1]

१८-हेमचन्द्राचार्य : काव्यानुशासन (सन् ११५० से उत्तर)

हेमचन्द्राचार्य ने काव्यानुशासन के पञ्चम अध्याय में—'अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास'—नामक छः अलङ्कारों का विवेचन किया है। काव्यानुशासन पर स्वयं आचार्य ने **'अलङ्कार-चूडामणि'** नामक 'स्वोपज्ञ वृत्ति' तथा 'विवेक' की भी रचना की है। शब्दालङ्कारों का क्रम पूर्ववत् नहीं रखा है। यहां चित्र को तृतीय स्थान दिया गया है। लक्षणों में भी नवीनता नहीं है। तथापि यमकादि के सर्व-स्वीकृत भेदों को ग्रहण किया है। चित्र के भेदों में स्वर, व्यञ्जन, स्थान, गति, आकार, नियम, च्युत, गूढादि का सङ्ग्रह है तथा इनके भी अन्य भेदोपभेदों का वर्णन है। इसी प्रसङ्ग में **'दुर्वचक, दुःश्रव और दुर्बोध'** को भी चित्रभेदों में दिखलाया है और कहा है कि ये भी क्रीडा में विरुद्ध नहीं माने जाते। श्लेष के भी आठों भेद गृहीत हैं। यह ग्रन्थ सङ्ग्रहात्मक है अतः आलङ्कारिक धारणाओं का विशेष उन्मेष नहीं हो पाया है तथापि ये 'अलङ्कारों को अङ्गाश्रित मानते हैं और गुणालङ्कार को एकरूप मानने का खण्डन किया है। इनका कथन है कि **'कवितारः सन्दर्भेषु अलङ्करान् व्यवस्यन्ति न्यस्यन्ति च, न गुणान्'** अर्थात्, 'कविजन सन्दर्भों में अलङ्कारों की व्यवस्था करते हैं और यथोचित विन्यास करते हैं किन्तु गुणों के सम्बन्ध में वैसा नहीं है। इसी प्रकार अलङ्कारों का अपोद्धार भी सम्भव है किन्तु गुणों का नहीं।' प्रस्तुत लेखक ने विविध विषयों पर ग्रन्थ रचनाएं की हैं इसीलिए इन्हें **'कलिकालसर्वज्ञ'** के सम्मानित अभिधान से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरण-योजना में अन्यान्य आचार्यों के उदाहरणों के साथ-साथ स्वरचित एवं अन्य जैनाचार्यों की रचनाओं को भी प्रमुखता दी है। निरूपण सङ्ग्रहात्मक है और काव्यप्रकाश से पूर्णतः प्रभावित है।

इस पर स्वयं लेखक ने दो स्वोपज्ञ वृत्तियां १-**'अलङ्कार चूडामणि'** (२८०० श्लोक-प्रमाण, ६७ प्रमाण तथा ७४० उदाहरणों से युक्त) तथा २-**'विवेक'** (२०१ प्रमाण एवं ६२४ उदाहरणों से युक्त) लिखी हैं। **'जैन-तर्कभाषा'** के लेखक श्री यशोविजय उपाध्याय ने भी इस पर एक वृत्ति लिखी थी, किन्तु वह अब तक अप्राप्त है। एक अन्य अज्ञातकर्तृक टिप्पणी भी इस पर प्राप्त है।

---

१. ग्रन्थकार के विशिष्ट परिचय एवं टीकाकारों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिये देखिये—लेखक द्वारा लिखित एवं सम्पादित यशोविजय उपाध्याय रचित टीका-युक्त 'काव्यप्रकाश' का उपोद्घात पृ० ४४।

१९-अलङ्कार-रत्नाकर : शोभाकर मित्र (सन् ११९५ से उत्तर)

शोभाकर ने 'अलङ्कार-रत्नाकर' में शब्दालङ्कार के छः भेदों की चर्चा की है जिनमें तीन भेद अनुप्रास के हैं। शब्दालङ्कारों को विवेचन में प्रथम स्थान दिया है। पुनरुक्तवदाभास पहला शब्दालङ्कार है जिसके लक्षण-विवेचन में रुय्यक और उसके अनुयायी टीकाकारों के विचारों का खण्डन बड़ी दृढता के साथ किया है। इसी प्रकार लाटानुप्रास को भी शब्दालङ्कार मानने का पूर्ण समर्थन इनके द्वारा वृत्ति में किया गया है। यमक अलङ्कार का अत्यन्त सङ्कोच करते हुए केवल एक उदाहरण दिया है तथा चित्रालङ्कार में भी दो उदाहरण देकर अन्यत्र देखने का आग्रह किया है। इस प्रकार वस्तुतः—'पुनरुक्तवदाभास, यमक, अनुप्रास (छेक, वृत्ति और लाट) और चित्र' नामक चार शब्दालङ्कारों का विवेचन शोभाकर ने किया है। अपनी अलङ्कार-सम्बन्धी धारणा का कोई उल्लेख नहीं है। उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों से सङ्गृहीत हैं। निरूपण-शैली सरल है। कहीं कहीं अपने विवेचन को पुष्ट करने के लिए परिकर श्लोक भी दिये हैं। ग्रन्थ में सूत्र, वृत्ति और उदाहरणों की योजना है। स्वयं ग्रन्थकार द्वारा सूत्रों पर विस्तृत वृत्ति-लेखन से ग्रन्थ सङ्ग्राह्य बन गया है।

२०-अलङ्कार-महोदधि : नरेन्द्रप्रभ (सन् १२०० के निकट)

श्री नरचन्द्र सूरि के शिष्य नरेन्द्रप्रभ सूरि[1] ने 'अलङ्कार-महोदधि' के सातवें तरङ्ग में क्रमशः—१-अनुप्रास, २-यमक और ३-चित्र—शब्दालङ्कारों का भेदोपभेद-सहित विवेचन किया है। अनुप्रास के भेदों का विवेचन भोज पर आधारित है किन्तु उनके वर्णानुप्रास के आठ भेदों को छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास में अन्तर्निहित कर लिया है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों में भी इन्होंने यत्र-तत्र विवेक दिखलाया है।

आलङ्कारिक धारणा की दृष्टि से इनका कथन है कि "नीरस वाणी भी शब्दगत अलङ्कारों को धारण करके हृदयहारिणी बन जाती है, जैसे कि काठ की पुतली अलङ्कृत होने पर मन को बलात् आकृष्ट कर लेती है।"[2] इस तरह विचित्रता की ओर अधिक झुकाव है। शब्दालङ्कारों का क्रम सर्वस्वीकृत है। अनुप्रास के भेदों में श्रुति, छेक, वृत्ति और लाट को स्थान देते हुए सरस्वती-कण्ठाभरण का अनुकरण किया है किन्तु कुछ भेदों को छोड़ भी दिया है। इतना ही नहीं, उदाहरण पद्य भी सीधे भोज से अधिकांश ले लिये हैं। लाटानुप्रास में भोज

---

१. ये मन्त्रीश्वर वस्तुपाल के समकालीन थे तथा उन्हीं की अभ्यर्थना पर यह ग्रन्थ बनाया गया था। इनकी अन्य रचनाएं : १-विवेककलिका और २-विवेकपादप (दो सूक्तिसंग्रह) तथा ३-काकुत्स्थकेलि-नाटक आदि प्रसिद्ध हैं।

२. इति शब्दगतामलङ्कृतिं दधती भाव्यरसाऽपि भारती।
कटकादिविभूषणाङ्किता हरते कृत्रिमपुत्रिकाऽप्यलम् ॥७२५॥
(अलङ्कारमहोदधि)

के **'नाम-द्विरुक्त्यनुप्रास'** के भेदों को मिला लिया है और उसका कारण न दिखाते हुए 'कविपुङ्गव ऐसा कहते हैं,' कह दिया है।[1] 'अन्य शब्दालङ्कारों के भेदों में नवीनता नहीं है। ग्रन्थ में प्रायः संग्रहदृष्टि को ही प्रमुखता दी है। नरेन्द्रप्रभ ने ग्रन्थरचना का कारण प्राचीन विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट अलङ्कारों के सार-संग्रह का अभाव बतलाया है और गुरु की आज्ञा को उसमें प्रेरक माना है।[2]

शब्दालङ्कार की आवश्यकता पर भी इन्होंने पूर्ण वल दिया है और कहा है कि—"दोष-रहित और गुण से युक्त रहते हुए भी अलङ्कार के बिना शब्द विचित्रता को नहीं प्राप्त होता है, अतः मैं शब्दालङ्कार कहता हूं।"[3] स्वयं लेखक ने इस ग्रन्थ पर **'अलङ्कारतिलक'** नाम से 'वृत्ति' बनाई है और दुर्बोध विषयों को सुबोध बनाने का प्रयास किया है। इसमें प्राचीन कृतियों से ९८२ पद्य उदाहृत हैं तथा इसका प्रमाण ४५०० श्लोक के लगभग है। अपनी सुबोध-शैली और सङ्ग्रहवृत्ति के कारण ग्रन्थ समादर का पात्र वना है।

२१-काव्यकल्पलतावृत्ति : अरिसिंह और अमरचन्द्रयति (सन् १२२७ के निकट)

श्री अमरचन्द्रयति और अरिसिंह[4] की संयुक्त-कृति के रूप में विख्यात रचना 'काव्य-कल्पलतावृत्ति"[5] के **'शब्दसिद्धिप्रतान'** और **'श्लेषसिद्धिप्रतान'** नामक दूसरे तथा तीसरे प्रकरणों में 'अनुप्रास श्लेष और चित्रप्रपञ्च' का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार आरम्भ और अन्त के प्रतानों में दिये गए **'छन्दः-सिद्धि'** और **'समस्याक्रम'** के उदाहरण भी शब्दालङ्कार के पोषक हैं। प्रत्येक प्रतान को स्तवकों में विभक्त करते हुए लेखक ने काव्य-निर्माण-शक्ति के विकास हेतु 'शब्दसङ्ग्रह' और 'अलङ्कारसाधनोपायों' का उत्तम निरूपण किया है। अनुप्राससिद्धि के लिये अकारादि-क्षकारान्त शब्दों के रहने पर कादि-क्षान्त शब्दों की गवेषणा को उपयुक्त माना है तथा यही प्रक्रिया चित्र और यमक में भी हितावह बतलाई है। श्लेष-सिद्धि के उपायों में—'अक्षर-

---

१. आवृत्तिर्दृश्यते या च या च काचन सम्भ्रमात्।
अनुप्रासं तमप्याहुर्लाटीयं कविपुङ्गवाः ॥ ७। १८॥ (अलङ्कारमहोदधि)

१. केचिद् विस्तरदुस्तरास्तदितरेः सङ्क्षेपदुर्लक्षणाः,
सन्त्यन्ये सकलाभिधेयविकलाः क्लेशावसेयाः परे।
इत्थं काव्यरहस्य-निर्णय-वहिर्भूतैः प्रभूतैरपि,
ग्रन्थैः क्षेत्रगतैः कदर्थितमिदं कामं मदीयं मनः॥ इत्यादि। (वहीं)

२. निर्दोषोऽपि गुणाढ्योऽपि शब्दो नालङ्कृतिं विना।
वैचित्र्यमयते तादृक् तच्छब्दालङ्कृतिं ब्रुवे ॥७। १॥ (अलङ्कारमहोदधि)

४. ये वायड-गच्छीय **श्री जिनदत्त सूरि** के शिष्य थे।

५. पूरा ग्रन्थ चार प्रतानों और उनके क्रमशः ५, ४, ५ और ७ स्तवकों में विभाजित है।

त्रोटन, वर्णाकर्षण और एकाक्षरी धातु'—आदि का निदर्शन है। चित्र के—'स्वर, व्यञ्जन, स्थान, गति, आकार, च्युत और गूढ—नामक सात भेद दिखलाते हुए प्रत्येक के सम्भावित भेदों को दिया है। एकाक्षरी शब्दों का सञ्चयन चित्ररचना के सौविध्य हेतु अत्युत्तम है। चक्रबन्ध में नवीनता है तथा अन्य वन्ध पूर्वदर्शित ही है। निरूपण की सूक्ष्मता सहृदयग्राह्य है। इसमें अरिसिंह नामक जैन कवि के सूत्रों का मुख्य आधार है किन्तु वृत्ति की विशदता एवं विस्तार के कारण वह मूल ग्रन्थ के स्वरूप को ही प्राप्त है। शुभविजय गणि ने इस पर **'मकरन्द'** नामक टीका रची है तथा ग्रन्थकार की अन्य आलङ्कारिक रचनाओं में 'अलङ्कार-प्रबोध' का भी परिचय मिलता है। इस पर **१-कविशिक्षा, २-परिमल,** और **३-मञ्जरी** नामक तीन स्वोपज्ञ वृत्तियां तथा अन्य दो टीकाएं भी हैं।

२२. **अलङ्कार-चिन्तामणि : अजितसेन** : (सन् १२५०-६० रचनाकाल)

जैन कवि अजितसेन ने 'अलङ्कार-चिन्तामणि' के प्रथम परिच्छेद में-'यमक, श्लेष और चित्रकाव्य' सम्बन्धी व्यवस्था में व-ब, ड-ल, र-ल आदि वर्णों तथा विसर्गानुस्वार के साम्यनिर्वाह को सोदाहरण प्रस्तुत किया है। तदनन्तर समस्यापूर्ति का औचित्य दिखला कर उदाहरणों से उसे पुष्ट किया गया है।[1] इसका द्वितीय परिच्छेद शब्दालङ्कारों के १-चित्र, २-वक्रोक्ति, ३-अनुप्रास और ४-यमक' ऐसे चार भेद बताकर चित्रालङ्कार के अनेक भेदों का उल्लेख करता है जो इस प्रकार हैं—

"१-व्यस्त, २-समस्त, ३-द्विर्व्यस्त और द्विःसमस्त, ४-द्विर्व्यस्त जाति, ५-द्विःसमस्तजाति, ६-व्यस्तक-समस्तक, ७-द्विर्व्यस्तक-समस्तक और द्विःसमस्तक-व्यस्तक, ८-एकालापक, ९-प्रभिन्नक[2]; शब्दार्थलिङ्गभिन्न, १०-शब्दार्थभिन्न, ११-शब्दार्थलिङ्गविभक्तिभिन्न, १२-शब्दार्थ-वचन, १३-भेद्य-भेदक, १४-ओजस्वि जाति, १५-सालङ्कार, १६-रूपका-लङ्कारजन्य, १७-कौतुक, १८-प्रश्नोत्तरसम, १९-पृष्ट-प्रश्नजाति, २०-भग्नोत्तर, २१-आदि-मध्योत्तर जाति, २२-अन्तोत्तर, २३-कथितापह्नुत, २४-वृत्त एवं विषमवृत्त, २५-इन्द्रमाला वृत्तजाति, २६-नामाख्यात, २७-तार्क्य-सौत्र-शाब्द-शास्त्रवाक्य, २८-वर्णोत्तर एवं वाक्योत्तर, २९-श्लोकार्ध-पादपूर्वार्ध एवं अन्य भेदरूप, ३०-पादोत्तर जाति, ३१-चक्रबन्ध, ३२-पद्मबन्ध, ३३-काकपद, ३४-गोमूत्रिका, ३५-सर्वतोभद्र, ३६-गतप्रत्यागत, ३७-वर्धमानाक्षर, ३८-हीयमानाक्षर, ३९-श्रृङ्खलाबन्ध, ४०-नाग-पाश;[3] भाषाचित्र ४१-संस्कृत प्राकृत जाति ४२-संस्कृत कर्णाटक जाति, ४३-शुद्ध प्राकृत,

---

१. समस्यापूरणं कुर्यात् परशब्दार्थगोचरम्।
पराभिप्रायवेदित्वान्न कविर्दोषमृच्छति ॥ १।९९ ॥ (अलङ्कारचिन्तामणि)

२. शब्दार्थलिङ्गवाग्भिश्च विभक्त्या यत्समासतः।
व्यस्तं विभिन्नमाख्यातं तत्प्रभिन्नं मनीषिभिः ॥२।२२।१-२ ॥ (वहीं)

३. संस्कृतप्राकृतायुक्तिवैचित्र्यं यत्र विद्यते।
तच्चित्रमेकवर्ण्यं तु शुद्धं तत् परिभाष्यते ॥२।११६ ॥ (वहीं)।

४४-त्रिर्व्यस्त द्विःसमस्त-जाति, ४५-त्रिर्व्यस्त-त्रिःसमस्त जाति, ४६-अर्थप्रहेलिका, ४७-शब्द-प्रहेलिका, ४८-स्पष्टान्धक-प्रहेलिका, ४९-अन्तरालापक प्रश्नोत्तर, ५०-बहिरालापक अन्तर्विषम प्रश्नोत्तर, ५१-गोमूत्रिका-बन्ध, ५२-बिन्दुमत्, ५३-बिन्दुच्युतक, ५४-बिन्दुमद्बिन्दुच्युतक, ५५-मात्राच्युतक प्रश्नोत्तर, ५६-व्यञ्जनच्युतक, ५७-अक्षरच्युत प्रश्नोत्तर, (द्व्यक्षरच्युतादि भेद सहित), ५८-मुरजबन्ध, ५९-अनन्तरपादमुरज, ६०-इष्टपादमुरज, ६१-गूढ तृतीय-चतुर्थानन्तराक्षरद्वय-विरचितयमकानन्तर-पाद मुरज, ६२-निरोष्ठ्याक्षर यथेष्टैकान्तरित मुरज (गोमूत्रिका-षोडशदलरूप), ६३-गुप्त-क्रिया-मुरज, ६४-अर्धभ्रमगूढपश्चार्ध, ६५-अर्ध-भ्रमगूढ-द्वितीयपाद, ६६-अर्धभ्रम-निरौष्ठ्यगूढ चतुर्थपाद, ६७-एकाक्षर, ६८-एकाक्षर विरचितैकपाद, ६९-द्व्यक्षर, ७०-गतप्रत्यागतार्ध, ७१-गतप्रत्यागतैक, ७२-गतप्रत्यागत-पादयमक, ७३-बहुक्रियापद-स्वरगूढ-सर्वतोभद्र (अष्टविध-चित्रालङ्कारगर्भित), गूढस्वेष्टपाद चक्र, ७५-दर्पण-बन्ध, ७६-पट्टकबन्ध, ७७-तालवृन्तबन्ध, ७८-निःसालबन्ध, ७९-ब्रह्म-दीपिका, ८०-परशुबन्ध, ८१-मानबन्ध (शिबिका), ८२-चक्रवृत्तक (षडरचक्र), ८३-भृङ्गवर-बन्ध, ८४-निगूढपाद (गूढदीपिका) ८५-छत्रबन्ध तथा ८६-हारबन्ध। इन भेदों के लक्षण और उदाहरणों को देकर तृतीय परिच्छेद में वक्रोक्ति (काकु एवं श्लेषमूलक), अनुप्रास-(छेक, लाट एवं वृत्तिगत) और यमक के प्रमुख ग्यारह भेदों को दिखलाया है।"

इन भेदों में अनेक भेद सर्वथा नवीन हैं तो कतिपय पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत हैं। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ को सर्वोपयोगी बनाने की दृष्टि से प्रत्येक विषय को विस्तार से व्यक्त किया है।

इस प्रकार अजितसेन ने शब्दालङ्कार के क्षेत्र में बहुत विस्तार से चिन्तन प्रस्तुत किया है। इन्होंने काव्य की परिभाषा में अलङ्कार की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि—'कवि अपनी रचना को शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार से समृद्ध बनाये।'[1] इसके साथ ही व्युत्पत्ति में भी ये अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान आवश्यक मानते हैं।[2] अलङ्कार का लक्षण चौथे परिच्छेद में—**हार और काञ्ची इत्यादि आभूषणों से जैसे सुन्दर रमणी के अङ्ग सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ-सौन्दर्य के कारण जिससे वस्तु की शोभा बढ़ती है, काव्यशास्त्र के विद्वानों ने उसे अलङ्कार कहा है"**[3]—यह दिया है। लक्षण-पद्यों की रचना एवं बीच-बीच में गद्य द्वारा विषय-वस्तु को स्पष्ट करना अत्यन्त मनोरम है। उदाहरणों में आचार्य समन्तभद्र-

---

१. 'शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं०
इत्यादि (पद्य १।७ अलङ्कार-चिन्तामणि)

२. छन्दोऽलङ्कारशास्त्रेषु गणिते कामतन्त्रके।
शब्दशास्त्रे कलाशास्त्रे तर्काध्यात्मादितन्त्रके ॥१।१०॥ इत्यादि (वहीं)

३. चारुत्वहेतुना येन वस्त्वलङ्क्रियतेऽङ्गवत्।
हारकाञ्च्यादिभिः प्रोक्तः सोऽलङ्कारः कवीशिभिः ॥४-१॥ (वहीं)

रचित **'जिनशतक'** (अपरनाम) **'स्तुतिविद्या'** के पद्यों के साथ-साथ पूर्व पुराण तथा सुभाषितों का उपयोग किया गया है। और इसीलिए अपने इस ग्रन्थ को भी ग्रन्थकार ने स्रोत की संज्ञा दी है।[1]

प्रभाव की दृष्टि से उत्तरकाल में इनके विचारों का आदर एवं परिष्कार भी हुआ है किन्तु काव्यशास्त्र की अपेक्षा रचनाकारों ने इसे अधिक अपनाया है। लेखक ने **'शृङ्गारमञ्जरी'** नामक एक लघुकाय अलङ्कारग्रन्थ की रचना भी की है जो तत्कालीन रानी विट्ठल देवी के पुत्र जैन नरेश कामिराय के पठनार्थ[2] बनाई गई थी। इसमें तीन परिच्छेद हैं। विषय-प्रतिपादन में अधिक नवीनता नहीं प्रतीत होती है। **विजयवर्णी** (१३ शती) की **'शृङ्गार-चन्द्रिका'** अपरनाम **'अलङ्कार-सङ्ग्रह'** भी इससे प्रभावित है।

२३-'अलङ्कारोदाहरण' : जयरथ (सन् १२७५ से १३२५ के बीच)

रुय्यक के टीकाकार के रूप में हम जयरथ से पूर्व-परिचित हैं। इन्होंने 'अलङ्कारोदाहरण' नामक अपनी स्वतन्त्र रचना में 'अनुप्रास' यमक, वृत्त्यनुप्रासादि तथा चित्र के अनेक भेदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन किया है जिनमें वृत्त्यनुप्रास के छह भेद इस प्रकार किये हैं—

१-समस्तैकाक्षरावृत्तिशाली
२-असमस्तैकाक्षरावृत्तिशाली
३-समस्त द्व्यक्षरावृत्तिशाली
४-असमस्त द्व्यक्षरावृत्तिशाली
५-समस्त-त्र्यक्षरावृत्तिशाली
६-असमस्त-त्र्यक्षरावृत्तिशाली

किन्तु इस प्रकार की अक्षरावृत्तियों को अन्य आचार्यों ने स्वर-चित्र/व्यञ्जनचित्र में स्थान दिया है। इसी प्रकार यमक और चित्र का भी सारपूर्ण विवेचन हुआ है। जयरथ ने "**विच्छित्ति-कविप्रतिभोल्लास** अथवा **वाच्यवाचकरामणीयक को अलङ्कार**" कहा है। उक्त कृति जयरथ ने अपने पौत्र को अलङ्कार-ज्ञान कराने के लिए बनायी थी।[3] इसके प्रायः सभी उदाहरण अलङ्कार-सर्वस्व, विमर्शिनी तथा शोभाकर के 'अलङ्कार-रत्नालङ्कार' से लिये हैं।

---

१. अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादि सुभाषितम्।
पुण्यपूरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ॥२१।५॥ (अलङ्कार-चिन्तामणि)

२. कुछ भण्डारों की प्रति में यह ग्रन्थ **'रायभूप'** की कृति के रूप में उल्लिखित है, किन्तु ग्रन्थ की प्रशस्ति जो कि **'जैनग्रन्थ-प्रशस्तिसङ्ग्रह'** प्रथम भाग, वीर सेवामन्दिर, दिल्ली के पृ० ४६-४७ पर अंकित है—उससे यह अजितसेन की कृति निश्चित होती है।

३. **सङ्कमुद्दिश्य निजं सत्यपि बाल्ये श्रुतार्थिनं पौत्रम्।**
अलिखन्निखिलालङ्कृतिसिद्धान्तं जयरथः स्फुटार्थम् ॥
(पाण्डुलिपि-अलङ्कारोदाहरण, अन्तिम पद्य)

४४-त्रिर्व्यस्त द्विःसमस्त-जाति, ४५-त्रिर्व्यस्त-त्रिःसमस्त जाति, ४६-अर्थप्रहेलिका, ४७-शब्द-प्रहेलिका, ४८-स्पष्टान्धक-प्रहेलिका, ४९-अन्तरालापक प्रश्नोत्तर, ५०-बहिरालापक अन्तर्विषम प्रश्नोत्तर, ५१-गोमूत्रिका-बन्ध, ५२-बिन्दुमत्, ५३-बिन्दुच्युतक, ५४-बिन्दुमद्‌बिन्दुच्युतक, ५५-मात्राच्युतक प्रश्नोत्तर, ५६-व्यञ्जनच्युतक, ५७-अक्षरच्युत प्रश्नोत्तर, (द्व्यक्षरच्युतादि भेद सहित), ५८-मुरजबन्ध, ५९-अनन्तरपादमुरज, ६०-इष्टपादमुरज, ६१-गूढ तृतीय-चतुर्थानन्तराक्षरद्वय-विरचितयमकानन्तर-पाद मुरज, ६२-निरोष्ठ्याक्षर यथेष्टैकान्तरित मुरज (गोमूत्रिका-षोडशदलरूप), ६३-गुप्त-क्रिया-मुरज, ६४-अर्धभ्रमगूढपश्चार्ध, ६५-अर्ध-भ्रमगूढ-द्वितीयपाद, ६६-अर्धभ्रम-निरौष्ठ्यगूढ चतुर्थपाद, ६७-एकाक्षर, ६८-एकाक्षर विरचितैकपाद, ६९-द्व्यक्षर, ७०-गतप्रत्यागतार्ध, ७१-गतप्रत्यागतैक, ७२-गतप्रत्यागत-पादयमक, ७३-बहुक्रियापद-स्वरगूढ-सर्वतोभद्र (अष्टविध-चित्रालङ्कारगर्भित), गूढस्वेष्टपाद चक्र, ७५-दर्पण-बन्ध, ७६-पट्टकबन्ध, ७७-तालवृन्तबन्ध, ७८-निःसालबन्ध, ७९-ब्रह्म-दीपिका, ८०-परशुबन्ध, ८१-मानबन्ध (शिबिका), ८२-चक्रवृत्तक (षडरचक्र), ८३-भृङ्गवर-बन्ध, ८४-निगूढपाद (गूढदीपिका) ८५-छत्रबन्ध तथा ८६-हारबन्ध। इन भेदों के लक्षण और उदाहरणों को देकर तृतीय परिच्छेद में वक्रोक्ति (काकु एवं श्लेषमूलक), अनुप्रास-(छेक, लाट एवं वृत्तिगत) और यमक के प्रमुख ग्यारह भेदों को दिखलाया है।"

इन भेदों में अनेक भेद सर्वथा नवीन हैं तो कतिपय पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत हैं। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ को सर्वोपयोगी बनाने की दृष्टि से प्रत्येक विषय को विस्तार से व्यक्त किया है।

इस प्रकार अजितसेन ने शब्दालङ्कार के क्षेत्र में बहुत विस्तार से चिन्तन प्रस्तुत किया है। इन्होंने काव्य की परिभाषा में अलङ्कार की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि— 'कवि अपनी रचना को शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार से समृद्ध बनाये।'[1] इसके साथ ही व्युत्पत्ति में भी ये अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान आवश्यक मानते हैं।[2] अलङ्कार का लक्षण चौथे परिच्छेद में—**हार और काञ्ची इत्यादि आभूषणों से जैसे सुन्दर रमणी के अङ्ग सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ-सौन्दर्य के कारण जिससे वस्तु की शोभा बढ़ती है, काव्यशास्त्र के विद्वानों ने उसे अलङ्कार कहा है**"[3]—यह दिया है। लक्षण-पद्यों की रचना एवं बीच-बीच में गद्य द्वारा विषय-वस्तु को स्पष्ट करना अत्यन्त मनोरम है। उदाहरणों में आचार्य समन्तभद्र-

---

१. 'शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं०
इत्यादि (पद्य १।७ अलङ्कार-चिन्तामणि)

२. छन्दोऽलङ्कारशास्त्रेषु गणिते कामतन्त्रके।
शब्दशास्त्रे कलाशास्त्रे तर्काध्यात्मादितन्त्रके ।।१।१०।। इत्यादि (वहीं)

३. चारुत्वहेतुना येन वस्त्वलङ्क्रियतेऽङ्गवत्।
हारकाञ्च्यादिभिः प्रोक्तः सोऽलङ्कारः कवीशिभिः ।।४-१।। (वहीं)

रचित **'जिनशतक'** (अपरनाम) **'स्तुतिविद्या'** के पद्यों के साथ-साथ पूर्व पुराण तथा सुभाषितों का उपयोग किया गया है। और इसीलिए अपने इस ग्रन्थ को भी ग्रन्थकार ने स्रोत की संज्ञा दी है।[1]

प्रभाव की दृष्टि से उत्तरकाल में इनके विचारों का आदर एवं परिष्कार भी हुआ है किन्तु काव्यशास्त्र की अपेक्षा रचनाकारों ने इसे अधिक अपनाया है। लेखक ने **'शृङ्गारमञ्जरी'** नामक एक लघुकाय अलङ्कारग्रन्थ की रचना भी की है जो तत्कालीन रानी विट्ठल देवी के पुत्र जैन नरेश कामिराय के पठनार्थ[2] बनाई गई थी। इसमें तीन परिच्छेद हैं। विषय-प्रतिपादन में अधिक नवीनता नहीं प्रतीत होती है। **विजयवर्णी** (१३ शती) की **'शृङ्गार-चन्द्रिका'** अपरनाम **'अलङ्कार-सङ्ग्रह'** भी इससे प्रभावित है।

२३-'अलङ्कारोदाहरण' : जयरथ (सन् १२७५ से १३२५ के बीच)

रुय्यक के टीकाकार के रूप में हम जयरथ से पूर्व-परिचित हैं। इन्होंने 'अलङ्कारोदाहरण' नामक अपनी स्वतन्त्र रचना में 'अनुप्रास' यमक, वृत्त्यनुप्रासादि तथा चित्र के अनेक भेदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन किया है जिनमें वृत्त्यनुप्रास के छह भेद इस प्रकार किये हैं—

१-समस्तैकाक्षरावृत्तिशाली
२-असमस्तैकाक्षरावृत्तिशाली
३-समस्त द्व्यक्षरावृत्तिशाली
४-असमस्त द्व्यक्षरावृत्तिशाली
५-समस्त-त्र्यक्षरावृत्तिशाली
६-असमस्त-त्र्यक्षरावृत्तिशाली

किन्तु इस प्रकार की अक्षरावृत्तियों को अन्य आचार्यों ने स्वर-चित्र/व्यञ्जनचित्र में स्थान दिया है। इसी प्रकार यमक और चित्र का भी सारपूर्ण विवेचन हुआ है। जयरथ ने "**विच्छित्ति-कविप्रतिभोल्लास** अथवा **वाच्यवाचकरामणीयक को अलङ्कार**[2]" कहा है। उक्त कृति जयरथ ने अपने पौत्र को अलङ्कार-ज्ञान कराने के लिए बनायी थी।[3] इसके प्रायः सभी उदाहरण अलङ्कार-सर्वस्व, विमर्शिनी तथा शोभाकर के 'अलङ्कार-रत्नालङ्कार' से लिये हैं।

---

१. अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादि सुभाषितम्।
पुण्यपूरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ॥२१।५॥ (अलङ्कार-चिन्तामणि)

२. कुछ भण्डारों की प्रति में यह ग्रन्थ **'रायभूप'**[1] की कृति के रूप में उल्लिखित है, किन्तु ग्रन्थ की प्रशस्ति जो कि **'जैनग्रन्थ-प्रशस्तिसङ्ग्रह'** प्रथम भाग, वीर सेवामन्दिर, दिल्ली के पृ० ४६-४७ पर अंकित है—उससे यह अजितसेन की कृति निश्चित होती है।

३. **सङ्कमुद्दिश्य निजं सत्यपि बाल्ये श्रुतार्थिनं पौत्रम्।**
अलिखन्निखिलालङ्कृतिसिद्धान्तं जयरथः स्फुटार्थम् ॥
(पाण्डुलिपि-अलङ्कारोदाहरण, अन्तिम पद्य)

साथ ही इनके द्वारा जिन अलङ्कारों का खण्डन किया गया है उन्हें भी इसमें आवर्जित कर लिया है। वैसे जयरथ ने अलङ्कारसर्वस्व की 'विमर्शिनी' में भी शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों का विचार किया है और उनके उदाहरण भी दिये हैं।[१]

इसी ग्रन्थ के आधार पर **यशस्कर** ने अपने अलङ्कारोदाहरण-निबद्ध **'देवीस्तोत्र'** की रचना भी की है।[२]

२४-एकावली : विद्याधर (सन् १२८३ से १३१४)

विद्याधर ने 'एकावली' में उड़ीसा के राजा नरसिंह की स्तुति के रूप में स्व-रचित पद्यों को उदाहृत करते हुए सातवें उन्मेष में शब्दालङ्कारों का वर्णन किया है। अलङ्कारशास्त्र की प्रवृत्तियों में एक नया मोड़—जो कि दक्षिण-भारत में सर्वप्रथम आरम्भ हुआ, वह विद्याधर की ही देन है। यह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' और 'अलङ्कार-सर्वस्व' के आधार पर लिखा गया है। इसमें— पुनरुक्तवदाभास, यमक तथा चित्र का विवेचन किया है। इसमें भी ये पुनरुक्त-वदाभास को अर्थालङ्कार मानने के पक्ष में हैं। श्लेष को ये **'उभयविच्छित्त्याश्रय'** मानते हैं। अर्थालङ्कारों में इन्होंने **'प्रश्नोत्तरिका'** नामक अलङ्कार मानते हुए उसे लोकन्यायाश्रयी कहा है।

इस प्रकार विद्याधर शब्दालङ्कार के क्षेत्र में कोई नवीन देन नहीं दे पाये हैं। इस ग्रन्थ पर संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने 'तरला' नामक टीका लिखी है। इसी टीका में इन्होंने पौनरुक्त्यमूलक पांच शब्दालङ्कार बतलाये हैं, जिनमें छेक की परिभाषा— **'अव्यवधानेनासकृद्व्यञ्जनद्वयपौनरुक्त्याश्रितश्छेकानुप्रासः'** कहा है। उत्तरकाल के दक्षिण-भारतीय आचार्यों की अलङ्कारशास्त्र के चिन्तन और ग्रन्थलेखन की प्रेरणा के लिए विद्याधर का सदा आदर हुआ है।

२५-चन्द्रालोक : जयदेव (१२९३ के निकट)

जयदेव ने 'चन्द्रालोक' के पञ्चम मयूख में 'छेक, वृत्ति, लाट, स्फुट और अर्थ' नामक पांच अनुप्रास और पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्र ये तीन अन्य, इस प्रकार कुल आठ शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। भेदों की दृष्टि से अनुप्रास में विकास अधिक है। लाटा-नुप्रास के लिये '**एकपद, अनेकपद, एकसमास, दो समास** और **समासासमास**, का सूचन किया है। **'स्फुटानुप्रास'** और **'अर्थानुप्रास'** की उद्भावना सर्वथा नवीन है तथा पुनरुक्तवदाभास को **'पुनरुक्तप्रतीकाश'** कहा है। चित्र के 'खड्ग' और 'चक्र' दो भेद दिखलाये हैं किन्तु यमक के भेद नहीं दिये, यह आश्चर्य का विषय है। इस ग्रन्थ की दो विशेषताएं स्मरणीय हैं—

---

१. यहां दिये गए उदाहरणों में इनकी शब्दालङ्कारप्रियता और भी निखरी हुई है।

२. द्रष्टव्य— भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान, पूना—प्रति संख्या-२४१

१-मम्मटादि की ध्वनिवादिता का खण्डन करते हुए अलङ्कार की प्रतिष्ठा तथा २-खण्डन-मण्डन से रहित लक्षणोदाहरण समन्वित संक्षिप्त शैली। आलङ्कारिक धारणाओं में जयदेव ने "रसवती कविता को स्वैरिणी और निर्विचारशालिनी कहकर भर्त्सना की है तथा अलङ्कार-सागर में विचाररूपी 'वीचिनिचय' की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया है।"[1] ये अनलङ्कृत काव्य को स्वीकृत करनेवाले के लिए अग्नि की अनुष्णता को भी स्वीकृत करने का तर्क प्रस्तुत करते हैं।[2] अलङ्कार का लक्षण मम्मट के समान ही हारादिवत् मनोहर-संनिवेश किया है।[3] किन्तु वक्रोक्ति अलङ्कार का मूलतत्त्व माननेवालों से जयदेव सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि—'जिस प्रकार मुख के उपाङ्ग समान होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग मुख और व्यक्तित्व होता है उसी प्रकार वक्रता रहते हुए भी सभी अलङ्कार वक्रोक्ति के विकार नहीं हो सकते।[4] क्रम में पुनरुक्तप्रतीकाश को पहले स्थान देकर यमक और चित्र को बाद में स्थान दिया है। उदाहरण-योजना और निरूपण दोनों का एकत्र समावेश केवल अनुष्टुप् पद्य में किया गया है जो चमत्कृतिपूर्ण है।

गागाभट्ट ने चन्द्रालोक पर '**राकागम**' नामक टीका लिखी है। जयदेव नवीन अलङ्कारों की सृष्टि को भी स्वीकृत करने के पक्ष में है। यह एक लघु कृति होते हुए भी उत्तरकाल में आदरपात्र हुई है। अप्पयदीक्षित ने इनके अर्थालङ्कारों पर '**कुवलयानन्द**' की रचना की है जो इनकी यशस्विता की सूचक हैं।

२६-विदग्धमुखमण्डन : धर्मदास (सन् १२९३-१३०९)

धर्मदास ने 'विदग्धमुखमण्डन' के चार परिच्छेदों में सब मिलाकर नब्बे प्रकार की शब्दालङ्कार-जातियों का वर्णन किया है। अधिकांश उदाहरणों में '**प्रश्नोत्तर-पद्धति**' का अवलम्बन है। जिस किसी भेद का वर्णन आरम्भ किया तो उसके जितने भेद सम्भव हो सके अथवा पूर्वाचार्यों ने जितने भेद बताये उन सबको सङ्गृहीत कर लिया है। लक्षण एवं उदाहरणों द्वारा पाठक को विधि से अवगत कराना ही इनका मुख्य कार्य रहा है।

इनके द्वारा वर्णित विषयों की सूची क्रमशः इस प्रकार है—

---

१. **हंहो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्,**
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत्-प्रकाशीभव। इत्यादि पद्य १।२५ (चन्द्रालोक)

२. **अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।**
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥१।८॥ (वहीं)

३. **शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवेशन वा।**
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः ॥५।५॥ (चन्द्रालोक।)

४. **अलङ्कारप्रधानेषु दधानेष्वपि साम्यताम्।**
वैलक्षण्यं प्रतिव्यक्ति प्रतिभाति मुखेष्विव ॥५।१२४॥ (वहीं)

प्रथम परिच्छेद में क्रमशः —

१-व्यस्त, २-समस्त, ३-द्विर्व्यस्त, ४-द्विःसमस्त, ५-व्यस्त-समस्त, ६-द्विर्व्यस्तक समस्त, ७-द्विःसमस्तकव्यस्त, ८-एकालापक, ९-शब्दार्थ-लिङ्गभिन्नक, १०-शब्दार्थ विभक्ति भिन्नक, ११-शब्दार्थ वचन भिन्नक, १२-शब्दार्थ लिङ्ग-वचन भिन्न, १३-शब्दार्थ-विभक्ति-वचन भिन्न और १४-प्रकारान्तर-प्रभिन्नक जाति।

द्वितीय परिच्छेद में क्रमशः—

१-भेद्यभेदकजाति, ओजस्विजाति, ३-रूपकसालङ्कार, ४-सकौतुकजाति, ५-प्रश्नोत्तर समजाति, ६-पृष्टप्रश्न, ७-भग्नोत्तर, ८-आद्योत्तर, ९-मध्योत्तर, १०-अन्त्योत्तर, ११-कथिता-पह्नुति, १२-विषमजाति, १३-वृत्तनामजाति, १४-नामाख्यातजाति, १५-तार्क्ष्यजाति, १६-सौत्रजाति, १७-शाब्दीयजाति, १८-शास्त्रजजाति, १९-वर्णोत्तरजाति और २०-वाक्योत्तर-जाति।

तृतीय परिच्छेद में क्रमशः —

१-चित्रजाति, २-श्लोकोत्तरजाति, ३-खण्डोत्तरजाति, ४-पादोत्तरजाति, ५-चक्रजाति, ६-पद्मोत्तरजाति, ७-काकपदजाति, ८-गोमूत्रजाति, ९-सर्वतोभद्रजाति, १०-गतप्रत्यागतजाति, ११-वर्धमानाक्षर-जाति, १२-हीयमानाक्षरजाति, १३-शृङ्खलाजाति, १४-एकान्तरित शृङ्खला-जाति, १५-नागपाशजाति, १६-संस्कृत-प्राकृत, १७-संस्कृत-अपभ्रंश०, १८-संस्कृत-मागधिक०, तथा १९-संस्कृत-पैशाचिकजाति। संशुद्धजाति के रूप में यहीं इसके अन्य पांच प्रकार भी दिये हैं––

१-शुद्धप्राकृत, २-शुद्धापभ्रंश ३-शुद्धमागधिक, ४-शुद्धपैशाचिक एवं ५-शुद्ध लौकिक।

चतुर्थ-परिच्छेद में क्रमशः —

१-प्रहेलिका-जाति, २-आर्थी, ३-शाब्दी, ४-कालसार-जाति, ५-कालसारादि हृद्य-जाति, ६-अजमारादिगूढ-जाति ७-पादगूढजाति, ८-अर्थगूढजाति, ९-स्तुतिनिन्दाजाति, १०-द्व्यर्थजाति, ११-अपह्नुति-जाति, १२-विन्दुमज्जाति एवं १३-क्रियागुप्तजाति।

यहीं **कारक-गुप्तजाति** में—-

१-कर्तृगुप्त, २-कर्मगुप्त, ३-करणगुप्त, ५-सम्प्रदानगुप्त, ५-अपादानगुप्त, ६-अधि-करणगुप्त, ७-सम्वन्धगुप्त, ८-आमन्त्रितगुप्त, ९-समासगुप्त, १०-लिङ्गगुप्त, ११-सुव्वचन-गुप्त १२-तिङ्वचनगुप्तजाति तथा १३-मात्राच्युतक, १४-बिन्दुच्युतक, १५-विसर्गच्युतक, १६-अक्षरच्युतक, १७-स्थानच्युतक, १८-व्यञ्जनच्युतक एवं १९-च्युतदत्ताक्षर जाति का निदर्शन है।

इन भेदों की व्यवस्था में धर्मदास भोज तथा अजितसेन से पूर्ण प्रभावित हैं तथा उनके द्वारा स्वीकृत शब्दालङ्कार तथा उसके अन्यतम भेद **'चित्र'** के भेदों को अपने ढंग से सङ्गृहीत कर लिया है। कहीं-कहीं इनकी नवीन उद्भावनाएं भी हुई हैं।

इतना अवश्य है कि चित्रालङ्कार के विवेचन में यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो कि ग्रन्थ-परम्परा में सर्वप्रथम आया। इसके आगमन से अग्रिम आचार्यों को प्रेरणा मिली और उनके लिये ऐसे **'एक-शब्दालङ्कार-भेद-विवेचक'** ग्रन्थ के प्रणयन का मार्ग खुल गया।

यह ग्रन्थ अपन ढंग का सर्वप्रथम होने के कारण विद्वत्समुदाय में अत्यन्त प्रिय रहा है जिसके फलस्वरूप इस पर **आठ टीकाएं जैन** आचार्यों ने और कुछ अन्य विद्वानों ने लिखी हैं।[1]

२६- वत्सलाञ्छन : काव्यपरीक्षा (सन् १३२७ से १४०० के बीच)

वत्सलाञ्छन ने 'काव्य-परीक्षा' नामक कृति में केवल पांच शब्दालङ्कारों का वर्णन किया है जो मम्मट और रुय्यक के अनुसार हैं। किसी नये अलङ्कार की उद्भावना अथवा स्वतन्त्र चिन्तन का इसमें अभाव है। इनका अपर नाम **'श्रीवत्स वर्मा'** है। काव्यप्रकाश की **'सारबोधिनी टीका'** एवं **'काव्यामृत'** नामक अन्य कृतियों के लेखक भी ये ही हैं।

२७- प्रतापरुद्रयशोभूषण : विद्यानाथ (सन् १२१८ से १३१७ ई०)

विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के सातवें अधिकरण में पांच शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। छेक और वृत्तिगत दो अनुप्रास-भेदों के निरूपण के पश्चात् यमक का निरूपण है। तदनन्तर पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास और चित्र का विवेचन है। लाटानुप्रास इनके मत में **'उभय-पौनरुक्त्य'** अलङ्कार है। चित्र के अष्टदल, चक्र और नागबन्ध के रूप में तीन उदाहरण हैं। यमक के भेदों का निरूपण नहीं है। यह ग्रन्थ भी आश्रयदाता के यशोगान के लिये लिखा गया है अतः अपने विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता है। मल्लिनाथ के पुत्र **कुमारस्वामी** ने इस पर **'रत्नापण'** नामक टीका लिखी है जो महत्त्वपूर्ण है।

२८-कविकल्पलता : देवेश्वर (चौदहवीं शती का मध्यभाग)

वाग्भट के पुत्र देवेश्वर ने 'कविकल्पलता' के पहले स्तबक के प्रथम कुसुम में **'छन्दोऽभ्यास'**, चौथे कुसुम में **'अनुप्रास-सिद्धि,'** द्वितीय स्तबक के तृतीय कुसुम में **'श्लेष-सिद्धि'** तथा चतुर्थ स्तबक के द्वितीय, तृतीय षष्ठ और सप्तम कुसुमों में क्रमशः **'अद्भुत, चित्र, समस्यापूरणोपाय एवं समस्यापूर्ति'** का विवेचन किया है। इनकी रचना-पद्धति कविशिक्षा-मूलक होने से मुख्यतः शब्द-संग्रह और उनके उदाहरण प्रस्तुत करने पर ही विशेष रही है।

'विविध छन्दों में सरलता से ग्रथित हो सकें तथा उनमें आलङ्कारिक-सौष्ठव का भी निर्वाह किया जा सके।' इस दृष्टि से शब्द-सङ्ग्रह तथा कुछ अन्य सङ्केत महत्त्वपूर्ण हैं। स्वनिर्मित पद्यों के उदाहरण यहां अत्युत्तम हैं। अनुप्रास-सिद्धि के लिये क्रमशः एकाक्षर, द्व्यक्षर त्र्यक्षर, चतुरक्षरवाले शब्दों का पद्यरूप में ही सङ्कलन इस पद्धति से किया गया है कि जिनसे

---

१. द्रष्टव्य, **"जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास,"** (गुजराती भाग-१),
लेo प्रो० हीरालाल रसिकदास कापडिया।

विविध प्रकार के अनुप्रास के भेदोपभेदों की सृष्टि में सारल्य हो। श्लेष के लिये भी इसी प्रकार के शब्दों का संग्रह करते हुए उसके सभङ्ग और अभङ्ग भेदोपयोगी पदों की योजना स्पष्ट की है। अद्भुत का लक्षण देते हुए यहां कहा गया है कि—

यत्र लिङ्गविभक्तीनां सतिभेदैर्महत्यपि।
दृश्यते शब्दसादृश्यं तदद्भुतमितीष्यते ।।४।२।।

इसके अनुसार यह भी श्लेष का रूप है। इसमें सङ्कलित शब्द चित्र-अलङ्कार के भेदों में भी प्रयुक्त होते हैं। चित्रालङ्कार के उदाहरणों में "एकार्थत्वेन अनुलोम-प्रतिलोम शब्द—जिसमें द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर और पञ्चाक्षरात्मक शब्द भी हैं उनका सङ्कलन किया है। क्रियागुप्त के चार भेद,—सम्बन्धगूढादिक, च्युतक के भेदों में 'अर्धमात्रा, बिन्दु और अक्षर च्युतक'—जिनमें एक वृत्त के अक्षर क्रमशः न्यून करने पर विभिन्न अन्य छन्दवाले पद्यों की रचना होती है वे ; प्रश्नोत्तर, बन्ध के भेदों में—"पट्टिश, षोडशदल, अष्टदल, गतप्रत्यागत—पूर्ण पद्यात्मक एवं पादरूप, गोमूत्रिका, समुद्गक; द्व्यक्षर, निरोष्ठ्य, असंयुक्तपुनरुक्ताक्षर, सर्वतोभद्र, कविनामाङ्कयुत षडरचक्रबन्ध और तुरगपद प्रमुख हैं।

समस्यापूरणोपाय में वर्ण्य-विषय के लिये किस प्रकार के पद एवं पदार्थों का चयन करना चाहिये इसका निर्देश करते हुए सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है तथा अन्त में यहीं प्रश्नोत्तर और प्रहेलिकारूप पद्यों का भी समावेश किया है। अन्तिम कुसुम में कवि ने कतिपय प्रसिद्ध समस्यापदों की पूर्तियाँ प्रदर्शित की हैं। उपर्युक्त सभी सामग्री शब्दालङ्कार की दृष्टि से परमोपयोगी है।

यहाँ यमक के उदाहरण एवं अलङ्कार-सम्बन्धी किसी धारणाविशेष का उल्लेख तो नहीं है पर स्थान-स्थान पर उचित पदविन्यास एवं कविजनादरणीय प्रयोगों की ओर अवश्य सङ्केत किया है। इस ग्रन्थ की **५ टीकाएं** उपलब्ध होती हैं, इससे इसके समादर का ज्ञान किया जा सकता है। विशेष यह कि स्वयं लेखक ने इस पर **'स्वोपज्ञ-वृत्ति'** लिख कर अध्ययन को सरल बनाया और यही कारण है कि उत्तरकाल के **'कवि-शिक्षा'**[1] निर्माताओं ने भी इसका अनुकरण किया है।

२९- साहित्यदर्पण : विश्वनाथ (सन् १३०० से १३८४ के बीच)

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के दशम परिच्छेद में 'पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास-(पांचभेद), यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष और चित्र'—नामक सात शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। इन्होंने प्रहेलिका और च्युताक्षरादि को काव्यान्तर्गड्डुभूत मानते हुए उनको रस के परिपन्थी भी कहा है किन्तु उदाहरण दे दिये हैं। विश्वनाथ ने पुनरुक्तवदाभास के सम्बन्ध में कहा है कि 'शब्दालङ्कार के कथन में उभयालङ्काररूप इस अलङ्कार का प्रथम वर्णन हम प्राचीन विद्वानों के द्वारा शब्दालङ्कार के बीच में वर्णन किये जाने के कारण कर रहे हैं।' शब्द की परिवृत्ति सहन करने और कुछ अंश में न करने के कारण 'पुनरुक्तवदाभास' को उभयालङ्कार

१. अन्य **'कविशिक्षा'** ग्रन्थों का परिचय हम आगे **'अनुपूर्ति'** में दे रहे हैं।

माना है। अनुप्रास के 'छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य और लाट'— संज्ञक पांच भेदों में अन्त्यानुप्रास नवीन है जो पादान्त और पदान्त के रूप में दो प्रकार का होता है। लाटानुप्रास के भी **'एकपदपौनरुक्त्य'** और **'अनेकपदपौनरुक्त्य'** के रूप में दो भेद माने हैं किन्तु वृत्ति के बारे में भेद नहीं दिये हैं। यमक को प्रभूत भेदवाला कहा गया है किन्तु मात्र एक ही उदाहरण दिया है। वक्रोक्ति के श्लेष के सभङ्ग, अभङ्ग तथा काकुगत भेद पूर्ववत् हैं। **'भाषासम'** की नवीन संयोजना है तथा श्लेष के आठ भेद और उनके भी सभङ्ग, अभङ्ग और गत्यात्मक भेद का सूचन किया है जिससे श्लेष की संख्या चौबीस हो जाती है। इसी प्रसङ्ग में अभङ्ग श्लेष को शब्दालङ्कार मानने के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रार्थ भी दिया है। चित्र के पद्म, खड्गादि भेदों का सूचन है तथा प्रहेलिका के अलङ्कारत्व का खण्डन करते हुए उक्तिवैचित्र्य-मात्र प्रयोजक च्युताक्षरा और क्रियागुप्त आदि का निर्देश किया है। साहित्यदर्पण पर मम्मट और रुय्यक का प्रभाव है किन्तु **'वाक्यं रसात्मक काव्यम्'** की स्थापना में मम्मट के काव्य-लक्षण की आलोचना तथा श्लेष-प्रसङ्ग में रुय्यक की भी आलोचना की है। अलङ्कार-शास्त्रीय कृतियों में 'साहित्य-दर्पण' अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है जो अपनी सुवोधशैली, रोचक प्रतिपादन एवं हृद्य उदाहरणों के कारण समादर को प्राप्त हुआ है। उदाहरणों में अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने अपने पितामह, एवं पिता के तथा स्व-रचित पद्यों का भी स्थान-स्थान पर संनिवेश किया है। निरूपण-शैली स्पष्ट और लक्षण सरस हैं।

विश्वनाथ ने शब्दालङ्कार के विकास में "अन्त्यानुप्रास, भाषासम और श्लेष के आठ भेदों को सभङ्ग, अभङ्ग तथा सभङ्गाभङ्ग-रूप में प्रयुक्त करने का निर्देश" पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा नवीन दिया है। इनमें भाषासम रुद्रट के भाषा-श्लेष का अन्यरूप होने से आगे नहीं बढ़ पाया तथा अन्त्यानुप्रास से प्रेरणा लेकर अन्यान्य स्थानों के अनुप्रासों की जो योजना की गई वह भी इतनी हृदयग्राही नहीं हुई। यही स्थिति श्लेष के उपभेदों की भी है। साहित्यदर्पण की टीकाओं में (१) **रामचरण तर्कवागीश** की विवृति, (२) म० म० **दुर्गाप्रसाद द्विवेदी** की **छायाविवृत्ति**, (३) **हरिदास सिद्धान्त वागीश** की टीका तथा **म० म० पाण्डुरंग वामन काणे** और **म० म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी** की भूमिकाएं अतीव महत्त्वपूर्ण हैं।

३०- काव्यालङ्कार-सार : भावदेव सूरि (सन् १३५४ के निकट)

यह कृति 'अलङ्कार-संग्रह' तथा 'काव्यालङ्कारसार-सङ्कलना' के नाम से भी पहचानी जाती है। खण्डिल गच्छ के आचार्य भावदेव सूरि ने इसके पांचवें अध्याय में 'चन्द्रालोक' का अनुकरण करते हुए **'लक्षणोदाहरण-समन्वित शैली'** से "वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास' [१] का विवेचन किया है। विवेचन १३ अनुष्टुप् पद्यों में है जिनमें लक्षण और उदाहरण दोनों ही आ गये हैं। इस अध्याय का नाम 'शब्दालङ्कार-निर्णय, रखा है।

---

१. **स्याद् वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेष इत्यपि।**
चित्रं पुनरुक्तवदाभासः शब्देष्वलङ्कृतिः॥ (सा० द० ५।१॥)

पूरा ग्रन्थ १२३ पद्यों में पूरा हुआ है, जो आठ अध्यायों में विभक्त है। अतः ग्रन्थकार की अपनी कोई अलङ्कार-सम्बन्धी स्वतन्त्र धारणा का उल्लेख नहीं हुआ है। ग्रन्थकार ने **'पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य'**, **'जइदिणचरिआ'** तथा **'कालककहा'** की भी रचनाएं की हैं।

३१ : काव्यानुशासन : वाग्भट, द्वितीय (सन् १४०० के निकट)

वाग्भट (द्वितीय) ने 'काव्यानुशासन' के चौथे अध्याय में—'चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्तवदाभास'—नामक छः शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। इस कृति का आधार मुख्यतः 'काव्य-प्रकाश' और 'काव्यमीमांसा' हैं किन्तु अपने पूर्ववर्ती वाग्भट प्रथम का भी अनुकरण हुआ है। शब्दालङ्कारों से पूर्व अर्थालङ्कारों का विवेचन करने में ग्रन्थकार ने तर्क दिया है कि—'शब्द भी तो अर्थ के आश्रय से ही आता है इसलिये अर्थ मुख्य है।'[1] चित्रालङ्कार के भेदोपभेदों में अनेक नवीन भेदों के नाम प्रस्तुत किये हैं जिनमें आकार-मूलक चित्र को प्राथमिकता देते हुए "खड्ग, धनुष, बाण, मुसल, शूल, शक्ति, हल, छत्र, पद्म, मुरज, चन्द्र, स्वस्तिक, अष्टार, द्वादशार, चक्र, सप्त-चक्रिक, गोमूत्रिका, नन्द्यावर्त, भृङ्गार, चामर, घण्टा" आदि का उल्लेख किया है। गत्यादि-चित्रों के पूर्वस्वीकृत भेदों का ही उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों के भेदों में नवीनता नहीं दिखाई है। ग्रन्थकार ने स्वयं इस कृति पर 'अलङ्कार-तिलक' नामक टीका लिखी है। पुस्तक छोटी होते हुए भी सरल तथा रोचक है।

३२-अलङ्कार-तिलक : भानुदत्त (सन् १४०७)

भानुदत्त अथवा भानुकर मिश्र ने 'अलङ्कार-तिलक' के चतुर्थ अधिकरण में छः शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। मम्मट और रुय्यक के अनुकरण में लिखे गए इन अलङ्कारों के अतिरिक्त अर्थालङ्कारों के लिए 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का भी अनुकरण किया गया है। शब्दालङ्कार-क्रम में 'वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तदाभास' ऐसा क्रम रखा है। अनुप्रास के भेदों में छेकानुप्रास के कुछ उपभेद भी किये हैं जिनमें पदान्त छेक, विभक्ति एवं वचनभेद के आधार पर पदान्त छेक का **'भङ्ग्यनुप्रास'** भेद किया है। इसी प्रकार पदान्त-वृत्त्यनुप्रास भी **'सिंहावलोक'** का पूर्वरूप बनकर आया है। लाटानुप्रास के **'एकपादनिष्ठ, अनेकपादनिष्ठ, सर्वपादनिष्ठ** और **अर्धनिष्ठ'** भेद किये हैं तथा **'स्वरानुप्रास'** और **'स्थानानुप्रास'** का भी विमर्श दिया है। **यमक और श्लेष** प्राचीनवत् हैं। चित्र के भेदवर्णन को **'चित्र-चण्डिका'** अथवा **'चित्रचन्द्रिका'**[2] नामक ग्रन्थ में पृथक् दिखाने का सङ्केत करते हुए 'गति, रीति, जाति, अनुकृति और शब्दार्थोभय' रूप अलङ्कारों पर भी अपने विचार दिये हैं।

---

१. **तत्र तावदर्थमधिकृत्य शब्दः प्रवर्ततेऽतः प्रथमम् अर्थालङ्कारा एवोदाह्रियन्ते;**
(काव्यानुशासन ३ अध्याय—वाग्भट, द्वितीय)

२. यह ग्रन्थ अप्रकाशित है तथा सम्भवतः इसकी पाण्डुलिपि भी अप्राप्त है।

आलङ्कारिक धारणा में कोई नवीनता नहीं प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए सङ्ग्रह के अतिरिक्त अपने पिता की रचना का भी सहयोग लिया है। निरूपण सामान्य है। अनुप्रास के सम्बन्ध में इनके विचार सङ्ग्रहणीय हैं।

३३-साहित्य-चिन्तामणि : वीरनारायण / वामन भट्ट बाण (१४वीं शती का अन्तिम भाग)

इस ग्रन्थ के लेखक के बारे में डा० सुशीलकुमार डे ने लिखा है कि— **यह कृति वस्तुतः वीरनारायण की न होकर वामन भट्ट बाण की है।** भट्ट बाण के संरक्षक होने से वीरनारायण के नाम पर यह कृति प्रसिद्ध हो गई है। इसी प्रकार **'अमरुशतक'** की टीका **'शृङ्गार-दीपिका'** के बारे में भी हुआ है।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ के सातवें अध्याय में शब्दालङ्कारों का विवेचन हुआ है। किन्तु इसका विशेष परिचय प्राप्त नहीं है।

३४-चमत्कार-चन्द्रिका : विश्वेश्वर (कविचन्द्र) (चौदहवीं शती का पूर्वार्ध)

विश्वेश्वर ने 'चमत्कार-चन्द्रिका' के छठे विलास में ग्यारह[2] शब्दालङ्कारों का विवरण दिया है। जिनके नाम हैं—"१-छाया, २-मुद्रा, ३-युक्ति, ४-श्लेष, ५- अनुप्रास, ६-गुम्फना, ७-चित्र, ८-यमक, ९-वाकोवाक्य, १०-गूढ और ११-प्रश्नोत्तर।" इन भेदों के यथासम्भव उपभेद भी यहां दिये गए हैं जिनमें छाया के ३; मुद्रा के २; युक्ति के ३; श्लेष के ५ (अन्य अनेकविध का सूचन), अनुप्रास के व्यापक तथा अव्यापक रूप २; गुम्फना के २ (तथा कतिपय अन्य), चित्र के चक्र और पद्म रूप २, यमक के ३ तथा गूढ और प्रश्नोत्तर के भेदों का लक्षण-पूर्वक निर्देश हुआ है।

इस ग्रन्थ के सभी उदाहरण लेखक ने अपने आश्रयदाता शिङ्गभूपाल की प्रशंसा में लिखे पद्यों से प्रस्तुत किये हैं। पद्यरचना मधुर एवं सरस है। इनके नाम तथा ग्रन्थ के नाम में प्रायः कुछ-न-कुछ भ्रम चला आ रहा है। कहीं इन्हें **'विश्वपति'** कहा गया है[3] तो कहीं ग्रन्थ का नाम **'कवि-चन्द्रिका'** कहा गया है। वैसे विश्वेश्वर ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक विलास की पुष्पिका

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २९१-९२, डा० सुशीलकुमार डे।

२. अत्र शब्दगताः प्राज्ञैरेकादश समीरिताः ॥ (चम० चन्द्रिका)

३. चक्रबन्ध के उदाहरण में प्रदत्त यह पद्य स्मरणीय है—

स क्ष्माचक्रदिशा विलासिविभुना तिग्मांशुहारिश्रिया,
विश्रामक्षण-विश्वरङ्गवियताकल्पं यशो ज्योतिषा।
विद्वत्कान्तिमरालयः प्रविशदाविर्भूतकृत्स्नागमां,
मान्धाता स च तद्विशेषविदुषो याति त्विषा नोपमाम् ॥

में 'इति श्रीसरससाहित्यधुरीण-विश्वेश्वरकविचन्द्र-प्रणीतायां 'चमत्कार-चन्द्रिकायां' इत्यादि वर्णन अवश्य लिखा है।

वैसे अलङ्कार के सम्बन्ध में इनके विचारों में कोई नवीनता नहीं है। 'शरीर को जैसे कटकादि अलङ्कृत करते हैं उसी प्रकार अलङ्कार भी साहित्य-शरीर को अलङ्कृत करते हैं' यही पूर्वप्रसिद्ध मान्यता इनके द्वारा स्वीकृत है। अलङ्कारों की त्रिविधता भी पूर्ववत् मान्य करते हुए इन्होंने मुख्यतः भोज का अनुकरण किया है।

३५-साहित्य-रत्नाकर : धर्मसुधी (धर्मसूरि)[१] (पन्द्रहवीं शती का पूर्वार्ध)

धर्मसुधी ने 'साहित्य-रत्नाकर' के छठे तरङ्ग में **'शब्दार्थ-प्रतीतिपूर्वकत्वात् प्रथमं शब्दालङ्कारा निरूप्यन्ते'** कह कर क्रमशः—"अनुप्रास, (छेक, वृत्ति और लाट रूप), पुनरुक्तवदाभास (नाम एवं आख्यातगत), यमक (आद्यन्तगत) तथा चित्र (गोमूत्रिका, अन्तर्लापिका, चक्र, कमल, अष्टदल और षोडशदल, सर्वतोभद्र, खड्ग, छुरिका, हल, चाप, गुच्छ तथा मत्स्य), सर्वश्लेषमहायमक, एकाच्, सर्वलघु, निरोष्ठ्य, निर्दन्त्य, निर्मूर्धन्य, निरन्तःस्थ, निरूष्मक, द्व्यक्षर, एकाक्षर" आदि भेद-उपभेद दिये हैं। इसके पश्चात्-**'एवमन्येऽपि शब्दालङ्कारभेदा द्रष्टव्याः'** कह दिया है।

इन्होंने पूरे ग्रन्थ के उदाहरण श्रीराम के यशोगान से सम्बद्ध दिये हैं और साथ ही स्वरचित 'कृष्णस्तुति' एवं 'रविशतक' के पद्य भी प्रस्तुत किये हैं। ये एक उत्तम कवि थे तथा इस कृति के अतिरिक्त—**'नरकासुर**—(व्यायोग), **कंसवध** (नाटक)' आदि की रचना भी की थी। भाषा की गाढबन्धता और उक्ति-वैचित्र्य प्रौढ हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक तरङ्ग के अन्त में पूर्णता-सूचक पद्य द्वारा इन्होंने अपना परिचय भी दिया है।[२] अलङ्कार के सम्बन्ध में इन्होंने कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं किया है किन्तु स्थान-स्थान पर स्वयं प्रश्न उठाकर उनके उत्तर अवश्य दिये हैं।[३]

अत्र नेमिमारभ्य तृतीयस्मिन्नन्तरे **'चमत्कारज्योत्स्ने' ति** कविनाम।
सप्तमे **'विश्वपति'** कविरिति तत्कर्तृ नाम, नवमे नायकनाम च प्रकटीक्रियते।

(—वहीं)।

१. लेखक के अन्य नाम **धर्मपण्डित** और **धर्मसिंह** भी हैं।

(द्र० सं० का० शा०इ०, डा० सुशील कुमार डे)

२. **धर्मान्तर्वाणिवर्यस्त्रिभुवनविदिते वारणस्यान्वये यः,**
सञ्जातो यल्लमाम्बाकृतसुकृतफलं पर्वतेशस्य भाग्यम्।
काव्यालङ्कार-कृष्णस्तुतिरविशतकोन्नाटकादिप्रणेतु—
स्तस्यालङ्कारशास्त्रे रघुपतिचरिते षष्ठ उच्चैस्तरङ्गः॥ (सा० रत्ना०)

३. **गोमूत्रिका और अन्तर्लापिका की शब्दालङ्कारता के बारे में प्रश्न—**

साहित्यरत्नाकर की वेङ्कटसूरि-कृत 'नौका' और मल्लादि लक्ष्मणसूरिकृत **'मन्दर'** नामक टीकाएं हैं।

३६-अलङ्कार-मण्डन : मन्त्री मण्डन (सन् १४२८ ई०)

मण्डनान्त आठ कृति[1] एवं **'कविकल्पद्रुम-स्कन्ध'** के रचयिता मन्त्री मण्डन की यह कृति पांच परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें काव्यलक्षण से आरम्भ करके अलङ्कार तक का विवेचन किया है। अलङ्कारों का वर्णन पांचवें परिच्छेद में हुआ है। गुजरात के जैन सम्प्रदायानुयायी काव्यशास्त्र-लेखक एवं जैन कवियों की रचना-प्रवृत्ति के अनुसार ही इसमें शब्दालङ्कारों का विवेचन हुआ होगा, ऐसा अनुमान है। ग्रन्थ प्राप्त न होने से विशेष लिखना सम्भव नहीं है।

३७-शिशुप्रबोध-काव्यालङ्कार : पुञ्जराज (सन् १५वीं शती का अन्तभाग)

जीवेन्द्र के पुत्र पुञ्जराज ने 'शिशुप्रबोध-काव्यालङ्कार' के सातवें अध्याय में 'यमक, अनुप्रास और चित्र' नामक शब्दालङ्कारों का वर्णन किया है। इनका कहना है कि—'शब्दालङ्कारों के अनेक क्लिष्ट भेद होते हैं जो उद्वेगकारक हैं, फिर भी व्युत्पित्सुजनों के मार्गदर्शनार्थ यमक के सोलह भेद तथा अनुप्रास के चरणगत आदि, मध्य और अन्त्यस्थानीय, यति के अन्त्यस्थानीय तथा पद के आदि-मध्यान्त्यस्थानों के आधार पर ग्यारह भेद किये हैं, जिनमें भिन्नार्थपदानुप्रास और अभिन्नार्थपदानुप्रास सर्वथा नवीन हैं। चित्रकवित्व के अनुलोम-प्रतिलोम और द्व्यक्षर के अतिरिक्त 'पद्म, चक्र, गोमूत्रिका, हार और सर्वतोभद्र' के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें 'हारबन्ध' की रचना अभिनव है।[2] अन्य भेदों के लिए **'कविकौतूहल'** देखने का सङ्केत है। उदाहरणों का संग्रह विविधग्रन्थों से किया है, किन्तु नवीन भेद में अपनी रचना को भी स्थान दिया है। निरूपण सरल और संक्षिप्त है, अन्य नावीन्य नहीं है। इन्होंने **'ध्वनिप्रदीप'** नामक ग्रन्थ भी लिखा है।

'कथमस्य शब्दालङ्कारता ?' करके **'औपचारिकी वाचो युक्तिरिति वदामः।' उत्तर दिया है।** द्रष्टव्य (वहीं।)

१. इनकी—(१) **उपसर्गमण्डन**, (२) **कादम्बरीमण्डन**, (३) **काव्यमण्डन**, (४) **चम्पूमण्डन**, (५) **शृङ्गारमण्डन**, (६) **सङ्गीतमण्डन** तथा (७) **सारस्वतमण्डन'** ये अन्य सात कृतियां हैं। हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण, (गुजरात) में ये पाण्डुलिपियां सङ्गृहीत हैं।

२. **गुणसौभाग्यरम्यायाः कवितायाः स्त्रिया इव।**
बाह्य-शोभाऽतिशयकृद्यो धर्मः कङ्कणादिवत्॥७।१॥
—(शिशुप्रबोधकाव्यालङ्कार)

३८-अलङ्कार-कौस्तुभ : कर्णपूर (सन् १५२४ जन्मकाल)

कर्णपूर ने 'अलङ्कार-कौस्तुभ' के 'शब्दालङ्कार-निर्णय' नामक सप्तम किरण में "वक्रोक्ति, श्लेष, अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभास" का विवेचन किया है। इन्होंने अर्थालङ्कारों के प्रति अधिक झुकाव होते हुए भी शब्दालङ्कारों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। भक्ति-विषयक दृष्टि होने से उदाहरण-रचना करते हुए संग्रहवृत्ति को अधिक महत्त्व दिया है तथा स्थान-स्थान पर सूक्ष्म विवेचन भी प्रस्तुत करने से ग्रन्थ का गौरव बढ़ गया है। वक्रोक्ति, श्लेष और अनुप्रास के प्रायः सभी प्रचलित भेदों का विवेचन है। यमक के प्रमुख चालीस भेदों की व्यवस्था एवं अन्य भेदों का सूचन किया है जो पूर्ववत् है। **चित्रालङ्कार को नीरस होते हुए भी भगवद्विषयक रति के कारण उपादेय मानते हुए पर्वचर्वण के समान कुछ सरस माना है।** "प्रतिलोमानुपाद, महासर्वतोभद्र, प्रति चार अक्षरों में विपरीत-सर्वतोभद्र, प्रतिपाद-विपरीत, छत्र, चक्र, मुरज, गामूत्रिका, कपाट, शृङ्खला द्व्यक्षर, खड्ग, पताका, गदा, गर्भाक्षर, पद्म, चक्र, एक पद्य से नानाच्छन्दनिर्माण, शाङ्‌र्ग, एकाक्षरपाद, एकाक्षर श्लोक, सिंहावलोक, श्लोकान्तर गर्भ," आदि अनेक उदाहरण दिये हैं। इस प्रकार चित्रालङ्कारों में अनेक नवीन प्रकार भी निर्दिष्ट हैं। पुनरुक्तवदाभास को शब्दार्थोभयनिष्ठ माना है।

कवि कर्णपूर की इस कृति के उदाहरण राधा की भक्ति से ओतप्रोत हैं और विवेचन में पूर्ण स्पष्टता है। स्वयं लेखक ने अपनी **वृत्ति** द्वारा ग्रन्थ के मूल को स्पष्ट किया है तथा **शिवप्रसाद भट्टाचार्य** ने इस पर **'अलङ्कार-कौस्तुभ-मौक्तिकावली'** नामक टिप्पणी लिखी है जो नवीन विचारों से परिपुष्ट है। कर्णपूर की अन्य रचनाओं में **'चमत्कार-चन्द्रिका, और आनन्दवृन्दावन-चम्पू'** आदि स्पृहणीय हैं।

३९ प्रस्तावरत्नाकर : हरिदास (सन् १५५७ ई०)

पुरुषोत्तम के पुत्र हरिदास की इस कृति में—"कूट, समस्या, सामान्य प्रहेलिका, प्रबन्ध, नीति तथा ज्यौतिष" आदि विषयों को पद्यबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका सूचन "**बेवर ने ८२७ पर और औफ्रेक्ट ने भाग १, ३६० अ०, २, २१२, ३७, ७७ अ०**" पर किया है। ग्रन्थ अप्रकाशित है।

४०-अलङ्कार-शेखर : केशव मिश्र (सोलहवीं शती का उत्तरार्ध)

केशव मिश्र ने 'अलङ्कार-शेखर' के चतुर्थरत्न की प्रथम मरीचि में—"चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक—'ऐसे आठ अलङ्कारों का नाम-निर्देश किया है तथा उदाहरणों के लिए 'अन्यत्र प्रपञ्चितं' कह दिया है। ये अलङ्कार को शोभा-कारक ही मानते हैं।[1] शब्दालङ्कारों का क्रम कुछ आश्चर्यकारक अवश्य है। गूढ, प्रहेलिका

---

१. काव्यं रसादिमद्वाक्यं, श्रुतं सुखविशेषकृत्।
अलङ्कारस्तु शोभायै रस आत्मा परे मनः॥ (अलङ्कारशेखर)

और प्रश्नोत्तर को प्राथमिकता देते हुए उन्हें ध्वनि-शब्द[1] के अलङ्कार मानना तथा यमक को अन्त में कहना विचारणीय है। आगे १८ और १९वीं मरीचि में "गतागत, भाषासम, शब्द-वैचित्र्य और समस्या-पूरण" का भी विचार किया है, जो शब्दालङ्कार का पोषक है। जैसा कि लेखक ने यह निर्देश दिया है—'**अलङ्कार-विद्या के सूत्रकार** भगवान् '**शुद्धोदनि**' के द्वारा सूत्र भाग लिखा गया है अथवा उनकी प्रेरणा के आधार पर मैं लिख रहा हूं'[2] इस कथन पर भी विचार आवश्यक है। यह '**सङ्ग्रहग्रन्थ**' मात्र है, मौलिक नहीं।

४१-काव्य-दर्पण : राजचूडामणि दीक्षित (१७वीं शती का पूर्वार्ध)

दक्षिणभारत के प्रसिद्ध लेखक राजचूडामणि ने 'काव्यदर्पण' के दस उल्लासों में से नौवें उल्लास में शब्दालङ्कारों का वर्णन किया है। इनकी द्वितीय रचना '**अलङ्कार-चूडामणि**' में भी काव्यालङ्कारों का विशेषरूप से विवेचन है।

४२-रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथ (सन् १६६२-१६६५ ई० के बीच रचना काल)

शब्दालङ्कार के विवेचक आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ और उनकी कृति 'रसगङ्गाधर' का नाम यहां कुछ विचित्र ही प्रतीत होगा। किन्तु इनके मङ्गलाचरण-पद्य-'**स्मृतापि तरुणातपं०** इत्यादि'[3] और अन्यान्य उदाहरणों से अनुमान होता है कि ये शब्दालङ्कार के अनुरागी थे। साथ ही 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' को काव्य मानने की प्रवृत्ति से भी यह बात पुष्ट होती है। इनकी अन्य रचनाओं में पद-पद पर शब्दालङ्कारों का प्रयोग परिलक्षित होता है (जिनका विचार अन्यान्य प्रकरणों में होगा)। अतः ऐसा अनुमान होता है जो अपूर्ण कृति के रूप में अभी 'रसगङ्गाधर' ग्रन्थ प्राप्त है उसके अवशिष्ट भाग में अवश्य ही शब्दालङ्कारों पर इन्होंने कुछ लिखा होगा!

ये एक उत्तमकोटि के कवि, लेखक और समीक्षक थे। व्याकरण, न्याय और साहित्य-शास्त्र के प्रगाढ पाण्डित्य का प्रभुत्व रखने के कारण वैचारिक मौलिकताएं भी इनके ग्रन्थों में पर्याप्त विकसित हुई हैं।

---

१. **प्रश्नोत्तरं च यमकमष्टालङ्कृतयो ध्वनौ।** (वहीं)

२. **अलङ्कार-विद्यासूत्रकारो भगवान् शुद्धौदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रं प्रवर्तयिष्यन् प्रथमं काव्यस्वरूपमाह।** इत्यादि। —(अलङ्कारशेखर-केशवमिश्र पृ० ३)

३. पूरा पद्य इस प्रकार है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा—
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरि-नन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥

(४) आधुनिक काल

(जगन्नाथ काल से वर्तमान काल तक)

४३- अलङ्कार-सार : बालकृष्ण भट्ट (सन् १६२५ से १७०० के बीच)

प्रस्तुत ग्रन्थ के नौवें अध्याय में शब्दालङ्कारों का विवेचन हुआ है। ग्रन्थ-लेखक की उपाधि **'तिघर'** थी, तथा ये वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। (औफ्रेक्ट० भा०, ३२ बी, बुङ्लर कैटलाग १८८१-७३ तथा डेक्कन कालेज हस्तलिपि संख्या २३, १८८१ -८२) में इसका उल्लेख है।

४४-अलङ्कार-मणिहार : श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी (सन् १७०० के निकट)

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी ने 'अलङ्कार-मणिहार' के 'शब्दालङ्कार-सर' में, अर्थालङ्कारों के अनन्तर 'वर्णानुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, अपशब्दाभास, अव्ययाभास, तिङन्तवदाभास, गूढपाद, चित्र' आदि शब्दालङ्कारों का वर्णन किया है। यहां शब्दालङ्कारों के विवेचन में पूरा मनोयोग देते हुए वर्णानुप्रास को सर्वप्रथम स्थान दे कर उसके छेक और वृत्ति नामक दो भेद किये हैं। लाटानुप्रास को 'शब्द' कहते हुए उसके तीन भेद—''वाक्यावृत्ति, पदावृत्ति और नामावृत्ति' के रूप में किये हैं तथा नामावृत्ति के पुनः (१) ''समासैक्य, (२) समास-भिन्न और (३) समासासमास नामक तीन भेद बताये हैं। इस प्रकार मूल दो तथा नामावृत्ति के तीन भेद मिलकर लाटानुप्रास के पांच भेद किये हैं। यमक के भी सर्वस्वीकृत भेदों का निरूपण किया है। पुनरुक्तवदाभास के—'नामाश्रय, आख्याताश्रय, सभङ्ग, अभङ्ग और उभयाश्रय'—ऐसे पांच भेद किये हैं। **'अपशब्दवदाभास, अव्ययवदाभास** और **तिङन्तवदाभास'** की सृष्टि सर्वथा नवीन है। गूढपाद के चार प्रकार—क्रियावञ्चन, आमन्त्रण वञ्चन, स्वर-स्थान-व्यञ्जनादि नियम के अनेक भेद, अपुनरुक्तव्यञ्जन, समसंस्कृत-प्राकृतचित्र एवं पद्य, गोमूत्रिका, द्विचतुष्क, हार और गवाक्ष अथवा रथबन्ध' के उदाहरण भी दिये हैं।

उदाहरण के पद्य लेखक ने स्वरचित ही दिये हैं जो आर्या छन्द में ही निर्मित हैं तथा स्वरचित अन्य ग्रन्थ **'प्रपन्नानन्दस्तुति'** और **'रङ्गराज-विलास'** से भी अनेक उदाहरण दिये हैं। टीका स्वयं ने लिखी है। भाव स्पष्ट हैं, भाषा मधुर है तथा कहीं-कही 'यथा वा' कहकर एक से अधिक उदाहरण भी दिये हैं। निर्माण की दृष्टि सर्वसंग्रहरूप है। अपनी पद्धति का यह एक अपूर्व ग्रन्थ कहा जा सकता है क्योंकि इसके सभी उदाहरण भक्तिपरक ही हैं।[1] भाषा और भाव की भव्यता से विभूषित यह ग्रन्थ बहुत ही उपादेय है।

४५-काव्य-विलास : चिरञ्जीव भट्टाचार्य (सन् १७०३ ई० ले० काल)

प्रस्तुत कृति की द्वितीय भङ्गी में 'अनुप्रास, पुनरुक्त और चित्र' का वर्णन है। अनुप्रास के चार भेदों में **'स्फुटानुप्रास'** को भी स्थान मिला है, यह अनुप्रास एक पद्य में दो स्थानों पर

---

१. यह ग्रन्थ ४ भागों में प्राच्य विद्या संशोधन संस्था, मैसूर से प्रकाशित है।

आने से होता है। चित्र के तीन उदाहरण दिये हैं। लेखक ने उदाहरण सभी स्वनिर्मित दिये हैं जब कि लक्षण अन्य ग्रन्थों से लिये हैं। इस पर आशाधर की टीका है। इसी ग्रन्थ का शब्दालङ्कार-सम्बन्धी मूल अंश 'कुवलयानन्द' के साथ जुड़ गया था।[1] इस कवि की अन्य रचनाएं **'शृङ्गारतटिनी'** और **'माधवचम्पू'** तथा दो स्तोत्र **'कल्पलता'** एवं **'शिवस्तोत्र'** भी हैं जिनका उल्लेख 'काव्य-विलास' में हुआ है।

४६- साहित्यकुतूहल : रघुनाथ (सन् १६७५ से १७१२ ई० के बीच)

तञ्जौर की महारानी दीपाबाई के कृपाभाजन रघुनाथ के **'चित्रकाव्य'**-विषयक इस ग्रन्थ का उल्लेख 'जर्नल बम्बई विश्वविद्यालय' के अंक १०, पृ० १३२ पर हुआ है।

४७- मन्दारमरन्दचम्पू : कृष्णकवि (सत्रहवीं शती का पूर्वार्ध)

कृष्ण कवि ने 'मन्दार-मरन्द-चम्पू' के द्वितीय बिन्दु में, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, यमक और चित्र, इन छः शब्दालङ्कारों का वर्णन किया है। यहां ग्रन्थ के नाम में 'चम्पू' शब्द जुड़ा हुआ है जिससे किसी चम्पूकाव्य की भ्रान्ति होती है, किन्तु यह चम्पू न होकर अलङ्कार शास्त्र का ही ग्रन्थ है तथा अलङ्कार और रस का **'विश्वकोष'** माना जाता है। "जो शब्द अथवा अर्थ को अलङ्कृत करे, वह अलङ्कार है"—इस सर्वसामान्य धारणा के साथ अनुप्रास के उपर्युक्त तीनों भेदों को पृथक्-पृथक् शब्दालङ्कार माना है। पुनरुक्तवदाभास के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों का मत दिया है कि वे इसे अर्थालङ्कार मानते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि ये शब्दालङ्कार ही मानते हैं। तृतीय-बिन्दु में श्लेष अलङ्कार का वर्णन है, किन्तु इसको ऊपर दिखलाये **'शब्दालङ्कृतयस्तु षट्'**—छः भेदों में स्थान न देकर स्वतन्त्ररूप से बतलाया है और इसके सभङ्ग और अभङ्ग नामक दो भेदों के पुनः तीन-तीन भेद (१) नामगत, (२) धातुगत और (३) उभयगत किये हैं जो पूर्वापेक्षा सर्वथा नवीन हैं। चतुर्थ-बिन्दु में यमक के 'स्वर-व्यञ्जन-सम्बद्ध वर्णादि के आवर्तन से पादादि स्थिति के अनुसार अनेक भेद हैं। चित्रालङ्कार के शब्दगत, अर्थगत और उभयगत ऐसे तीन भेद किये हैं। **"चित्त का आकर्षण और विस्मयकारिता चित्र के मुख्य अर्थ हैं।"** पूर्वाचार्य-दर्शित अन्यान्य भेदों के अतिरिक्त हलन्त और कृदन्तान्त प्रत्ययों की योजना से स्वौजसन्त; और धातुरूपों की योजना से तथा समान-स्वरान्त शब्दों के मिश्रण से **'भिन्न लिङ्ग, भिन्न धातु** और **भिन्न स्वर-सन्ध्यन्त चित्र'** होते हैं, यह भी नवीन

---

१. निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित संस्करण में ऐसा हुआ है। जो बाद में सुधारा गया है।

२. **शब्दे भिन्नेऽपि यत्रार्थः पुनरुक्तवदञ्चति। पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारस्तत्र कथ्यते॥ अर्थालङ्कारमेनं तु केचिदूचुर्विपश्चितः॥** (द्वितीय बिन्दु, मन्दारमरन्दचम्पूः।)

३. **सभङ्गाभङ्गभेदेन तौ द्वौ च द्विविधौ मतौ। नामगौ धातुगावेतद् द्वयगाविति भेदतः॥** (तृतीय बिन्दु, वहीं)

दृष्टिकोण है। इसी प्रकार **'नागबन्ध'** के भी कुछ भेद दिये हैं। उदाहरण-योजना स्वयं की है तथा विवेचन को पुष्ट करने के लिये **'माधुर्यरञ्जनी'** टीका का भी प्रणयन किया है। इसमें चम्पू के अनुरूप ही गद्यपद्यमयी प्रौढ भाषा हृदयावर्जक है।

४८- रघुनाथ-भूपालीय : कृष्ण दीक्षित (कृष्णयज्वन्) (सोलहवीं शती का मध्य भाग)

लेखक ने अपने संरक्षक के सम्मानार्थ **'प्रतापरुद्र-यशोभूषण'** के अनुकरण में इस ग्रन्थ की रचना की है। इसमें आठ विलास हैं जिनमें छठा विलास 'शब्दालङ्कार' के वर्णन से युक्त है। विद्यानाथ के समान ही इसमें भी अनुप्रास, यमक, और चित्रादि का सोदाहरण विवेचन है।

इसी लेखक का एक अन्य ग्रन्थ **'अलङ्कार-कौमुदी'** भी है। ओफ्रैक्ट भा० १, ४४६ ए०, मद्रास कैट० सी० ६५६ ए० तथा अड्यार कैट० भा० २, ३३६ पर इसका उल्लेख है।

४८- साहित्य-सुधा-सिन्धु : विश्वनाथ (सन् १५९४ ई०)

त्रिमल्लदेव के पुत्र विश्वनाथ ने प्रस्तुत ग्रन्थ में साहित्य के सभी अङ्गों का विवेचन किया है तथा भोज, मम्मट, महिम भट्ट आदि के उद्धरण देते हुए अपने विवेचन को पुष्ट किया है। यह ग्रन्थ आठ तरङ्गों में पूर्ण हुआ है। शब्दालङ्कार का वर्णन सातवें तरङ्ग में परम्परागत-पद्धति से किया है। एक-एक विषय के अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के उदाहरणों को देते हुए प्रश्नोत्तरपूर्वक किया गया विवेचन इस ग्रन्थ की विशेषता है।

४९- चित्र-रत्नाकर : चक्रकवि (सत्रहवीं शती का पूर्वार्ध)

"**पार्वतीपरिणय, जानकीपरिणय** और **भैष्मी-परिणय**" के रचयिता चक्रकवि[1] ने इस ग्रन्थ की रचना में चित्रालङ्कार के भेद-प्रभेदों का पर्याप्त विस्तार के साथ विवेचन किया है। विवेचन की पद्धति में **'प्रश्नोत्तर-पद्धति'** का उपयोग हुआ है। पूरे ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं तथा कुल मिला कर प्रायः ४१ प्रकारों का विवेचन करते हुए यत्र-तत्र अन्य प्रभेदों का भी समावेश किया गया है। जिनमें क्रमशः —

---

१. **पार्वती-जानकी-भैष्मीपरिणीतिकृतीः शुभाः।**
व्यधत्त यश्चक्रकविस्तेनासौ क्रियते कृतिः॥१।२॥ इनमें जानकीपरिणय ८ सर्ग का काव्य है तथा अन्य चम्पू हैं।

(क) वहीं सभी परिच्छेदान्त पद्यों में अपने माता-पिता का परिचय भी इस प्रकार दिया है —
कृतौ चक्रकवेः सूनो रमाश्रीलोकनाथयोः।
परिच्छेदस्तृतीयोऽभूच्चित्ररत्नाकरे शुभे॥ इनके अग्रजों के नाम रामचन्द्र और पतञ्जलि भी वहीं अंकित हैं। (चित्ररत्नाकर)।

प्रथम परिच्छेद में—

(१) प्रश्नोत्तर, (२) वर्धमानाक्षर, (३) हीयमानाक्षर (सक्रम), (४) हीयमानाक्षर (अक्रम), (५) विभक्तिव्यत्यय, (६) लिङ्गव्यत्यय, (७) वचनव्यत्यय, (८) लिङ्गविभक्ति-व्यत्यय, (९) लिङ्गवचन-व्यत्यय, (१०) लिङ्गविभक्ति-वचन-व्यत्यय।

द्वितीय परिच्छेद में—

(११) प्रतिलोमानुलोम द्विरूपोत्तर, (१२) प्रतिलोमानुलोम एकरूपोत्तर, (१३) समानाक्षरद्वयोत्तर (पापा), (१४) प्रति० त्र्यक्षरोत्तर (कन्दुक), (१५) प्रति० चतुरक्षरोत्तर (साररसा), (१६) प्रति० पञ्चाक्षरोत्तर (नवयौवन), (१७) प्रति० पञ्चाक्षरोत्तर समानाक्षररूप (तारतारता), (१८) प्रति० षडक्षरोत्तर (सारनानारसा), (१९) प्रतिलोमानुलोम सप्ताक्षरोत्तर (सारसारसारसा), (२०) च्युतदत्ताक्षरान्त, (२१) च्युतदत्ताक्षरादि तथा (२२) च्युतदत्ताक्षर।

तृतीय परिच्छेद में—

(२३) पूर्णक्रमच्युत, (२४-२५) एकावृत्तच्युत (दो प्रकार), (२६-२७) द्विरावृत्तच्युत (दो प्रकार) (२८) त्रिरावृत्तच्युत, (२९) प्रश्नद्वयोत्तर वचनभिन्नक, (३०) क्रियागुप्त, (३१) क्रियाकर्तृ गुप्त (इसमें कर्म-करणादि कारक गुप्त के भेद भी सम्मिलित हैं।)

चतुर्थ परिच्छेद में—

(३२) अक्षरच्युतक, (३३) दत्ताक्षर, (३४) च्युतमध्य, (३५) च्युतदत्तान्त, (३६) बिन्दुच्युतक, (३७) दत्तबिन्दुक, (३८) मात्राच्युतक, (३९) व्यञ्जनच्युतक, (४०) समस्तरूपक और (४१) व्यस्तरूपक।

इनके अतिरिक्त अन्त में '**निरोष्ठ्य, गोमूत्रिका और अन्यापदेश-पद्धति**' का विवेचन भी किया है। वैसे मुख्यरूप से इसमें लेखक ने अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग ही अधिक किया है तथापि यत्र-तत्र अन्य छन्दों का प्रयोग भी है। प्रथम परिच्छेद में कवि ने ग्रन्थरचना के बारे में स्पष्ट किया है कि—

इत्युद्देशक्रमेणैव लक्षणं लक्ष्यमुच्यते।
प्रश्नोत्तरादिष्वप्यूहेष्वेकैकस्य परिस्फुटम् ॥९॥
लक्ष्यश्लोका दश दश प्रोच्यन्ते प्रायशो मया। इत्यादि।

इसके अनुसार लक्षण और लक्ष्य-उदाहरण के सभी पद्य इनके द्वारा रचित ही ज्ञात होते हैं।[1] लेखक के प्रत्युत्पन्नमतित्व से बहुत से नये प्रभेद भी प्राप्त हुए हैं।

---

१. यह कृति अभी अप्रकाशित है तथा इसकी पाण्डुलिपि मद्रास की 'गवर्नमेंट ओरियण्टल लायब्रेरी' क्र० एस० आर० २१०७। ३७५९ ए० में प्राप्त है।

उपर्युक्त रचना 'धर्मदास' के 'विदग्धमुखमण्डन' की परम्परा को आगे बढ़ाती है। भाषा एवं प्रकटनशक्ति दोनों ही सराहनीय हैं।

५०-बन्ध-कौमुदी : नृसिंह कवि (१७वीं शती का मध्य भाग)

यह कृति अप्रकाशित है। इसमें केवल ३३ चित्रबन्धों का सोदाहरण विवेचन है। रचना के आरम्भ में स्वयं लेखक ने कहा है कि—

केषाञ्चिदिह बन्धानां लक्ष्य-दृष्टानुसारतः।
लक्षणं श्लक्षणमस्माभिर्गद्ये नैवाभिधीयते ॥२॥
सप्रस्तारा स्फुटार्थेयं बालबोध-विवृद्धये।
यथामति 'नृसिंहेन' क्रियते बन्ध-कौमुदी ॥३॥ इत्यादि।

इस कथन के अनुसार स्पष्ट है कि—'लेखक इस कृति को सर्वसामान्यजनोपयोगी बनाने की दृष्टि से कुछ अपने और कुछ अन्य आचार्यों के बताये हुए लक्षणों और उदाहरणों को इस 'बन्धकौमुदी' में सङ्कलित कर रहा है। सरलता की दृष्टि से विषय की प्रक्रिया गद्य में समझाना भी उसका उचित दृष्टिकोण है।'

इसमें आये हुए 'चित्र-बन्धों की सूची इस प्रकार है—

१-पद्म (दो प्रकार) २-कलश, ३- शङ्ख, ४-छत्र (दो प्रकार), ५-त्रिशूल, ६-धनुः, ७-शर, ८-छुरिका (प्रस्तारसहित तीन भेद), ९-जाल, १०-गोमूत्रिका, ११-सर्वतोभद्र, १२-अष्टदल, १३-हार, १४-छत्र (षड्दल कमल तथा नाल सहित), १५-रथ, १६-व्यजन, १७-सम्पुट, १८-गदा, १९-हल, २०-चक्र, २१-कपाट (त्रिपदी द्वारा निर्मित) २२-गदा, २३-वृक्ष (दो प्रकार), २४-छत्र (मेरुप्रस्तार के समान), २५-गोमूत्रिका, २६-गदा, २७-चक्र (अष्टार), २८-चक्र(षडर), २९-द्वादश-दल कमल, ३०-मुरज, ३१-गोमूत्रिका, ३२-हार तथा ३३-बीजपूर।

इनमें कुछ नाम तीन बार और कुछ नाम दो-दो बार आये हैं। सङ्कलन में रुद्रट आदि के उदाहरण भी हैं। इसमें 'राजशेखर' के नाम से भी एक पद्य है, जो काव्यमीमांसाकार से भिन्न आचार्य हैं।

---

१. इस कृति की दो पाण्डुलिपियां हमें प्राप्त हुई हैं जिनमें, पहली—**श्रीलालभाई दलपतभाई प्राच्यविद्यामन्दिर—अहमदाबाद** की है तथा द्वितीय—**राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जयपुर** की ग्रन्थ संख्या २९५ है। इसकी एक पाण्डुलिपि **नागपुर विश्वविद्यालय के ग्रन्थागार** में सी० नं० १२३६, एक्शन नं० १६८३ सब्जेक्ट जी० १२ शक १६०१ की भी है। इसका सम्पादन डा० त्रिपाठी ने किया है।

५१-साहित्य-कौमुदी : बलदेव विद्याभूषण (१८वीं शती का आरम्भ)[1]

चैतन्यसम्प्रदाय के अनुयायी बलदेव विद्याभूषण ने काव्य-प्रकाश की कारिकाओं को भरतसूत्र कहते हुए उसी की टीका के रूप में 'साहित्य-कौमुदी' की रचना की है। इस ग्रन्थ के ग्यारहवें अध्याय में शब्दालङ्कारों का वर्णन किया है जो मम्मट के अनुसार ही हैं किन्तु वैशिष्ट्य यह है कि इन्होंने रसगङ्गाधरकार जगन्नाथ के समान ही भगवान् कृष्ण की स्तुतिरूप स्वरचित पद्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। सम्भवतः इसीलिये कुछ विद्वान् इसे 'टीका' मानते हैं तो कुछ 'स्वतन्त्र ग्रन्थ'। लेखक ने अपने विचारों को परिस्फुट करने के लिए इस पर **'कृष्णनन्दिनी'** नाम से एक टिप्पणी भी लिखी है।

५२-कवीन्द्र-कण्ठाभरण : विश्वेश्वर भट्ट (सन् १७२५)

लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर भट्ट अनेकविध अलङ्कारग्रन्थों के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में विश्वेश्वर ने 'धर्मदास सूरि के **'विदग्धमुखमण्डन'** की परम्परा का अनुसरण करते हुए—'प्रश्न, प्रहेलिका, चित्रादि[2] की ५८ जातियों[3] का विवेचन किया है। पद्धति प्रमुखतः प्रश्नोत्तर पर आधारित है। इनमें भी—'भेदाभेदक, ऊर्जित,[4] सालङ्कार, **सकौतुक**, कथितापह्नुति स्तुति अपह्नुति" आदि पूर्वापेक्षया नवीन प्रतीत होते हैं। यह इनकी अलङ्कार परम्परा की चौथी कृति है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—

१-अलङ्कार-कौस्तुभ, २-अलङ्कार-मुक्तावली एवं **३-अलङ्कार(कुल) प्रदीप**। लेखक की रचनासम्पत्ति पूर्ण-समृद्ध है। जगन्नाथ के पश्चात् साहित्यशास्त्र के प्रौढ पण्डित के रूप में संस्कृतजगत् में इनका पूर्ण आदर है।

---

१. इनके समय के बारे में कुछ मतभेद है। यथा—डा० काणे इन्हें चौदहवीं शती के अन्त में उत्पन्न मानते हैं। (सं. का. शा. का इति. पृ. ५४९) तथा डा० सुशील कुमार डे अठारहवीं शती के आरम्भ में उत्पन्न मानते हैं। (वहीं भा. १, पृ० १५८।

२. चित्र का लक्षण इनकी दृष्टि में इस प्रकार है—
भाषाभेदादर्थभेदे चित्रमित्यभिधीयते।
तदैक्ये त्वर्थभेदो यः स न युक्तो विभाजकः ॥ १० ॥ (वहीं)

३. प्रथम परिच्छेद में श्लोक सं० ६ से १० तक के सूचन में इन्होंने कहा है—
मात्राबिन्दुविसर्गाक्षरस्थिति-व्यञ्जनच्युतकम्।
च्युतदत्ताक्षरमित्यपि जातय 'इभबाण' ५८ सम्मिताः प्रोक्ताः ॥१०॥ (वहीं)।

४. ऊर्जित जाति का लक्षण द्वितीय परिच्छेद में इस प्रकार है—
प्रश्नवाक्यं महद् यत्र लघ्वक्षरसमुत्तरम्।
तदूर्जितमिति प्रोक्तमूर्जस्वीत्यपरैरिदम् ॥ २ ॥ (वहीं)

५३-साहित्यकौतूहल : यशस्वी कवि (सन् १७३० ई० लिपिकाल)

गोपाल तथा काशी के पुत्र रघुनाथ की इस कृति का पहला अध्याय ही उपलब्ध है। यह **'इण्डिया आफिस-हस्तलिपि'** (कैट० ३, पृ० ३३७) १७३० ई० में तैयार की गई थी। इसमें 'प्रहेलिका तथा चित्रकाव्यविषयक' विवेचन है। इस ग्रन्थ पर **'उज्ज्वलपदा'** नामक टीका भी है जिसका उल्लेख ओफ्रेक्ट (भा० १,७१५ बी०, भा० २, १७१ अ०) ने किया है। यशस्वी कवि के चित्रकाव्यविषयक पद्य का उद्धरण कृष्णकवि ने अपने **'चित्र-बन्ध-प्रबन्ध'** में इस प्रकार दिया है—

सर्वं चित्रमयं करोति दयया श्रीनाथकाव्यं सतं,
तच्चित्रं च 'यशस्वि' कामदमपि श्रीकृत्कला-मिश्रितम्।
विद्याकार्यतिविघ्नहृत्-पदलसत्कान्तं स्वयं दर्शकाः,
कामं संसदि कैतवादविमले तन्त्रे यतन्तेऽल्पकाः ॥

यह **'चक्रबन्ध'** का उदाहरण है तथा इसमें **'चित्रकाव्यं यशस्विना कृतमिति'** यह **द्व्यङ्क गूढ'** है। सम्भवतः यह इसी ग्रन्थ से उद्धृत किया गया होगा !

५४-नञ्जराज-यशोभूषण : नरसिंह कवि (सन् १७३९ के निकट)

नरसिंह कवि ने 'नञ्जराज-यशोभूषण' के सातवें विलास में केवल चार शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। शब्दालङ्कारों को—**'अर्थप्रतीति से पूर्व प्रतीतिजनक शब्द होते हैं'** इस धारणा से प्रथम स्थान दिया हैं। छेक, वृत्ति और लाट ये तीन अनुप्रास भेद प्रदर्शित हैं तथा पुनरुक्तवदाभास के १-नामगत और २-आख्यातगत रूप से दो प्रकार वर्णित हैं। यमक के बहुत भेद होते हैं इतना कह कर केवल एक उदाहरण दिया है और वहीं व्यक्त किया है कि छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास में तो स्वर की पुनरुक्ति आनुषङ्गिक रहती है किन्तु यमक में स्वर और व्यञ्जन दोनों की आवृत्ति आवश्यक है।[1] चित्र का लक्षण पूर्ववत् ही है तथा उदाहरणों में **'अष्टदलपद्म** एवं **हारबन्ध'** के पद्य दिये हैं और अन्त में **'चक्रबन्ध, कोशबन्ध** और **मञ्जीरबन्ध'** आदि के वारे में सूचन मात्र किया है इनमें 'कोशबन्ध' नाम नवीन है।

ग्रन्थकार का उद्देश्य अपने आश्रयदाता का योगदान होने से विशेष विवेचन की ओर लक्ष्य नहीं गया है। यहां उदाहरणों को स्वीकृत व्याख्या से स्पष्ट किया है।

५५-चित्रबन्ध-प्रबन्ध : कृष्णकवि 'क्षितीश' (सन् १७९७ ई० र० का०)

काशी के 'कृष्ण कवि' की यह रचना इनके नाम के अनुसार ही अन्य उपलब्ध चित्रालङ्कार-विवेचक ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पूरा ग्रन्थ चार खण्डों में तथा उनके कुछ सर्गों में विभाजित है। इसमें प्रथम खण्ड **'पीठिकासर्ग'** है, जिसमें बत्तीस अनुष्टुप्-पद्यों द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ में १०८ प्रकार के चित्रबन्धों का विवेचन होने का क्रमशः सूचन किया

---

१. **छेकानुप्रास-वृत्त्यनुप्रासौ च स्वरपौनरुक्त्यमानुषङ्गिकम्।**
यमके तु सस्वरयोर्व्यञ्जनयुगयोरेवावृत्तिः ॥ (नञ्जराजयशोभूषण—पृ० १५७)

गया है, किन्तु लेखक इस सीमा तक ही सुस्थित नहीं रहा है, अपितु उसने उनके सम्भाव्य भेद और प्रभेदों का भी वहीं उल्लेख कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप चित्रालङ्कारों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। १०८ बन्धों का विभाजन इस प्रकार है—

(१) ३८ **प्रकार के नागबन्ध**, (२) २६ **प्रकार के छन्दों के आधार पर बने विविध आकृतिमय बन्ध**, (३) ८ **प्रकार के(शस्त्रास्त्रमूलक) हेतिबन्ध**,(४)२२ **प्रकार के विभिन्न वस्तु-विशेष के बन्ध** और (५) १४ **स्वर-वर्णचित्रात्मक हैं।** पाठकों के ज्ञानार्थ इन बन्धों के नाम यहां देना अनुचित न होगा।

नागबन्ध एवं उनके भेद[2] —

१-कमल नागबन्ध,	२-दशदलनागबन्ध,	३-अष्टग्रन्थिनागबन्ध,
४-चतुर्वेद नागबन्ध	५-चतुःस्तम्भ नागबन्ध	६-लाकुल नागबन्ध
७-चतुःकुसुम ,,	८-चतुःकोश ,,	९-त्रिपवित्र ,,
१०-कूर्मनाग ,,	११-चतुर्दल ,,	१२-पञ्चास्य ,,
१३-चतुर्डमरुक ,,	१४-वृन्दावन ,,	१५-चतुःकोरक ,,
१६-गन्धफलिका ,,	१७-कमलकोश ,,	१८-मुद्गर ,,
१९-अष्टघट ,,	२०-कमलकुड्मल ,,	२१-पिप्पलच्छद ,,
२२-सुपल्वल ,,	२३-अष्टपवित्र ,,	२४-त्रिकूट ,,
२५-स्वस्तिक ,,	२६-मृदङ्ग ,,	२७-चतुर्भूचक्र ,,
२८-शोभन ,,	२९-सव्य ,,	३०-हृद्ग्रन्थि ,,
३१-कला ,,	३२-सुवर्तुल ,,	३३-चतुर्दिङ् ,,
३४-मनोहर ,,	३५-शुभोदर ,,	३६-माङ्गल्यकलश बन्ध
३७-गर्भगदनागबन्ध तथा	३८-सर्वतोभद्र ,,	

छन्दों के आधार पर विविध आकृतियों में बने हुए चित्रबन्ध

१-श्री छन्दोमय चित्रबन्ध	२-स्त्री छन्दोमय चित्रबन्ध	३-मृगी छन्दोमय चित्रबन्ध,
४-कन्या ,, ,,	५-पङ्क्ति ,, ,,	६-शशिवदना ,,
७-मधुमती ,, ,,	८-प्रमाणिका,, ,,	९-हलमुखी ,, ,,

---

१. यह ग्रन्थ अप्रकाशित है तथा इसकी दो पाण्डुलिपियां अब तक प्राप्त हुई हैं जिनमें प्रथम—**'सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय —वाराणसी'** के सरस्वती भवन पुस्तकालय में (क्र० ४२०५१ पर) है तथा द्वितीय—**सिन्धिया प्राच्य पुस्तकालय, उज्जैन में** (क्र० ९९९७ से ९९९९ तक) करपटीक रचना के साथ है। किन्तु ये दोनों प्रतियां खण्डित हैं। इसका सम्पादन इन पंक्तियों का लेखक कर रहा है।

२. इस खण्ड में ग्यारह सर्ग हैं और द्वितीय खण्ड में ३ सर्ग हैं।

१०-मणिगणनिकरा	,,	११-शुद्धविराडित,	,,	१२-उपेन्द्रवज्रा	,,
१३-वंशस्थ	,,	१४-चञ्चरीकावली	,,	१५-वसन्ततिलका	,,
१६-पञ्चचामर	,,	१७-कुटक	,,	१८-सारसा	,,
१९-शार्दूलविक्रीडित	,,	२०-मत्तेभविक्रीडित	,,	२१-चम्पकमाला	,,
२२-महास्रग्धरा	,,	२३-मतक्रीडा	,,	२४-तन्वी	,,
२५-क्रौञ्चपद	,,	२६-अभिवाद	,,		

हेति (संग्राम) से सम्बद्ध आकृतियों में बने हुए चित्रबन्ध --

१-खड्ग-बन्ध	२-खेटबन्ध	३-शूल-बन्ध
४-गदा ,,	५-परशु ,,	६-कट्टारिका बन्ध
७-बाण ,, तथा	८-कार्मुक (धनुष) बन्ध ।	

विभिन्न वस्तुविशेष की आकृतियों में बने हुए चित्रबन्ध —

१-बालेन्दुरेखा	बन्ध	२-कासार बन्ध		३-कङ्कण बन्ध	
४-अक्षमाला	,,	५-चक्र	,,	६-चक्र (द्वितीय भेद) बन्ध	
७-पद्म		८-पद्म (द्वितीय भेद)		९-कर्कटिका	,,
१०-आन्दोलिका	,,	११-ढक्कावन्ध		१२-छत्र	,,
१३-ताल	,,	१४-नेत्रबन्ध		१५-१६-गोमूत्रिका	,,
१७-१८-तुरगगति	,,	१९-वेदिकावन्ध		२०-कल्पवृक्ष	,,
२१-शंख	,, तथा	२२-स्वस्तिकबन्ध ।			

वर्णचित्रादि से निर्मित बन्ध

१-एकाक्षर-पद्म,	२-वहिर्लापिका	३-अन्तर्लापिका
४-पर्यायपदिक	५-सर्पबन्ध	६-पारम्परिक
७-वर्णादेश	८-द्विरूप	९-वर्णगोपन
१०-वर्णादिक्रमपूर्ति,	११-समस्यापूर्ति	१२-क्रियापदरहस्य

१३-कर्तृवाच्यरहस्य और १४-मणिप्रवालाक्षरावली बन्ध ।

इन चित्र-प्रक्रियात्मक, स्वर-वर्णमूलक चित्रालङ्कारों को भी बन्ध में ही परिगणित करते हुए इन्हें **'निष्कोष्ठक-बन्ध'** कहा है । यथा— **'अस्तव्यस्तक्रमैश्चैते चतुर्दश निरूपिताः'** और अन्त में —

> निष्कोष्ठबन्धाः सर्वे स्युरष्टोत्तरशतं बुधाः ।
> आलोकनीया युष्माभिरैहिकामुष्मिकाप्तये ॥[1]

१. वहीं, पीठिका सर्ग, पद्य ३२

ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ को सरल तथा सुबोध्य बनाने के लिए यथाशक्य प्रत्येक के लक्षण, उदाहरण तथा उदाहृत पद्यों की व्याख्या भी दी है। ग्रन्थान्त पुष्पिका में—

वेदेषुनागगत्यब्दाः कलावस्मिन् यदा गताः।
श्रीमुखाब्जे 'चित्रबन्ध-प्रबन्धः' कल्पितो मया ॥

इति श्रीसमस्त-सुरशिरस्तटघटितमुकुटमणिमरीचिनिचयनीराजित-सदाशिव-चरणारविन्दमिलिन्दायमानमानसेन 'कविकृष्णक्षितीशेन' विरचिते 'चित्रबन्ध-प्रबन्धे' चरमखण्डे 'निष्कोष्ठक-बन्धात्मकः' सर्गः समाप्तोऽभूत्। चतुर्थः सर्गः समाप्तः। समाप्तोऽयं ग्रन्थः, कहा है, अतः यह ग्रन्थ इतना ही है ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

ग्रन्थ में स्वनिर्मित पद्यों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के उदाहरणों को ही नहीं लिया है अपितु स्थान-स्थान पर उनकी न्यूनता आदि का विवेचन भी किया है। इससे इसे हम **'स्वोपज्ञ-टीकासंवलित'** भी कह सकते हैं।

इस तरह कृष्ण कवि की यह रचना "चित्रबन्ध के शास्त्रीय विवेचन" के लिए महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही अनेक नवीन बन्धों की उद्भाविका भी है। **'नागबन्ध'** और **'छन्दोबन्ध'** तो इस कवि की अपूर्व देन ही हैं। ऐसा विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।[1]

५६-चित्रभूषण / कवित्वमाला : नारायणानुज (समय अज्ञात)

कमला और रङ्गनाथ के तनूज 'नारायणानुज' की यह कृति एक हस्तलिखित पत्राकार प्रति के रूप में प्राप्त है जो कि खण्डित है।[2] ग्रन्थ का नाम पत्र पर लिखे अनुसार 'चित्रभूषण' प्रतीत होता है जबकि प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के पश्चात् दिये गये पद्य—

'वैकुण्ठमध्यावसतोः कमलारङ्गनाथयोः।
तनूजेन कवित्वानां मालाभीला[3] वितन्यते ॥३॥

के आधार पर **'कवित्वमाला'** नाम दिया जाना भी उचित लगता है। इसी पद्य में रचयिता ने अपने माता-पिता के नामों का सङ्केत भी दिया है। यथा—

---

१. इस ग्रन्थ का और ग्रन्थकार का विशेष परिचय हमने एक स्वतन्त्र लेख द्वारा विस्तार-पूर्वक 'शोधप्रभा वर्ष १९८१ अङ्क ५।१ में दिया है। द्रष्टव्य—पृ० ९८-१०८

२. यह कृति उज्जैन के 'सिन्धिया प्राच्य ग्रन्थ-सङ्ग्रहालय' में सुरक्षित है। यह प्रति आधुनिकतम कागज पर लिखित है तथा इसका कोई वास्तविक स्वरूप उससे स्पष्ट नहीं होता है। वहाँ यह कुछ अन्य पत्रों के साथ रखी है, जिनमें **'चित्रालङ्कार'** नामक हिन्दी चित्रबन्धों का सङ्ग्रह तथा **'चित्रबन्ध-प्रबन्ध'** के कतिपय चित्रबन्ध भी इसके साथ ही लिखे हुए हैं।

३. यहां 'अभीला' अथवा 'आभीला' शब्द का अर्थ आकर्षक किया है।

अनाभीलेषु व्यालेषु[1] प्रगल्भाः कति सन्ति न ।
नारायणानुजेनातो निर्मितं शोध्यतां बुधाः ॥ ६॥

इस पद्य में अपना नाम 'नारायणानुज' बतलाया है । इसके पश्चात् कर्ता ने आकारचित्र के दो भेद : १-कमल और २-चक्र बतलाकर **'सरोजवृन्दैस्तदिदं समर्च्यते'**[2] कहते हुए कमल-बन्धों का विस्तृत विवेचन किया है। इस विवेचन में कमलबन्धों के निम्नलिखित प्रकारों का विचार है—

१-षोडशदल कमलबन्ध　　२-द्वादशदल कमल-बन्ध
३-अष्टदल कमलबन्ध　　४-षड्दल कमल-बन्ध तथा
५-चतुर्दल-कमलबन्ध[3]

इन पांचों भेदों का विवेचन करते हुए लेखक ने भोज के **'सरस्वती-कण्ठाभरण'** का प्रमुख रूप से अनुसरण किया है तथा लक्षण भी वहीं से लिये हैं । किन्तु विवेचन दृष्टि में पर्याप्त नवीनता है। यथा—षोडशदल कमल के प्रकारों को —**१-आद्यकर्णिक, २-द्वितीयकर्णिक** तथा **३-मिश्रकर्णिक'** —बतलाकर कमल की कर्णिका में पद्य के चरण का कौन-सा अक्षर श्लिष्ट होकर आवृत्त होगा, यह बात समझाई है। उदाहरण देते हुए इनके **"१-ह्रस्वाक्षर, २-दीर्घाक्षर, ३-व्यस्तोत्तर पद, ४-अनेक पद एक कर्णिकाक्षर, सप्तावरणरूप, ५-पञ्चावरणरूप, ६-समपत्रात्मक और ७-विषम-पत्रात्मक"** जैसे भेद भी दिखलाये हैं ।[4] लेखक स्वयं उत्तम कवि है अतः प्रायः समस्त उदाहरणों में विभिन्न तर्क उपस्थित करता है, उनकी त्रुटियां दिखलाता है और यथावश्यक नवीन उद्भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए स्वनिर्मित उदाहरण उपस्थित करता है ।

उपलब्ध प्रति में केवल १६ दल और ८ दल वाले कमलबन्धों का ही विवेचन है तथापि १०० से अधिक पद्य उदाहृत हैं। जितने नवीन उदाहरण दिये हैं उनके लक्षण भी दिये हैं तथा क्लिष्ट पद्यों या पद्यांशों को समझाने के लिए स्वोपज्ञवृत्ति का भी सहारा लिया है। **'आचार्य हरिभास्कर (पद्यामृततरङ्गिणीकार), रामेश्वराचार्य, यशस्वीकवि, कृष्णभट्ट, विष्णुभट्ट** आदि के नाम से भी कुछ उदाहरण इसमें सङ्गृहीत हैं ।

---

१. 'व्यालेषु' के स्थान पर 'काव्येषु' पाठ भी सम्भवित है ।

२. द्र० वहीं छठा पद्य ।

३. इनके अतिरिक्त विवेचन के बिना ही कुछ चित्रों के आकारमात्र दिये हैं, जिनमें भोज के गोमूत्रिका और छन्दोमय चित्रों के साथ ही द्विदल, त्रिदल, त्रिपुष्प आदि भी हैं।

४. इस प्रकार के कमल-बन्धों का विवेचन 'सागरिका' वर्ष ७ अङ्क २ पृ० २१३ के **'चित्रबन्ध-साहित्ये कमल-बन्धाः'** शीर्षक हमारे लेख में द्रष्टव्य है ।

इस प्रकार चित्रबन्ध-विवेचन के क्षेत्र में 'कमल-बन्धों' पर यह कार्य अत्युपादेय है।[1]

५७-साहित्यसार : मलयज महापण्डित सर्वेश्वराचार्य (अज्ञात)

सर्वेश्वराचार्य ने 'साहित्यसार' के द्वितीय प्रकाश में पहले अर्थालङ्कारों का विवेचन करके बाद में शब्दालङ्कारों का परिचय दिया है। यमक, चित्र और प्रश्नोत्तर ये इनके विवेच्य हैं। प्रश्नोत्तर-विभाग में—"**अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, उभयात्मा** और **त्रिभङ्गी**" का समावेश है। चित्र में—'**अक्षरलोपक, गतप्रत्यागत** तथा **मिश्र** के पश्चात् चक्रबन्ध विभाग में **अष्टार** और **षडरचक्र** तथा अन्त में **पद्मबन्ध,** का विवेचन है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ छह प्रकाशों में पूर्ण हुआ है।

५८-साहित्यसार : अच्युत शर्मा / अच्युतराय मोडक (सन् १८३१ ई०)

साहित्यसार ग्रन्थ में बारह रत्न अथवा अध्याय हैं। लेखक ने अपने ग्रन्थ को अलङ्कार शास्त्ररूपी समुद्र के मन्थन से उत्पन्न रत्नों के नाम के आधार पर ही इसके अध्यायों के नाम रखे हैं जो क्रमशः —

(१) **धन्वन्तरिरत्न,** (काव्य के सामान्य लक्षण), (२) **ऐरावतरत्न** (शब्दार्थ-शक्तियां) (३) **इन्दिरा रत्न** (व्यंग्य तथा उसके प्रयोग), (४) **दक्षिणावर्तकम्बुरत्न,** (रस-ध्वनि एवं ध्वनिभेद), (५) **अश्वरत्न** (ध्वनि के अन्य लघु भेद), (६) **विषरत्न** (दोष), (७) **गुणरत्न** (गुण), (८) **कौस्तुभरत्न** (अर्थालङ्कार), (९) **कामधेनुरत्न** (शब्दालङ्कार) (१०) **रम्भारत्न** (नायिका), (११) **चन्द्ररत्न** (नायक) तथा (१२) **अमृतरत्न** (उपसंहार) रूप हैं।

इनमें कामधेनुरत्न नामक नौवें अध्याय में शब्दालङ्कारों का विवेचन हुआ है, तथा इस पर स्वरचित '**सरसामोद**' नामक टीका भी लिखी है। इनकी अन्य रचनाओं में पण्डितराज जगन्नाथ के **'भामिनीविलास' की टीका 'प्रणयप्रकाश' तथा 'भागीरथी-चम्पू'** आदि हैं।

५९- चित्रकाव्यम् : रामभद्र कविशेखर (सन् १८४० ये १९०४ के बीच)

कोयमुत्तूर (दक्षिण) निवासी तथा '**रहस्यत्रयसारकारिका**' आदि अनेक ग्रन्थों के लेखक श्री रामभद्र ने इस ग्रन्थ की रचना में ५०० पांच सौ चित्रपद्यों का समावेश किया है।[2]

---

१. हमने इस प्रति का सम्पादन किया है तथा इसमें दिये गये उदाहरणों के चित्र 'संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार' नामक अपने शोध-प्रवन्ध के '**वनैवभवात्मक-चित्रबन्ध**' पञ्चम आलोक के द्वितीय अधिकरण में दिये हैं।

२. **श्रीरामभद्रकविशेखरनिर्मिताया धीरादृता जयति पञ्चशतीति चित्रा।**

(चित्रकाव्यम्, आरम्भ भाग)

आरम्भ के प्रकरण में ग्रन्थरचना और 'पादुकासहस्र' के रचयिता 'वेङ्कटनाथ का गुरु के रूप में स्मरण करते हुए कहा है—

भागद्वयात्मकमिदं हि न नामसङ्ख्यैः श्लोकैरुपेतमतिचारुविचित्रबन्धैः ।
चित्रोत्तरादिमपदार्थ-सुभावगूढैर्वेगैर्युतप्रकरणैर्भवतीह काव्यम् ॥
धीरं मृदुमतिसीदं रामकवीशान-निर्मितं हीदम् ।
विजयति हतबहुखेदं विरचितबहुमोदं धृतामृतास्वादम् ॥ इत्यादि ।

इसके अनुसार इस ग्रन्थ में **'प्रश्नोत्तर-चित्र'** का विवेचन अधिक हुआ है। सातवें प्रकरण में प्रश्नोत्तर के विभिन्न भेदों का विवरण देकर आगे अन्य चित्रकाव्य के भेदों पर विचार किया गया है।

६०-चित्रमञ्जरी : रङ्गनाथ (समय अज्ञात)

यह पुस्तक 'मैसूर विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या ग्रन्थागार' में (शास्त्रलिपि में लिखित) क्र० ३७६८ में प्राप्त है। इसमें लेखक रङ्गनाथ ने ८० चित्रबन्धों का सचित्र विवेचन किया है।

६१-चित्रबन्ध-पत्रिका : अज्ञात कर्तृक (समय अज्ञात)

'मैसूर विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या ग्रन्थागार' में (आन्ध्रलिपि में मुद्रित) सी० नं० १७९ संख्या बी० ७५७ पर पृ० १२४ की यह पुस्तक है।

इसमें लेखक ने **'शैल, छत्र, खड्ग, गदा, सूचिका, द्यूत, त्रिदल कमल, चतुर्दल कमल, चतुररचक्र, तुरङ्गपदक्रम** और **द्वादशदल कमल'** आदि चित्रालङ्कार के उदाहरण दिये हैं।

६२-चित्रबन्ध काव्य : दामोदर मिश्र (सन् १९०० से १९४१ तक)

दामोदर मिश्र ने 'चित्रबन्ध-काव्य' में केवल आकार-चित्रों को प्रमुखता देते हुए प्रायः सत्तर (७०) चित्रालङ्कारों का लक्षण और उदाहरणसहित विवेचन किया है।

'कमल-बन्ध के कुछ प्रकार, माला बन्ध के तीन प्रकार, खड्गबन्ध के पांच प्रकार, मेरु-बन्ध, चन्द्र बन्ध, सूर्य बन्ध, वृक्ष बन्ध, कूप बन्ध, सरोबन्ध, गुप्तपद बन्ध और असङ्ख्यपद बन्ध' की रचना इसमें अभिनव है। कुछ ऐसे क्लिष्ट बन्धों की भी इनमें रचना की गई है जो पूर्ण परिश्रम एवं गम्भीर अध्ययन के विना सम्भव नहीं है। लक्षणों के अतिरिक्त अन्य स्पष्टता के लिए स्वयं लेखक ने **'प्रमोदिनी'** नामक टीका भी बनाई है। श्लिष्टाक्षरों की योजना द्वारा नाम-धामाङ्कन-पद्धति को भी यहां प्रश्रय दिया गया है और सरस्वती-कण्ठाभरण के भी कतिपय बन्धों की पूर्ति कवि ने की है। रचना प्रौढ है तथा स्तुति-पद्यों की बहुलता है।

६३-चित्रकाव्य-कौतुक : रामरूप पाठक (जन्म सन् १८९२ ई०)

चित्रकवि रामरूप पाठक ने 'चित्रकाव्य-कौतुक' में पचपन आकार चित्रों के उदाहरण दिये हैं तथा अपने गुरुतुल्य स्व० पं० दामोदर के 'चित्रबन्ध-काव्य' के लक्षणों को अपनाया है। कहीं काव्यादर्श, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा स्वरचित लक्षणों का भी समावेश है। इस दृष्टि से 'चित्रकाव्य' की वर्तमान युग में भी प्रतिष्ठा रखने में तथा नवीन प्रकार उपस्थित करने में किया गया श्रम अवश्य ही सराहनीय है। **रामानुज तिलक, पद्म** (दो प्रकार) **नन्दी**, आदि कतिपय बन्ध तथा प्रत्येकबन्ध में श्लिष्टाक्षर-योजना कवि की विशिष्ट प्रतिभा के परिचायक हैं। कवि ने स्पष्टता के लिये 'स्वोपज्ञवृत्ति' की रचना भी की है।

६४-चित्रालङ्कार-चन्द्रिका : डा० रुद्रदेव त्रिपाठी (वर्तमान काल)

प्रस्तुत ग्रन्थ में दस आलोक हैं जिनमें क्रमशः (१) **चित्रालङ्कार की पूर्वपीठिका, लक्षण तथा भेदों का विवेचन।** (२) **स्वर, स्थान, वर्ण, गति, प्रहेलिका, च्युत, गूढ, प्रश्नोत्तर, समस्या तथा भाषारूप चित्रालङ्कारों के भेद-प्रभेदों का लक्षणोदाहरण सहित विवेचन।** (३) **मङ्गल-मय चित्रबन्ध,** (४) **वनवैभवात्मक चित्रबन्ध,** (५) **आभरणात्मक चित्रबन्ध,** (६) **शस्त्रास्त्ररूप चित्रबन्ध,** (७) **प्राणिरूपात्मक चित्रबन्ध,** (८) **प्रकीर्णवस्तुरूप चित्र-बन्ध,** (९) **छन्दोमय चित्र** तथा (१०) **उपसंहार** के नाम से विवेचन हुआ है।

इनमें मुख्यरूप से अब तक के उपलब्ध चित्र-बन्धों के लक्षण और उदाहरणों का विशाल सङ्ग्रह प्रस्तुत है।

इस ग्रन्थ में स्वयं लेखक ने पूर्वाचार्यों द्वारा रचित चित्रबन्धों की अपूर्ण-स्थिति को पूर्ण करने का भी यथाशक्य प्रयास किया है, क्योंकि उपलब्ध सामग्री में निम्नलिखित कठिनाइयां प्रायः आती हैं —

१-केवल नामतः सूचित,

२-केवल श्लोकरूप में प्राप्त,

३-केवल आकृतिरूप में प्राप्त,

४-कतिपय खण्डित अंशों में प्राप्त और

५-केवल लक्षण के रूप में प्राप्त।

लेखक का यह प्रयास रहा है कि (१) नामतः सूचित साहित्य के सन्दर्भ में गवेषणा कर संस्कृतेतर भाषा में प्राप्त साहित्य से अनूदित अथवा अनुकृत कर उसे प्रस्तुत करना। (२) जो उदाहरण के रूप में श्लोक उपलब्ध हैं उनके आधार पर आकृतियों का निर्धारण करके उसे प्रस्तुत करना और लक्षणात्मक पद्य बनाना। (३) जिनकी आकृतियां मिलती हों, किन्तु उदाहृत पद्य नहीं मिलते हों, तो उनका पाठ निर्धारित कर व्यवस्थित रूप देना। (४) जिनके अंश खण्डित हैं उनकी सम्भाव्यपूर्ति करके सङ्गति बिठाना और (५) जिन बन्धों के केवल लक्षण मिलते हैं उनके आधार पर उदाहरण पद्य निर्मित करना।

इनके अतिरिक्त इसमें कतिपय ऐसे बन्ध भी हैं, जिनका नवीन रूप से निर्माण भी लेखक ने किया है। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

लेखक ने शब्दालङ्कार की चित्र-बन्ध-सम्बन्धी विधा को अतीत और वर्तमान की दोनों दृष्टियों से पर्यालोचन करके यथार्थ-स्थिति में लाने का पूरा प्रयास किया है। प्रारम्भ में कहा गया है कि—

वाचां विन्यास-वैचित्र्यं, व्यञ्जयन्ती विपश्चिताम् ।
चिरं चित्रीयतां चित्तं, चित्रालङ्कार-चन्द्रिका ॥

अनुपूर्ति

(कतिपय अन्य अलङ्कार-ग्रन्थ और ग्रन्थकार)

उपर्युक्त ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची में जिनकी चर्चा की गई है, उनके अतिरिक्त भी कुछ और ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त होती है, साथ ही **'कवि-शिक्षा'** और **'काव्य-शिक्षा'** के ग्रन्थ भी शब्दालङ्कार की श्रीवृद्धि में सहायता करते रहे हैं, अतः उनका परिचय यहां अनुपूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है —

१-शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका/अलङ्कार-सङ्ग्रह : श्रीविजय कीर्ति (१२५० ई०)

आचार्य विजयकीर्ति के शिष्य श्री विजयवर्णी द्वारा रचित यह ग्रन्थ दस परिच्छेदों में विभक्त है। युवा नरेश कामिराय (प्रथम वङ्गनरेश) की प्रेरणा से निर्मित यह ग्रन्थ काव्य-शास्त्रीय-परम्परा से भिन्न रचना-प्रक्रियावाला प्रतीत होता है। इसके प्रथम परिच्छेद में **'वर्ण-गुणफल-विचार'** ६३ पद्यों में है जो कविशिक्षा की दृष्टि से उपादेय है। द्वितीय परिच्छेद में **'काव्यगत शब्दार्थ-निश्चय'**, **काव्यहेतु-कथन, १-रौचिक, २-वाचिक, ३-आर्थ, ४-शिल्पिक, ५-मार्दवानुग, ६-विवेकी** और **७-भूषणार्थी'** नामक सप्तविध कवि तथा चार प्रकार के अर्थों का निरूपण ४२ पद्यों में हुआ है। तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम में क्रमशः **'रसभावनिश्चय'** नायक-नायिका-भेद एवं दशगुणनिश्चय' दर्शित है। षष्ठ, सप्तम और अष्टम परिच्छेदों में क्रमशः **रीति, वृत्ति,** तथा **शय्या-पाक** का वर्णन हुआ है। नवम परिच्छेद **'अलङ्कार-निर्णय'** का है जिसमें चार शब्दालङ्कार और ४० अर्थालङ्कार दिये हैं। अन्तिम दसवां परिच्छेद **'गुण-दोष-निर्णय'** प्रस्तुत करता है।

ग्रन्थकार ने इस प्रकार की रचना से **कविशिक्षा** और काव्यशास्त्र के समन्वित रूप को इसमें आवर्जित किया है। रचनाकार ने अलङ्कार की महत्ता इस रूप में व्यक्त की है—

स्त्रीरूपं निरलङ्कारं, न विभाति यथा भुवि ।
तथा काव्यं ततो ब्रूहि, नानालङ्कार-सङ्ग्रहम् ॥१॥
काव्याङ्गभूतौ शब्दार्थौ श्रिताश्चित्रोपमादयः ।
अलङ्काराः प्रकीर्त्यन्ते काव्य-चारुत्वहेतवः ॥२॥

इस प्रकार यह सङ्ग्रह-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है।

२-अलङ्कार-सङ्ग्रह : अमृतनन्दि (अज्ञात काल)

छह प्रकरणों में विभक्त इस कृति में **१-वर्णगण-विचार, २-शब्दार्थ-निर्णय, ३-रस-वर्णन ४-नेतृभेदनिर्णय, ५-अलङ्कार-निर्णय,** तथा **६-गुणनिर्णय**' का विवेचन हुआ है। **जिनरत्न-कोश**' भाग १, पृ० १७ में इसका उल्लेख है।

३-काव्य-लक्षण : अज्ञातकृत (अज्ञात काल)

जैन ग्रन्थावली, पृ० ३१६ में दर्शित २५०० श्लोक प्रमाणवाली यह रचना है।

४-काव्याम्नाय : अमरचन्द्र (अज्ञातकाल)

जैन ग्रन्थावली पृ० ३१५ पर इसका उल्लेख है।

५-प्रक्रान्तालङ्कारवृत्ति / जिनहर्ष शिष्य (अज्ञात काल)

जिनरत्नकोश (खण्ड १, पृ० २५७) में इसका उल्लेख है तथा वहीं एक ताडपत्रीय प्रति पाटण-गुजरात के भण्डार में है, ऐसा सङ्केत दिया है।

६-कर्णालङ्कार-मञ्जरी : त्रिमल्ल (अज्ञात काल)

जैन ग्रन्थावली ३१५ में इसका सङ्केत है। यह ७० पद्यों की कृति है।

७-अलङ्कारचूर्णि/अलङ्कारावचूरि : अज्ञात (अज्ञात काल)

जिनरत्नकोश (खण्ड १ पृ० १७) में यह कृति उल्लिखित है। इसमें ५ परिच्छेद हैं तथा यह प्रायः १५०० श्लोक प्रमाण है।

(विश्वास किया जाता है कि इनमें भी शब्दालङ्कारों का विवेचन हुआ होगा !

८-काव्यचिन्तामणि : वासुदेव परू (१८वीं शती मध्यकाल)

इस ग्रन्थ के रचयिता वासुदेव गणपति जगन्नाथनारायण देव के सभासद एवं कवि थे। इन्होंने उक्त ग्रन्थ के २४ किरणों में कविसमय तथा समस्यापूरण पर विशेष रूप से विचार किया है। समस्यापूर्ति भी शब्दालङ्कार का एक प्रभेद है, अतः यह शब्दालङ्कार-पोषक ग्रन्थ माना जा सकता है।

९-लक्षण-दीपक / प्रबन्धदीपक : गौरनार्य···(१८वीं शती)

इसका उल्लेख वरदाचारी ने किया है। (हिस्ट्री० सं० लि०)

१०-साहित्य-कल्पद्रुम : राजशेखर (वेङ्कटेश पुत्र) (१८४० ई०)

गौतमगोत्रीय राजशेखर कवि ने 'साहित्यकल्पद्रुम' में काव्यशास्त्रीय विषयों का

विवेचन ८१ स्तबकों में किया है। अतः इसमें शब्दालङ्कारों पर भी विस्तारपूर्वक विचार हुआ होगा। ग्रन्थ कुप्पूस्वामी-सङ्ग्रहालय में सुरक्षित है।

११-अलङ्कारमञ्जरी : कविवर वेणीदत्त (१८वीं शती का उत्तरार्ध)

महाकवि वेणीदत्त तीरभुक्ति जनपद के सरिसव गांव के निकटस्थ **'हाटी'** के निवासी तथा **'भार्तृहरि-निर्वेद'** नाटक तथा 'हरिहरसुभाषित' के निर्माता श्रीहरिहरोपाध्याय के पुत्र श्रीजगन्नाथ उपाध्याय के पुत्र थे। ये मिथिला के अधिपति, श्रीमाधवसिंहजी के सभापण्डित थे। श्रीवेणीदत्त की दो कृतियां **१-रसकौस्तुभ** और **२-अलङ्कार-मञ्जूषा** प्रसिद्ध हैं।

प्रस्तुत **'अलङ्कार-मञ्जरी'** कुवलयानन्द की तरह न तो अलङ्कारों का बहुत विस्तार करती है और न रसगङ्गाधर की तरह विभिन्न परिष्कारों को ही प्रस्तुत करती है काव्य-प्रकाशादि के समान गम्भीर शब्दार्थ के विवेचन में भी इसमें कुछ नहीं कहा गया है, अपितु विषमतम अलङ्कार-दर्शन के शिखर पर चढ़ने की इच्छा वालों के लिए यह सीढ़ी के समान है।

इसमें कवि ने अलङ्कार की आवश्यकता वतलाते हुए कहा है कि––

अलङ्कारं विना नारी यथा न खलु रोचते।
तथैव तं विना वाणी कवीनां नैव शोभते ॥३॥

और १-वक्रोक्ति (श्लेप और काकुरूप) २-अनुप्रास (छेक, वृत्ति, उपनागरिका, परुषा और कोमला, लाटानुप्रास), ३-यमक और ४-शव्द-श्लेप, ऐसे ४ शव्दालङ्कारों का वर्णन किया है। लेखक ने इन अलङ्कारों के उदाहरण स्वनिर्मित ही दिये हैं। उदाहरण भक्तिपूर्ण है वृत्त्यनुप्रास का उदाहरण देखिये—

जम्बरालजालकलिताननकञ्जभाल,
लम्वाल-कालमतिमञ्जुलकण्ठमाल ।
भव्यालवालशिशुकेलि-सरो-मराल,
गोपाल याहि करुणामय भा-रसाल ॥

पूरी मञ्जरी में २४१ पद्य हैं। **'मिथिला इन्स्टीट्यूट', दरभङ्गा** से यह ग्रन्थ १९६१ में मुद्रित हुआ है।

१२-काव्यकौमुदी : रत्नभूषण : (१८५९ ई०)

बङ्गीय वैद्यवंश में उत्पन्न रत्नभूषण की यह काव्यशास्त्र-विषयक कृति है। शब्दालङ्कार-विवेचन भी इसमें सम्भाव्य है।

१३-साहित्यकल्लोलिनी : भास्कराचार्य (१९वीं शती पूर्वार्ध)

इसमें काव्यशास्त्र के सभी विषयों पर विमर्श हुआ है।

१४-१५-काव्य-प्रयोगविधि तथा अलङ्कारमाला :
मुदुम्बी नरसिंहाचार्य (१९वीं शती)

अनेक श्लोक एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के लेखक की ये कृतियां भी अलङ्कार-विचार के लिए उपयोगी है।

साहित्य-समुद्देश : सीताराम शास्त्रीसा (वर्तमान काल २०वी शती)

हरियाणा प्रान्त के भिवानी नगरस्थित 'हरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचार्याश्रम' के अध्यक्ष श्री सीतारामशास्त्री ने सन् १९२३ में **१-पदार्थोद्देश, २-काकभेद, ३-नाट्यपदार्थविभास, ४-नाटकरचना-प्रणाली** तथा **५-परिशिस्ट सञ्चय**' नामक पांच भागों में इस ग्रन्थ को निबद्ध किया है। इसके प्रथम भाग में सप्तषष्टि ६७ अलङ्कारों में ६ शब्दालङ्कार—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्रक और पुनरुक्तवदाभास का विवेचन किया है। यहीं इनके प्रभेद भी यथासम्भव दिखलाये हैं। यह ग्रन्थ सङ्ग्रहात्मक है तथा संक्षेप में सूत्रपद्धति से सभी बातें समझाने का प्रयास किया है। परिशिष्टों में चित्र और तालिकाओं क संग्रह उत्तम है।

हित्यशिक्षामञ्जरी : श्रीविजयधर्मधुरन्धरसूरि (वर्तमान काल)

जैनाचार्य श्रीधर्मधुरन्धर सूरि की यह कृति कोमलबुद्धि बालकों को साहित्य की शिक्षा देने के लिए निर्मित है।[1] इसमें ५ प्रमितियाँ हैं। चतुर्थ प्रमिति में क्रमशः '१-पुनरुक्तवदाभास, २-अनुप्रास, ३-यमक, ४-वक्रोक्ति, ५-भाषासम और ६-श्लेष',—इन छः अलङ्कारों का सोदाहरण विवेचन किया है। उदाहरण स्वनिर्मित और अन्य आचार्यों के द्वारा निर्मित हैं। अलङ्कार-सम्बन्धी धारणाओं में कोई नवीनता नहीं है।

२-लक्षण-ग्रन्थों में अचर्चित शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेद

लक्षण-ग्रन्थों की ऊपरि निर्दिष्ट सूची में चर्चित शब्दालङ्कारों के लक्षण उन-उन आचार्यों ने यथास्थान प्रस्तुत कर ही दिये हैं, तथापि संस्कृत-साहित्य के सुविशाल भाण्डागार में ऐसे अनेक प्रयोग होते आ रहे हैं जिनमें सर्वापेक्षा अभिनवता है, प्रायोगिक मञ्जुलता है और रचनागत उदात्तता है। इन प्रयोगों के प्रति सामान्यतः स्वतन्त्र-चिन्तन का प्रसङ्ग इसलिए नहीं आया है कि—

(१) इसमें जो नावीन्य लाया जाता है वह पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों में किसी न किसी रूप में अन्तर्निहित मान लिया जाता है।

(२) पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रीय ग्रन्थों के समान उत्तरकाल में शास्त्ररचना का प्रवाह रुक गया और उसका स्थान आलोचना अथवा प्रस्तुतीकरण ने ले लिया।

---

१. यथा—सरसऋजुमतीनामाशु सद्बोधकृत्यै,
नवनवपरिबोधस्फारसम्भारशुभ्राम्।
अनति विपुलरूपां काव्यमार्गे नवीनां,
रचयति शिशुशिक्षामञ्जरीं साधुवर्यः ॥५॥ इति।

(३) रसादिगत विविध सम्प्रदायों के आग्रहवश उसकी उपेक्षा की गई; और

(४) वर्तमान अध्ययन का क्षेत्र परीक्षा के लिए निर्धारित पाठ्यग्रन्थों तक ही केन्द्रित बन गया।

साथ ही संस्कृत-रचनाओं का भाण्डागार भी इतना अधिक व्यापक है कि उसे प्राप्त करके गम्भीरता से अध्ययन का अवसर ही नहीं मिल पाता। इतना सब हाते हुए भी जब प्रमुखरूप से इसी बात को लक्ष्य में रख कर हम विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों में कई भेदों के लक्षण अचर्चित हैं, जिन पर आचार्यों ने विचार नहीं किया है। यथा—

(१) अनुप्रास में अष्टप्रास, द्वादशानुप्रास, प्रतिपादगत द्वितीयाक्षरानुप्रास और इनके भेद-प्रभेद, संसृष्टि तथा सङ्कर।

(२) यमक में द्व्यावर्त, त्र्यावर्त, अविश्रान्त, सम, विषम, द्व्यक्षराद्यक्षर, पुष्प, युग्म, अयुग्म, अखण्ड-खण्ड, नवखण्ड, गर्भ, अष्टयमक, संसृष्टि और सङ्कर।

(३) पुनरुक्तवदाभास में अन्यान्य भाषाभास, तद्धित, कृदन्त, क्रियादि का पुनरुक्तवत् आभास एवं संसृष्टि-सङ्कर।

(४) चित्र में निर्दिष्ट अनेक नवीन प्रयोग आदि।

इस प्रकार के अचर्चित भेदों के लक्षण न देकर जहां-तहां उदाहरण प्राप्त होते हैं और उन्हीं के आधार पर उनके लक्षणों का ज्ञान कर लिया जाता है, जबकि कुछ प्रयोग एक-दूसरे के भेदों में सङ्क्रमित भी देखे जाते हैं। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि—

पुरा निर्देशिता एव साहित्ये ते शताधिकाः।
ते चाद्यापि विकल्पन्ते सर्वेषां गणना कुतः॥
यथोर्मयस्तरङ्गिण्या लतासु कुसुमानि वा।
कविसृष्टावलङ्काराः स्फुरन्ति प्रस्फुटन्ति च॥[1]

३-लक्षण-विहीन शब्दालङ्कारों के लक्षण
(एक समस्या और समाधान की दिशा)

उपर्युक्त लक्षण-ग्रन्थों में अचर्चित शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों के पर्यालोचन से एक समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि 'इनके लक्षण क्या हैं ?' इसका एक सुलभ समाधान तो हमें यह प्राप्त ही है कि—**'लक्ष्यानुसारीणि लक्षणानि भवन्ति'** के आधार पर उदाहृत रचनाओं की विशिष्ट विन्यास-प्रक्रिया का परिशीलन करके लक्षण निर्धारित कर लेने चाहिये और इसी सूत्र के अनुसार अनुकरण-कुशल कविगण उत्तरोत्तर रचनाएं बनाते

---

१. रा० अ० कालेले **'नवालङ्कार-निर्वचनम्'** ६, ७ पद्य।

भी रहे हैं। तथापि समाधान की अन्य दिशा निर्धारित करने के लिए कुछ विचार इस प्रकार हैं—

(१) जिस प्रकार आधुनिक इतिहासों का निर्माण होता है और हो रहा है उसी प्रकार ऐसे लक्षण-विहीन शब्दालङ्कारों के लक्षण बनाने चाहिए।

(२) जिन भेदों का परस्पर शब्दालङ्कारों में संक्रमण होता हो किन्तु रचनाकारों ने उनके नाम अन्यान्य दिये हों, उन्हें पृथक् रूप से सङ्कलित कर उनका मूल बतलाते हुए नवीन लक्षण निर्धारित किए जाएं।

(३) अन्य सम्भाव्य भेदों का भी इसी प्रकार संचयन करते हुए उनकी तर्कपूर्ण व्यवस्था दी जाए।

(४) विभिन्न काव्यग्रन्थों में तथा प्रकीर्ण रूप से प्राप्त ऐसे पद्यों का स्वतन्त्र सङ्कलन करके उन पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाए और उन्हें उन-उन अलङ्कारों की श्रेणी में वर्गीकृत करके लक्षण दिए जाएं।

(५) साहित्यकार क्षेत्रीय-प्रभाव अथवा क्षेत्र-विशेष की प्रयोगगत चमत्कृत विधा से प्रभावित होकर आदान-प्रदान करते रहते हैं। इस दृष्टि से अनुकरण-मूलक शब्दालङ्कारों के भेदों में नवीन रूप में उपलब्ध प्रकारों का निर्णय करके वास्तविक क्षेत्रीय भाषाओं में प्रचलित प्रयोगों के लक्षणों को ज्ञात कर संस्कृत में उनके लक्षण बनाये जाएं।

ये और ऐसे ही अन्य आवश्यक तथ्यों को ध्यान में रखकर किये जानेवाले प्रयास लक्षण विहीन शब्दालङ्कारों के लक्षण-निर्धारण की दिशा में समाधान-कारक बन सकेंगे और आगामी साहित्यिकों के लिए वे मार्गदर्शक भी बन जाएंगे।

पूर्वाचार्यों ने मानव की जीवनीय आवश्यकता का निर्धारण करते हुए अन्यान्य अनेक आवश्कताओं के साथ ही—**'साहित्य-सङ्गीतकला'** संयुक्तता को पर्याप्त महत्व दिया है। इस की पूर्ति के लिए जिन लक्ष्यों का प्रणयन हुआ उनके सौन्दर्य का बोध कराना ही लक्षण-ग्रन्थों का प्रमुख कार्य रहा है। इन लक्षण-निरूपक ग्रन्थों को **'शास्त्र'** कहा जाता है, क्योंकि ये **शंसा-प्रशंसा** और **शासन-प्रशासन** दोनों ही करते है। इनके अतिरिक्त इन शास्त्रों का तीसरा कार्य होता है **परिवर्धन** और **परिष्करण**। इन्हीं तीनों दायितों का निर्वाह शास्त्रकार सदा से करता आया है, कर रहा है और करेगा भी।

शब्दालङ्कार के विवेचक आचार्यों ने सम्भवतः उपरि दर्शित 'साहित्य-सङ्गीत-कला' की शब्दावली में साहित्य को प्रधान मानकर उसके सहायकों में सङ्गीत और कला को स्थान दिया है। इसी लिये छन्दःसम्बन्धी विवेक सङ्गीत की पूर्ति करता है और वर्णयोजना सम्बन्धी नैपुण्य कला की पूर्ति करता है। इन दोनों की सहायता से साहित्य **'साहित्य'** बनता है तथा वह आबाल-गोपाल, आमूढ-प्रज्ञ को आनन्दित करता है। साहित्य में कला अपने स्वरूप को समाविष्ट करके प्रतिफलित होती है और श्रवण के माध्यम से हृत्तन्त्री को झङ्कृत करती

है। इस प्रकार सङ्गीत और कला दोनों का सहयोग शब्दालङ्कारों के परिसर में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

हमने उपर्युक्त विवेचन में यथासम्भव प्रसिद्ध ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की ही यहाँ चर्चा की है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अन्य ऐसे लक्षण-ग्रन्थ नहीं हैं। सत्य यह है कि ऐसी रचनाएं निरन्तर अबाध गति से निर्मित हो रही हैं और होती भी रहेंगी।

यह प्रसन्नता का विषय है कि इस ओर विद्वानों का ध्यान गया है और आज भी बना हुआ है, जिसके कारण यथासमय वे विद्वज्जन अपनी-अपनी रचनाओं में ऐसे लक्षण-विहीन शब्दालङ्कारों के लक्षण स्वयं बनाकर इस न्यूनता को पूर्ण कर रहे हैं।

श्रीदामोदर कवि, श्रीरामरूप पाठक, श्रीकरमलकर शास्त्री आदि ने अपने ग्रन्थों में यह प्रक्रिया अपनाई है। डा० रसिकविहारी जोशी ने रासपञ्चाध्यायी (भागवत) में प्राप्त चित्रबन्धों का गद्यात्मक विवेचन दिया है तथा हमने भी अपने शोधप्रबन्ध 'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार' और **'चित्रबन्धावतारिका'** (सम्पादित ग्रन्थ) में ऐसा ही प्रयास किया है।

विश्वास है कि हमारा साहित्य-विवेचक-समाज भविष्य में भी इस अभाव की पूर्ति करने में अग्रसर बनेगा !

———

[तृतीय अध्याय]

शब्दालङ्कारों का भेदोपभेद-निर्धारण

शब्दालङ्कारों की भेदोपभेद-मीमांसा

लक्षण एवं लक्ष्य-ग्रन्थों के क्रमिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "शब्दालङ्कार" अनेक भेद एवं उपभेदों में विभक्त है। कवि की प्रतिभा के बल पर जैसे-जैसे शब्द-योजना के रूप प्रस्तुत हुए, उन्हें लक्षणकारों ने व्यवस्थित रूप दिया और वर्गीकरण के माध्यम से भेद-उपभेद प्रदर्शित किये। साथ ही ऐसे वर्गीकरण के समय स्वयं लक्षणकारों की प्रतिभा से भी उनके भेदों की अभिवृद्धि हुई। यह परम्परा **'ते चाद्यापि विकल्पन्ते'** के आधार पर अनवरत उत्तरोत्तर कवि तथा आचार्यों के द्वारा बढ़ती ही जा रही है, अतः निश्चित रूप से **"इदमित्थं"** कहना तो असम्भव ही है तथापि यावच्छक्य प्रयास से उपलब्ध भेद तथा उपभेदों की तालिका हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

भेदोपभेद के कारण तथा उनकी व्यवस्था

किसी भी वस्तु के भेद-उपभेद इसलिए होते हैं कि उसके वास्तविक स्वरूप में "न्यूनाधिकता" आ जाती है। जैसा लक्षण-निर्धारण हुआ हो उसकी सर्वांश में पूर्ति न होना अथवा निर्धारित लक्षण की अपेक्षा से अधिक विशेषता का आ जाना ही "न्यूनाधिकता" है। उदाहरणार्थ भरत ने यमक का लक्षण बनाया और उसके दस भेद किये, जिनमें क्रमशः नियमों का ह्रास होता गया तो उत्तरवर्ती आचार्यों ने "यमक" को उसके लक्षण के आधार पर सुस्थिरता दी तथा लक्षण से किसी अंश में न्यून प्रयोगों को "अनुप्रास" का नाम दिया। दूसरी ओर "यमक" के लक्षणों का दृढ़ता से पालन करते हुए उसमें और विलक्षणता लाने का प्रयास किया गया तो आचार्यों ने उसे "चित्र' नाम दिया। इस प्रकार न्यूनाधिकता से एक ओर तो नवीन अलङ्कारों की सृष्टि हुई और दूसरी ओर पद, पदांश, पाद, पादांश आदि में लक्षण का न्यूनाधिक रूप में निर्वाह होने पर "यमक" के ही नामतः अन्य भेद बने और उनमें भी जब न्यूनाधिकता आई तो उपभेद बनते गये। यहाँ भेद से हमारा तात्पर्य है—"मूल अलङ्कार के प्रमुख भेद।" जैसे "अनुप्रास" के प्रमुख भेद—"(१) ग्राम्यानुप्रास, (२) लाटानुप्रास, (३) श्रुत्यनुप्रास, (४) वृत्त्यनुप्रास, (५) छेकानुप्रास" आदि। तथा उपभेद से अभिप्राय है—मूल भेद के अन्य प्रकार-विशेष। जैसे—लाटानुप्रास के प्रमुख उपभेद "(१) अव्यवहित, (२) व्यवहित, (३) व्यवहिताव्यवहित" आदि।

इन भेदोपभेदों की व्यवस्था भी आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रों में लक्षणकारों ने व्यवस्था देते हुए इनकी (१) कहीं तो पूर्णरूपेण चर्चा की है, (२) कहीं कुछ अंशों में ही चर्चा की है और (३)कुछ का कोई विचार नहीं किया है, जबकि वे काव्यों में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। अतः हम इसी आधार पर ३ भेदों में इनकी व्यवस्था देना उचित समझते हैं, और वे हैं :—(१)**बहुर्चाचित भेद**, (२) **सामान्य र्चाचित भेद** तथा (३) **सम्भाव्य किन्तु अर्चित भेद**।

१. शब्दालङ्कारों के बहुर्चाचित भेद

भरत से लेकर वर्तमान काल तक मुख्यरूप से शब्दालङ्कारों के क्रमशः (१) **यमक**, (२) **अनुप्रास**, (३) **पुनरुक्तवदाभास**, (४) **वक्रोक्ति**, (५) **श्लेष** तथा (६) **चित्र**" ये छह भेद बहुर्चाचित हैं। इन भेदों के प्रथम उद्भावक भी भिन्न-भिन्न आचार्य हैं, जिनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) **यमक— भरत**	(२) **अनुप्रास— भामह**
(३) **पुनरुक्तवदाभास— उद्भट**	(४) **वक्रोक्ति— रुद्रट**
(५) **श्लेष— भामह** तथा	(६) **चित्र— रुद्रट**।

इस प्रकार भरत और उद्भट ने एक-एक तथा भामह और रुद्रट ने दो-दो शब्दालङ्कारों की उद्भावना की है जो आज तक सर्वमान्य रूप से परिवर्धित एवं परिर्चाचित होती जा रही है।

शब्दालङ्कारों के बहुर्चाचित भेदों की क्रमगत व्यवस्था

यद्यपि जिस कालक्रम से शब्दालङ्कारों की उद्भावना होती रही है उसी क्रम से इनकी व्यवस्था भी होनी चाहिए, किन्तु भरत के पश्चात् यमक को किसी भी आचार्य ने प्रथम स्थान नहीं दिया। इनके कारण ये दो रहे होंगे—(१) **यमक से सरल अलङ्कार अनुप्रास की उपलब्धि** तथा (२) **'सरल से जटिल की ओर'—रूप शिक्षा की पद्धति का स्वीकरण**। भरत के यमक-भेदों में अनुप्रास स्वयं को प्रकट करने के लिए बहुत उत्सुक दिखाई देता है। वह मानो किसी आचार्य के हलके-से आश्रय-सहारे की प्रतीक्षा करता हुआ बार-बार यमक के प्रासाद में लगी खिड़कियों से बाहर झाँकता है और उन्मुक्त होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करना चाहता है।[1]

---

१. यही कारण है कि भरत के १० यमक भेदों के उदाहरणों में अधिकांश पद्य अनुप्रासोदाहरण के अधिक निकट हैं तथा भरत के ही टीकाकार अभिनवगुप्त ने **'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्'** के व्याख्यान में 'शब्दाशब्देन **वर्णः पदं तदेकदेश इति गृह्यते। तेनानुप्रासलाटीयानां देशभेदेनोपसङ्ग्रहः**" यह कह कर यमक और अनुप्रास की एकरूपता प्रतिपादित की है।

फलतः भामह की प्रतिभा ने इस रहस्य को पहचाना तथा उत्तरकाल में अनुप्रास को सर्वप्रथम स्थान मिला और यह सर्वाधिक लोकप्रिय भी बन गया।

इतना होते हुए भी भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इन अलङ्कारों को प्राथमिकता दी है। उदाहरणार्थ :—

१. भामह तथा दण्डी आदि ने अनुप्रास को पहला स्थान दिया है।

२. भरत और वामन आदि यमक को प्रथम स्थान देते हैं।

३. उद्भट तथा रुय्यक आदि ने पुरुक्तवदाभास को प्राथमिकता दी है।

४. रुद्रट और मम्मट आदि वक्रोक्ति को पहला स्थान देते हैं।

५. श्लेष को किसी ने भी शब्दालङ्कारों में प्रथम नहीं माना है।

६. वाग्भट (दोनों) तथा केशव मिश्र आदि ने चित्रालङ्कार को प्रथम स्थान दिया है।[1]

इस अवलोकन से एक बात और सामने आती है कि अलङ्कार-प्रस्थान की इस सुदीर्घ यात्रा में जैसे विभिन्न रसादि-सम्प्रदायों का प्रचलन हुआ उसी प्रकार शब्दालङ्कार के पोषक आचार्यों में सूक्ष्म सम्प्रदायवादी अन्तर्धारा बहती थी और यही कारण था कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार शब्दालङ्कार के इन भेदों में से किसी एक को प्राथमिकता दी।

कुछ आचार्य तो ऐसे भी हुए हैं— जिन्होंने शब्दालङ्कार की चर्चा करना ही आवश्यक नहीं समझा और कुछ ने पहले अर्थालङ्कारों का वर्णन करके अन्त में शब्दालङ्कारों पर भी कुछ लिख दिया। वस्तुतः यह भी साम्प्रदायिक आग्रह का ही कारण रहा होगा!

इतना होते हुए भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि सर्वाधिक ग्रन्थकारों ने "अनुप्रास" को शब्दालङ्कारों में प्रथम स्थान दिया है। अतः वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार शब्दालङ्कारों की क्रमगत व्यवस्था में बहुमत प्राप्त अनुप्रास को ही हम भी प्रथम स्थान देना उपयुक्त मानते हैं और इसी दृष्टि से "अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, श्लेष तथा चित्र" इस क्रम से इनका विवेचन करेंगे, क्योंकि बहुचर्चित क्रम भी यही रहा है।

शब्दालङ्कारों में बहुचर्चित भेदों का संख्या-निर्धारण

संख्या-निर्धारण की दृष्टि से भी शब्दालङ्कारों के बारे में किसी आचार्य ने **"इयानेव"** नहीं कहा है। यदि कहीं आग्रहवश कह भी दिया है, तो अन्य परवर्ती आचार्य ने उससे अधिक नाम देकर पूर्वोक्त का स्वयं निषेध उपस्थित कर दिया है। जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

---

१. चित्रालङ्कार का चिन्तन विभिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न आचार्यों ने किया है, जिसका कारण मुख्यतः इस विषय के प्रति उनकी अभिरुचि ही रही है। चित्रालङ्कार जहां प्रश्नोत्तरादि के रूप में विस्तार को प्राप्त है, वहीं आकृतियों में भी पर्याप्त विकसित हुआ है, जिसे हमने अग्रिम विवेचन में स्पष्ट किया है।

आचार्य और ग्रन्थानुसारी शब्दालङ्कार-सूची

क्रमांक	प्रमुख आचार्य	ग्रन्थनाम	चर्चित शब्दालङ्कारों की संख्या	तथा नाम
१.	भरत	नाट्यशास्त्र	१	यमक
२.	भामह	काव्यालङ्कार	२	अनुप्रास और यमक
३.	दण्डी	काव्यादर्श	४	अनुप्रास, यमक, चित्र और प्रहेलिका
४.	उद्भट	काव्यालङ्कार-संग्रह	२	पुनरुक्तवदाभास तथा अनुप्रास
५.	वामन	काव्यालङ्कारसूत्र	२	यमक, और अनुप्रास
६.	रुद्रट	काव्यालङ्कार	५	वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र
७	—	अग्निपुराण	९	छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र और दुष्कर
८.	—	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	३	अनुप्रास, यमक तथा प्रहेलिका
९.	राजशेखर	काव्यमीमांसा	४	अनुप्रास, यमक, चित्र और श्लेष
१०.	भोजराज	सरस्वतीकण्ठाभरण	२४	जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य तथा अभिनीति ।
११.	मम्मट	काव्यप्रकाश	७	वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास
१२.	रुय्यक	१-साहित्यमीमांसा	१०	अनुप्रास, क्रम, श्लोक, मुद्रा, दीपक, युक्ति, पठिति, गुम्फना, चित्र एवं यमक
	,,	२-अलङ्कारसर्वस्व	६	पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और चित्र

१३.	हेमचन्द्र	काव्यानुशासन	६	अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास
१४.	शोभाकर	अलङ्काररत्नाकर	२	पुनरुक्तवदाभास, यमक, अनुप्रास और चित्र
१५.	वाग्भट (प्रथम)	वाग्भटालङ्कार	४	चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक
१६.	नरेन्द्रप्रभ	अलङ्कार-महोदधि	६	अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति एवं पुनरुक्तवदाभास
१७.	अरिसिंह तथा अमरचन्द्र	काव्यकल्पलतावृत्ति	३	अनुप्रास, श्लेष और चित्र
१८.	जयरथ	अलङ्कारोदाहरण	४	अनुप्रास, यमक, वृत्त्यनुप्रासादि तथा चित्र
१९.	जयदेव	चन्द्रालोक	४	अनुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्र
२०.	विद्याधर	एकावली	३	छेकानुप्रास, यमक, तथा चित्र
२१.	विद्यानाथ	प्रतापरुद्रयशोभूषण	५	अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास तथा चित्र
२२.	विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	७	पुनरुक्तवदाभास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष एवं चित्र
२३.	भानुदत्त	अलङ्कार-तिलक	६	वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास
२४.	वाग्भट (द्वितीय)	काव्यानुशासन	६	वक्रोक्ति, चित्र, श्लेष, अनुप्रास, यमक और पुनरुक्तवदाभास
२५.	कर्णपूर	अलङ्कार-कौस्तुभ	६	वक्रोक्ति, श्लेष, अनुप्रास, यमक, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास
२६.	केशव मिश्र	अलङ्कार-शेखर	८	चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक
२७.	अजितसेन	अलङ्कार-चिन्तामणि	४	चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक

२८.	श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र	अलङ्कारमणिहार	६	वर्णानुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, यमक, गूढपाद और चित्र
२९.	नरसिंह	नञ्जराजयशोभूषण	४	अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, यमक तथा चित्र
३०.	विश्वेश्वर	कवीन्द्रकण्ठाभरण	११	छाया, मुद्रा, युक्ति, श्लेष, अनुप्रास, गुम्फना, चित्र, यमक, वाकोवाक्य, गूढ तथा प्रश्नोत्तर और ५८ शब्दालङ्कार जातियां
३१.	कृष्ण शर्मा	मन्दारमरन्दचम्पू	३	अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र
३२.	पुञ्जराज	शिशुप्रबोधकाव्यालङ्कार	३	यमक, अनुप्रास और चित्र ।

तथा उत्तरकाल के अनेक ग्रन्थकारों ने शब्दालङ्कार के क्रमशः एक से ग्यारह तक और श्रीभोजदेव ने चौबीस की सङ्ख्या तक भेदों की चर्चा की है। इस सङ्ख्यागत विवेचन में **''नामगत एक-रूपता'** का निर्वाह नहीं हुआ है और सभी आचार्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कभी किसी अलङ्कार को तो कभी अन्य अलङ्कार को प्राथमिकता देते रहे हैं ।

शब्दालङ्कार के विभिन्न भेदों के उद्भावक आचार्य

उपर्युक्त भेदों के उद्भावक आचार्यों का संख्यानुसारी आकलन इस प्रकार है : —

भरत-१, भामह, उद्भट और वामन-२, विष्णुधर्मोत्तर पुराणकार, अरिसिंह और पुञ्जराज-३, दण्डी, राजशेखर, शोभाकर, वाग्भट (प्रथम), जयरथ, जयदेव, विद्याधर, अजितसेन, नरसिंह और कृष्णशर्मा-४, रुद्रट, विद्यानाथ तथा श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र-५, रुय्यक, हेमचन्द्र नरेन्द्रप्रभ, भानुदत्त, वाग्भट (द्वितीय) तथा कर्णपूर-६, मम्मट एवं विश्वनाथ-७, केशवमिश्र-८, अग्निपुराणकार-९, रुय्यक (साहित्यमीमांसा में)-१०, विश्वेश्वर[२] (चमत्कार-चन्द्रिका में)-११ और भोज-२४।

इस प्रकार एक ओर इन भेदों का जहां क्रमशः विस्तार हुआ है तो दूसरी ओर एक का दूसरे भेद में समावेश भी होता रहा है और इनमें भी कुछ भेद तो सामान्यरूप से ही चर्चा के आधार बने हैं ।

---

१. विभिन्न लक्षण-ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का विवेचन 'द्वितीय अध्याय' में किया जा चुका है ।

२. विश्वेश्वर ने ''**कवीन्द्रकण्ठाभरण**'' में शब्दालङ्कार की **अट्ठावन** जातियाँ बतलाई हैं, जिनकी चर्चा यहां नहीं की जा रही है, आगे विचार होगा ।

२- शब्दालङ्कारों के सामान्य-र्चाचत भेद

ऊपर बताये गये छह भेदों के अतिरिक्त जो भेद आचार्यों ने दिखाये हैं उनका परिगणन इस प्रकार है : —

(१) प्रहेलिका, (२) छाया, (३) मुद्रा, (४) उक्ति, (५) युक्ति, (६) गुम्फना, (७) वाकोवाक्य, (८) दुष्कर, (९) जाति, (१०) गति, (११) रीति, (१२) वृत्ति, (१३) भणिति, (१४) शय्या, (१५) पठिति, (१६) गूढ, (१७) प्रश्नोत्तर, (१८) अध्येय, (१९) श्रव्य, (२०) प्रेक्ष्य, (२१) अभिनीति, (२२) क्रम, (२३) दीपक, (२४) भाषासम, (२५) गूढपाद तथा (२६) छन्द।

इन भेदों का भिन्न-भिन्न आचार्यों ने वर्णन किया है और इनमें से प्रत्येक का विवेचन भी निम्नलिखित रूप से हुआ है—

१-	**प्रहेलिका-**	दण्डी, विष्णुधर्मोत्तर पुराणकार, भोजराज तथा केशवमिश्र ।
२-	**छाया**	अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वेश्वर ।
३-	**मुद्रा-**	,, ,, ,,
४-	**उक्ति**	अग्निपुराणकार एवं भोजराज ।
५-	**युक्ति**	,, ,, रुय्यक तथा विश्वेश्वर
६-	**गुम्फना**	,, ,, ,, ,,
७-	**वाकोवाक्य**	,, ,, तथा विश्वेश्वर ।
८-	**दुष्कर**	अग्निपुराणकार ।
९-	**जाति**, १०-**गति**, ११-**रीति**, १२-**वृत्ति**, १३-**भणिति** तथा १४-**शय्या**	भोजराज ।
१५-	**पठिति**	भोजराज तथा रुय्यक ।
१६-	**गूढ** तथा १७-**प्रश्नोत्तर**	भोजराज, केशवमिश्र और विश्वेश्वर ।
१८-	**अध्येय**, १९- **श्रव्य**, २०-**प्रेक्ष्य** तथा २१- **अभिनीति**	भोजराज ।
२२-	**क्रम** तथा २३- **दीपक**	रुय्यक ।
२४-	**भाषासम**	विश्वनाथ एवं २५-**गूढपाद** श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र ।
२६-	**छन्द**	महिमभट्ट ।

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि २५ में से १५ भेदों को तो केवल एक-एक आचार्य ने ही माना है और उनकी अन्य किसी ने पुष्टि नहीं की है। २ भेदों को दो आचार्यों ने, ५ भेदों को तीन आचार्यों ने तथा ३ भेदों को चार आचार्यों ने माना है। इसी दृष्टि से इन्हें हम "सामान्य-चर्चित भेदों की कोटि में" स्थान देते हैं। वैसे इनमें से कुछ

भेद तो बहुचर्चित भेदों में अन्तर्निहित कर लिये गये जबकि कुछ भेदों के प्रति प्रायः आचार्य उदासीन ही दिखाई देते हैं।

प्रहेलिका, दुष्कर, गूढ, प्रश्नोत्तर, गति और **गूढपाद**[1] चित्र में अन्तर्भूत हुए हैं। **दीपक** को अर्थालङ्कार में ही शरण मिला है। **वृत्ति अनुप्रास** का एक भेद **'वृत्त्यनुप्रास**, वनकर रह गई। **'क्रम'** एक व्यवस्था का परिचायक बना। **'छाया'** समस्यापूर्ति में छिप गई। **'रीति'** रचना की एक पद्धति में बदल गई। **'छन्द'** की अलङ्कारता न मानकर काव्य-रचना की अङ्गता मानी गई और शेष को तो अलङ्कारों में प्रयोज्य एक पद्धति ही कहना चाहिए, यही कारण है कि इनका उत्तरकाल में विकास नहीं हो पाया है।

इन ऊपर बताये हुए भेदों के अतिरिक्त भी क्या कोई भेद होते हैं अथवा हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर ''हां' में ही देना होगा। क्योंकि भामह ने **''कस्तान् कात्स्न्येंन वक्ष्यति''** कहा है तो दण्डी ने **''ते चाद्यापि विकल्पन्ते''**। रुद्रट ने **''अपरमसख्यं तथा भेदैर्विभिद्यमानं सङ्ख्यातुमनन्तमस्मि नैतदलम्''** कहकर अनन्तता का निर्देश किया है। भोज ने **''अत्यन्तं बहवस्तेषां भदाः सम्भेदयोनयः''** तथा **''नेयत्ता तस्य शक्यते''** जैसे कथनों से अनेक विकल्पों की ओर सङ्केत किया है तो आनन्दवर्धन ने भी **''अनन्ता हि वाग्विकल्पाः''** कह कर इसकी पुष्टि की है। अतः **''पुंसि पुंसि विचित्रैव कापि कापि सरस्वती''** के अनुसार अनेक शब्दालङ्कारों के भेद अर्चचित भी रहे हैं। ऐसे भेदों को हम लक्ष्यरूप कृतियों से प्राप्त करते हैं और उन्हें भी स्वतन्त्र रूप से यदि उल्लिखित न करें तो भी प्रमुख छह शब्दालङ्कारों के प्रभेदों में उनका स्थान अवश्य बनता है।[2]

ऐसे भेदों के लिए एक समाधान यह भी मिलता है कि— कुछ आचार्यों ने कहीं-कहीं किसी न किसी अलङ्कार को नाम-भेद द्वारा प्रदर्शित कर दिया है; वह समाधान उचित ही है। जैसे **वीप्सा, पुनरुक्त-प्रतीकाश, सिंहावलोक-यमक** एवं **चित्र** के भेदों में ऐसे अनेक नाम हैं जिनके अर्थ, पर्याय, लक्षण अथवा कथन-प्रकार में कोई अन्तर नहीं प्राप्त होता। इतना ही नहीं, यह भी तो कहा जा सकता है कि **''किसी के एकदेश का निर्देश होने पर उसके अन्यान्य अंशों का ग्रहण हो ही जाता है''**—इस आधार पर पूर्वाचार्यों के निर्देश पर्याप्त ही माने जायेंगे।

यह भी स्मरणीय है कि कवि-प्रतिभा से प्रसूत अद्भुत रचनाओं में अलङ्कार-विन्यास की कोई तालिका निर्धारित नहीं होती, अपितु वह तो स्वयमेव अपना स्थान बनाती रहती है। इसीलिए सिद्ध-कवि सगर्व कह देते हैं—

---

१. गूढ का ही एक भेद **'गूढपाद'** है जो कि पद्य के एक चरण में छिपाये गये अंश का वोधक होता है।

२. ऐसे अर्चचित भेदों के वारे में द्रष्टव्य है, हमारा लेख—**''शब्दालङ्कार के अल्प चर्चित भेद और उनकी सोदाहरण-मीमांसा''**। **''शोध-प्रभा''** अष्टम अङ्क १९७८ ई०।

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तत्तथा परिवर्तते ॥

और इसी के अनुसार उनकी वाणी में कोमल तथा कठोर शब्दावली का प्रयोग होता है, आत्ममुग्धता के साथ ही श्रोता और पाठक को मुग्ध करने की क्षमता प्राप्त होती है तथा वैयक्तिक आनन्द की परिसीमा से उठकर विराट् विश्व के आनन्द में व्याप्त होने की अवस्था निर्मित हो जाती है।

साहित्य की सत्ता शाश्वत है। प्रत्येक मानव के मनोराज्य में इसका व्यापक विलास होता ही रहता है। जैसा-जैसा मानव का मन होता है और वह जैसा-जैसा चाहता है, वैसा ही साहित्य भी निर्मित होता रहता है। प्रत्येक मानव की अभिरुचि भिन्न होती है, उसकी विचार-शक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः साहित्य की भिन्नता भी स्वाभाविक ही है।

ज्ञान की कोई परिसीमा नहीं है और उसके प्रकटन की जो पद्धतियाँ हैं वे भी अनन्त हैं। एक ही बात को कविगण भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्रकट करते हैं और वे सभी हृदयाह्लादक और हृदयावर्जक होती हैं। जब वे प्रकार संस्कार-शुद्धि, प्रसाद-विशदता, विशिष्ट अभिव्यक्ति आदि से अलङ्कृत हों तो कहना ही क्या? जगद्धर ने उचित ही कहा है —

ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा—
भक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिरचितैरर्थैर्धृतालङ्कृतिः।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः,
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः ॥

तथा विश्वेश्वर की यह उक्ति भी इसी बात की पुष्टि करती है—

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण, काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते, लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनायाः ॥

इसलिए कवियों की वाणी में प्रकटन-प्रक्रिया के रूप अनन्त हैं, वे आज भी परिवर्तित होकर नये-नये रूप धारण कर रहे हैं और कुछ चिन्तक आचार्य नई-नई उद्‌भावना भी कर रहे हैं। इन सब सम्भाव्य किन्तु अल्पचर्चित अथवा अचर्चित भेदों के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है। इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए हमने यत्र-तत्र सङ्केत किया है वह द्रष्टव्य है।

४-सर्वेक्ष्य शब्दालङ्कारों के निर्धारित भेद-प्रभेद

जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है तदनुसार शब्दालङ्कारों का परिवार बहुत विशाल है, इसका वंशानुक्रम देखने से भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह उत्तरोत्तर फूलता और फलता रहा है। इसकी शाखाएं तथा प्रशाखाएं भी अनेक नई-नई टहनियों को जन्म देती रही हैं एवं उनका यह प्रजननधर्म आज भी अवरुद्ध नहीं हुआ है।

हम यहां सर्वेक्ष्य शब्दालङ्कारों के निर्धारित अथवा उपलब्ध भेद-प्रभेदों की वर्गीकरण पूर्वक एक विस्तृत तालिका प्रस्तुत करना चाहेंगे। इस तालिका में बहुचर्चित अनुप्रासादि के पूर्वोक्त छहों भेदों के परिप्रेक्ष्य में क्रमशः अब तक प्राप्त भेद-प्रभेदों का निदर्शन ही हमारा लक्ष्य है। इसी दृष्टि से उनके पूर्वापरक्रम, खण्डन-मण्डन, नाम-परिवर्तन अथवा अन्य किसी विशिष्ट विवेचन के प्रपञ्च में न पड़ते हुए आरम्भ में केवल प्रत्येक भेद का संक्षिप्त और साररूप लक्षण प्रस्तुत करेंगे और तदनन्तर उनके विकास-क्रम के अनुसार नाम-निर्देश पूर्वक सूची प्रस्तुत करेंगे। यहीं यथासम्भव प्रत्येक नवीन भेद के उद्भावक का नामसङ्केत भी देने का प्रयास किया जा रहा है।

(१) 'अनुप्रास' का व्यापक लक्षण एवं भेद-प्रभेद

"स्वरसाम्य, व्यञ्जनसाम्य, शब्दसाम्य अथवा स्वरादि का वैषम्य रहने पर भी; समान रूपवाले, रसानुकूल एवं तुल्यश्रुतिक; एकार्थक अथवा अनेकार्थक वर्णों की एक-द्वि-त्रिवर्णान्तरित किंवा निरन्तर आवृत्ति से युक्त वर्ण-विन्यास को 'अनुप्रास' अलङ्कार कहते हैं।[1]

और जब यह साम्य अथवा वैषम्य **पद, वाक्य, पाद, अर्धपद्य, पूर्णपद्य** आदि में **क्रम** से अथवा **उत्क्रम** से आवृत्त होता हुआ **क्रमिक वृद्धि** तथा **कतिपय विशिष्ट श्रुतिगत, वृत्तिगत** और **अन्यान्य प्रणालियों** में व्यवहृत होता है' तो अनुप्रास के अनेक भेद-प्रभेद बनते जाते हैं।

इसी आधार पर विभिन्न लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थों के परिशीलन से उपलब्ध अनुप्रास के भेद-प्रभेदों की सूची इस प्रकार है—

अनुप्रास अलङ्कार

भेद	प्रभेद
१-ग्राम्यानुप्रास (भामह) (ग्राम्यावृत्ति, कोमलानुप्रास, एवं उपनागरिकानुप्रास)	१. ग्राम्य, २. नागर, ३. उपनागर (भोज के श्रुत्यनुप्रास के अन्तर्गत) **ग्राम्य के चार भेद** १-मसृण, २-वर्णमसृण, ३-वर्णोत्कट और ४-वर्णानुत्कट।

---

१. यह व्यापक लक्षण भरत से आरम्भ करके उत्तरवर्ती विभिन्न प्रमुख आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों से साररूप में सङ्कलित किया गया है। अतः इसमें न्यूनाधिकता होना स्वाभाविक है। यही बात अग्रिम लक्षणों के बारे में भी समझनी चाहिए।

२-लाटानुप्रास (उ०)

(१) उपलभ्यमानसुप्तिङ्रूप पुनरुक्तिशाली।
१-स्वतन्त्रपदाश्रयगत एकैकपदाश्रय।
२-स्वतन्त्रपदाश्रय-पादाभ्यासगतपदसमुदायाश्रय।

(२) अनुपलभ्यमान सुप्तिङ्रूप पुनरुक्तिशाली।
३-परतन्त्रपदाश्रयगत पदद्वितयस्थित।
४-परतन्त्रपदाश्रयगत एकपदाश्रयशब्द-द्वितीयवर्ती।

(३) उपलभ्यमान-अनुपलभ्यमान सुप्तिङ्रूप पुनरुक्तिशाली
स्वतन्त्र-परतन्त्रपदाश्रय।

—-पादानुप्रास (वामन के अनुसार १४ प्रभेद)

१-समस्त पादगत, २-पादादिगत, ३-पादमध्यगत, ४-पादान्तगत, ५-द्विपादादिगत, ६-द्विपादमध्यगत, ७-द्विपादान्तगत, ८-एकान्तरितपादादिगत, ९-एकान्तरितपादमध्यगत, १०-एकान्तरित-पादान्तगत, ११-समस्तपादादिगत, १२-समस्तपादमध्यगत, १३-समस्तपादान्तगत एवं १४-सङ्कर।

(भोज के अनुसार १८ प्रभेद)

(१) अव्यवहित लाटानुप्रास (७ प्रभेद)

१-व्यस्त, २-समस्त, ३-व्यस्त-समस्त, ४-प्रथमसमस्त अपरव्यस्त और प्रथमव्यस्त और अपरसमस्त, ५-स्वापेक्षया व्यस्त अन्यापेक्षया समस्त प्रतिपादान्तगत अनुप्रासशाली (चक्रवाल), ६-स्वापेक्षया व्यस्त अन्यापेक्षया समस्त प्रतिपादादिगत अनुप्रासशाली (गर्भ), ७-अव्यवहित व्यस्त-समस्त द्वैगुण्य (अनेक गुण)।

(२) व्यवहित लाटानुप्रास (५ प्रभेद)

१-व्यस्त एकगुण; २-व्यस्त अनेकगुण, ३-समस्त एकगुण, ४-समस्त अनेकगुण, ५-व्यस्त-समस्त अनेकगुण।

(३) व्यवहिताव्यवहित लाटानुप्रास (६ प्रभेद)

१-पदाभ्यास, २-अर्धाभ्यास, ३-द्विभागाभ्यास, ४-व्यवहित-पदाभ्यास, ५-अव्यवहितपदाभ्यास तथा ६-इवाद्यावृत्ति।

मम्मटानुमोदित लाटानुप्रास (५ प्रभेद जो भोज के भेदों में अन्तर्हित हो जाते हैं) —

१-अनेकपदावृत्ति, २-एकपदावृत्ति, ३-एकसमासगत प्रातिपदिकावृत्ति, ४-अनेकसमासगत प्रातिपदिकावृत्ति तथा ५-एकसमस्त अन्य असमस्त प्रातिपदिकावृत्ति।

रुय्यक ने इस भेद को स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर उभयालङ्कार माना है।

३-श्रुत्यनुप्रास (दण्डी)

(भोजानुसारी)

(१) **ग्राम्य-** १-मसृण, २-वर्णमसृण, ३-वर्णोत्कट तथा ४-वर्णानुत्कट।

(२) नागर- **१-भेदेऽप्येकत्वबुद्धिशाली समानस्थानीय, २-भेदेप्येकत्व-बुद्धिशाली समानस्थानीय तथा ३-एकत्वेऽपि भेदावभासशाली।**

(३) **उपनागर- १-प्रत्यक्षतः भिन्नश्रुति किन्तु अनुमानतः समानश्रुति शाली।**

नरेन्द्रप्रभानुसारी- १-शुद्ध, २-सङ्कीर्ण एवं ३-नागरश्रुत्यनुप्रास।

४-वृत्त्यनुप्रास (दण्डी)

वर्णावृत्तिमूलक	१-पादगत और २-पदगत।
वृत्तिमूलक (उ०)	१-परुषा, २-उपनागरिका तथा ३-ग्राम्या।
रीतिमूलक (वा०)	१-पादानुप्रास।
वृत्तिमूलक (रुद्रट)	१-मधुरा, २प्रौढा, ३-परुषा, ४-ललिता और ५-भद्रा।
सङ्घटनामूलक (आ०)	१-परुषा, २-ललिता एवं ३-मध्यमानुप्रास।
एकवर्णगतावृत्ति (अ०)	रुद्रट के समान ही पञ्चविध।
देशगत (अ०)	१-कर्णाटी, २-कौन्तली, ३-कौंकी, ४-कोंकणी, ५-बाणवासिका, ६-द्राविडी, ७-माधु(थु)री, ८-मात्सी, ९-मागधी,

१०-ताम्रलिप्तिका, ११-औण्ड्री तथा
१२-पौण्ड्री।

भोजानुसारी (३ प्रभेद) १-सङ्घटनबहुलता — समस्तवर्णावृत्ति।
२-विघटन-बहुलता — असमस्त वर्णवर्णावृत्ति।
३-उभय-बहुलता — समस्तासमस्तवर्णावृत्ति।

अन्याचार्य प्रतिपादित वृत्तियां

१-गम्भीरा, २-ओजस्विनी, ३-प्रौढा, ४-मधुरा, ५-निष्ठुरा, ६-श्लथा, ७-कठोरा, ८-कोमला, ९-मिश्रा, १०-परुषा, ११-ललिता और १२-अमिता।

जयरथ-दर्शित—

१-समस्तैकाक्षरावृत्ति, २-असमस्तैकाक्षरावृत्ति, ३-समस्त-द्व्यक्षरावृत्ति। ४-असमस्त द्व्यक्षरावृत्ति, ५-समस्तत्र्यक्षरा-वृत्ति तथा ६-असमस्तत्र्यक्षरावृत्ति।

अन्य आचार्य— वर्गानुप्रास-क-च-ट-त-प, अन्तस्थ और ऊष्मानुप्रास।
यमकाभास-वृत्त्यनुप्रास।

अकवर्गादि— १-एकाक्षर, २-प्रतिपादैकाक्षर, ३-द्विवर्ग, ४-त्रिवर्ग, ५-श्लोकार्धैकाक्षर, ६-अक्षरमाला और ७-स्वरक्रम।

५-छेकानुप्रास-(उ०)

भोज एवं मम्मटानुसारी १-वर्णानुप्रास।
विश्वानाथानुसारी १-स्वरूपतः और २-क्रमतः।
दुर्गाप्रसादादि १-सजातीय अव्यवहित तथा २-द्वित्रिवर्णावर्तन में।
भानुकर १-पदान्तछेक तथा विभक्ति और वचन भेद होने पर, २-भङ्ग्यनुप्रास।

नरेन्द्रप्रभ १-क्रमशाली, २-विपर्यस्त, ३-वेणिका तथा ४-गर्भिता।
(ये भोज द्वारा वर्णित नामों के नामान्तर मात्र हैं)

पुञ्जराज आवर्तनरूप नौ भेदों में एक भेद— सङ्कीर्णानुप्रास।
अन्य सम्भाव्य भेद १-आदि के एक वर्ण की एक बार या अनेक बार आवृत्ति।
२-आदि के अनेक वर्णों की एक बार या अनेक बार आवृत्ति।
३-अन्त के एक वर्ण की एकबार या अनेकबार आवृत्ति।

४-अन्त के अनेक वर्णों की एकवार या अनेकबार आवृत्ति ।

इन चारों भेदों के १-स्वर साम्य और २-स्वर वैषम्य के आधार पर **आठ भेद** हो सकते हैं।

६-वर्णानुप्रास (भोज) (१२ भेद)

१-स्तबकवान् २-स्थानी, ३-गर्भ, ४-विवृत-संवृत, ५-गृहीत-मुक्त, ६-क्रमवान्, ७-विपर्यय, ८-सम्पुट, ९-मिथुन, १०-वेणिका, ११-चित्र (यमकच्छायानुकारी) एवं १२-विचित्र (अनुप्रासान्तर-प्रवेशशाली)।

रामसिंह ने वृत्त्यनुप्रास के २४ भेदों को साथ मिलाकर इसके ३६ भेद माने हैं।

७-पदानुप्रास (भोज) (१२ भेद)

१-मसृण, २-दन्तुर, ३-श्लक्ष्ण, ४-सम्पुट, ५-सम्पुटावली, ६-खिन्न, ७-स्तबकवान् ८-स्थानी, ९-मिथुन, १०-मिथुनावली, ११-गृहीतमुक्त एवं १२-पुनरुक्तिमान्।
(भोज ने ही लाटानुप्रास वर्ग के भेदों के अनुसार इसके और भी अनेक भेदों का सङ्केत किया है।)

८-नामद्विरुक्त्यनुप्रास (भोज)

द्विरुक्ति के दो प्रकार **१-पूर्वसिद्धि नामद्विरुक्ति और २-नामशरीरसम्पादिका द्विरुक्ति।**

१-स्वभावतः नामद्विरुक्त्यनुप्रास, २-गौणीवृत्तिजनित नाम०।
३-वीप्साजनित नाम द्वि० (१-द्रव्य, २-गुण, ३-जाति और ४-क्रियारूप)
४-आभीक्ष्ण्यजनित नाम द्वि० (क्रियापदाभीक्ष्ण्यजनित)
५-निमूलशब्दप्रयोगजनित नाम द्वि०, ६-आनुपूर्वीजनित नाम, द्वि०, ७-सम्भ्रमजनित०, ८-हर्षसम्भ्रमजनित०, ९-आवेग-सम्भ्रमजनित०, १०-विस्मय-सम्भ्रम-जनित० तथा ११-सम्भ्रमजनित त्रिरुक्तानुप्रास।

९-क्रियानुप्रास (रुय्यक)

१-क्रियासमभिहार एवं २-क्रियाभ्यास।

१०-कारकानुप्रास (रुय्यक)

११-श्लोकानुप्रास (रुय्यक)

१२-स्फुटानुप्रास (जयदेव)

१३-अर्थानुप्रास (जयदेव)

१४-अन्त्यानुप्रास (विश्व०) १-पादान्तगत एवं २-पदान्तगत ।

१५ से २४ पुञ्जराज के अनुसार अनुप्रास के १० भेद—

१-चरणगत आद्य, २-चरणगत मध्य, ३-चरणगत अन्त्य, ४-आद्यन्तचरण, ५-यत्यन्त्य, ६-पदादि, ७-पदमध्य, ८-पदान्त्य, ९-अभिन्नार्थकपदावृत्ति और १०-स्थाननियम-रहित-भिन्नार्थक पदावृत्ति ।

२५-अष्टप्रास (लक्ष्यानुसारी ८ भेद)[1]

२६-द्वादशानुप्रास (लक्ष्यानुसारी ८ भेद)

२७-स्वरानुप्रास (लक्ष्यानुसारी)—१-पादादिगत तथा २-क्रमिक ।

२८-अव्यापक और २९-व्यापक अनुप्रास (विश्वेश्वर)

३० से ३७-द्विःप्रास, त्रिःप्रास, चतुःप्रास, सर्वपादप्रास, वृत्त्यनुप्रासरूप चतुर्थ-चरण-पूर्ति, चारों चरणों में पृथक्-पृथक् वृत्त्यनुप्रासपूर्ति । चारों चरणों में एकाक्षरावृत्ति एवं वृत्त्यनुप्राससहित पादान्तानुप्रास ।

३८-३९— संसृष्टि और सङ्कर ।

(२) 'यमक' का व्यापक लक्षण एवं भेद-प्रभेद

"सार्थक अथवा निरर्थक वर्ण, वर्ण-सङ्घात, शब्द, पदैकदेश, पाद, श्लोकार्ध, श्लोकादि की व्यवधान-सहित अथवा व्यवधान-रहित किन्तु तुल्यश्रुतिरूप क्रमपूर्ण आवृत्ति होने पर 'यमक' अलङ्कार होता है ।"

तथा जब यह आवृत्ति[2] **अव्यपेत, व्यपेत, अव्यपेतव्यपेत, सजातीय-मिश्रण, विजातीय-**

---

१. इन भेदों का विचार हमने अल्पचर्चित एवं अचर्चित भेदों के लक्षण-विचार में विस्तार से किया है, अतः विस्तार वहीं द्रष्टव्य है ।

२. आवृत्ति में आवृत्त वर्णों अथवा पदों की स्थिति के भी विभिन्न रूप हैं, जिनमें प्रमुख पांच प्रकार ये हैं ।

१. सार्थक दो या दो से अधिक पदों की आवृत्ति में भिन्नार्थकता ।

मिश्रण, अनुलोमरूप, विलोमरूप-शृङ्खला, परिवर्तक तथा चूर्णरूप में होती है, तो इस यमक के अनेक भेद-प्रभेद बन जाते हैं।

यमक अलङ्कार में आवृत्ति का ही अधिक महत्त्व है और इसी की अनेकरूपता से भेद-प्रभेदों में भी वहुलता आयी है। भामह, दण्डी और भोज ने इन आवृत्तियों का अधिक विचार किया है जिन्हें हम यमक-भेदों के नामों में ही सूचित करेंगे। उपलब्ध भेद-प्रभेदों की सूची इस प्रकार है —

यमक अलङ्कार

भेद	प्रभेद
भरतदर्शित —	१-पादान्त, २-काञ्ची, ३-समुद्ग, ४-विक्रान्त, ५-चक्रवाल, ६-सन्दष्ट, ७-पादादि, ८-पादान्ताम्रेडित, ९-चतुर्व्यवसित और १०-मालायमक।[1]
भामहदर्शित —	१-आदि, २-मध्यान्त, ३-पादाभ्यास, ४-आवली और ५-समस्तपाद।
भामह-सङ्केतित —	१-महायमक, २-अनन्तरपादावृत्ति और ३-एकान्तरपादावृत्ति।
दण्डी-प्रदर्शित —	दण्डी का विभाजन, नामकरण तथा विस्तार सभी दृष्टि से यमक के महत्त्व को पुष्ट करता है अतः उसकी विस्तृत सूची यहां दी जा रही है।

१ से १५ अव्यपेत पादादियमक (१५ भेद)

१-प्रथम-पादादि, २-द्वितीय-पादादि, ३-तृतीय-पादादि, ४-चतुर्थपादादि, ५-प्रथमद्वितीयपादादि, ६-प्रथम-तृतीय०,

---

२. निरर्थक दो या दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति में अनर्थकता।

३. एक की सार्थकता और अन्य की अनर्थकता।

४. पूर्वभाग की अनर्थकता और परभाग की सार्थकता।

५. कम से कम दो बार और इनसे अधिक बार आवृत्त।

१. इसी प्रकार रुद्रट ने भी (१) मुख, (२) सन्दंश, (३) आवृत्ति, (४) गर्भ, (५) सन्दष्टक, (६) पुच्छ, (७) पंक्ति, (८) परिवृत्ति, (९) युग्मक और (१०) समुद्गक नामक **दस यमकों** का विवेचन किया है, जो दण्डी के **अव्यपेत-पादादियमक** के आदि के चार तथा अन्तिम एक के अतिरिक्त भेदों के समान हैं।

७-प्रथम-चतुर्थ०, ८- द्वितीय-तृतीय०, ९- द्वितीय-चतुर्थ०, १०-तृतीय-चतुर्थ०, ११-प्रथम-द्वितीय-तृतीय० १२-प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ०, १३-प्रथम-तृतीय-चतुर्थ०, १४-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ० तथा १५-समस्तपादादि यमक।

१६ से ३०-व्यपेत पादादियमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

३१ से ४५-अव्यपेत-व्यपेतोभयविध पादादियमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

४६ से६०-अव्यपेत पादमध्ययमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

६१ से ७५-व्यपेत पादमध्ययमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

७६ से ९०-अव्यपेत-व्यपेतोभयविध पादमध्ययमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

९१ से १०५-अव्यपेत पादान्तयमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

१०६ से १२०-व्यपेतपादान्तयमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

१२१ से १३५-अव्यपेत-व्यपेतोभयविध पादान्तयमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

१३६ से १५० तक- अव्यपेत प्रथम-पादादिमध्ययमक (१५ भेद)(उपर्युक्त क्रमानुसार)

१५१ से १६५ तक- व्यपेत प्रथम-पादादिमध्ययमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार)

१६६ से १८० तक- अव्यपेत-व्यपेतोभयविध-पादादिमध्ययसक (१५ भेद)"

१८१ से १९५ तक- अव्यपेत प्रथमपादाद्यन्तयमक (१५ भेद) "

१९६ से २१० तक- व्यपेत प्रथमपादाद्यन्तयमक (१५ भेद) "

२११ से २२५ तक- अव्यपेतव्यपेतोभयविधपादाद्यन्तयमक (१५ भेद) "

२२६ से २४० तक- अव्यपेतप्रथमपाद मध्यान्तयमक (१५भेद) "

२४१ से २५५ तक- व्यपेत पादमध्यान्तयमक (१५ भेद) "

२५६ से २७० तक- अव्यपेतव्यपेतोभयविधपादमध्यान्तयमक (१५ भेद) "

२७१ से २८५ तक- अव्यपेत-पादादिमध्यान्तयमक (१५ भेद) "

२८६ से ३०० तक- व्यपेत पादादिमध्यान्तयमक (१५ भेद) "

३०१ से ३१५ तक- अव्यपेत-व्यपेतोभयविधपादादिमध्यान्तयमक (१५ भेद) (उपर्युक्त क्रमानुसार,

३१६-पादान्तादि सन्दष्टक यमक (दण्डी)

३१७ से ३२३ तक- अन्तादिकयमक-(रुद्रट ७ भेद)

१- प्रथमपादन्त का द्वितीयपादादि के साथ व्यस्त यमक

२- तृतीयपादान्त का चतुर्थपादादि के साथ " "

३- प्रथमपादान्त का द्वितीयपादादि के साथ और तृतीय-पादान्त का चतुर्थपादादि के साथ व्यस्तयमक।

४- द्वितीयपादान्त का तृतीयपादादि के साथ मध्य यमक।

५- प्रथमपादान्त का द्वितीयपादादि के साथ, द्वितीय-पादान्त का तृतीयपादादि के साथ और तृतीयपादान्त का चतुर्थ पादादि के साथ 'वंशयमक'।

६- प्रथमपादान्त का द्वितीयपादादि के साथ, द्वितीयपादान्तल का तृतीयपादान्त के साथ तथा तृतीयपादान्त का प्रथम-पादादि के साथ 'चक्रक-यमक'

७- केवल प्रथमपादाद्यर्ध का चतुर्थ-पादान्तार्ध के साथ यमक (नमिसाधु के अनुसार)

३२४-३३९ तक- अस्थान-यमक (भोजानुसारी १६ प्रभेद)

१- स्थूल अव्यपेत, २- सूक्ष्म अव्यपेत, ३- स्थूल व्यपेत और ४- सूक्ष्म व्यपेत।

—पादसन्धिगत ६ भेद-

५- अन्य भेदानुच्छेदक स्थूल अव्यपेत, ६-अन्य भेदानुच्छेदक सूक्ष्म अव्यपेत।

७- स्वभेद में पूर्वभेदानुच्छेदक स्थूल अव्यपेत। ८-स्वान्य-भेदानुच्छेदक सूक्ष्म अव्यपेत। ९- स्थूल व्यपेत, १०-सूक्ष्म व्यपेत।

—श्लोकगत ४ भेद-

११- स्थूल अव्यपेत, १२- सूक्ष्म अव्यपेत, १३- स्थूलव्यपेत, १४- सूक्ष्म व्यपेत।

अन्य — १५- स्वान्यभेदगत स्थूल-सूक्ष्म व्यपेत तथा १६- सूक्ष्म वह्वा-वृत्तिरूप स्थूल-सूक्ष्म व्यपेत।

३४०-३४१ अक्षरयमक (वामन २ प्रभेद)

१- एकाक्षर यमक तथा २-अनेकाक्षर यमक।

३४२ से ३४५-अद्भुत-यमक (वामन) (४ प्रभेद)

१-विभक्तिभेदगत, २-वचनभेदगत, ३-कारकभेदगत और ४-सुब्तिङन्त-मिश्रभेदगत।

३४६-३५६-पादाभ्यास यमक (दण्डी ११ प्रभेद)

अव्यपेत १- प्रथम-द्वितीय पादा०, २- द्वितीय-तृतीय पादा०, ३- द्वितीय-चतुर्थ पादा०, ४- प्रथम-द्वितीय-तृतीय पादा०, ५-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ, पादा० ६- समस्त पादा०।

व्यपेत ७-प्रथम-तृतीय पादा०, ८-प्रथम-चतुर्थ-पादा०, ९-द्वितीय-चतुर्थपादाभ्यास।

अव्यपेत-व्यपेतोभयरूप १०-प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादा०, ११-प्रथम-तृतीय-चतुर्थ पादा०।

३५७-३५९-अर्धाभ्यास (दण्डी ३ प्रभेद)

१-व्यपेत प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय-चतुर्थपादसमानताकृत अर्धाभ्यास।

२-अव्यपेत प्रथम-तृतीय तथा द्वितीय-तृतीयपाद-समानताकृत अर्धाभ्यास।

३-अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-चतुर्थ तथा द्वितीय-तृतीय पाद-समानताकृत अर्धाभ्यास।

३६०-श्लोकाभ्यास यमक (दण्डी)

परस्पर सम्बद्धार्थक एकवाक्यतासम्पन्न दो समानानूपूर्वीक-श्लोकरूप।

३६१-३६२ महायमक-पादमध्यभागावृत्तिमूलक (दण्डी)

भोजानुसारी नाम भेद १-आवृत्तिचतुष्टक और २-आवृत्त्यष्टक।

३६३ से ३७७ लक्ष्यग्रन्थानुसारी विन्यासवैशिष्ट्यमूलक यमक के अन्य १५ प्रभेद

१-द्व्यावर्त, २-त्र्यावर्त, ३-अविश्रान्त, ४-सम, ५-विषम, ६-अर्धभ्रम, ७-द्व्यक्षराद्यक्षरावृत्ति—((द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरादि कतिपयाक्षर पुनरावृत्तिरूप) ८-पुष्प, ९-युग्म,

१०-अयुग्म, ११-अखण्डखण्ड, १२-नवखण्ड, १३-समानशब्द-गत अनेकावृत्तिमूलक, १४-संसृष्टि और १५-सङ्कर।[1]
विशेष १६-अन्य कतिपय आचार्यों नें इस अलङ्कार के प्रभेदों को शृङ्खला, सिंहावलोक जैसे अन्य नामों से भी सम्बोधित किया है किन्तु उसमें प्रकारगत कोई नवीनता नहीं आ पाई है। किन्तु आदि-मध्य और अन्त्य स्थानों के भेद से और भी प्रभेद बन सकते हैं।

(३) 'पुनरुक्तवदाभास' का व्यापक लक्षण एवं भेद-प्रभेद

"जो पुनः कथन की तरह आभासित हों, किन्तु वस्तुतः पुनरुक्त न हों ऐसे **विभिन्न** आकारवाले अर्थात् भिन्न-भिन्न वर्णक्रमवाले भिन्न-भिन्न रूपवाले, सार्थक अथवा **निरर्थक** शब्दों के विन्यास में आपाततः एक एकार्थता का आभास जहां होता है, वहाँ "पुनरुक्तवदा-भास" अलङ्कार होता है।

"यह सर्वप्रथम उद्भट द्वारा उद्भावित है तथा **पदान्वय-वैचित्र्य** इसका मुख्य आधार है।"

शब्दों को सभङ्ग अथवा अभङ्गरूप में प्रयुक्त करने से, शब्द और अर्थ दोनों में पुनरुक्त जैसी **आभास-योजना** होने से **सुबन्तापेक्षा** अथवा **तिङन्तापेक्षा** से पहले **पुनरुक्तवत्-प्रतीत** होने पर भी अर्थ होने पर स्पष्ट हो जाने से तथा कहीं **अपशब्दवत्** और कहीं **अव्ययादि-शब्दों के प्रयोगों** से इस अलङ्कार के कुछ भेद-प्रभेद होते हैं, जिनकी सूची इस प्रकार है।

पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार

भेद	प्रभेद
१-शब्दगत पुनरुक्तवदाभास (म०)	१-सभङ्ग शब्दगत २-अभङ्ग शब्दगत
२-शब्दार्थोभयगत (म०)	

---

१. उद्भट ने इसका नाम **'पुनरुक्ताभास'** और जयदेव ने **'पुनरुक्तप्रतीकाश'** दिया है। इसी प्रकार कुछ आचार्य इसे अर्थालङ्कार और कुछ उभयालङ्कार भी मानते हैं।

३-सुबन्तापेक्षी०[1] (रुय्यक) — १-समस्त पद, २-असमस्तपद, ३-वाक्यार्थाश्रय, ४-पदार्थाश्रय (जयरथ दर्शित)।

४-तिङन्तापेक्षी०[2] (रुय्यक)
(चार प्रभेदों से युक्त)

आभास-पद्धति पर अवलम्बित

१-अपशब्दवदाभास० (कृ०) (व्याकरणादि दृष्टि से) — १-सुबन्तापेक्षी०, २-तिङन्तापेक्षी०

२-अव्ययवदाभास० (कृ०) (व्याकरण-दृष्टि से) — १-सुबन्तापेक्षी०, २-तिङन्तापेक्षी०।

३-तिङन्तवदाभास० (क्रियापदवदाभास)।

(४) वक्रोक्ति का व्यापक लक्षण और भेद-प्रभेद

"जहां किसी के एक अभिप्रायवाले वाक्य की किसी अन्य के द्वारा दूसरे अभिप्राय में — चाहे वह श्लेषप्रयुक्त शब्द के अन्यार्थ के आधार पर योजित हो अथवा काकु-ध्वनि-विकार के द्वारा योजित हो— योजना की जाए, वहां 'वक्रोक्ति' नामक अलङ्कार होता है।" अर्थात् वक्ता द्वारा कहे गये वचन का उत्तर देनेवाला अन्यथा अर्थ ग्रहण करके उत्तर दे तो, वहां वक्रोक्ति अलङ्कार होता है।

इसमें वैचित्र्य की सिद्धि के लिए प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग करके अन्य पद्धति से वही अर्थ प्रतिपादित किया जाता है। यह कविकर्म के कौशल का व्यञ्जक अलङ्कार है।

इसको शब्दालङ्कार मानने का कार्य सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है, जबकि कुन्तक ने इसको **'काव्य की आत्मा'** माना है और मम्मट ने परिष्कृत लक्षण दिया है।

रुद्रट द्वारा शब्दालङ्कार के रूप में सर्वप्रथम स्वीकृत यह अलङ्कार भेद-प्रभेद की दृष्टि से अधिक विस्तार को प्राप्त नहीं हुआ है तथापि उपलब्ध भेदों की सूची इस प्रकार है[3] —

१-२. इन दोनों के अन्यत्र **'नामगत और आख्यातगत'** नाम भी दिये गये हैं।

३. इस अलङ्कार को **सर्वालङ्कारमौलिभूत** मानने में **'आचार्य कुन्तक'** ने कहा है कि—
'तयोर्द्वित्वसङ्ख्याविशिष्टयोरप्यलङ्कृतिः पुनरेकैव, यथा द्वावप्यलङ्क्रियेते।
(पृ० ४८ वक्रोक्तिजीवित, चौ० सं०)
इसके अनुसार शब्द और अर्थ अलङ्कार्य होते हैं तथा उस अलङ्कार का पात्र वक्रोक्ति-ही होती है। वहीं इसके प्रमुख छह भेद भी बताये गये हैं।

वक्रोक्ति अलङ्कार

भेद	प्रभेद
१-श्लेषवक्रोक्ति (रुद्रट)	१-सभङ्गश्लेष, २अभङ्गश्लेष, ३-सभङ्गाभङ्ग-श्लेषवक्रोक्ति।
काकुवक्रोक्ति (रुद्रट)	

श्लेष के प्रकृति-प्रत्ययादि प्रकारों से निष्पन्न होनेवाले भेदों के आधार पर **श्लेष-वक्रोक्ति** के और भी भेद-प्रभेद हो सकते है किन्तु वैसा चिन्तन किसी ने नहीं किया है।

(५) श्लेष का व्यापक लक्षण और भेद-प्रभेद

"जहां (कवि की अभीप्सा के अनुसार) एक ही शब्द से दो या दो से अधिक अर्थों का बोध हो, वहां 'श्लेष' नामक शब्दालङ्कार होता है।" अर्थात् एक ही शब्द दो या दो से अधिक पक्षों में सार्थक होते हुए, कहीं 'अभिन्न-पदप्राय' और कहीं 'भिन्न-पदप्राय' के रूप में विभिन्नार्थों का दर्शक होता है, वहां श्लेष अलङ्कार होता है।

मुख्यतः यह व्याकरण के **सन्धि-नियम**, **सुबन्त** और **तिङन्त रूपों** की एकरूपता रहते हुए भी **विभक्ति-पुरुष-कालादि** भेद से **भिन्न-भिन्नार्थों** के सूचक शब्दों या पदों से निष्पन्न अलङ्कार है। आचार्यों ने इसे कहीं '**गुण**' माना है तो कहीं **शब्दालङ्कार**, कहीं **अर्थालङ्कार** तो कहीं **उभयालङ्कार**। इसकी सिद्धि के लिए '**जतुकाष्ठन्याय**', '**एकवृन्तगतफलद्वयन्याय**', '**लोकवदाश्रयाश्रयिभाव**' आदि का आश्रय भी लिया गया है जिसके फलस्वरूप इसने "**१-गुणगत-गाढबन्धता, २-शब्दालङ्कारगत-विविधरूपता, ३-अर्थालङ्कारगत एकाधिकार्थ-कथन, ४-एकरूपान्वितता एवं' ५-उभयालङ्कारगत शब्दार्थरूपता**" को प्राप्त किया है।

"**भिन्नपदप्राय अथवा सभङ्ग, अभिन्नपदप्राय अभङ्ग, सभङ्गाभङ्ग, सोद्भेद-निरुद्-भेद, प्रत्यय, विभिक्त, भिन्नजातीय, अभिन्नजातीय आदि पदों के प्रयोग** तथा **पूर्वाक्षरत्रोटन, अन्त्याक्षरत्रोटन** एवं **वर्णाकर्षण**" जैसी प्रक्रियाओं के आधार पर इस अलङ्कार के अनेक भेद-प्रभेदों का निदर्शन हुआ है, जिनकी सूची इस प्रकार है :—

श्लेष अलङ्कार

भेद	प्रभेद
१-वर्णश्लेष, २-पद०, ३-लिङ्ग०, ४-भाषा०, ५-प्रकृति०, ६-प्रत्यय०, ७-विभक्ति० और ८-वचन०। (रुद्रट द्वारा वर्णित)	१-सभङ्ग, २-अभङ्ग और ३-सभङ्गाभङ्ग। (विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत प्रत्येक के)
	१-प्रकृतानेकविषय, २-अप्रकृतानेकविषय तथा ३-प्रकृताप्रकृतानेकविषय। (म० म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी-प्रदर्शित)

इनमें **वर्ण**, **पद** और **लिङ्ग-श्लेष** के **नौ-नौ प्रभेद** होते हैं, जिनका नाम सूचन इस प्रकार है —

१-वर्णश्लेष (९ प्रकार) — १-सभङ्ग प्रकृतानेक विषय, २-सभङ्ग अप्रकृतानेकविषय, ३-सभङ्गप्रकृताप्रकृतानेक-विषय, ४-अभङ्गप्रकृतानेकविषय, ५-अभङ्गअप्रकृतानेकविषय, ६-अभङ्गप्रकृताप्रकृतानेकविषय, ७-सभङ्गाभङ्ग-प्रकृतानेकविषय, ८-सभङ्गाभङ्ग अप्रकृतानेकविषय तथा ९-सभङ्गाभङ्ग प्रकृताप्रकृतानेक विषय।

२-पदश्लेष (९ प्रकार) — (उपर्युक्त पद्धति के अनुसार)

३-लिङ्गश्लेष (९ प्रकार) — (उपर्युक्त पद्धति के अनुसार)

इस तरह इन दोनों भेदों के मिलकर कुल २७ भेद बनते हैं।

४-भाषाश्लेष (मुख्य ५तथा अन्य ५७ प्रकार) (रुद्रट द्वारा वर्णित)
१-संस्कृत-प्राकृत०, २-संस्कृत-मागधी०, ३-संस्कृत-पिशाच०, ४-संस्कृत-सूरसेनी[1] और ५-संस्कृत-अपभ्रंश।

-बहुभाषायोगात्मक भाषाश्लेष (शुद्ध ५ प्रभेद) १-शुद्ध ५ प्रभेद तथा सङ्कीर्ण ५२ प्रभेद।
१-सम-संस्कृत-प्राकृतभाषाश्लेष, २-सम-संस्कृत-मागधीभाषाश्लेष, ३-सम-संस्कृत-पिशाचभाषाश्लेष, ४-सम-संस्कृत-सूरसेनी-भाषाश्लेष तथा ५-सम-संस्कृत-अपभ्रंश-भाषाश्लेष।

सङ्कीर्ण ५२ प्रभेद। इन प्रभेदों की सिद्धि के लिए द्विभाषा, त्रिभाषा, चतुर्भाषा, पञ्चभाषा और षड्भाषा के योगों का आश्रय लिया गया है। सूची इस प्रकार है —

(क) द्विभाषा-योग जनितभाषाश्लेष (१० प्रभेद)

१-प्राकृत-मागधीयोग०[2], २-प्राकृत-पैशाचीयोग०, ३-प्राकृत-सूरसेनीयोग०, ४-प्राकृताभ्रंशयोग०, ५-मागधी-पैशाचीयोग०, ६-मागधी-सूरसेनीयोग०,

---

१. यहां **'सूरसेनी'** ही पाठ है और वही हमने लिया है जबकि व्यवहार में **'शूरसेनी'** अधिक प्रचलित है।

२. यहां तथा आगे विस्तार-भय से भाषाओं के नाम सङ्केतरूप में दिये गये हैं। इसमें पूरा नाम इस प्रकार होगा—**"प्राकृत-मागधी-योग-जनित भाषा-श्लेष।"**

७-मागधी-अपभ्रंश योग०, ८-पैशाची-सूरसेनीयोग०, ६-पैशाची-अपभ्रंशयोग० तथा १०-सूरसेनी-अपभ्रंशयोग०।

(ख) त्रिभाषा-योगजनित भाषाश्लेष (२० प्रभेद)

१-सं०प्रा०मा०योग०,[1] २-सं०प्रा०पै०योग०, ३-सं० प्रा० सू० योग०, ४-सं० प्रा० अप० योग०, ५-प्रा०मा०पै०योग०, ६-प्रा०मा०सू०योग, ७-प्रा० मा०अ०योग०, ८-मा०पै०सू०योग०, ९-मा०पै० अ० योग०, १०-पै०सू०अ०योग०, ११-सं०मा०पै० योग०, १२-सं०मा०सू०योग०, १३-सं०मा०अ० योग०, १४-प्रा०पै०सू० योग०, १५-प्रा०पै०अ० योग०, १६-प्रा० सू० अ० योग०, १७-सं०पै०सू० योग०, १८-सं ०पै० अ० योग०, १९-प्रा० सू० अ० योग०, २०-सं०सू०अ०योग।

(ग) चतुर्भाषायोगजनित भाषाश्लेष (१५ भेद)

१-सं०प्रा०मा०पै०योग०[2] २-सं०प्रा०मा०सू०योग०, ३-सं०प्रा०मा०अ०योग०, ४-प्रा०मा०पै०सू०योग०, ५-प्रा०मा०पै०अ०योग०, ६-मा०पै०सू०अ०योग०, ७-सं०मा०पै०सू०योग०, ८-सं०मा०पै०अ०योग०, ९-सं०पै०सू०अ०योग०, १०-प्रा०पै०सू०अ०योग, ११-सं०प्रा०सू०अ०योग०, १२-सं०मा०सू०अ० योग०, १३-सं०प्रा०पै०सू० योग०, १४-सं०प्रा० पै०अ०योग०, १५-प्रा०मा०सू०अ०योग०।

(घ) पञ्चभाषा-योगजनित-भाषाश्लेष (४ भेद)

१-सं०प्रा०मा०पै०सू०योग०,[3] २-सं०प्रा०मा०पै०अ० योग, ३-सं०मा०पै०सू०अ०योग, ४-सं०प्रा०पै०सू०

---

१. संस्कृत का प्राकृत और मागधी भाषा के योग से जनित भाषा-श्लेष।

२. 'संस्कृत का प्राकृत, मागधी और पैशाची भाषा के योग से जनित भाषाश्लेष'।

३. संस्कृत का प्राकृत, मागधी, पैशाची और सूरसेनी भाषा के योग से जनित भाषा-श्लेष।

अ०योग०, ५-सं०प्रा०मा०सू०अ०योग०, ६-प्रा० मा०पै०सू०अ०योग० ।

(ङ) षड्भाषायोगजनितभाषाश्लेष

१-संस्कृत का प्राकृत, मागधी, पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ।

(इसी दृष्टि को **विश्वनाथ** ने आगे बढ़ाकर **भाषासम** (श्लेष) को शब्दालङ्कार का स्वतन्त्र भेद बताया है किन्तु विधा में कोई अन्तर नहीं है ।)

उत्तर काल में सामयिक-भाषाओं के साथ संस्कृत-भाषा का ऐक्य स्थापित करके **'भाषा-समश्लेष'** के कुछ और प्रभेद उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किये हैं; जो इस प्रकार हैं—

(च) भाषा सम (श्लेष)

१-संस्कृत-हिन्दीभाषासम, २-संस्कृत-जयपुरीयभाषासम।

इसी प्रकार अन्य वर्तमान प्रादेशिक भाषाओं की समानता से भी यह अलङ्कार विविधता को प्राप्त है ।

५-प्रकृतिश्लेष

(यह प्रत्यय, आगम और उपपदों से प्रकृति के प्रकारों में साम्य आने से विविध प्रकार का होता है ।)

६-प्रत्ययश्लेष (२ प्रभेद) **१-सोद्भेद (तद्वाक्यस्थशब्दान्तरप्रकाशित तथा २-निरुद्भेद प्रत्ययश्लेष (तद्वाक्यस्थशब्दान्तराप्रकाशित—रामसिंह के अनुसार)**

७-विभक्तिश्लेष (३ प्रभेद) **१-भिन्नजातीय सुप्‌तिङ् विभक्तिश्लेष, २-अभिन्नजातीयसुप्तिङ् विभक्तिश्लेष तथा (३) अभिन्नजातीयसुप्तिङ् विभक्तिश्लेष।**

८-वचनश्लेष (२ प्रभेद) **१-सोद्भेदवचनश्लेष तथा २-निरुद्भेदवचनश्लेष।**

'श्लेष' अलङ्कार शास्त्रीय-विज्ञान से ऊर्जित होने के कारण कुछ क्लिष्टता की कोटि में आ गया है, किन्तु आचार्यों के सूक्ष्म-विमर्श का परिज्ञान होने पर यह पूर्ण आनन्द प्रदान करता है ।

(६) चित्र अलङ्कार का व्यापक लक्षण एवं भेद-प्रभेद

चित्त को आकृष्ट करनेवाली वस्तु **'चित्र'** कहलाती है । इस आशय के साथ—'जहां काव्य में विविध भङ्गी-विशेष के आधार-पर क्रम और अक्षरों की विन्यास-विचित्रता के द्वारा साङ्क अथवा निरङ्क किन्तु आश्चर्यकारी वस्तुओं की चक्रादिविच्छित्ति से गर्भित जो रचना-परिपाटी है; उसमें अक्षरों को निमित्त बनाकर विन्यास-विशेष से नाम-धामाद्यङ्कन

अथवा अन्य विचित्र सर्वतोभद्र, अनुलोम-विलोमादि प्रकारों से वस्तु के विस्मयोत्पादक रूपों की रचना की जाय वहां—'चित्र' नामक शब्दालङ्कार होता है।

चित्रालङ्कार की परिभाषा के आधार पर इस अलङ्कार में निम्नलिखित तत्त्व प्रमुखता प्राप्त करते हैं —

१-चित्ताकर्षण, २-विन्यासवैचित्र्य, ३-विस्मयोत्पादकता, ४-शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व, ५-कुतूहलोत्पादक वाग्बन्ध, ८-वर्णविच्छित्ति, ७-कौतुक एवं ८-क्रीडादिगुणस्थिति आदि।

स्वर,, **व्यञ्जन**, **पद** और **वाक्यादि** की किसी विशिष्ट किन्तु सुनिर्धारित **विन्यास-प्रक्रिया**, **स्थानादि-नियमन**, **संयोजना**, तथा **पठन-पद्धति** जैसी विभिन्न प्रणालियों के कारण इस अलङ्कार के भेद-प्रभेदों की संख्या पर्याप्त विस्तार को प्राप्त हुई है। जिनकी क्रमिक सूची इस प्रकार है।

चित्र अलङ्कार

भेद	प्रभेद
१-दुष्कर-चित्र (दण्डी)	**१-गोमूत्रिका, २-अर्धभ्रम, ३-सर्वतोभद्रादि।**
२-सुकर-चित्र (दण्डी)	**१-स्वरनियमन, २-स्थाननियमन, ३-वर्णनियमनादि।**[1]

(किन्तु यह सामान्य निर्देशमात्र है। इसे हम अपने विचार से **'सामूहिक पर्यालोचन'** के आधार पर निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत करना उचित मानते हैं, इस पद्धति में **'ऐतिहासिक-क्रम'** का भी निर्वाह हो जाएगा।)

१-स्वर-चित्र (१२ प्रभेद) **(इन प्रभेदों में पद, पाद, अर्धाली तथा पूर्णश्लोक के नियमन से भी भिन्नता लाई जा सकती है।)**	**१-चतुःस्वरनियम, २-त्रिस्वरनियम, ३-द्विस्वर-नियम, ४-एकस्वरनियम, ५-ह्रस्वद्विस्वर-नियम, ६-दीर्घस्वर-नियम, ७-ह्रस्वद्विस्वर-नियम, ८-दीर्घस्वर-नियम ९-ह्रस्वत्रिस्वर, १०-दीर्घ-चतुःस्वर०, ११-प्रतिव्यञ्जनविन्यस्त-स्वरनियम, १२-अपास्तसमस्तस्वरनियमचित्र।**
२-स्थान-चित्र (४ प्रभेद) (अन्य ५+४=९)	**१-चतुःस्थान (कण्ठ, दन्त तालु और नासिका) नियमचित्र, २-त्रिस्थान (कण्ठ, दन्त, तालु) नियमचित्र, ३-द्विस्थान (कण्ठ और दन्त) नियमचित्र, ४-एकस्थाननियमचित्र,**

१. इन प्रभेदों का नामकरण ही इस दृष्टि से हुआ है, जिनसे इनके लक्षण भी यथासम्भव स्पष्ट हो जाते हैं। विशेष जानकारी के लिए तत्तद् ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

वर्णों के उच्चारण स्थानों के आधार पर ये भेद किये गये हैं। इन्हीं को भोज ने —

१-निष्कण्ठ्य, २-निस्तालव्य, ३-निर्दन्त्य, ४-निरोष्ठ्य तथा ५-निर्मूर्धन्य ऐसे पांच प्रभेदों में व्यक्त किया है।

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी ने इसके अन्य प्रभेद :—

'**१-अनुनासिक द्विवर्ण, २-निर्नासिक्य, ३-प्रयत्न-चित्र तथा ४-अनन्तोष्मवर्णचित्र**' (ऐसे चार प्रभेद) दिखाये हैं, पर ये नामभेद मात्र हैं।

३-वर्ण-चित्र (९ प्रभेद) — **१-चतुर्वर्ण-नियम चित्र, २-त्रिवर्णनियमचित्र, ३-द्विवर्णनियम, ४-एकवर्णनियम, ५-क्रमस्थ-सर्वव्यञ्जननियम, ६-छन्दोऽक्षरव्यञ्जन-नियम, ७-षड्जादिस्वरनियम, ८-मुरजाक्षरव्यञ्जन-नियम, ९-अपुनरुक्तव्यञ्जननियमचित्र।**

दण्डी, भोज तथा **श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र** ने ये भेद किये हैं। इनके नामभेद '**अपञ्चवर्गीण, एकवर्गीय** और **वर्ग-परिहार**' आदि भी प्रचलित हैं। वैसे विशेष नामादि के आधार पर और भी भेद हो सकते हैं, जिन्हें हम लक्षण-ग्रन्थों में देख सकते हैं।

४-गति-चित्र (१४ प्रभेद)
(विचित्र-चित्र (रुद्रट) — **१-गतप्रत्यागत-गति, २-तदक्षरगति, ३-श्लोकान्तरजनक-गति, ४-भाषान्तरगत-गति, ५-तदर्थानुगत-गति, ६-रथपदगति, ७-तुरगपदपाठ-गति, ८-तुरङ्गपदपाठगति (अन्तर्निविष्टान्यपद्य), ९-शरयन्त्रपाठगति (अवरोहारोहक्रम पाठरूप), १०-चतुरङ्ग पाठ-गति (लघुगुरुवर्णयोजनाजनित विविधपद्यगर्भ), ११-गजपदपाठगति, १२-नरपदपाठगति, १३-गरुडगति तथा १४-काकपदगति।**

'**दण्डी, रुद्रट, भोज, श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र, कृष्णशर्मा, वेङ्कटाध्वरि** और **धर्मसूरि**' द्वारा इन प्रभेदों की चर्चा हुई है तथा ये प्रभेद यमक के अनुलोम-विलोम पाठ से आगे बढ़कर चित्रालङ्कार में परिस्फुट हुए हैं। इनमें से क्र० १ से ५ तक गोमूत्रिका और क्र० ६ से १४ तक के अन्य आकार बनाकर उन्हें '**चित्र-बन्ध**' भी कहा गया है तथा **अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र** और **गोमूत्रिका** भी इसी के अङ्ग माने जा सकते है।[1]

---

१. गति-चित्रों के विशेष परिचय के लिये देखिये—**चित्रकाव्येषु गतिचित्राणां विकास-परम्परा**"—ले०डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, सागरिका—वर्ष ६, अङ्क **१**, पृ० ८९ से ९७ तथा इसके चित्र '**संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार**' ग्रन्थ में दिये हैं।

५-प्रहेलिका-चित्र (२८ प्रभेद)	१-समागता, २-वञ्चिता, ३-व्युत्क्रान्ता, ४-प्रमुषिता, ५-समानरूपा, ६-परुषा, ७-संख्याता, ८-प्रकल्पिता, ९-नामान्तरिता, १०-निभृता, ११-समानशब्दा, १२-सम्मूढा, १३-परिहारिका, १४-एकच्छन्ना, १५-उभयच्छन्ना तथा १६-सङ्कीर्णा। (दण्डि-प्रोक्त) १७-स्पष्ट-प्रच्छन्नार्था तथा १८-अव्याहृतार्था (रुद्रट-प्रोक्त) १९-अक्षर-मुष्टि (अन्यपद्य-प्रसविनी) २०-बिन्दुमती तथा २१-अर्थवती (भोज-प्रोक्त), २२-बहुच्छन्ना, २३-व्यभिचारिणी, २४-वृत्तबन्धनिदर्शना, २५-नष्टाक्षरा, २६-वर्णभ्रष्टा, २७-तदर्थदा तथा २८-लेशा (विष्णुधर्मोत्तरपुराणोक्त)।

प्रहेलिका के अग्निपुराण में शाब्दी और आर्थी रूप से **दो भेद** किये हैं और 'षड्विधा' कहा है। भोज ने **'अक्षरमुष्टि'** का एक प्रभेद ''**नामाक्षर-मुष्टि**' भी दिया है। विष्णुधर्मोत्तर-पुराण में इसके **२३ भेद** दिये हैं किन्तु उनमें **७ भेद** (२२ से २८ तक) ही कुछ नवीन हैं शेष में नामभेद मात्र है।

६-च्युत-चित्र (३५ प्रभेद) (क) च्युत, (ख) दत्त	(क) १-मात्राच्युतक, २-बिन्दुच्युतक, ३-व्यञ्जनच्युतक, तथा ४-विसर्ग-च्युतक।
(ग) च्युत-दत्तचित्र।	(ख) १-मात्रादत्त, २-बिन्दु-दत्त, ३-व्यञ्जनदत्त और ४-विसर्गदत्त।
	(ग) १-च्युत-दत्ताक्षरा। (रुद्रट, नमिसाधु एवं भोज आदि प्रोक्त)
अमरचन्द्रयति-प्रोक्त —	१-पूर्वाक्षरलोप, २-द्वितीयाक्षरलोप, ३-मध्याक्षरलोप, ४-अन्त्याक्षरलोप, ५-मात्रालोप, ६-मात्राधिक्य, ७-अतिक्रान्तक्रम, ८-वलितक्रम तथा ९-केवलाक्षरप्रयोग— (क) आदि गुरु, (ख) मध्य गुरु, (ग) अन्त्य-गुरु, (घ) आदि ह्रस्व, (ङ) मध्य ह्रस्व तथा (च) अन्त्यह्रस्व द्वारा।
चक्रकवि-प्रोक्त (५ प्रकार)	१-पदद्वयसाधर्म्यवती च्युतदत्ताक्षरा, २-च्युत-दत्ताक्षरान्तादि-द्व्यक्षरोत्तरा, ३-च्युतदत्ताक्ष-

रान्तादि-व्यक्षरोत्तरा, ४-पूर्णक्रमच्युत, ५-स्थानच्युत।

'सुभाषितरत्नभाण्डागार'—प्रोक्त—१-वर्णलोपगत नवशब्दनिर्मित।

'रामशास्त्री, सीतारामशास्त्री तथा बच्चु सुब्बाराय गुप्त' द्वारा प्रदर्शित कतिपय नवीन प्रभेद जो उनकी 'सीतारावण-संवाद-झरी' में प्रयुक्त हुए हैं—

१-च्याविताक्षर, २-अधिदत्ताक्षर तथा ३-प्रतिदत्ताक्षर।

इनके प्रयोग से उत्पन्न अन्य भेद— १-अक्षरत्याग अथवा अक्षरदान से अर्थ-परिवर्तन, २-एक ही पद्य में एक-एक बार भिन्न-भिन्न अक्षरों की योजना द्वारा विभिन्नार्थ-योजना, ३-न, स-सह तथा अ-रहित आदि अक्षरों द्वारा सङ्केत, ४-पदविभाजन द्वारा अन्यार्थकल्पना, ५-पदविभाजन के बिना अर्थ-कल्पना, ६-स्वरयुक्त अक्षरच्युत, ७-एकवर्णगत स्वरभेद-प्रतिदत्ताक्षर, ८-वर्णभेद-प्रतिदत्ताक्षर, ९-स्थानद्वयप्रतिपादितदत्ताक्षर, १०-लुप्तैकवर्ण-वर्णद्वयारोपण ११-वर्णद्वयान्यतर तदुभयगत च्यावितक्षर आदि।

७-गूढ-चित्र —(२९ प्रभेद)
(कूट-चित्र) — १-कारकूगढ चित्र (रुद्रट)
१-कर्तृगूढ, २-कर्मगूढ, ३-करणगूढ, ४-सम्प्रदान-गूढ, ५-अपादानगूढ, ६-सम्बन्धगूढ, ७-अधि-करणगूढ, ८-सम्बोधनगूढ, ९-सप्तविभक्ति-वञ्चन, १०-सप्तकारकैकक्रिया-द्विकर्मगूढ, ११-क्रियागूढ, १२-सन्धिगूढ।

भोजप्रतिपादित १२ गूढ-चित्र — १-प्रथमपादगूढ, २-द्वितीयपादगूढ, ३-तृतीय-पादगूढ, ४-चतुर्थपादगूढ, ५-द्वितीय-चतुर्थान्तर-पादगूढ, ६-तृतीयचतुर्थान्यतरपादगूढ, ७-द्वितीय-तृतीयान्यतरपादगूढ, ८-स्वेष्टपादगूढ, ९-पश्चार्धपादगूढ, १०-श्लोकगूढ, ११-अभिप्रायगूढ तथा १२-वस्तुगूढचित्र।

सुभाषितरत्नभाण्डागार-प्रोक्त — १-कर्तृक्रियागूढ, २-कर्तृकर्मक्रियागूढ, ३-सुब्-वचनगूढ, ४-तिङ्वचनगूढ, ५-लिङ्गगूढ, ६-समासगूढ आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ और प्रभेद हमें लक्ष्य ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं, जिनमें **'नाम, प्रतीक, विशिष्टार्थ, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, भोज्यादिनाम, भेषज,** आभाणक, **दृष्टान्त, स्तोत्र, न्याय,** तथा **सहस्रनामादिगूढ-चित्र'** भी प्रयुक्त हुए हैं।

८-प्रश्नोत्तर-चित्र (५५ प्रभेद)

१-अनेकवक्तृक अनेकभाषात्मक व्यस्तसमस्त-प्रश्नोत्तर चित्र।

२-अन्तःप्रश्न, आद्यन्ताक्षरोत्तर, ३-बहिप्रश्न, ४-बहिस्तः प्रश्न० (उभय-प्रश्न) ५-जाति-प्रश्नगतप्रत्यागतोत्तर, ६-पृष्टप्रश्न-जाति-भेद, बहिरन्तर्लापिका, ७-उत्तरप्रश्न (पृष्टोत्तर)।

अन्य—

१-व्यस्तजाति, २-समस्तजाति, ३-द्विर्व्यस्त-जाति, ४-द्विःसमस्त-जाति, ५-व्यस्तसमस्त-जाति, ६-द्विर्व्यस्त-समस्त-जाति, ७-त्रिर्व्यस्त-त्रिःसमस्तजाति।

पद्यगत प्रश्नों से प्राप्त होने वाले उत्तरों को ध्यान में रखकर **चक्रकवि** ने **'प्रश्नोत्तर-चित्र'** में निम्नलिखित प्रभेद और दिखलाये हैं—

१-एकालापक, २-विभक्तिभिन्न, ३-वचनभिन्न, ४-लिङ्ग-भिन्न, ५-वचनविभक्ति-भिन्न, ६-शब्दार्थलिङ्ग-वचन-भिन्न, ७-शब्दार्थ-लिङ्ग-विभक्ति-भिन्न, ८-शब्दार्थ-वचनविभक्ति-भिन्न, ९-भेदाभेदक, १०-ऊर्जित, ११-सालङ्कार, १२-सकौतुक, १३-पृष्टोत्तर, १४-पृष्टप्रश्न, १५-भग्नोत्तर, १६-आद्योत्तर, १७-मध्योत्तर, १८-अन्त्योत्तर, १९-कथितापह्नुति, २०-विषम, २१-वृत्तनाम, २२-नामाख्यात (इसमें पृथक्-पृथक् वर्तमानादिकाल एवं लकारों के आधार पर अनेक भेद किये जाते हैं।) २३-तार्क, २४-सौत्र, २५-शाब्द, २६-शास्त्र, २७-वर्णोत्तर, २८-वाक्योत्तर, २९-श्लोकार्थोत्तर, ३०-श्लोकोत्तर, ३१-पादोत्तर, ३२-चक्रपद्मादि-बन्धोत्तर, ३३-वर्धमानाक्षर, ३४-हीयमानाक्षर, ३५-आद्युच्चेयाक्षर, ३६-एकरूपोत्तर, ३७-द्विरूपोत्तर, ३८-प्रतिलोमानुलोमोत्तर, ३९-क्रमाक्षरोत्तर, ४०-एक-द्वि-त्रिरावृत्त तथा **४१-स्तुति-निन्दोत्तर। आदि।**

९-समस्या-चित्र (१७ प्रभेद) — **१-मातृकाक्रमपूर्तिचित्र, २-अक्षरपंक्तिपूर्ति, ३-असम्भव की सम्भवरूपपूर्ति, ४-द्विपाद और त्रिपादगत चित्र, ५-पूर्वार्ध-समस्या, ६-तृतीय-पादसमस्यापूर्ति, ७-पदैकसमस्या, ८-आद्यन्त-पाद-समस्या, ९-चतुःपादादिगता सूत्रसमस्या, १०-एकसूत्रान्त्य-पादसमस्या, ११-समानार्थक-शब्दपूर्तिरूपसमस्या, १२-पदपरिवृत्तिरूपसमस्या, १३-पादपरिवृत्तिरूपसमस्या, १४-पदपूर्तिरूप-समस्या, १४-चतुर्थचरणपूर्तिरूप (पद्य एवं काव्य) १५-भिन्न-भिन्न-चरणपूर्ति, १६-अन्य-भाषापदपूर्ति-समस्या।**

१०-भाषा-चित्र (७ प्रभेद) — **१-अन्यभाषाभास, २-अन्यभाषावाक्यगर्भ, ३-आद्यक्षरगत, ४-अन्त्याक्षरगत, ५-आद्यन्त्याक्षरगत०, ६-बहुभाषामिश्र०, ७-भाषाद्वय-चित्र।**

११-आकार-चित्र (अनेक प्रभेद)

पूर्वोक्त चित्र के दस भेदों के अतिरिक्त आचार्यों ने **'आकार-चित्र'** नामक भेद को भी अत्यन्त विस्तार से प्रस्तुत किया है। लक्षण और लक्ष्य-ग्रन्थों में उपलब्ध होनेवाले इस भेद के अनेक प्रभेद बने हैं और आज भी बनते जा रहे हैं।

किसी वस्तुविशेष की आकृति बनाकर उसमें वर्णों का आलेखन इस चित्रालङ्कार-भेद का प्रमुख आधार है। विन्यस्त वर्णों में **बलन-स्थान** अथवा **केन्द्रस्थल में निहित वर्ण** श्लिष्ट होता है अर्थात् वही वर्ण दो या दो से अधिक बार पढ़ा जाता है जबकि लेखन एक बार ही होता है। इस प्रकार की विविध प्रक्रियाओं के कारण इनकी अनन्तता अक्षुण्ण है।

हमने वस्तुओं के आधार पर इन आकार-चित्रों को निम्नलिखित ६ वर्गों में विभक्त करना उचित माना है —

१-मङ्गलमय-चित्र, २-वनवैभवमय-चित्र, ३-आभरणमय-चित्र, ४-शस्त्रास्त्रमयचित्र, ५-प्राणिशरीरमय-चित्र तथा ६-प्रकीर्णवस्तुमय-चित्र।[1]

इन छह वर्गों में प्रायः सभी आकृति-चित्रों का समावेश हो जाता है। साथ ही इनमें प्रत्येक के कतिपय **'उपवर्ग'** बना लेने से और भी सरलता हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक के उपवर्ग इस प्रकार किये जा सकते हैं —

१-मङ्गलमय-चित्र — **(१) अक्षराकृति-बन्ध, (२) प्रतीकाकृति-बन्ध, (३) देवाकृति-बन्ध तथा (४) पूजोपकरणाकृति-बन्ध।**

---

१. इनमें **गोमूत्रिका** (विभिन्न भेद), **तुरगपदादि** (कतिपय भेद), **अर्धभ्रम** और **सर्वतोभद्रादि** को स्वतन्त्र नाम न देकर प्रकीर्ण में ही समाविष्ट कर दिया गया है।

२-वनवैभवमय-चित्र— (१) वन्यस्थलाकृति-बन्ध, (२) वृक्षलताकृति-बन्ध, (३) पुष्पाकृति-बन्ध तथा (४) फलाकृति-बन्ध।

३-आभरणमय-चित्र— (१) मस्तकाद्याभरणाकृति-बन्ध, (२) कण्ठाभरणाकृति-बन्ध, (३) भुजाभरणाकृति-बन्ध तथा (४) कटिगताभरणाकृति-बन्ध।

४-शस्त्रास्त्रमय-चित्र — (१) शस्त्राकृति-बन्ध, (२) अस्त्राकृति-बन्ध, (३) शस्त्रास्त्रमिश्राकृति-बन्ध तथा (४) रक्षासाधनाकृति-बन्ध।

५-प्राणिशरीरमय-चित्र — (१) भूचराकृति-बन्ध, (२) खेचराकृतिबन्ध (३) जलचराकृति-बन्ध तथा (४) सरीसृपाकृति-बन्ध।

६-प्रकीर्णवस्तुमय-चित्र — (१) गृह एवं गृहोपकरणाकृति-बन्ध, (२) यान-वाहनाकृति-बन्ध, (३) क्रीडोपकरणाकृति-बन्ध, (४) वाद्योपकरणाकृति-बन्ध तथा (५) प्रकीर्णाकृति-बन्ध।

इस दृष्टि से यहां क्रमशः कतिपय उपलब्ध भेद-प्रभेदों की सूची इस प्रकार है—

१-मङ्गलमय-चित्र

(१) अक्षराकृति-बन्ध — १-ओङ्कार, २-श्रीः ३-ह्रीं, ४-नमः ५-ॐ नमः आदि।

(२) प्रतीकाकृति-बन्ध — १-स्वस्तिक और उसके विभिन्न प्रकार भद्रकावर्त, नन्द्यावर्त, गतप्रत्यागत, चतुर्महादेव, बन्धूक, कङ्कण-मध्यस्थ, नन्द्यावर्त, नन्दिकावर्त, चतुर्दल, अष्टदल, सबिन्दुक, अष्टबिन्दुक, नामगर्भ, स्तुतिगर्भ और स्वस्तिका एवं अन्य २५ पठन-प्रकारयुक्त[१]।

(३) देवाकृति-बन्ध — १-सूर्य, २-चन्द्र, ३-बालेन्दुरेखा, ३-महादेव जागेश्वर, ४-कालिका, ५-गणपति आदि।

(४) पूजोपकरणाकृति-बन्ध — १-आसन और उसके भेद, २-कलश और उसके भेद, ३-दीप-दीपिका और उसके भेद, ४-चामर, तथा ५-छत्र विभिन्न भेद, ६-दर्पण, ७-पताका, ८-घण्टा, ९-शङ्ख, १०-मत्स्ययुगल, ११-शरावसम्पुट आदि प्रकीर्ण।

२-वनवैभवमय-चित्र

(१) वन्यस्थलाकृति-बन्ध — १-सरोवर, २-वापी, ३-कूप, ४-तडाग, ५-पर्वत आदि।

---

१. स्वस्तिक-बन्ध और उसके प्रकारों के सम्बन्ध में लेखक का विस्तृत लेख द्रष्टव्य— **'सङ्गमनी'**—संस्कृतपत्रिका, अंक १, वर्ष ६, पृ० २२ से ३२।

२. इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हमारे लेख **'चित्रबन्धसाहित्ये कमलबन्धाः'** (उद्भव और विकास-परम्परा) द्रष्टव्य है। सागरिका, वर्ष ७ अ ३ पृ० ११३ से १२२।

(२)	वृक्षलताकृति-बन्ध	१-कल्पलतावृक्ष, २-वृक्ष, ३-कदली, ४-केतकी, ५-लता, ६-पुष्पलता आदि।
(३)	पुष्पाकृतिबन्ध	१-कमल-बन्ध और उसके दो दलों से लेकर एक सहस्रदल पर्यन्त अनेक भेद। २-सूर्यमुखी पुष्प आदि।
(४)	फलाकृति-बन्ध	१-श्रीफल, २-बीजूपर आदि।

३-आभरणमय-चित्र

(१)	मस्तकाभरणाकृति-बन्ध	१-मुकुट आदि।
(२)	कण्ठाभरणाकृति-बन्ध	१-माला (पुष्पमय, मणिमय, सुवर्ण-शृङ्खलामय, मिश्रवस्तुमय)। चार पुष्पों अथवा मणियों से लेकर ६० की संख्या तक तथा चार, छह, आठ और बारह पत्रों तक। अनेक प्रकार।[1]
(३)	भुजाभरणाकृति-बन्ध	१-केयूर, २-कङ्कण आदि।
(४)	कटिगताभरणाकृति-बन्ध	१-काञ्ची, २-कटिपट्टिकादि।

४-शस्त्रास्त्रमय-चित्र

(१)	शस्त्राकृति-बन्ध	१-खड्ग और उसके विविध छोटे-बड़े प्रकार। २-अंकुश, ३-गदा, ४-मुद्गर, ५-दण्ड, ६-धनुष, ७-पट्टिश, ८-परशु, ९-मुशल, १०-हल आदि।
(२)	अस्त्राकृति-बन्ध	१-भल्ल, २-त्रिशूल, ३-बाण, ४-वज्र, ५-शक्ति आदि।
(३)	शस्त्रास्त्र-मिश्राकृति-बन्ध	१-चक्र (चतुरर से वत्तीस अर तक अनेक प्रकार) २-सुदर्शनचक्र।[2]
(४)	रक्षासाधनाकृति-बन्ध	१-स्फुर, २-ढाल, ३-तूणीर आदि।

५-प्राणिशरीरमय-चित्र

(१)	भूचराकृति-बन्ध	१-अश्व, २-गौ, ३-वृषभ, ४-हस्ति आदि।
(२)	खेचराकृति-बन्ध	१-हंस, २-मयूर, ३-काक आदि।

---

१. विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य—**'चित्रकाव्ये हारबन्धानामुद्गमो विकासश्च'** डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, **'सङ्गमनी'** वर्ष ३, अंक ४, पृ० १२ से २१।

२. द्रष्टव्य—**'चक्रबन्धानामुद्गमो विकासश्च'** डा० त्रिपाठी, वहीं, वर्ष ४, अङ्क ३।

(३) जलचराकृति-बन्ध	१-मत्स्य, कमठ आदि ।
(४) सरीसृपाकृति-बन्ध	१-नाग (सर्प) और उसके विविध प्रकार ।

६-प्रकीर्णवस्तुमय-चित्र

(१) गृह एवं गृहोपकरणाकृति-बन्ध	उलूखल, २-कपाट, ३-गवाक्ष, ४-तालवृन्त, ५-निःसाल, ६-प्रासाद, ७-मठ, ८-मन्थान, ९-चौकी, १०-शृङ्खला, ११-शृङ्गाटक आदि ।
(२) यान-वाहनाकृति-बन्ध	१-आन्दोलिका (शिबिका), २-रथ, ३-विमान आदि ।
(३) क्रीडोपकरणाकृति-बन्ध	१-अष्टकोण-फलक, २-चतुरङ्गपीठ, ३-षट्कोण-फलक, ४-नवकोणक्रीडाफलक, ५-शृङ्गाटक आदि ।
(४) वाद्योपकरणाकृति-बन्ध	१-कांस्यताल, २-घण्टा, ३-डमरु, ४-मर्दल, ५-मृदङ्ग, ६-मुरज और उसके विविध प्रकार, ७-वीणा, ८-वंशी आदि ।
(५) प्रकीर्णाकृति-बन्ध	१-विभिन्न रेखाङ्कनों द्वारा निर्मित आकृतियों में चित्रवर्णविन्यासमूलक तथा २-विविध छन्दों को माध्यम बनाकर बनाये गये चित्र-बन्ध । ३-गति, गोमूत्रिका सर्वतोभद्र और कामधेनु बन्ध आदि ।

उपर्युक्त निदर्शन में कुछ ऐसे प्रभेद हो सकते हैं जिनके नामादि का सङ्केत और विस्तार से दिया जाना अपेक्षित हो किन्तु उन्हें हम अग्रिम विवेचनों में विशेष रूप से प्रस्तुत करेंगे, अतः यहाँ संक्षेप किया है।

इस प्रकार आकार-चित्रों का विस्तार भी अपने आप में विशिष्ट स्थान रखता है और समस्त शब्दालङ्कार के भेदों के साथ रहने से शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों की अनेकता, विशालता तथा विविधता में भी यह अपना अपूर्व योगदान करता है।

५-समीक्षा-दृष्टि का स्पष्टीकरण

शब्दालङ्कारों को आधार मानकर की गई विवेचना में यद्यपि यहां हमने प्रत्येक के लक्षण-विमर्श को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया है, तथापि सारभूत लक्षण देने का प्रयास अवश्य किया है। इसी सुदीर्घ सूची को लक्ष्य में रखकर हम आगे क्रमशः लक्ष्य ग्रन्थों में उपलब्ध उदाहरणों और प्रयोगों का संक्षिप्त निर्देश करेंगे। समीक्षा करते समय प्रमुखरूप से हमारा यह आग्रह रहेगा कि कविवरों ने किन-किन शब्दालङ्कारों के मूल तत्त्वों का आश्रय लेकर उनके विकास और पल्लवन में अभिरुचि ली है ?

यह तो स्वाभाविक ही है काव्य रचना में किसी विशेष आग्रह के बिना की जानेवाली निर्मिति एवं विशेष दृष्टिकोण-निर्धारणपूर्वक होनेवाली निर्मिति में अन्तर होता ही है। ऐसा रचनाओं की निर्मिति में आचार्यगणों ने **१-शिष्य शिक्षा, २-शास्त्ररक्षा अथवा परम्परा रक्षा ३-इष्टादेश (क) आराध्य का आदेश तथा (ख) आश्रयदाता का आदेश। ४-पूर्ववर्णित प्रकारों से अपनी रचना का वैशिष्ट्य एवं ५-समकालिक वातावरण** आदि का प्रेरक तत्त्व बताया है।

वस्तुतः ये पांचों तत्त्व ऐसे ही हैं कि जिनके कारण रचना में औज्ज्वल्य लाना नितान्त आवश्यक हो जाता है। राजकीय सम्मान भी इनमें एक कारण रहा है और उत्तरोत्तर आशय की अभिवृद्धि से सर्वसाधारण के मानस पर एक अमिट छाप अङ्कित करने की उत्कण्ठा प्रमुख रही है।

सङ्कोच और विस्तार दोनों ही दो ऐसे तट हैं जिनके बिना बढ़ते प्रवाह का अङ्कन सम्भव ही नहीं हो पाता। आवश्यकता और अभिरुचि के अनुसार आचार्यगण इस तथ्य से पूर्णरूपेण परिचित थे। नेमिक्रम से चलनेवाला संसृति-प्रवाह-जैसे कहीं क्षीण हुआ तो उसे पुष्ट करने के आयाम ढूंढे गये और यदि अधिक परिपुष्ट-स्थूल होते दिखाई दिया तो उसे काट छांट कर सम बनाने का प्रयास किया गया।

हमारा कार्य इन्हीं जैसी प्रक्रियाओं को तटस्थरूप से समीक्षित करते हुए वास्तविक तथ्यों को पुरस्कृत करना है जिसे हम अग्रिम पृष्ठों में निर्दशित करने का विनम्र प्रयास कर रहे हैं।

———

[चौथा अध्याय]

सर्वेक्ष्य साहित्य का वर्गीकरण

(स्वरूप-दर्शनात्मक तथा रचना-विधान-विवेचनात्मक)

अग्रिम दो अध्यायों में संस्कृत के **ललित-साहित्य**—जिसमें काव्यशास्त्र की परिधि में आनेवाले काव्यरूप एवं नाट्यरूपों का वर्गीकरण करते हुए उनमें शब्दालङ्कार का स्थान कहां है तथा किस तरह उसका उपयोग किया जाता है, इसका सामान्य विचार किया जाएगा। संस्कृत-साहित्य के आलोचकों ने इन प्रकार-विशेषों के लक्षणों का निर्धारण प्रारम्भ से ही किया है तथा उनमें यथापेक्षित परिवर्तन-परिवर्धन भी होता रहा है जिन्हें हम यथावश्यक रूप से यथास्थान उल्लिखित करेंगे।

इसके साथ ही एक बात की और स्पष्टता करना यहां आवश्यक है कि—'सभी आचार्यों ने काव्य के स्वरूप-निर्धारण के साथ ही उसके दो भेद १. **दृश्य** और २. **श्रव्य** माने हैं। हम भी यहां इन दोनों भेदों में शब्दालङ्कार की 'स्थिति, प्रयोग तथा प्रक्रिया' का विवेचन करेंगे किन्तु इस विवेचन में श्रव्य-काव्य को प्राथमिकता देना ही यहां उचित माना है। इनका मुख्य कारण यह है कि **"शब्दालङ्कार का मुख्य धर्म 'श्रवण-धर्म' है जिसमें भाषा का 'सङ्गीत-धर्म' भी अन्तर्निहित है और आत्माभिव्यक्ति की झङ्कार उसे स्पन्दित करती है तथा उसी के माध्यम से कवि की काव्यानुभूति अभिव्यक्त होती है।"**

१- श्रव्य-काव्य (लक्षण, प्रकार और स्वरूप)

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने बहुत ही सरल शब्दों में —**'दृश्य-श्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्'**[1] —कहकर काव्य के दो भेद निर्धारित किये हैं तथा **'श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्'**[2] इत्यादि कथन द्वारा **सुनने मात्र से आनन्द-प्रदान करने वाले काव्य को 'श्रव्य'** कहा है और लगभग ऐसी ही व्युत्पत्ति सभी आचार्यों ने निर्विवाद रूप से स्वीकृत की है।

यह श्रव्यकाव्य भामह ने **१- गद्य** और **२- पद्य** में आलिखित होने के कारण दो प्रकार का बतलाया है,[2] जबकि दण्डी ने **'१-गद्य, २-पद्य और ३-मिश्र'** इस तरह तीन प्रकार

---

१. साहित्यदर्पण, ६।१ २. साहित्यदर्पण, पद्य-३१३

२. **शब्दार्थौ सहितं काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।** (काव्यालङ्कार १ परि० १६वां पद्य) और यहीं विषय के अनुसार काव्य के चार तथा पांच भेद भी दिखलाये हैं।

का कहा है।[२] ये ही तीन भेद उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी यथावत् माने हैं।

इस तरह काव्य के तीन भेद स्वीकृत हो जाने पर अनेक आचार्यों ने इस पक्ष को पूर्णतः स्वीकार कर लिया तथा वे इन भेदों के अग्रिम वैशिष्ट्यों को सजाने और सँवारने में अपनी प्रतिभा का उपयोग करने लगे।

काव्य का स्वरूप

'काव्य का स्वरूप' निर्धारण करने के लिये काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दो प्रकार की धाराएं प्रवाहित हुईं जिनमें एक **आत्म-तत्त्व-विवेचन से सम्बद्ध** थी तो दूसरी **शरीर-तत्त्व-विवेचन से सम्बद्ध।** ये दोनों तत्त्व अनुभूति और अभिव्यक्ति से संवलित हैं। भावों की अनुभूति काव्य की आत्मा से सम्बन्ध रखती है और भावों का विधान अथवा अभिव्यक्ति उसके शरीर-पक्ष से। इस प्रकार आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न अवयव दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु हैं दोनों एक दूसरे से अभिन्न। आत्मा के विना शरीर निर्जीव रहता है तो शरीर के विना आत्मा की अवस्थिति का आधार ही नहीं रहता। अतः यही कहना पड़ता है कि **'आत्मा और शरीर दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।**

काव्यात्म-विवेचक आचार्यों ने—**रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, अलङ्कार तथा औचित्य** प्रभृति को आत्मा मानने का आग्रह ही नहीं किया, अपितु उसे सर्वांश में सिद्ध करने का भी पूरा प्रयास किया है। काव्यशरीर की सङ्घटना को ध्यान में रखकर जहाँ रीति, गुण, अलङ्कार आदि का विवेचन हुआ है वहीं काव्य के रचना-विधान पर भी पर्याप्त निदर्शन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य **"स्वरूप-दर्शनात्मक रचनाविधान"** होने से यहां केवल इसी विषय पर कुछ विवेचन दे रहे हैं।

काव्यधारा के प्रमुख आधार

संस्कृत-काव्यों का उद्भव वैदिक-वाङ्मय के परिसर में आये हुए **'आख्यान-सूक्त, संवाद-सूक्त, दानस्तुति, गाथा नाराशंसी** और **कुन्तापसूक्त'** आदि के विकसित रूपों से माना जाता है। इन्हीं वैदिक आख्यानों का विकास **ब्राह्मण, आरण्यक** और **उपनिषदों** में कुछ अधिक परिमार्जित होकर पल्लवित हुआ। पुराणों में इन कथाओं को और भी विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया और उनमें **'वीरकृत्य, युगधर्म, देवराजर्षिवर्णन, सृष्टि और संहार का विस्तार** तथा **वंशावली'** आदि के साथ ही विभिन्न **तीर्थों, पर्वतों नदियों** और **वन-प्रान्तों** का वर्णन भी विस्तार से प्रस्तुत हुआ। अतः यह मानना होगा कि—**"वेद और पुराण हमारी काव्यधारा के प्रमुख आधार हैं।"**

---

२. **गद्यं पद्यं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।** (काव्यादर्श १ परि० ११वां पद्य)

श्रेण्य संस्कृत-साहित्य की रचना के '**रामायण**' और '**महाभारत**' ये दो विशाल स्रोत हैं। काव्यरूप की दृष्टि से 'रामायण' ही प्रथम महाकाव्य है जिसमें सुसम्वद्धता एवं सुसङ्घटना पूर्णरूप से विद्यमान है। सात सर्गों में इसकी सम्पूर्ण कथा विभक्त है तथा कथा की एक कड़ी दूसरी कड़ी से सम्वद्ध है। इसके छन्दों **की विविधता, प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, कौशलपूर्ण वचनविन्यास**' आदि सभी उत्तरवर्ती काव्यलक्षणों के निर्धारण में सहायक हुए हैं। इतना ही नहीं, महर्षि वाल्मीकि ने प्रसङ्गतः काव्य के लक्षण आदि का सङ्केत भी यत्र तत्र कर दिया है।

रामायण के पश्चात् '**महाभारत**' का काल है। इसमें इहलोक और परलोक का पूर्ण समन्वय करते हुए मानव-जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य की पूर्ति के लिये पुरुषार्थ पर वल दिया गया है। यद्यपि इसकी रचना में काव्यरूपात्मक सौष्ठव रामायण की समकक्षता में न्यून ही है तथापि पुराण और इतिहास का समन्वय करते हुए **महर्षि व्यास** ने इसमें काव्य के विभिन्न तत्त्वों का समावेश किया है। यह १८ पर्वों और उनके विभिन्न अध्यायों में विभक्त है। रामायण की अपेक्षा इसकी विशालता भी इसके काव्यरूप की प्रस्थापना में शिथिल है। ये दोनों ग्रन्थ '**आर्ष महाकाव्य**' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार **वैदिक एवं आर्ष ग्रन्थों से प्रेरणा पाकर साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने बन्ध की दृष्टि से श्रव्य-काव्य के निम्नलिखित तीन रूप निर्धारित किये हैं—**

श्रव्य-काव्य- १-पद्यबद्ध, २-गद्यबद्ध तथा **३-मिश्ररूप।**

२- (क) पद्यबद्ध श्रव्यकाव्य

उपर्युक्त तीन रूपों का विस्तार करते हुए सर्वप्रथम 'पद्यबद्ध-श्रव्य-काव्य' के दो विभाग किये गये हैं (क) **बन्धसापेक्ष और** (ख) **बन्ध-निरपेक्ष**। इस सम्वन्ध में भामह के '**सर्गबन्ध**' एवं '**अनिबद्ध**' पद ही मूलाधार हैं।[२] विश्वनाथ ने '**छन्दोबद्ध पद्य**'[३] और 'हेमचन्द्र' ने '**अनिबद्धं मुक्तकादि**'[४] कहकर इसकी पुष्टि की है। अतः इन्द्रियों को प्रभावित करने की दृष्टि से काव्य का '**दृश्य और श्रव्य**'—रूप में जो विभाजन हुआ था उसमें शैली की दृष्टि से **पद्य, गद्य** और **मिश्र** ऐसे तीन भेद किये गये। इनमें प्रथम भेद का बन्ध की दृष्टि से अङ्कन

---

१. द्रष्टव्य, गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित "**वाल्मीकि-रामायण**' मूल की **सम्पादकीय** भूमिका।

२. **सर्गबन्धोऽभिनेयार्थस्तथैवाख्यायिकाकथे।**
अनिबद्धं च काव्यादि०॥ (का० लं० प्रदीप १)

३. **छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।** (सा० द० ६ परि० ३१४ पद्य)

४. काव्यानुशासन, (अ० ८, सू० १०)

हुआ जिसे सरल शब्दों में **'बन्ध-सापेक्ष'** कहा जाता है। **'प्रबन्धकाव्य'** इसका दूसरा नाम है।[१]

(क) बन्ध-सापेक्ष

'प्रबन्ध' का अर्थ है प्रकृष्ट बन्ध। इसी बात को महाकवि माघ ने **'अनुज्झितार्थ-सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः'**[२] कहकर व्यक्त किया है, जिसका तात्पर्य है—**शृङ्खलाबद्ध रूप में किसी वस्तु विशेष का वर्णन**। यहां बन्ध शब्द किसी कथा की अपेक्षा रखता है अतः ऐसे काव्य में कोई प्रचलित अथवा अप्रचलित किंवा काल्पनिक कथा का वर्णन, आदि से अन्त तक शृङ्खलाबद्ध रूप में आवश्यक होता है। **कथाओं की पूर्वापर-सापेक्ष क्रमबद्धता भावाभिव्यक्ति और रस-परिपाक में सहायक होती है तथा इसकी विषय-प्रधानता से वर्णनात्मक तत्त्वों का उचित सन्निवेश पाठक को आनन्दसागर में निमग्न कर देता है।** इसी बन्धसापेक्ष अथवा प्रबन्ध-काव्य के दो भेद होते हैं—**१-महाकाव्य और २-खण्डकाव्य।**

(ख) बन्ध-निरपेक्ष

इस भेद की उद्भूति **'अनिबद्ध'** पद से सम्बन्ध रखती है। इस वर्ग में **प्रमुखरूप से** उस काव्यरूप का अथवा कविता का समावेश होता है जो रचनागत पद्यों में परस्पर निरपेक्ष होते हैं। जिनमें किसी कथा का आधार लेकर कोई बन्ध नहीं खड़ा किया जाता। **'प्रबन्ध-काव्य की प्रत्येक पङ्क्ति एक-दूसरी से सुसम्बद्ध रहती हुई कथाक्रम को आगे बढ़ाती है जबकि इस अबन्ध काव्य-शैली में प्रत्येक पद्य निराकाङ्क्ष रहते हुए स्वतन्त्र रूप से भावाभि-व्यञ्जना करने में सक्षम होता है।'** इस तरह **बन्ध-निरपेक्ष काव्य में वर्णनात्मकता कम और 'आत्म-पर्यवसायिता' अधिक होती है।** इसका क्षेत्र सङ्कुचित होता है, अतः रचना-विधान में भी बहुत सावधानी और कौशल की आवश्यकता रहती है। इस विधा के दो भेद क्रमशः (क) **स्तोत्रकाव्य** तथा (ख) **मुक्तक** माने गये हैं।

(ग) अन्य भेद 'बन्धाबन्ध काव्य'

कुछ उत्तरकाल के आचार्य उपर्युक्त दोनों प्रकारों के मिश्रण से होनेवाले **'बन्धाबन्ध-काव्य'** नामक तीसरे प्रकार की भी योजना करते है। इसमें **प्रबन्ध और अबन्ध दोनों ही वर्गों की विशेषताओं का एकत्र समावेश होता है। काव्य के साथ-साथ साहित्य के अन्यान्य किसी वर्ग के तत्त्वों का मिश्रण ही इसका मूल आधार है। भावाभिव्यञ्जना में कथोपकथन, स्वगत-**

---

१. **मुक्तक-प्रबन्धविषयत्वेन तावपि प्रत्येकं पञ्चधा।**
(का० मी० राजशेखर, अ० ९, पृ० ४६)

२. शिशुपालवध महाकाव्य, सर्ग २, पद्य-७३।

कथन, दृश्यविधान, गीतितत्त्व, वर्णनात्मकता, आत्माभिव्यञ्जना आदि का मिश्रण इस भेद की सृष्टि का कारण है किन्तु संस्कृत-साहित्य में ऐसी रचनाओं को नाट्य-भेदों में स्थान मिल जाने से यह भेद स्वीकृत नहीं हुआ है।

३-बन्ध-सापेक्ष —(क) महाकाव्य

महाकाव्य का लक्षण साहित्यशास्त्र के आचार्यों में अग्रणी भरत ने स्वतन्त्ररूप से नहीं दिया है किन्तु उनके द्वारा नाटक का जो लक्षण दिया गया है वही महाकाव्य के लक्षणों का प्रेरक माना जाता है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं, बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं, भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।।[1]

इसके अनुसार निम्नलिखित सात विषय नाटक/महाकाव्य में अभिप्रेत है—

१-कोमल और मनोरम पदावली, २-गूढ शब्द और अर्थ का अभाव, ३-सर्वजनग्राह्यता, ४-युक्तियुक्तता, ५-नृत्य में उपयोग किये जाने की योग्यता, ६-रसयुक्तता एवं ७-सन्धि-सन्धानयुक्तता।

इनमें प्रथम और तृतीय प्रसाद और माधुर्य गुण के सूचक हैं और द्वितीय दोषमुक्तता का, चतुर्थ अलङ्कारादि का और छठा रसात्मकता के सूचक हैं। शेष दो दृश्यकाव्य के लिए उपयोगी विषयों का प्रतिपादन करते हैं।

भामह ने काव्य के पांच भेद :—१-सर्गबन्ध, २-अभिनेयार्थ, ३-आख्यायिका, ४-कथा और ५-अनिबन्ध' बतलाकर 'सर्गबन्ध' को ही महाकाव्य कहा है। इसमें महान् चरित्रों का विधान, ग्राम्य शब्दों का परिहार, अलङ्कारों का प्रयोग और यथार्थ घटनाओं का वर्णन होता है। राजदरबार, दूत, आक्रमण, युद्ध और अन्त में नायक के अभ्युदय का वर्णन किया जाता है।[2] नाटक की समस्त सन्धियों की योजना भी इसमें होती है। कथानक की सुबोधता, काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारों वर्गों का निरूपण, लोकस्वभाव एवं रसों के पृथक्-पृथक् समावेश आदि का महाकाव्य में वर्णन करने का निर्देश किया है। यथा—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्य-शब्दमर्थं च सालङ्कारं सदाश्रयम्।।
मन्त्रदूतप्रयाणाजि-नायकाभ्युदयं च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।।[3] इत्यादि।।

---

१. भरत, नाट्यशास्त्र, वाराणसी, सन् १९२५, १७।१२६

२. भामह, काव्यालङ्कार, १-१९, २१

३. दण्डी, काव्यादर्श, प्र० परि० १४-१९

इसी परिभाषा का कुछ और परिष्कार करते हुए दण्डी ने—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद् वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलास्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडा-मधुपानरतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोत्सववर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणानिनायकाभ्युदयैरपि ।।
अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपतं लोकरञ्जनम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलङ्कृति ।।[1]

इस प्रकार इसमें भामह के लक्षण को ही नवीन ढंग से व्यक्त किया गया और कुछ स्थूल तत्त्वों को और मिला दिया गया ।

रुद्रट ने इस लक्षण को और आगे बढ़ाया तथा तत्कालीन संस्कृतेतर भाषा के वाक्यों के तत्त्व भी अपने लक्षण में समाविष्ट कर लिये । जिसमें तत्कालीन प्राकृत, अपभ्रंश और रामायण, महाभारत आदि के महाकाव्य-सम्बन्धी तत्त्व तो समाविष्ट हैं ही, साथ ही योरपीय महाकाव्य लक्षणों के तत्त्व भी व्यक्त हो गये हैं । उनके लक्षण में—

सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये ।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ।।२।। से आरम्भ कर—

सर्गाभिधानि चास्मिन् नवात् प्रकरणानि कुर्वीत ।
सन्धीनपि संश्लिषंस्तेषामन्योन्य-सम्बन्धात् ।।१९।।

तक अठारह पद्यों में—

१-उत्पाद्य अथवा **अनुत्पाद्य लम्बी पद्यबद्धकथा, २-अवान्तर कथाएं, ३-सर्गबद्धता, ४-नाटकीयतत्त्व-संयोजन, ५-जीवन की समग्रता का चित्रण, ६-नायक की उच्चता, ७-प्रतिनायकवर्णन, ८-नायक की अन्त में विजय, ९-महदुद्देश्य और चतुर्वर्गफलप्राप्ति, १०-रसात्मकता,**

---

१. दण्डी—काव्यादर्श, प्र० परि० १४-१९

२. काव्यालङ्कार १६वां अध्याय ।

११-उत्पाद्य महाकाव्यों में सन्नगरीवर्णन आदि और **१२-अलौकिक तथा अतिप्राकृत तत्त्व"** का समावेश होने का निर्देश है।

इस तरह यह लक्षण व्यापकता को प्राप्त है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ है कि—**"पद्यबद्ध काव्य ही महाकाव्य है। गद्यबद्धकाव्यों को कथा-आख्यायिका माना है। पद्य-प्रबन्धों को नहीं।"** यहीं महत् और लघु काव्यों का स्वरूपधारी भेद भी स्पष्ट हो गया है।

रुद्रट के इसी लक्षण का परिष्कार करते हुए अथवा यत्र-तत्र शाब्दिक परिवर्तन-परिवर्धन करते हुए **'वामन, भोज, मम्मट, वाग्भट (प्रथम) हेमचन्द्र और विश्वनाथ'** आदि ने भी अपने लक्षण दिये हैं। विश्वनाथ ने—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः। इत्यादि से आरम्भ कर—
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्।।[1] तक सभी आचार्यों के मतों

का समाहार किया है। पूर्वाचार्यों ने जो बातें नई कही हैं, वे हैं—**'१-नायक की विशिष्टता, २-शृङ्गार, वीर और शान्त रस की सीमितता, ३-सर्गों की संख्या का निर्धारण, ४-सर्ग के वर्ण्य-विषयों की व्यवस्था. ५-वस्तुव्यापारों की संख्या का विस्तार'** आदि।

इन सबके साथ अलङ्कारों को भी काव्य के लक्षणों में स्थान मिलता रहा है। **मम्मट** ने **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'**[2] कहकर काव्य की परिभाषा दी तो वाग्भट (प्रथम) ने—

साधुशब्दार्थसन्दर्भगुणालङ्कारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये।।[3]

कहा। हेमचन्द्र ने —**अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्**[4] कहकर अलङ्कार की सत्ता को स्थिर किया। अजितसेन ने **'शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों से युक्त, नवरसों से संहित, रीतियों के सम्यक प्रयोग से सुन्दर, व्यङ्ग्यादि से समन्वित, दोषों से शून्य, गुणयुक्त, नायक के चरित वर्णन से सम्पृक्त'** निबन्ध को 'काव्य' की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि —

शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं,
व्यङ्ग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम्।
लोकद्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी,
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्।।[5]

---

१. साहित्यदर्पण—३१५ से ३२८, छठा परिच्छेद।
२. काव्यप्रकाश, प्र० परि० १
३. वाग्भटालङ्कार १।२
४. काव्यानुशासन, पृ० १६
५. अलङ्कार-चिन्तामणि, १।७। यहीं महाकाव्य के वर्ण्यविषयों का भी आगे विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस लक्षण में विस्तार से सभी बातों का समावेश स्पष्ट है, और ऐसे ही लक्षणों को आगे पूरा प्रश्रय मिलता रहा है।

इन लक्षणों के पर्यालोचन से महाकाव्य की 'बाह्य रूपरेखा' और 'अन्तरङ्ग स्वरूप' दोनों पर प्रकाश पड़ता है तथा यह स्पष्ट हो जाता हैं कि **''अलङ्कार महाकाव्य के प्रमुख उपयोगी तत्त्व हैं।'**

अलङ्कृत-महाकाव्य और उसके प्रकार

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि **''रामायण और महाभारत विकसनशील आर्ष महाकाव्य'** हैं और तदनन्तर रचित महाकाव्य **'अलङ्कृत महाकाव्य'** हैं। यहाँ अलङ्कृत का अर्थ केवल अलङ्कार ही न होकर **'काव्यलक्षणोचित सुनियोजित पद्धति'** है। इसके अनुसार विविध शैलियों में लिखे गये महाकाव्यों के स्वरूप प्राप्त होते हैं। इनमें—

१-एकाश्रयी और **२-अनेकाश्रयी** ये दो भेद प्रमुख हैं जिनमें पहला **'एककथाश्रयी'** और दूसरा **'बहुकथाश्रयी'** है। तदनन्तर इनमें—**'१-शास्त्रीय, २-पौराणिक, ३-ऐतिहासिक** और **४-रोमाञ्चक कथात्मक'** रूप में चार भेद किये जा सकते हैं।

शास्त्रीय महाकाव्यों के—१-रससिद्ध, २-रीतिबद्ध एवं **३-शास्त्रकाव्य** के रूप में तीन भेद होते हैं।

एक अन्य दृष्टि से **१-चरित्रात्मक काव्य,** (साधुजन तथा राजपुरुष चरित्र), **२-क्लिष्ट काव्य** तथा **३-शास्त्रनिष्ठ काव्य** ऐसे भी भेद होते हैं। इन्हीं सब भेदों में जहां शब्दालङ्कार को प्रश्रय मिला है, उन काव्यों की चर्चा हम अग्रिम अध्यायों में क्रमशः करेंगे।

बन्धसापेक्ष —(ख) खण्डकाव्य

'जहां कवि जीवन के किसी एक खण्ड अथवा अंश को लेकर उसका क्रमबद्ध रूप में वर्णन करता है उसे 'खण्ड-काव्य' कहते हैं। यह प्रबन्ध-काव्य का लघुरूप है। महाकाव्य से इसका आकार-प्रकार ही छोटा नहीं होता अपितु यह 'काव्य के एकदेश का अनुसरण करनेवाला होता है —**'खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च।'**[1] और इसमें शास्त्रीय रूढ़ियों की अपेक्षा कवि की **'वैयक्तिक चेतना'** और **'आनन्दवेदना'** अधिक रहती है। इतना होने पर भी यह अपने आप में पूर्ण अवश्य होता है। और इसमें अनुभूति भी पूर्ण होती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि **महाकाव्य का कोई एक अंश, जिसमें जीवन की एक झलक मात्र प्राप्त होती हो; अलग करें तो वह खण्डकाव्य बन जाएगा और खण्डकाव्य को बड़े आकार में बना दें तो वह महाकाव्य बन जाएगा।''** अतः **यहां खण्ड का अर्थ किसी महाकाव्य का एक खण्ड नहीं है। यहां** 'खण्ड' शब्द का अर्थ है—**'जीवन के किसी एक प्रभावशाली अंश की कविगत अनुभूति।'**

---

१. साहित्यदर्पण, ६ परि० ३२९वां पद्य।

खण्डकाव्य का संविधान महाकाव्य के समान ही है किन्तु उसका वर्ण्य-विषय एकांश-मात्र होने से उसका आकार भी लघु होता है। इसमें—

कथासूत्र की आवश्यकता रहने पर भी उसका ख्यात अथवा इतिहासप्रसिद्ध होना आवश्यक नहीं है।

२-कथावस्तु की सङ्घटना भी आवश्यक नहीं है।

३-सर्गबद्धता का इसमें कोई प्रतिबन्ध अथवा नियमन नहीं है जो कि महाकाव्य के लिए आवश्यक है।

अलङ्कृत खण्डकाव्य और उसके प्रकार

महाकाव्य के समान ही खण्डकाव्य भी अलङ्कृत रूप में निर्मित होता है। इसमें **'एकाश्रय'** अधिक रहता है, **'अनेकाश्रय'** नहीं। यह शास्त्रीय, पौराणिक, इतिवृत्तात्मक और शृङ्गार-कथात्मक ऐसे चार प्रकारों का होता है। इसके अन्य भेद भी महाकाव्य के समान होते हैं किन्तु काव्यशास्त्रों में एतत्सम्वन्धी विस्तृत विचार नहीं हुआ है।

वहुधा आचार्यों ने दूतकाव्यों को और तत्सदृश अन्य गीति-काव्य, स्तोत्र-काव्य आदि को भी खण्डकाव्य कहा है किन्तु हम अपने विवेचन में इन्हें पृथक् विभाग में स्थान देंगे। हां, इस विवेचन में शव्दालङ्कार के उन भेदों पर लिखे गये खण्ड-काव्यों को अवश्य स्थान देंगे जो शतक आदि नामों से ख्यात होते हुए भी अन्य स्तोत्रादि के भेदों से पृथक् होकर काव्य के रूप में निर्मित हैं।

बन्ध-सापेक्ष —(ग) विज्ञप्तिकाव्य

खण्डकाव्य के नाम से दूतकाव्यों का प्रायः सभी संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों ने उल्लेख किया है। इसी का अपरनाम **'सन्देशकाव्य'** भी है। सन्देशकाव्यों में प्रायः दूत के माध्यम से विप्रलम्भशृङ्गार का आश्रय लेकर सन्देश भेजा जाता है। इसी से मिलती-जुलती एक विधा **'विज्ञप्ति-काव्य'** की है। यह परम्परा श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय के मुनिवर्ग की रचनाओं में अधिक विकसित हुई है। दूतकाव्यों के नामवाले काव्यों में कुछ दूतकाव्य ऐसे अवश्य वने हैं जिनमें विप्रलम्भशृङ्गार को छोड़कर अन्य रस का आश्रय लिया गया है तथा सन्देश के स्थान पर विज्ञप्ति प्रेषित की गई है।

पति प्रियावियोग में व्याकुल होकर किसी चेतन अथवा जड़ को दूत वनाकर जहाँ सन्देश पहुंचाता रहा है, वहीं साक्षात् अथवा किसी के माध्यम से विज्ञप्ति पहुंचाने की पद्धति का विकास इन विज्ञप्तिकाव्यों में हुआ है। ये काव्य पत्राचार की परम्परा के भी पोषक हैं।

उपलब्ध विज्ञप्ति-काव्य **पद्यरूप**, **गद्यरूप** तथा **उभयरूप** प्राप्त होते हैं तथा इनमें काव्यकला का पूर्ण विकास हुआ है। **विविध छन्द, विविध अलङ्कार (मुख्यतः चित्रालङ्कार),**

कल्पनापूर्ण वर्णन तथा **रस-पेशल उक्तियों** के साथ ही इनमें **स्तोत्र-स्तुतियों** को भी लिखा जाता रहा है। वर्ण्यविषय में गुरु के प्रति भक्ति का प्रकटन प्रमुख है जबकि जिनेन्द्रों की प्रार्थना, नगरवर्णन, विज्ञप्ति-प्रेषक परिचय, शिष्यप्रशिष्यादि-परिचय, विज्ञप्तिप्रापक का वर्णन, विज्ञप्ति, विज्ञापक द्वारा अथवा उसके समुदाय द्वारा सम्पादित धर्मक्रियाएं और जिनस्तोत्रादि भी प्रायः इनमें समाविष्ट रहते हैं। '**आनन्दलेख**' नामक विज्ञप्ति-काव्य में इन काव्यों को '**धर्मलेख**' भी कहा है। इन काव्यों में सर्ग के स्थान पर '**अधिकार**' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।

शब्दालङ्कार के क्षेत्र में इस काव्य-प्रकार का अत्यन्त महत्त्व इसलिये है कि इनमें प्रायः '**अनुप्रास, यमक, श्लेष, और चित्रालङ्कार**' के अनेक भेद-प्रभेदों का प्रयोग हुआ है तथा संस्कृत-साहित्य के इतिहासों में इनका वर्णन नहीं है।

बन्धसापेक्ष—(घ) गीतिकाव्य

खण्डकाव्य के विवेचन में हमने 'गीतिकाव्य' की चर्चा की है। सङ्गीत और आत्माभिव्यञ्जना के सम्मिलित तत्त्वों से उद्भूत कविता को '**गीतिकाव्य**' कहते हैं। वैदिक सूक्तों में गीतिकाव्य के ये तत्त्व मुखरित होते रहे हैं। अग्नि, उषा, यम-यमी, पुरूरवा और उर्वशी आदि से सम्बद्ध सूक्त इसके प्रमाण हैं। सम्भवतः इन्हीं सूक्तों से प्रेरणा पाकर कविगणों ने श्रव्यकाव्यगत श्रुतितत्त्व अथवा नादात्मक तत्त्व की ओर अधिक लक्ष्य देकर 'गीतिकाव्य' की उद्भावना की है। '**नादात्मकता ही वाग्व्यापार का मूल है क्योंकि 'नाद से ही वर्णाभिव्यक्ति, पदाभिव्यक्ति और वाग्व्यापार सृष्टि का व्यवहार क्रमशः आगे बढ़ता है**।'[1] गीतकाव्य का कोई लक्षण स्वतन्त्ररूप से आचार्यों ने नहीं दिया है, किन्तु—

स्वर-ताल-ग्राम-भेद-राग-रागाङ्ग-भूषितम् ।
संस्कृतं वा प्राकृतं वा गीतं गीतविदो विदुः ॥

यह गीत का लक्षण हमारे लिये मार्गदर्शक अवश्य है। वैसे यह लक्षण सरलता से बनाया जा सकता है— **गीतियोग्यत्वं काव्यं गीतिकाव्यम्**'। प्राप्त गीतिकाव्यों के निदर्शन से डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने '**संस्कृत गीतिकाव्यानुचिन्तन**' नामक ग्रन्थ में विविध गीतिकाव्यगत तत्त्व चुन कर इसके निम्नलिखित तत्त्व बतलाये हैं[2]—

१. आत्मनिष्ठता अथवा अन्तर्वृत्ति की प्रधानता,
२. संगीतात्मकता,
३. निरपेक्षता अथवा पूर्वापरसम्बन्ध-हीनता,
४. रसात्मकता अथवा रञ्जकता,
५. भावातिरेकता और अनुभूति-सान्द्रता,
६. भावसान्द्रता,

---

१. इसका निर्देश आगे ग्रन्थ-विवेचन में किया गया है।

२. वहीं—**गीतिकाव्यस्य प्रमुखतत्त्वानि**, पृ० ५।

७. चित्रात्मकता, ८. समाहित प्रभाव,

९. मार्मिकता, १०. संक्षिप्तता और

११. स्वाभाविक अभिव्यक्ति-सरलता

इन गीतितत्त्वों में से कतिपय तत्त्वों के समावेश के साथ ही श्रव्य-काव्य के उपादेय तत्त्वों का समन्वय होने से 'गीतिकाव्य' की सृष्टि होती है। इन गीतिकाव्यों के भी **'१- प्रबन्धात्मक** तथा **२- मुक्तक रूप'** ऐसे दो भेद स्वाभाविक हैं। इनमें यदि **महाकाव्य, खण्डकाव्य** और **मुक्तक** जैसे भेद करना चाहें तो वे भी किये जा सकते हैं, किन्तु अधिकाँश आचार्यों ने अपने-अपने गीतिकाव्यों को—जिनमें एक-एक प्रसंग का वर्णन करके उसे सर्ग की संज्ञा दी गई है तथा गीत भी कोई अधिक नहीं हैं—महाकाव्य ही कहा है। जबकि कुछ स्फुट गीत हैं जिन्हें 'मुक्तक' की कोटि में मानना ही उचित है।

गीतिकाव्यों में अनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा यमक नामक शब्दालङ्कारों के प्रयोग को पूरा अवसर मिलता है। **लोकोत्तर-चमत्कार-सम्पदा** और **रस-सम्पदा** के साथ-साथ **मसृण-पदावली, वर्णमधुरिमा** तथा **अनुरणन-सम्पृक्तता** गीति-काव्यों की अन्यतम विशेषता है। **ध्रुवक** इस काव्य शैली का अभिन्न अङ्ग है। 'रागार्णव' में कहा गया है कि—

न विवेकं विना ज्ञानं, ध्यानं नाम रसं विना।
श्रद्धया न विना दानं, न गानं ध्रुवकं विना ॥

यह ध्रुवक-टेक भी शब्दालङ्कार का एक प्रकार ही मानना चाहिये। गीतकाव्यों के उपलब्ध-प्रकारों में प्रबन्ध-काव्य के अतिरिक्त **'गीतिस्तोत्र, गीतिनाटिका, गीत पद, गीतनाटक, गीत-चरित, गीतरास, गीतकीर्तन'** आदि भी प्राप्त होते हैं।

संस्कृत-गीतिकाव्यों में केवल गीतियां ही हों ऐसी बात नहीं है। यहां अन्य छन्द भी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं तथा यत्र-तत्र प्रसङ्गयोजना के लिये गद्य का भी आश्रय लिया गया है। नाटकीय तत्त्वों में से संवादतत्त्व का भी आश्रय बहुधा लिया गया है। अतः यह काव्य की एक मिश्रित-पद्धति भी कही जा सकती हैं।

मुक्तक गीतों में **-१. धार्मिक, २- राष्ट्रिय, ३- प्रेम, ४- प्रकृति, ५- दुःख, ६-विचार और ७- उत्सव** इन सात प्रकारों को स्थान दिया जाता है साथ ही इनके प्रभेदों में—**'स्तुति, सम्बोध, भाव, युद्ध, शोक, और उपदेशात्मक गीत'** भी आ जाते हैं। किन्तु ये भेद-प्रभेद उत्तर काल की गीतिकाव्य-प्रवृत्ति को लक्षित करके ही किये जाते हैं, पूर्वाचार्यों ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है।

वर्तमानकाल में संस्कृत-साहित्य का गीति-काव्य-सम्बन्धी क्षेत्र पर्याप्त विस्तार को प्राप्त हो रहा है। अन्य भाषाओं में प्रयुक्त गीतिपद्धतियों के अनुसार यहां **पदशैली, पत्रशैली, लोकगीतशैली** एवं **अनुवादशैली**, के माध्यम से बहुत से गीत लिखे जा रहे हैं जिनमें मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त गद्यगीत भी सम्मिलित हैं। साथ ही संस्कृत भाषा के

नाटकों में/रूपक-साहित्य में भी स्थान, प्रसंग आदि के अनुरूप बीच-बीच में प्राकृत और संस्कृत में रचित गीत अथवा गीतियां भी बहुत प्राप्त होती हैं। इन गीतियों में प्रायः ऋतु-वर्णन, प्रकृति-वर्णन अथवा किसी विशेष प्रसङ्ग का सूचन होता है। प्रारम्भ काल के नाटकों में ऐसी गीतियां प्राकृतादि भाषा में ही होती थीं और उनकी संस्कृत छाया देने की पद्धति प्रचलित थी किन्तु उत्तर काल के नाटकों में शुद्ध संस्कृत के गीतों का भी समावेश किया जाने लगा है। ऐसे गीतों को हम प्रवन्धान्तर्गत होते हुए भी उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता होने के कारण मुक्तकों में ही स्थान दे सकते हैं।

भावों की मञ्जुलता को प्रकट करने के लिये जिस प्रकार के शब्दों का चयन गीतों में किया जाता है तथा जिस पद्धति से वाक्य-विन्यास कवि करता है, वह शब्दालङ्कारों की पोषकता में एक उत्तम प्रयास ही है।

इस साहित्य का यत्किंचित् निर्देश भी हम अग्रिम अध्यायों में यथावसर प्रस्तुत करेंगे।

(४) बन्ध-निरपेक्ष श्रव्यकाव्य

(क) स्तोत्र-काव्य

१. स्तोत्रकाव्यों की बन्ध-निरपेक्षता

काव्य के स्वरूप-निर्धारण के प्रसङ्ग में हमने यह विचार किया है कि 'जिन रचनाओं में कथागत पारस्परिक अपेक्षा न हो, ऐसे पद्य अथवा पद्यसमूह **'बन्ध-निरपेक्ष'** कहे जाते हैं। स्तोत्र-काव्य भी इसी कोटी में आते हैं, क्योंकि इसमें किसी कथाविशेष अथवा रस-विशेष की अन्योन्यापेक्षा आवश्यक नहीं रहती है। स्तोत्र में आये हुए पद्यों में से एक पद्य भी अपने-आप में परिपूर्ण भावों को व्यक्त कर देता हैं। अतः यह काव्यविधा **'मुक्तकों का समूह'** भी कही जा सकती है।

२. स्तोत्र की परिभाषा

काव्य-निर्मिति के उद्देश्यों में **'शिवेतरक्षति'** को भी एक उद्देश्य बतलाया गया है। सम्भवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रारम्भ काल से ही स्तोत्र-काव्यों की रचना होती रही है। संसार की विचित्र गतिविधि के समक्ष मानव अपनी विह्वलताओं से छुटकारा पाने के लिये अपने इष्ट के प्रति जो काव्यमयी वाणी में कथन करता है वही **'स्तुति'** अथवा **'स्तोत्र'** कहलाता है, इनमें 'सुख की आकांक्षा, कृपा की कामना, अपेक्षित की प्रार्थना, उपेक्षणीय की निवृत्ति' आदि भावनाओं का प्रकटन होता है और सबके मूल में रहती है इष्ट की प्रशंसा।

---

१. **काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥१॥** (काव्यप्रकाश)

कृतज्ञता ज्ञापन और आत्मनेवेदनरूपी दो तटों के मध्य बहती हुई स्तुति-सरिता में स्तोतव्य के प्रशंसनीय गुणों का आख्यान ही स्तुति या स्तोत्र बनत है।[१] ऐसे स्तोत्रों में वास्तविक गुणकीर्तन होना चाहिए, असद्‌गुणकीर्तन नहीं। यह स्तोत्र **प्रतिगीत-मन्त्रसाध्यं स्तोत्रम्, छन्दोबद्धस्वरूपं गुणकीर्तन वा'**[२] इस उक्ति के अनुसार ईश्वर के नाम-मात्र का स्मरण अथवा कथन भी स्तोत्र है। **'विष्णुसहस्रनाम'** तथा **'ललिता-सहस्रनाम'** में तो स्तुति और स्तोत्र भगवान् के नाम ही गिनाए गये हैं[३]।

अग्निपुराण में 'स्तुति' को एक स्वतन्त्र अलङ्कार ही बताया है। श्रीमद्‌भागवत में कहा गया है कि-

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्[४]॥

इस प्रकार लघु अथवा दीर्घ पौराणिक अथवा प्राकृतज्ञान और स्तोत्रों द्वारा प्रार्थना करके **'भगवन्! प्रसीद'** यह कहते हुए इष्टदेव को दण्डवत् प्रणाम करना स्तोत्र का फल है।

(३) स्तोत्र के प्रकार

'शौनकीय बृहद्‌देवता' में कहा गया है कि—

'स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।
स्वर्गायुर्धन-पुत्राद्यै रथैराशीस्तु कथ्यते॥'[२]

अर्थात् स्तुति को नाम, रूप, कर्म और बन्धुत्व के द्वारा व्यक्त किया जाता है तथा स्वर्ग, आयु, धन और पुत्रादि प्राप्ति की भावना से आशीर्वादात्मक स्तुति भी की जाती है। तथा:—

नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थना चेति षड्‌विधं स्तोत्र-लक्षणम्॥

---

१. **गुणकथनं हि स्तुतित्वं गुणानामसद्‌भावे स्तुतित्वमेव हीयेत। न चासता गुणेन कथनेन प्ररोचना जायते। अतः कर्म प्ररोचयन्तो बोधयन्त्येवार्थवादाः।** (शास्त्रमुक्तावली, पू० नी० १-२-७।) **तथा स्तुतेरुत्कर्षाधायकगुणवर्णनरूपत्वेन गुणाभावे सत्कथनं प्रतारकतां सम्पादयेत्।** (अणुभाष्य, प्रकाश १-३-२६)

२. **प्रगीतमन्त्रसाध्यक-गुणिनिष्ठ-गुणाभिधानं स्तोत्रमित्यपि पाठः** (सौभाग्यभास्कर-व्याख्यायां पृ० १८८)

३. द्रष्टव्य, उक्त ग्रन्थों के पद्यांश।

४. **स्तव्यः स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिः स्तोता रणप्रियः।** (विष्णु० ८६) **स्तोत्रप्रिया स्तुतिमती श्रुतिसंस्तुतवैभवा** (ललिता०(२२३ वां पद्य)

५. द्रष्टव्य ११।२७।४५

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार—

१-नामस्तोत्र, २-रूपस्तोत्र, ३-कर्मस्तोत्र, ४-गुणस्तोत्र और ५-आशीःपरक स्तोत्र।

ऐसे पाँच प्रकार और **'१-नमस्कार, २-आशीर्वाद, ३-सिद्धान्त, ४-पराक्रम, ५-विभूति एवं ६-प्रार्थना'** ये ६ प्रकार किए जा सकते हैं। अन्य आचार्यों का अभिमत है कि स्तोत्र के मूलतः तीन प्रकार हैं—**१-आराधना-स्तोत्र, २-अर्चना-स्तोत्र** तथा **३-प्रार्थना-स्तोत्र।** इन प्रकारों में आराध्य के रूप, गुण तथा ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन जिनमें रहता है, वे **'आराधना-स्तोत्र'** कहलाते हैं। भाव-भक्तिमूलक द्रव्यपूजा के विविध प्रकारों के साथ ईश्वर के कृतित्व एवं कर्तृत्व का जहाँ विश्लेषण हो, वे **'अर्चनास्तोत्र'** कहे जाते हैं। तथा आराध्य की प्रशंस, आराधक की दयनीयता एवं दीनहीनता का प्रदर्शन करते हुए जहाँ प्रभु की विशेष अनुकम्पा-प्राप्ति के लिए प्रार्थना, निवेदन आदि किए जाते हैं, वे **'प्रार्थना-स्तोत्र'** की कोटि में आते हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि—**१,द्रव्य, २-कर्म, ३-विधि** और **४-अभिजन'** नाम से स्तोत्रों के चार विभाग होते हैं, जबकि उपलब्ध स्तोत्र-साहित्य के आधार पर तो स्तोत्रों के अनेक प्रकार किए जा सकते हैं जिनमें निम्नलिखित सात प्रकार प्रमुख हैं—

१-संख्याश्रित-स्तोत्र : मुक्तक, पञ्चक, षट्पदी, सप्तक, अष्टक, दशक, द्वादशी, पञ्चदशी, षोडशी, विंशतिका, चतुर्विंशतिका, द्वात्रिंशिका, पञ्चाशती, शतक, पञ्चशती, सहस्रनाम आदि।

२-फलाश्रितस्तोत्र : निग्रह, अनुग्रह, उपालम्भ, पीडाहर, ऋणहर, दारिद्रयनाशक, रक्षा, वर्म, कवच, पञ्जर, शरणागति आदि।

३-ध्यान-पूजाश्रित : न्यास, ध्यान, हृदय, प्रार्थना, अपराध-क्षमापन, मानसपूजा, आत्मबोध, लोकबोध, कैवल्य, वैराग्य आदि।

४-मन्त्रपदाश्रित : विभिन्न देवताओं के मन्त्रवर्णों और बीजाक्षरों के समावेश से युक्त।

५-शास्त्राश्रित : भिन्न-भिन्न शास्त्र एवं सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले स्तोत्र।

६-काव्यकलाश्रित : जिसमें :—

(१) **'कोष'** : की दृष्टि से नाममाला, अष्टोत्तरशतनाम, सहस्रनामादि ;

(२) **'भाषा'** : की दृष्टि से विविध भाषाओं के सौष्ठव से सज्जित ;

(३) **'छन्द'** : को ध्यान में रखकर बनाये गये आर्यादि स्तोत्र ;

(४) **'अलङ्कार'** : को माध्यम बनाकर लिखे गये स्तोत्र; जिनमें-

शब्द और अर्थगत अलङ्कारों के अङ्कन प्रमुखता को लिये रहते हैं ;

(५) **'चमत्काराश्रित'** : काव्य एवं तत्सम्बन्धी अन्यान्य विभिन्न चमत्कार, जैसे 'चित्रवन्ध, समस्यापूर्ति, श्लेष, सरस्वती, कमल आदि प्रमुख पदगर्भ, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, योग, भेषज, आभाणक आदि को गर्भित रखकर बनाये गये स्तोत्र आते हैं। इसी प्रकार—

७-उपदेशाश्रित : जीव, आत्मा, मन, मानव आदि को लक्ष्य में रखकर उनका कल्याण करने की भावना से दिये गये उपदेशों को आर्वाजित करने वाले स्तोत्र आदि [1] और भी भेद गिनाये जा सकते हैं।

उपर्युक्त सात भेदों के अतिरिक्त **'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्'** इस पद्धति से अनेक कवियों ने और भी कई प्रकारों से स्तोत्र रचनाएं की हैं। जिन्हें हम निम्नरूप से भी वर्गीकृत कर सकते हैं।

१-पद्यात्मक, गद्यात्मक और मिश्ररूप।

२-विविध-भाषात्मक अथवा मिश्रभाषात्मक।

३-स्वाश्रयी तथा पराश्रयी।

४-मौलिक और अनुकरणात्मक।

५-व्यापक और व्याप्य।

इनमें **'१-तत्त्वप्रधान** (दार्शनिक) तथा **२-भक्तिप्रधान'** ऐसी दो धारणाएं प्रमुख हैं और भक्ति-प्रधान स्तोत्रों के भी अनेक रूप बनते रहे हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में शब्दालङ्कार से सम्बद्ध स्तोत्रों का परिचय देते हुए हम उनके कतिपय अभिनवरूपों की ओर भी इङ्गित करेंगे। वैसे स्तोत्र-साहित्य इतना अधिक विस्तृत है कि उसका पूरा परिचय देना यहां कथमपि सम्भव नहीं है और न सङ्गत ही।

(ख) मुक्तक

बन्धनिरपेक्ष काव्यों का एक भेद 'मुक्तक' के नाम से प्रसिद्ध है। यह काव्य-रूपात्मक

---

१. ऐसे कतिपय स्तोत्रों की विधाओं के परिचय के लिए स्वरमङ्गला (पत्रिका) एवं 'चाणस्मा' उ० गुजरात से प्रकाशित **'श्री भटेवापार्श्वनाथ स्मृतिग्रन्थ'** में लेखक के ही **'भारतीयं स्तुतिसाहित्यम्** और **'भारतीयं स्तुतिसाहित्यं जैनसम्प्रदायश्च'** लेख तथा...**१-श्रीमदापदुद्धारक बटुकभैरव-स्तोत्रम्, २-स्तोत्रावामी,** (श्रीयशोविजय उपाध्याय रचित), **३-श्रीसुभगोदय-स्तुति-परिशीलन** तथा **४-पद्मावती-आराधना'** (गुजराती) आदि ग्रन्थों की भूमिकाएं द्रष्टव्य हैं।

वन्ध की दृष्टि से अपने अर्थद्योतन में स्वतः समर्थ होता है तथा इसका कलेवर भी संक्षिप्त होता है । दण्डी ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि—

मुक्तकं कुलकं कोषः सङ्घात इति तादृशः ।
सर्गबन्धाङ्गरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥[1]

किन्तु अग्निपुराण में इसकी परिभाषा अधिक स्पष्ट है । वहां कहा गया है कि—

'मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्[2]—

इसके अनुसार प्रत्येक श्लोक, जो अपने चमत्कार को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो, वह मुक्तक कहलाता है । ध्वन्यालोक के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने मुक्तक की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

"मुक्तमन्येनानालिङ्गितम् । तस्य संज्ञायां कन् तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते । पूर्वापर-निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ।"[3]

जो अगले-पिछले पद्यों से सम्बन्ध नहीं रखता हो, अपने विषय को प्रकट करने में अकेला ही समर्थ हो ऐसे पद्य को मुक्तक कहते हैं । साथ ही स्वतन्त्र और निराकांक्ष रहते हुए अर्थद्योतन में समर्थ होने पर भी वह प्रवन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है । ऐसे मुक्तक काव्य में एक बात और आवश्यक है वह यह कि उसमें पूर्वापर की सहायता लिये विना ही रस का आस्वाद प्राप्त हो सके ।

हेमचन्द्र ने **'अनिबद्धं मुक्तकादि**[4] 'कहकर श्रव्यकाव्य के निवद्ध और अनिबद्ध रूप दो भेदों में इसे दूसरा भेद माना है । विश्वनाथ ने भी—**'छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्**[5]' कहा है जिसमें कोई नावीन्य नहीं है ।

मुक्तक के भेद—राजशेखर ने प्रवन्ध के समान ही मुक्तक में भी पांच प्रकार की वस्तुएं क्रमशः **'१-शुद्ध, २-चित्र, ३-कथोत्थ, ४-संविधानकभू** और **५-आख्यानवान्'** हो सकती हैं, ऐसा कहा है[6] । किन्तु इसकी अपेक्षा भाव-पक्ष और कलापक्ष की प्रधानता के आधार पर मुक्तक के प्रारम्भिक दो भेद मानना उत्तम होगा । इसके पश्चात्—

१-आकारगत जिसमें अनुष्टुप्, आर्या आदि छन्दों का प्रयोग—

---

१. काव्यादर्श, दण्डी, अध्याय-१, श्लोक ९ ।
२. अग्निपुराण, अध्याय-६३७, श्लोक ३३ ।
३. ध्वन्यालोक-लोचन, ३ उद्योत ।
४. काव्यानुशासन, अध्याय-८, सूत्र ५-६ ।
५. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद २१६ ।
१. काव्यमीमांसा, नवम अध्याय ।

२-उक्तिवैचित्र्यगत—सूक्ति, समस्यापूर्ति, कूट आदि का समावेश,

३-भावगत—शृङ्गार, वीर, करुणादि भावों का आश्रय,

४-चित्रात्मक—नखशिखवर्णन, प्रकृतिचित्रण, रूपचित्रण और भावभंगियों के चित्रण से अनुप्रमाणित ऐसे भेदों की दृष्टि से भी विभाजन किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त **'व्यवहार, नीति, उपदेश, स्तुति-प्रार्थना, और वैराग्यभावना'** आदि के आधार पर भी मुक्तकों के प्रभेद किये जा सकते हैं।

सुभाषित-रूप मुक्तक

संस्कृत-साहित्य में सुभाषित के नाम से अङ्कित साहित्य भी पर्याप्त विकसित है। इनमें शब्दालङ्कारों से पूर्ण एवं मुक्तक-प्रक्रिया से समृद्ध अनेक पद्य सङ्कलित हुए हैं और हो रहे हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन आगे किया जाएगा।

इस विवेचन की परम्परा में हमारा लक्ष्य इतना ही रहेगा कि—'शब्दालङ्कारों के विभिन्न भेद-प्रभेदों को अपना कर उनके निर्वाह के साथ ही किसी नवीन प्रक्रिया-विशेष पर कोई विशेषता लाई गई हो।' इसी दृष्टि के कारण जिन आचार्यों ने एक ही पद्य और पद्यांश को महत्व देकर उसके अनेक अर्थ किये हैं तो उन्हें भी यहां स्थान दिया जाएगा। इसी प्रकार चित्रालङ्कार की शृंखला में भी किसी अभिनव मानदण्ड को प्रस्थापित करनेवाले मुक्तकों पर ही विचार करना यहां उचित माना गया है।

५-गद्यबद्ध-श्रव्यकाव्य

मानव-मात्र के व्यवहार का आधार प्रारम्भ काल से गद्य ही रहा है किन्तु उपलब्ध वैदिक-वाङ्मय का अधिकांश भाग पद्यमय ही है। उत्तरकाल में छन्दोमयी रचना को **'काव्य'** और उसके निर्माता को **'कवि'** कहने की प्रथा चल पड़ी। किन्तु इससे गद्यकार-कवि ने अपनी रचना को अवरुद्ध नहीं किया; अपितु अपनी नई-नई शैलियों का आविर्भाव करते हुए वह आगे ही बढ़ता रहा। परिणाम यह हुआ कि विद्वत्समाज में यह उक्ति व्याप्त हो गई—**'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।'**

इसी आधार पर कवियों की कसौटी के रूप में गद्य-बद्ध साहित्य का विकास हुआ। काव्यशास्त्रकारों ने इसी दृष्टि से **'पद्य'** और **'गद्य'** रूप काव्यों के रूप में पहले दो भेद और तदनन्तर **'मिश्र'** गद्य-पद्योभयरूप को मिलाकर काव्य के तीन प्रकार निर्धारित किये।

इन्हीं तीन भेदों वाले गद्यबद्ध-साहित्य में वैदिककाल से आज तक क्रमशः अनेक परिष्कार होते आये हैं। **सुललितपद-विन्यास, अलङ्कृत शैली** और **माधुर्यपूर्ण वर्णयोजना** के साथ-साथ[1] समास रहित होने से **'मुक्तक'** पद्य के अंशों से युक्त होने से **'वृत्तगन्धी', दीर्घसमासशाली** होने से **'उत्कालिकाप्राय'** तथा छोटे-छोटे समासवाले पदों के रहने पर **'चूर्णक'** कहलाया।

---

१. **वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।**
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥

धीरे-धीरे इस पद्धति का और भी परिष्कार हुआ। अल्पाक्षरों से अनल्प अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये श्लेष का प्रयोग अधिक बढ़ गया। शब्दचित्रों से अलङ्कृत करने के लिये अनुप्रास और यमक के प्रयोगों की बहुलता अपनायी गयी तथा **'समासभूयस्त्व'**[1] को गद्य के प्राण के रूप में स्वीकृत किया गया।

गद्यकाव्य के आचार्य दण्डी ने दो भेद किये हैं। यथा—

अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथे।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ……… ॥१।२३॥ काव्यादर्श,

इस प्रकार **'आख्यायिका'** और **'कथा'** नामक ये दोनों भेद आगे भी यथावत् स्वीकृत हुए।

(क) वैदिक गद्य—गद्य साहित्य के ऐतिहासिक पर्यालोचन की दृष्टि से वैदिक संहिताओं में **'यजुष्'** शब्द का अर्थ गद्य ही है। अतः यजुर्वेद में गद्य-वाक्यों का समूह है। ये गद्य अध्वर्यु द्वारा यज्ञ के अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। इस वेद के दो भेद हैं **१-कृष्ण** और **२-यजुः।** कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्र और गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है जब कि यजुर्वेद में विनियोगवाक्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद्-वाङ्मय में प्राचीन गद्य के रूप प्राप्त होते हैं। यह गद्य यद्यपि व्यापक, उदात्त और उदार रूप में हुआ है तथापि उसमें शास्त्रीय गद्यों जैसी आलङ्कारिकता नहीं रही है। गद्य की इस विधा में सीधे-सादे, छोटे-छोटे शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। वहां 'ह', 'वै' 'उ' आदि अव्यय वाक्यालङ्कार के रूप में प्रयुक्त हैं। इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता और सुन्दरता का समावेश हो गया है। समास का प्रयोग नहीं के बराबर है तथा यत्र तत्र ही अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है।

(ख) पौराणिक गद्य एवं शास्त्रीय गद्य—वैदिक गद्य और लौकिक संस्कृत गद्य को मिश्रित रूप में प्रस्तुत करने का कार्य पौराणिक गद्यों में प्राप्त होता है। यद्यपि अधिकांश पुराण पद्यों में ही निबद्ध हैं तथापि **श्रीमद्भागवत** और **विष्णुपुराण** आदि में कुछ गद्य भाग भी उपलब्ध होता है।

इन गद्यों में वैदिक-गद्य जैसी प्रासादिकता के साथ ही साहित्यिक गद्य की गाढ-बन्धता के भी दर्शन हो जाते हैं। प्रौढ अलङ्कृतता एवं भावाभिव्यञ्जकता का समुचित मिश्रण होने से पौराणिक गद्यों को हम उत्तरवर्ती गद्यकारों के लिये प्रेरक मान सकते हैं।

शास्त्रीय गद्यों के बारे में यह कहना कथमपि अनुचित नहीं होगा कि वह केवल अर्थ-प्रकटन का माध्यम बनकर ही सर्वत्र व्याप्त रहा है। उनका लक्ष्य अर्थों की अभिव्यक्ति मात्र होने से उसकी सज्जा पर विशेष ध्यान नहीं गया है। कुछ आचार्यों की विशिष्ट शैली

---

१. **गद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।**
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ॥ ३३०-३३१ ॥ (प० ६। साहित्यदर्पण)
ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम् ॥ १।८० ॥ (काव्यादर्श)

इसका अपवाद हो सकती है, क्योंकि उसमें विशुद्ध साहित्यिक गद्य के समान सुन्दरता और रसपेशलता का भी समावेश हुआ है ।

(ग) शिलालेखों का गद्य

साहित्य में प्रयुक्त आलङ्कारिक गद्यों का पूर्वरूप शिलालेखों में प्रस्तुत हुआ है । गद्य के प्रमुख तत्त्व 'मधुर, ध्वन्यात्मक और समस्त शब्दावली का अलङ्कृत प्रयोग' इनमें यत्र-तत्र निखर आया है । **'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यम्'** यह विश्वनाथ का लक्षण और **'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्'** यह दण्डी का लक्षण यहां एकीकरण के द्वार पर खड़े हो रहे हैं । कहीं-कहीं **मुक्तक, वृत्तगन्धी, उत्कलिकाप्राय** और **चूर्णकरूप** गद्यभेदों के स्वरूप भी इनमें साकार होते दिखलाई देते हैं। सम्भवतः इन्हीं पूर्वरूपों के आधार पर शास्त्रीय-गद्य का स्वरूप निर्धारित हुआ है और यही आगे बढ़कर गद्य-काव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पूकाव्य आदि का आधार बन गया ।

(घ) आख्यायिका[१]—

भामह ने इस भेद की अवतारणा करते हुए अपने काव्यालङ्कार में 'आख्यायिका' का लक्षण बतलाया है कि—'इसमें कथावस्तु वास्तविक होती है, जिसे कवि स्वयं वक्ता के रूप में प्रकट करता है। इसके विभागों का नाम **'उच्छ्वास'** होता है जिसके आदि और अन्त में भावी घटनाओं के सूचक पद्य रहते हैं, जो वक्त्र अथवा अपरवक्त्र छन्द में निबद्ध होते हैं।' दण्डी ने इस लक्षण को अस्वीकृत किया है और स्वकीय उद्भावनाएं भी की हैं[२] ।

वैसे कात्यायन (३०० ई० पू०) ने अपने एक वार्त्तिक—**'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्'** सूत्र पर **'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च'** में आख्यायिका का उल्लेख किया है तथा पतञ्जलि ने **'महाभाष्य'** में—**'वासवदत्ता, सुमनोत्तरा** और **भैमरथी'** के नाम से तीन आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है ।

इस दृष्टि से 'आख्यायिका' की रचना भी अतिप्राचीन काल से चली आई है यह स्पष्ट है। इनमें किये जाने वाले शब्द-विन्यास शब्दालङ्कारों के पूर्ण पोषक होते हैं, । जिन्हें हम हर्ष-चरितादि के विवेचन में व्यक्त करेंगे ।

(ङ) कथा—

गद्यकाव्य के द्वितीय भेद के रूप में 'कथा' का निर्देश मिलता है। इसमें कथावस्तु कवि की निजी कल्पना के द्वारा प्राप्त होती है और उसका वक्ता भी नायक से इतर कोई व्यक्ति

---

१. विश्वनाथ ने इसको कथा के अनन्तर दिया है।

२. **तयोराख्यायिका किल । नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा । और...अपि त्वनियमो दृष्टः सामायन्यैरुदीरणात्** । इत्यादि (काव्यादर्श, १।२३-२५।) द्रष्टव्य हैं ।

होता है। इसमें आख्यायिका के विभागों के समान उच्छ्वास आदि नहीं होते तथा वक्त्रादि वृत्तों का आद्यन्तप्रयोग भी अभीष्ट नहीं होता। यह भामह का कथन है किन्तु दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि—

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।

अर्थात् ये दोनों भेद एक ही गद्यरूप जाति की दो संज्ञाएं हैं। अमरकोशकार ने—

'आख्यायिकोपलब्धार्था' और **'प्रबन्धकल्पना कथा'** कहकर भामह के लक्षण की ही पुष्टि की है। कथा का विषय कन्याहरण, युद्ध, वियोग, सूर्य-चन्द्रोदय आदि से सम्बद्ध रहता है। इन्हीं विषयों के वर्णन में शब्दालङ्कार के प्रयोगों को प्रसार प्राप्त होता है जो कि विवेचनीय है।

(च) गद्य के कुछ अन्य प्रयोग

आख्यायिका और कथा के अतिरिक्त भी गद्य साहित्य के अन्य अनेकविध प्रयोग संस्कृत-साहित्य में प्रचलित हुए हैं। इनमें **गद्यस्तुतियां, निबन्ध, उपन्यास, जीवन-चरित्र, यात्रावर्णन, लघु-कथा, शास्त्रीय-प्रबन्ध, समीक्षाएं** तथा **पत्र-साहित्य** का समावेश होता है।

इनके अतिरिक्त वृत्तभेदों के नाम से सूचित-दण्डक और उससे बने—

१-सिंहविक्रान्त, २-मत्तमातंग, ३-अनङ्गशेखर, ४-अशोकमञ्जरी, ५-कुसुमास्तबक, ६-कुसुमास्तरण, ७-मेघमाला, ८-उत्तरकाम, ९-बाण, १०-श्यामला, ११-कोमला, १२-चूर्णिका, १३-तूणक, १४-भुजंग और १५-खड्ग' आदि भेद भी गद्यलेखन के प्रकारों में ही आते हैं।

इनके शिल्प-विधान में शब्दालङ्कार का आश्रय बहुधा सापेक्ष है जिनका कुछ विवेचन आगे किया जाएगा।

(छ) 'गद्यकाव्य-मीमाँसा' और अन्य गद्यभेद

श्री अम्बिकादत्त व्यास ने अपनी कृति 'गद्यकाव्य-मीमांसा' में गद्य के **१-ससमास, २-असमास तथा ३-मिश्र** ऐसे तीन भेद **बताये** हैं। इनमें ससमास के तीन भेद **१-अल्पसमास, २-दीर्घ समास** और **३-संकट**—किये हैं और इन्हीं को **'कुसुम, गुच्छ** तथा **वाटिका'** नाम से भी दिखलाया है। ये ही मुक्तक, उत्कलिका और चूर्णक हैं। गद्य के **१-वृत्तगन्धि, २-अवृत्त-गन्धि** एवं **३-संकीर्णक** भेदों को बतलाते हुए उन्होंने आगे अलङ्कार तथा रीति पर आधारित गद्यों की भी कल्पना की है, जिनमें यमक, श्लेषादि-गर्भित गद्यों का समावेश होता है। इनमें उपन्यास गद्यकाव्य है। इसी उपन्यास-रूप गद्यकाव्य के नौ भेद—१-कथा, २-कथानिका, ३-कथन, ४-आलाप, ५-आख्यान, ६-आख्यायिका, ७-खण्डकथा, ८-परिकथा और ९-संकीर्ण हैं। इसके पश्चात् प्रमुख १९ भेद दिखलाकर, गणितप्रक्रिया की दृष्टि से अनन्त भेद होने का संकेत दिया है जो इस दिशा में किया गया अभिनव प्रयास है।

६-मिश्र-(गद्य-पद्यमय) काव्य

(क) चम्पू

रचना-प्रक्रिया के आधार पर श्रव्य-काव्य का तीसरा भेद **'मिश्र-काव्य'** माना गया है। पद्यात्मक काव्य एवं गद्यात्मक काव्यों के समान ही मिश्र-शैली की रचनाएं भी आदिकाल से ही चली आ रही हैं। वैदिक-वाङ्मय के अन्तर्गत ब्राह्मणग्रन्थों के उपाख्यानों में इस प्रकार की रचनाएं अधिक हैं। **'ऐतरेय-ब्राह्मण** (अ० ३३) का **'नचिकेतोपाख्यान'** परवर्ती चम्पूकाव्य की शैली के लिए मार्गदर्शक कहा जा सकता है। वहां—

"हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजा पुत्र आस।
तस्य ह शतं जाया बभूवुः। तासु पुत्रं न लेभे।
तस्य ह पर्वत-नारदौ गृह ऊषतुः। स ह नारदं पप्रच्छ इति—
यं न्विदं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किं स्वित् पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व भारत ॥१॥ इति।

इस प्रकार के प्रयोग हुए हैं तथा यही पद्धति उपनिषदों—प्रश्न, मुण्डक और कठ आदि में आगे बढ़ी है। **कठोपनिषद् के 'नचिकेतोपाख्यान'** में—**ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।** (१।१।१) इत्यादि से चम्पूकाव्य की शैली का पूर्वरूप निर्धारित हो रहा था। जातक-ग्रन्थों में भी यह पद्धति अपनाई गई और प्रसाद गुण-पूर्ण रचना-विधान का आश्रय लेकर वक्ता के मुख्य उद्देश्य **'वस्तुबोधन'** पर अधिक बल देते हुए मिश्रशैली को आत्मसात् किया गया।

ईसा की चौथी शती में यह शैली **'प्रशस्तियों'** में विकसित होने लगी। हरिषेण द्वारा रचित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में पद्यों की **'रागमयता'** और गद्यों की **'अर्थगुरुता'** का एकत्र सामञ्जस्य अनुस्यूत है। कृतिकारों ने पतञ्जलियुग के पश्चात् उत्तरोत्तर क्रमशः शब्दों और वाक्यों में नियमन, तनूकरण, अपाकरण आदि प्रवृत्तियों के साथ-साथ नामिकों का प्रयोग एवं दीर्घ-समास-प्रयोग को प्रश्रय दिया और धीरे-धीरे 'चम्पूकाव्य' का स्वरूप निखर आया।

'चम्पू' शब्द की व्युत्पत्ति

चुरादिगण के गत्यर्थक **'चपि धातु'** से ऊ प्रत्यय लगने पर **'चम्पयति चम्पति इति चम्पूः'** यह शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर **'चम्पू'** का अर्थ गति होता है। गत्यर्थक धातुओं के अन्य अर्थ-ज्ञान प्राप्ति अथवा मोक्ष भी होते हैं। इनके अनुसार चम्पू का अर्थ **'मोक्षसहोदर-आनन्दप्रापिका-रचना चम्पू है'** यह कहा जा सकता है। हरिदास भट्टाचार्य ने **'चमत्कृत्य पुनाति इति चम्पूः'** अर्थात् **'सहृदयान् विस्मितीकृत्य प्रसादयति'** ऐसा अर्थ भी किया है।

दण्डी ने काव्यादर्श में इस रचना के लिये **'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यपिभिधीयते'** कहकर यथावत् मान लिया। अग्निपुराण में मिश्रकाव्य के दो भेद किये गये हैं—**१-ख्यात** तथा

२-प्रकीर्णं। 'मिश्र' वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा'[1] इस लक्षण में वपुः के स्थान पर 'चम्पूः' ऐसा पाठ कुछ विद्वान् मानते हैं, जो उचित भी है, क्योंकि वपुः का अर्थ यहां कोई संगति नही रखता। भोज ने चम्पूकाव्य में वाद्य और सङ्गी के मिश्रण से उत्पन्न माधुरी के समान गद्य-पद्य-मिश्रणजनित आनन्द को देनेवाली रचना कहा है—

गद्यानुबन्धपदमिश्रितपद्यसूक्ति-
हृद्यापि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।[2]

हेमचन्द्र ने 'गद्य-पद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा चम्पूः'[3] यह लक्षण देकर 'साङ्क' और 'सोच्छ्वास' ये दो वातें लक्षण में और बढ़ाई हैं। किसी अज्ञात आचार्य ने भी कहा है—

गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा कविगुम्फिता।
उक्ति-प्रत्युक्ति-विष्कम्भशून्या चम्पूरुदाहृता[4]॥

इन्हीं सव लक्षणों का सार-संग्रह करते हुए डा० छविनाथ ने स्वतन्त्र लक्षण इस प्रकार दिया है—

गद्यपद्यमयं श्रव्यं सबन्धं बहुवर्णितम्।
सालङ्कृतं रसैः सिक्तं चम्पूकाव्यमुदाहृतम्॥[5]

इसमें—**१-गद्यपद्यमिश्रित**, **२-श्रव्य**, **३-प्रबन्ध काव्य**, **४-वर्णन प्रधान**, **५-अलङ्कार-बहुल** तथा **६-सरस** ये छह तत्त्व इस काव्य-रचना के प्रधान गुण माने गये हैं।

(ख) मिश्र काव्य के अन्य भेद

मिश्र काव्य के उपर्युक्त 'चम्पू' नामक प्रमुख भेद के अतिरिक्त और भी कतिपय भेद अथवा उनकी संज्ञाएं प्राप्त होती हैं—

१-करम्भक—विभिन्न भाषाओं में लिखित रचना[6]।

२-विरुद—गद्यपद्यमयी राजस्तुति[7]।

३-जयघोषणा—पर्वत वर्णन, गौडी-रीति प्रधान, वर्ण्यनृपति की शूरता का वर्णन तथा आद्यन्त में आशीर्वाद। महीपति नेता[8]।

---

१. अग्निपुराण ३३७-३८।
२. रामायणचम्पू, बालकाण्ड ३।
३. काव्यानुशासन, ८-९१
४. डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित नृसिंह-चम्पू की भूमिका।
५. 'चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन'। पृ० २५१
६. **करम्भकं तु विविधाभिर्भाषाभिर्विनिर्मितम्**। (सा० द० ६-३३७)
७. **गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते**। वहीं
८. सुमतीन्द्र कवि की **'सुमतीन्द्रजयघोषणा'** में स्वयं कवि द्वारा प्रदत्त लक्षण के आधार पर

४-आज्ञापत्र एवं दानपत्र—अलङ्कृत राजाज्ञाएं तथा दानवृत्तान्त।

इन्हें मिश्रकाव्य के खण्डकाव्य अथवा मुक्तक की कोटि में मान सकते हैं।

(ग) मिश्रकाव्य का अन्यतम भेद 'रूपक'

अन्य आचार्यों ने **'रूपक-नाटक'** को भी इसी शैली का एक भेद माना है। किन्तु इतना अवश्य है कि रूपक-दृश्यकाव्य होने से श्रव्यकाव्य से अपने-आप पृथक् हो गया है तथा रूपकों में प्रयुक्त गद्य और पद्यों की भाषारचना चम्पू-काव्य जैसी सुदृढ एवं अलङ्कारादि से पुष्ट मान्य नहीं है। अतः यह भेद इस श्रेणी में नहीं आता है।

१-दृश्य-काव्य

काव्य के दो भेदों में प्रथम भेद **'दृश्य'** है। यह भेद चूंकि ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर हुए हैं अतः श्रव्य का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से माना गया और दृश्य का सम्बन्ध नेत्रेन्द्रिय से। किन्तु यह बात मुख्यता और गौणता पर ही निर्भर है। वैसे दृश्यकाव्य में श्रोत्रेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय दोनों का उपयोग होता है। दोनों एक-दूसरे के अत्यावश्यक पूरक अंग हैं फिर भी आचार्यों के उपदेश को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हुए इस काव्यभेद को 'दृश्य' ही माना है। इसके दृष्टिकोण पर निर्मित रचना को **'रूप, रूपक, नाट्य, नाटक'** आदि नामों से सम्बोधित किया जाता रहा है। **'दशरूपविधाने तु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः**[1]**', 'रूपं दृश्यतयोच्यते' 'रूपकं तत्समारोपात्**[2]**'** और **'दृश्यं तत्राभिनेयं' तद् रूपारोपात् तु रूपकम्**[3] आदि निर्देशों में रूप और 'रूपक' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं तथा ये 'नाट्य' के अर्थ में ही सर्वत्र साहित्यिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होते आये हैं। हम भी यहां आलेखन में नाट्य, नाटक और रूपक इन शब्दों का इसी अर्थ में यथावसर प्रयोग करेंगे।

(क) रूपक अथवा नाट्य-नाटक

रूप् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होने पर **'रूपक'** शब्द बना है। **'रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि**[4]**'** इस व्युत्पत्ति के आधार रूप और रूपक शब्द निष्पन्न हैं। रूपक शब्द का विस्तृत अर्थ 'अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप करना' है। रूपित किए जाने के कारण ही इसे रूपक कहा जाता है। ये रूप वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य हैं। रूपकों के प्रदर्शन में आङ्गिक अभिनय का विशेष महत्त्व है।

इसी प्रकार 'नाट्य' अथवा 'नाटक' शब्द भी अपने अर्थों में महत्त्वपूर्ण हैं। भरत ने

---

१. नाट्यशास्त्र।

२. दशरूपक, प्र० प्रकाश, ७

३. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद। पृ० ३७१

४. नाट्यदर्पण, पृ० २३

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यभावानुकीर्तनम्"[1] कहते हुए सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण बतलाया है और दशरूपककार **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं'**[2] कह कर अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। अभिनवगुप्त ने नमनार्थक **'नट्'** धातु के नाट्य और नाटक शब्द की निष्पत्ति मानी है और नाटक-विवेचन के प्रसङ्ग में हैं अनेक स्थानों पर नमन, प्रह्वीभाव, नति आदि भावों का नाटक के साथ सम्वन्ध व्यक्त किया हैं।[3] इतना ही नहीं, वे नर्तनार्थक **'नट्'** धातुसे भी इनकी सिद्धि मानते हैं।[4] नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र भी इस द्वितीय नर्तनार्थक नट् धातु से ही नाट्य-नाटक शब्द की सिद्धि मानने के पक्ष में हैं[5] और यही पक्ष सर्वमान्य है।

यही नाट्यरूप भी कहलाता है। जैसे रूपक अलङ्कार में मुख पर चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है उसी प्रकार नाटक में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप कर दिया जाता है, अतः नाट्य-नाटक और रूप-रूपक पद समानार्थक ही हैं। नाट्यशास्त्र में भरत ने 'नाट्य' की परिभाषा इस प्रकार दी है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख-समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।। १२२ ।।

तथा अभिनव गुप्त ने इसे विशद करते हुए कहा है कि—

"नाट्यं हि नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकारप्रतिबिम्वालेख्य सादृश्यारोपाध्यवसायोत्प्रेक्षास्वप्नमायेन्द्रजालादिविलक्षणं तद्ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञानभ्रान्तिसंशयानवधारणानध्यवसायविज्ञानभिन्नवृत्तान्तास्वादनरूपसंवेदनसंवेद्यं वस्तु।"

इसका तात्पर्य यह है कि नाट्य एक अलौकिक वस्तु है, जिसके दर्शन से प्रेक्षक अनेकविध विषयों से सम्वद्ध वृत्तान्तों का आनन्द, विलक्षण अनुभव प्राप्त करता है। वस्तुतः नाट्य में सभी आवश्यक तत्त्वों का एक मञ्जुल-मिश्रण होता है—

---

१. नाट्यशास्त्र १, १०४।
२. दशरूपक, प्रथम प्रकाश।
३. **नृपतीनामेव नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति।** अभिनवभारती; १८ अ० पृ० ४१३।
४. **यद्यपि सर्वसूत्रकाराणामर्थो हृदये प्रविष्टो विनेयांश्च विनीतान् करोति।** वहीं पृ० ४१४ **प्रधानपुरुषार्थे प्रधानविनेयानां अन्यत्रान्येषां वेदयतोऽवर्नाति व्युत्पत्तिं ददाति। तत एव नाटकमुच्यते।** (वहीं)
५. **नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयति इति नाटकम्।** नाट्यदर्पण, पृ० २५।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

इसीलिए यह कथन भी प्रसिद्ध है । महाकवि कालिदास ने भी इसका महत्त्व इन शब्दों में स्वीकृत किया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।।

रूपकों की संख्या

भरत मुनि ने रूपक के शुद्ध दस भेद बताये हैं तथा साथ ही नाटक और प्रकरण के संकर से अन्य दो अन्य संकीर्ण रूपकों का भी उल्लेख किया है[1] जो नाटी और प्रकरणी नामक हैं। धनञ्जय और धनिक इसे स्वीकार नहीं करते जबकि हेमचन्द्र तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र पूरे बारह भेद मानते हैं[2] ।

(ख) उपरूपक

संस्कृत-नाट्यशास्त्रियों ने रूपकों को दो भागों में बाँटा है : **१—मुख्य** अर्थात् **रूपक** और **२—गौण** अर्थात् **उपरूपक** । नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, अभिनवभारती, तथा **दशरूपक** में भी ऐसा कोई भेद नहीं प्राप्त होता है, जब कि धनिक ने दशरूपक की व्याख्या में सात उपरूपकों का नामाङ्कन किया है । अतः धनिक ही इस प्रकार के दो भेद बतानेवाले प्रथम आचार्य हैं । वैसे उपरूपकों का लक्षण भी कुछ विशेषताओं को छोड़कर नाटक के समान ही होता है— 'विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्यं नाटकवन्मतम्' कहकर विश्वनाथ ने स्पष्ट कर दिया है ।[3]

इस प्रकार रूपक और उपरूपक दोनों नाट्य के अन्तर्गत हैं । रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में भाव, नृत्त और नृत्य की मुख्यता रहती है ।

जिस प्रकार रूपकों की संख्या एक निश्चित अंक तक स्थिर नहीं रही उसी प्रकार उपरूपकों की संख्या भी निश्चित नहीं रही है । अग्निपुराण में दस रूपकों के स्थान पर सोलह

---

१. **अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदःप्र योक्तृभिर्ज्ञेयः ।**
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये ।। नाट्य० १८, ५७ ।

२. दशरूपक में धार्मिक भावना के आधार पर दस अवतारों के अनुरूप रूपक के दस भेद बताये हैं और काव्यानुशासन तथा नाट्यदर्पण में **'जिनवाणी'** के द्वादशाङ्गरूपों के अनुरूप बारह भेद माने गये हैं ।

३. साहित्यदर्पण, ६।६।

नामों का उल्लेख, अभिनव गुप्त की अभिनवभारती में दिये गये सात नवीन नामों के अतिरिक्त धनिकप्रदर्शित सात भेद, भावप्रकाश में दर्शित बीस भेद, साहित्यदर्पण में उल्लिखित अठारह भेद तथा नाट्यदर्पण में दर्शित अन्यरूपक-नामवाले भेद इसके साक्षी हैं।

इन दोनों प्रकार के भेदों और उनके उपभेदों का संक्षिप्त लाक्षणिक परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

२- रूपकों के भेदों का संक्षिप्त परिचय

सर्वप्रथम भरत ने—

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ॥
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ।
ईहामृगं च विज्ञेयं दशकं नाट्यलक्षणम्[१] ।। कहकर जिन दस प्रकारों का निर्देश किया है उनके नाम और परिचय इस प्रकार हैं।

(१) नाटक—इसकी रचना में प्रख्यात वृत्त रहता है तथा पांच सन्धियाँ होती हैं। ऐश्वर्य-वर्णन, सुखदुःख की उत्पत्ति, अनेक रसों से व्याप्त पाँच से दस अंक, पुराणादि-प्रसिद्ध नायक, शृङ्गार अथवा वीर में से एक प्रधान रसवाला, निर्वहण सन्धि से उद्भूत तथा गोपुच्छाकार में यह बनाया जाता है।

इस दृष्टि से नाटकादि भेदों में **१-वस्तु (स्रोतोदृष्टि, फलाधिकार-दृष्टि तथा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की दृष्टि से)**, २-अवस्था, ३-उपाय, ४-पताकास्थानक, ५-सन्धि, ६-नायक **(स्वभाव, नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि, प्रकृतिभेद तथा जन्म की दृष्टि से), ६-सात्त्विकादि गुण, ७-विदूषक, ८-नायिका** (अवस्था, काम-भावना, नायक से सम्बन्ध, प्रकृति आदि **की दृष्टि से**), **९-नायिका के अलङ्कार, १०-वृत्ति,** ११-अभिनय, १२-भाषा, १३-अङ्क, १४-**विभाव, १५-अनुभाव, १६-व्यभिचारी भाव, १७-स्थायी भाव तथा १८-रसों को ध्यान में रख कर विभिन्न भेद-व्यवस्था की गई है ।**

(२) प्रकरण—इसमें कल्पित कथा, शृङ्गाररस प्रधान तथा कोई मन्त्री, धनी वैश्य अथवा ब्राह्मण नायक होता है।[२]

(३) अङ्क—एक अङ्क, करुणरस प्रधान, गुणी नायक तथा प्रसिद्ध आख्यान वाला होता है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। आरम्भ अवस्था के पश्चात् फलागम का प्रदर्शन किया जाता है।

(४) व्यायोग—इसमें एक अङ्क तथा एक अङ्क की कथा, स्त्री पात्र का अभाव,

---

१. नाट्यशास्त्र, २०।२-३

२. इसके **'१-शुद्ध, २-धूर्त और ३-मिश्र'** ऐसे तीन भेद होते हैं। द्रष्टव्य-३-विलास, रसार्णवसुधाकर, शिङ्गभूपाल ।

वीर रस की प्रधानता, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियों का समावेश होता है।

(५) **भाण**—इसमें एक अंक, एक विट पात्र तथा आकाश-भाषित का प्रयोग प्रमुख है। विट कल्पित पात्र से बातचीत करता है और धूर्तों के चरित्र द्वारा मनोरञ्जन किया जाता है।

(६) **समवकार**—इसमें बारह तक नायक होते हैं। सभी को पृथक्-पृथक् फल मिलता है। देव अथवा दानवों की कथा को तीन अङ्कों में प्रदर्शित किया जाता है तथा युद्धों का प्रदर्शन भी होता है। विमर्शसन्धि और बिन्दु नामक अर्थप्रकृति नहीं होती है।

(७) **वीथी**—भाण के समान इसमें भी एक अङ्क रहता है। इसका विषय कल्पित होता है तथा शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है।

(८) **प्रहसन**—हास्य रस की प्रधानता से युक्त, एक अङ्क वाला, विकृत आचारवाले पात्र एवं सामाजिक कुरीतियों के प्रति व्यङ्ग्य-प्रदर्शन करनेवाला यह रूपक-भेद होता है।

(९) **डिम**—चार अंक, रौद्ररस प्रधान, मायाजाल से युक्त, देवता अथवा दैत्यरूप सोलह नायकों तथा कैशिकी वृत्ति से रहित यह रूपक-भेद होता है।

(१०) **ईहामृग**—इसमें एक धीरोदात्त नायक तथा प्रतिनायक होता है। नायक किसी कुमारी की स्पृहा करता है किन्तु वह मृग के समान दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायक से छुड़ाता है। यह चार अंकों वाला होता है।

इन नाटक-भेदों में नाट्यशास्त्रीय रचना-निर्देश और कवि की अभिरुचि एवं प्रतिभा के आधार पर शब्दालङ्कारों का समावेश होता है जिनका वर्णन आगे किया जायेगा।

३-उपरूपकों के भेदों का संक्षिप्त परिचय

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि '**१-रूपक और २-उपरूपक**' ये दो वर्ग मुख्यता और गौणता के आधार पर निर्धारित हैं।' इन उपरूपकों के भरतादि प्रोक्त नाम और उनमें से कुछ का वैशिष्ट्य इस प्रकार है—

१-नाटी—नाटक और प्रकरण के योग से निष्पन्न। दो नायिकाएं। इसी को '**नाटिका**' भी कहते हैं तथा अन्य आचार्यों ने इसके **चार अंक** भी माने हैं।

२-प्रकरणी—इसमें नायक प्रकरण के समान होता है। स्त्रीप्राप्ति पूर्वक द्रव्यादि लाभ इसका फल है। शेष लक्षण नाटिका जैसे ही हैं।

ये दोनों नाम भरत द्वारा वर्णित हैं। अग्निपुराण में—

१-तोटक, २-नाटिका, ३-सट्टक, ४-शिल्पक, ५-कर्ण, ६-दुर्मल्लिका, ७-प्रस्थान, ८-भाणिका, ९-भाणी, १०-गोष्ठी, ११-हल्लीसक, १२-काव्य, १३-श्रीगदित, १४-नाट्य-रासक, १५-उल्लाप्यक तथा १६-प्रेक्षणक का वर्णन हुआ है।

अभिनव गुप्त ने 'अभिनव-भारती' में—

१-डोम्बिका, २-षिद्गक, ३-रासाक्रीडम् तथा ४-रासक, ये नाम नये प्रस्तुत किये हैं। भावप्रकाश में जिन बीस उपरूपकों का उल्लेख है उनमें **१-संल्लाप, २-नाट्यरासक, ३-लासक, ४-मल्लिका, ५-कल्पवल्ली तथा ६-पारिजात** ये नाम नवीन हैं। विश्वनाथ के अठारह उपरूपकों में **१-विलासिका** (विनायिका) नाम नवीन है और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने **१-शम्या** नाम नया दिया है। इनमें कुछ उपरूपक तो शुद्धतया आङ्गिक अभिनय वाले ही हैं तथा अन्य में भाषा, नायक-नायिका, कथावस्तु आदि के कारण नामभेद प्रस्तुत हुए हैं।

४-समीक्षादृष्टि का स्पष्टीकरण

रूपक-साहित्य में दृश्य-विधानात्मक पक्ष ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है किन्तु दृश्य को प्रकट करने के लिए नाट्यकार वाणी का आश्रय लेते हैं। हमारा प्रारम्भिक काव्यशास्त्रीय-विवेचक ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र ही है। उसमें नाट्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन तो है ही, साथ ही नाटक के अवलोकन से उपलब्ध होनेवाले आनन्द का भी निदर्शन कराया गया है। यथा—

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

ऐसी उक्तियों से केवल विनोद ही नहीं अपितु साहित्यिक आनन्द की उपलब्धि का संकेत भी प्राप्त होता है। यह आनन्द अलौकिक ब्रह्मानन्द का सहोदर है। मानवमात्र इस आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। रूपक इसकी प्राप्ति के साधन हैं।

शब्दालङ्कारों का सीधा सम्बन्ध रूपक-साहित्य से नहीं रहा है तथापि रूपकों में आनेवाले वर्णन एवं इनकी शास्त्रीय पद्धतियों के आधार पर कहीं-कहीं इस अलङ्कार-भेद का समावेश प्राप्त होता है जिसे हम अग्रिम विवेचना खण्ड ३ के प्रथम अध्याय में व्यक्त करने का प्रयास करेंगे।

———

पहला अध्याय

प्रागालोच्य वाङ्मय में शब्दालङ्कार

(संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ समीक्षण)

१-वैदिक पद्य-वाङ्मय में शब्दशय्या

विश्वसाहित्य में प्राथमिक काव्यमय कृति के गौरव को प्राप्त **'वैदिक-वाङ्मय'** का क्षेत्र-विस्तार पर्याप्त है। इसमें क्रमशः—**ऋग्**, **यजुः**, **साम** तथा **अथर्व** नामक चार संहिताएं, इन, चारों वेदों की शाखाओं से सम्बद्ध ग्रन्थ, **ब्राह्मण**, **आरण्यक** और **उपनिषद्**, **कल्पसूत्र-१- श्रौत २गृह्य, ३-धर्म** तथा **४-शुल्वसूत्र'**—इन सभी का समावेश होता है।

वेदों का प्रतिपाद्य कोई शास्त्रीय साहित्यिक विषय नहीं है, किन्तु इनकी रचना-पद्धति साहित्यशास्त्र के तत्त्वों को अवश्य उपस्थापित करती है। मन्त्रद्रष्टा महर्षियों द्वारा दृष्ट इस साहित्य में हमारे प्रतिपाद्य शब्दालङ्कार से सम्बद्ध साहित्य की भी कोई कमी नहीं है। इनके मन्त्रों में शब्दालङ्कार के उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सभी लक्षणों के उदाहरण हमें प्राप्त हो जाते हैं। यह कहा जा सकता है कि ऐसे उदाहरणों के बारे में भाष्यकार ने कहीं सङ्केत दिये हैं क्या? तो इसका उत्तर हो सकता है कि 'ऐसे अलङ्कारों और उनके प्रभेदों का साक्षात् सङ्केत तो वहाँ नहीं हुआ है किन्तु लक्ष्यों के आधार पर लक्षण-निर्धारणों करने की रीति से इन शब्दालङ्कार और इनके भेद-प्रभेदों का समन्वय अवश्य किया जा सकता है। वैसे यह तथ्य भी है कि 'रचनाकार अपनी रचनाओं के लिए पहले किस पद्य में किस अलङ्कार का समावेश करना है? इसकी कोई तालिका नहीं बनाता।' हाँ, उसके स्वाध्याय और अभिरुचि के आधार पर ऐसे अलङ्कार स्वयं उन रचनाओं में अन्तर्निविष्ट हो जाते हैं। वेदादि ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं।

वेदमन्त्रों में प्रयुक्त पदशय्या एक अपूर्व आलङ्कारिक चमत्कार को स्वयं प्रस्तुत करती है। स्वर एवं लय का अद्भुत सङ्गम प्रासादिक चेतना प्रदान करता है। व्यञ्जन का स्थान-साम्य, प्रयत्नसाम्य और उच्चारण-साम्य अनुनादात्मक आह्लाद की सृष्टि करते हैं। पदों का क्रमिक अथवा क्रमहीन आवर्तन शब्दालङ्कार के भिन्न-भिन्न गुणों का माधुर्य उत्पन्न करता है तथा वाक्य-कदम्ब में निहित साहजिक सुन्दरता मन को प्रफुल्लित करती है। ऐसी ही रचनागत-प्रवृत्तियों को उत्तरकाल में शब्दालङ्कार की संज्ञा दी गई है। कुछ आचार्यों ने

इसे **'शय्या'** और **'पाक'** के नाम से भी अभिहित किया है। इन्हीं सबके आधार पर हम इस वाङ्मय में कुछ शब्दालङ्कारों की संयोजना के दर्शन करते हैं जिसका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

(१) अनुप्रास—

अनुभूति की तीव्रता और चित्तवृत्ति के स्वाभाविक परिणाम की परिणति से साम्य और लय की उद्भूति होती है जो शब्दशय्या द्वारा अनुप्रास के स्वरूपों की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इस दृष्टि से १-वर्ण-साम्य २-शब्द-साम्य और ३-वाक्य साम्य के प्रयोग अनुप्रास की परिधि में आते हैं। ऐसे प्रयोग वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध हैं। यथा—

(१) **शरासः कुशरासो दर्भासः सर्या उतः।** (ऋग्० १।१६१।३।)

(२) **सो चिन्नु न मराति नो वयं मराभरे।** (वही १।१६१।१०)

(३) **वृश्चिकस्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम्।** (वहीं-१६[1])

(४) **पिपीले अंशुर्मद्यो न सिन्धुरा त्वा शर्मा शशमानस्य शक्तिः।**
अस्म्यद्रचक् शुशुचानस्य यम्या आशुर्न रश्मि तुव्योजसङ्गोः॥ (वहीं ४।२२।८)

(५) **स चित्रं चित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्रचित्रतमं वयोधाम्।**
चन्द्रं रयिं पुरु वीरं बृहन्तं चन्द्र चन्द्राभिगृणते युवस्व॥ (वहीं ६।६।७)

इन मन्त्रों में **वर्णशय्या** और **शब्दशय्या** के रूप दर्शनीय हैं। जिसे हम छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास कह सकते हैं। यजुर्वेद के—**धूरसि धूर्वधूर्वन्तं धूर्वतं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वामः॥** (१।८) तथा—**'आरात्रिः पार्थिवं रजः'** इत्यादि मन्त्र में—**आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।** (१६।४८) आदि मन्त्रों में **वृत्त्यनुप्रास** और भी **स्फुट** हुआ है। लाटानुप्रास के लिए—**अदृष्टा विश्वदृष्टा प्रतिबुद्धा अभूतन** (ऋ० १।१६१)५) में 'दृष्टा' पद की आवृत्ति उदाहरणरूप है। इसी प्रकार अथर्ववेद का—**शन्नो देवीरभीष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्रवन्तु नः॥** (१।६।१) में भी शं का अर्थ एक होते हुए भी तात्पर्यभेद होने से लाटानुप्रास अलङ्कार माना जा सकता है।

(२) यमक—

यमक के उदाहरण भी बहुधा वेदमन्त्रों में उपलब्ध हैं। भरत के **'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्'** इस लक्षण के अनुसार यहाँ पदावृत्ति और भामहादि के अनुसार **'भिन्नाभिधेयपरस्पर-तुल्यश्रुतिक वर्णों के पुनर्वाद** का प्रयोग इनमें दर्शनीय है—

---

१. इन तीनों मन्त्रों में आये पदों को भिन्नार्थक मानने पर यमक के भी ये उदाहरण बनते हैं।

वेदा योवीनां पदमन्तरिक्षेण पततां, वेद नावः समुद्रियः। (ऋ० ११।२५।७।)
वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः, वेदा य उपजायते। (वहीं १।२५।८)

इन मन्त्रों में **'वेद'** शब्द की आवृत्ति व्यवधान-पूर्वक हुई है, जब कि—

आरथं भानुमो भानुमन्तमग्ने तिष्ठ यजतेभिः समन्तम्। (वही ५।१।११) में **'भानु'** और **'मन्त'** पदों की आवृत्ति में यमक है। **'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतु नैतो शेव तुर्फरी पर्फरीका।।** (ऋ० १०।१०६।६) में तीनों **'फरी'** का निरर्थक और **'तुर्फरी'** का एक निरर्थक और एक सार्थक आवर्तन यमक अलङ्कार का निदर्शन है। ऐसे ही **'कङ्कतो न कङ्कतो यो०** (ऋ० १।१९१।१) में और—**'शरासः कुशरासः**—इत्यादि (ऋ० १।१९१।३ तथा ५।७६।२) **'अदृष्टा विश्व-दृष्टा'** इत्यादि (ऋ० १।१९१।५-६ तथा ६।४७।२), **क्लीबं क्लीबं त्वाकरं वध्र वध्रि त्वाकर-मरसा सन्त्वाकरम्** (अथर्ववेद ६।१६८।) **ददद्दृचा सनं यते ददन्मेधामृतायते** (वहीं-५।२७।४),

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृन्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।। (ऋ०)

प्राव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे। (ऋ० १।१४२।१)
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। (ऋ० १०।७१।५)

इत्यादि अनेक मन्त्रों में यमक के कुछ भेदों को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

(३) पुनरुक्तवदाभास—

इस अलङ्कार-भेद का उदाहरण—**'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव'** इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र में 'वाण' और 'विशिख' जैसे **समानार्थक पदों के आभास से** उपलब्ध हो जाता है।

(४) वक्रोक्ति —

ऋषियों की वाणी में बहुधा वक्रोक्ति प्रयुक्त है, भाष्यों में दर्शित वेद-मन्त्रों के प्रतीय-मानार्थ इसके साक्षी हैं।

(५) श्लेष—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते। इत्यादि मन्त्र एवं अन्यान्य मन्त्रों में आए हुए पदों के श्लिष्टार्थों से ज्ञात होता है कि श्लेष अअङ्कार भी वेदों में प्रायः व्यवहृत है। **'शतपथ ब्राह्मण'** (१।३, १।२५, २।३, ३।७।४, ५।२, आदि मन्त्रों) में हित शब्द

हत तथा हितकर, वर्ष शब्द वृष्टि और संवत्सर एवं महिषी शब्द राजमहिषी और भैंस के अर्थों में प्रयुक्त हैं जो श्लेषालङ्कार के ही उदाहरण हैं। चित्रमयी भाषा का प्रयोग वेदों में व्याप्त है। वेदमन्त्रों के जटा, घन, पद, क्रमादि विकृतियों के पाठों में **'गतिचित्र'** के दर्शन सहज होते हैं। क्रम के पाठ के **१-अनुक्रम**, **२-उत्क्रम**, **३-व्युत्क्रम**, **४-अभिक्रम** और **५-संक्रम**[1] जैसे भेदों में यमक तथा लोम-विलोम-पाठ, चित्र, सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम और कामधेनु-बन्ध आदि में होने वाले पाठों की पद्धति उपलब्ध हो जाती है। गूढता के रूप में—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥३।१।१॥

मुण्डकोपनिषद् का यह मन्त्र तथा प्रहेलिका के रूप में—

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिदमस्य भैषजं किं वा वपनं महत् ॥

जैसे मन्त्रों को लिया जा सकता है। इतना ही नहीं, यदि कुछ ध्यान-पूर्वक विचार किया जाये तो—

१- **स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।**
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

२- **वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनीस्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि।**
वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥

जैसे मन्त्रों से **'स्वस्तिक-बन्ध, चतुर्दल** और **पञ्चदल-कमल-बन्ध'** भी सहज बनाये जा सकते हैं। आवृत्ति के प्रकारों तथा एकसमान वर्णों और पदों की पुनः पुनः स्थापना से ही तो चित्रबन्धों की रचना होती है, और वह वेदमन्त्रों में अनेकत्र प्राप्त है। इसी प्रकार कुछ मन्त्रों के चतुर्थ चरणों में **'स जनास इन्द्रः, कस्मै देवाय हविषा विधेम'** इत्यादि चरणों की आवृत्ति से समस्यापूर्ति का भी उदाहरण प्राप्त कर सकते हैं।

वेद और उपनिषद् में गूढार्थक मन्त्रों की बहुलता है। इन्हें **कूट-मन्त्रों** की संज्ञा देते हुए भाष्यकारों ने विभिन्न प्रकार से अर्थ किये हैं। उदाहरण के लिए—

द्वादश प्रधयश्च त्रीणि नभ्यानिक उ तच्चिकेत।
तस्मिंत्साकं त्रिशता शंकवोर्पियाः षाष्टिर्न चलाचलरसः ॥[2]

---

१. **अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा।**
संक्रमश्चेति पञ्चैते जटायां कथिताः क्रमाः ॥ ४ ॥ (ऋग्वेदीय जटालक्षण)

२. ऋग्वेद, १।६४।४८।

यहाँ संवत्सर का बोध कराने के लिए बारह सन्धि, तीन नाभिवाले चक्र और उसमें तीन सौ आठ शंकुओं का प्रयोग इसकी कूटता का परिचायक है। अथर्ववेद के **'कुन्ताप-सूक्त'** और **'कवष-एलूष'** सूक्त भी गूढार्थक हैं। उपनिषदों में ब्रह्म और जीव का बोध कराने के लिए ऐसे ही प्रयोग हुए हैं। यथा—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्लं तद् ब्रह्म तदेवामृतमश्नुते[1]॥

इस मन्त्र में परब्रह्म का वर्णन गूढ़ है।

अतः यह कहना उपयुक्त ही होगा कि—**'वैदिक पद्य-वाङ्मय में शब्दशय्या'** का स्वरूप-दर्शन करने से शब्दालङ्कारों के विभिन्न रूपों के दर्शन भी प्राप्त होते हैं और वे ही उत्तरवर्ती साहित्यकारों के लिए प्रेरणा-सूत्र के रूप में सहायक हुए हैं।

२-पौराणिक-साहित्य में शब्दालङ्कार : एक चिन्तन

पुराण शब्द प्राचीनता का द्योतक है। इनका वर्ण्य-विषय **१-सर्ग, २-प्रतिसर्ग, ३-वंश, ४-मन्वन्तर** और **५- वंशानुचरित'** हैं[2]। इनमें सृष्टिज्ञान, सृष्टि का पुनररुद्भव, सृष्टि की आदि वर्णावली, विविध मनुओं की कालावधि तथा सूर्य और चन्द्र-वंशों के इतिहास का विस्तार से वर्णन हुआ है।

पुराणों की संख्या प्रमुखरूप से अठारह है। इसके लिए—

म-द्वयं भ-द्वयं चैव ब्र-त्रयं व-चतुष्टयम्।
अ-ना-प-ल्लिङ्ग-कू-स्कानि पुराणानि प्रचक्षते॥

यह पद्य सङ्केतात्मक रूप से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार **'मत्स्य, मार्कण्डेय (२ मादि), भविष्य, भागवत, (२ भादि) ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, ब्राह्म(३ ब्रादि) वामन, वराह, विष्णु, वायु (४ वादि), अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म** तथा **स्कन्द'** पुराणों का ग्रहण होता है। इनके अतिरिक्त उपपुराण भी हैं। इस साहित्य के वर्ण्यविषय ऊपर बताए अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। इनमें अधिकांश आख्यानों का समावेश हुआ है तथा आनुषङ्गिक रूप से प्रकृतिवर्णन, वस्तुवर्णन, स्तुतियां, ज्ञानोपदेश आदि भी विस्तार से किए गए हैं।'

यह तो स्पष्ट ही है कि इनमें साहित्यिक तत्त्वों का समावेश करने का कोई कारण नहीं था। विषय की विशदता और वैदिक दाय का सरलीकरण ही इनका उद्देश्य था। अतः

---

१. बृहदारण्यक, २।३।१ कठ० ६।१

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते, वंशानुचरितं च यत्॥ विष्णुपुराण (३।६।२४)

यथासम्भव कथन को ही महत्त्व दिया गया है।

भागवत-महापुराण में अन्य पुराणों की अपेक्षा भाषा एवं भावों का संयोजन साहित्यिक तत्त्वों के निकट है। इससे पद्य और गद्य दोनों ही कहीं-कहीं अलङ्कृत बने हैं। दशमस्कन्ध में रासपञ्चाध्यायी में जो गोपी-गीत है उसमें प्रत्येक पद्य के प्रथम चरण का द्वितीयाक्षर तथा द्वितीय चरण का द्वितीयाक्षर समानरूप से प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त वहीं अन्य पद्यों में कई स्थानों पर वर्णसाम्य होने से उनसे चित्रालङ्कार के आकृति-चित्र नामक भेदों की भी सृष्टि होती है। डा० रसिकविहारी जोशी ने इस दृष्टि को समक्ष रखकर **'रासपञ्चाध्यायी'** का एक संस्करण प्रकाशित किया है। जिसमें **'नाग-बन्ध, मुरज बन्ध'** आदि प्रमुख हैं। यथा—

व्रजजनार्तिहन् वीरयोषितां, निजजनस्मयध्वंसनस्मितास्।
भज सखे ! भवत्किङ्करीः स्म नो, जलरुहाननं चारु दर्शय ॥

यह ऊपर फन उठाये हुए कुण्डलीकृत **'नागबन्ध'** का उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य छह नागबन्ध और अग्रिम पद्यों से बने दिखाये हैं।

भागवतपुराण में दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के विवेचन में कुछ कूट रचनाएं भी उपलब्ध हैं। यथा—

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलो र्कं प्रविष्टः[२] **॥**

यहां वृक्ष के दो बीज, सौ जड़ें, तीन नाल, पांच स्कन्ध, पांच रसोंवाले फल आदि का जो कथन हुआ है, वह कूट-पद्धति से विश्व का वर्णन है। इसमें प्रत्येक संख्यात्मक वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप से कहा गया है। ऐसा ही एक अन्य पद्य और भी द्रष्टव्य है—

एकातनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरणः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः[३]**॥**

यहां भी संसाररूपी आदि वृक्ष का वर्णन कूट-पद्धति से ही हुआ है। इस पद्धति के अतिरिक्त भागवत में आई हुई विभिन्न स्तुतियां और गीत भी शब्दालङ्कार के विविध तत्त्व को अपने में आवर्जित की हुई हैं। वेद-स्तुति में गद्य की-सी छटा गद्यकाव्य के अलङ्कृत रूप का ही पद्यात्मक रूप हैं। भागवत में स्तुतियां भी अत्यधिक हैं और उनमें अनुप्रास और यमक के प्रयोग बहुत अधिक हुए हैं।

---

१. भागवत- ११, १३-३२

२. द्रष्टव्य **'श्रीरासपञ्चाध्यायी' का साँस्कृतिक अध्ययन'** तथा **श्रीमद्भागवत,** १० स्कन्ध, ३ अ०, ६ श्लोक।

३. वही, २,७०-२७

देवीभागवत में भी इसी प्रकार अलङ्कृत पद्धति का आदर हुआ है तथा प्राकृतिक वर्णनों में शब्दालङ्कार स्वयमेव व्याप्त हो गया है[1]।

'पद्मपुराण' में कहा गया है कि—**"पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्"**— इसके अनुसार ये पुराण केवल प्राचीन कथा-परम्परा को ही नहीं कहते हैं अपितु पूर्व प्रचलित सभी परम्पराओं का आख्यान भी करते हैं, यह स्पष्ट है। **स्कन्दपुराण** के **'काशीखण्ड'** में भगवान् शिव के प्रति पार्वती द्वारा वर्णित काशी-महिमा के प्रसङ्ग में अनुप्रासयुक्त एक पद्य इस प्रकार है—

धराधरेन्द्रस्य धरातिसुन्दरा, न मां तथास्यापि धिनोति साधरा।
धरा गतापीह न या धुरन्धरा, पुरी धुरीणा तव काशिका यथा॥ (४४-३०)

इसी प्रकार **'अग्निपुराण'** और **'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'** में अलङ्कारों का शास्त्रीय निरूपण हुआ है और **'मार्कण्डेय-पुराणगत'** दुर्गासप्तशती **"के" विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं०** जैसे अनेक पद्यों में शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ है[2]।

पुराण-साहित्य में व्याप्त आलङ्कारिक तत्त्वों का संचय कर उनका क्रमिक वर्गीकरण करना एक स्वतन्त्र कार्य है। अतः पुराणों की विशालता एवं विविधता के कारण यह कार्य इस दृष्टि से स्वतन्त्र विवेचन की अपेक्षा रखता है।

इन पुराणों के समान ही जैन-पुराणों की भी रचनायें हुई हैं और उनमें भी शब्दालङ्कारों को स्थान मिला है। उदाहरणार्थ **"आदिपुराण"** (जिनसेन सन् ९०० ई०) के बारहवें पर्व में श्लोक २१९ से २५४ के बीच—**'प्रहेलिका, एकालापक, क्रियागोपित, स्पष्टान्धक गूढचतुर्थक, निरोष्ठ्य, बिन्दुमत्, बिन्दुच्युतक, मात्रा** और **व्यञ्जनच्युत, एकाक्षर, द्व्यक्षरच्युत, प्रश्नोत्तर, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम'** आदि से सम्बद्ध पद्य दिये हैं[3]। इसके अतिरिक्त जैनधर्म से सम्बद्ध—**"आदि-पुराण, उत्तरपुराण, महापुराण, पद्मपुराण, चामुण्डरायपुराण, हरिवंश पुराण, पार्श्वनाथपुराण, पाण्डवपुराण"** आदि की रचनायें हुई हैं। इनमें भी शब्दालङ्कारों के प्रयोग यथास्थान किए गए हैं। इसी परम्परा में **माणिक्यदेव सूरि** (वडगच्छीय) द्वारा रचित

---

१. इन स्तुतियों की संख्या **सौ से अधिक** है तथा इन स्तुतियों पर **"श्रीमद्भागवत-स्तुतीनां समालोचनात्मकमध्ययनम्"** शीर्षक से इन पंक्तियों के लेखक के निर्देशन में **'शोध-प्रबन्ध'** तैयार किया गया है।

२. 'दुर्गासप्तशती' पर विद्वानों ने विभिन्न टीकायें भी लिखी हैं। **'शान्तनवी' टीका** में राक्षस दूत द्वारा भगवती के लिए कहे गए निन्द्यवाक्यात्मक पद्यों के श्लेष द्वारा प्रशंसापरक अर्थ भी किये हैं, जो शब्दालङ्कार के अंग हैं।

३. **'पद्मपुराण, श्रेणिकपुराण, जयकुमारपुराण, कर्णामृत-पुराण** तथा **अगडदत्तपुराण'** आदि अन्य जैनपुराण भी द्रष्टव्य हैं।

"कुबेरपुराण" महत्त्वपूर्ण है। इसका अपरनाम **"नलायन"** भी है जो महाकाव्य माना जाता है। इसमें १० स्कन्ध और ६६ सर्ग हैं। प्रथम स्कन्ध के १४वें सर्ग में शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ है। यथा—

लोलानिलेनाननु नूननुन्ना, नानालिलीलोल्ललल लुलाना।
नूनेन नूनं नलिनाननेन, नलेन लीना ललने ललान॥ ४६

३-उत्तर वैदिक पद्य-साहित्य में शब्दालङ्कार नियोजन

वैदिक-साहित्य के पश्चात् जनजीवन का जैसा विस्तार होता गया, वैसा ही साहित्यिक स्तर भी विस्तृत होता गया। ज्ञान की जो परिपक्व परिणति वैदिक-साहित्य में व्याप्त थी उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने की दृष्टि से उन्हीं विचारों को कुछ सरल शब्दों में प्रस्तुतीकरण का प्रक्रम आरम्भ हो गया।

वैदिक और लौकिक-साहित्य के मध्यवर्ती युग में हमें दो ऐसे 'महाकाव्य' मिलते हैं, जो इन दोनों युगों को पृथक् कर देते हैं। ये दो आर्षमहाकाव्य हैं—**'रामायण'** और **'महाभारत'**। इनमें शब्दालङ्कार का प्रयोग पर्याप्त रूप में हुआ है।

ये दोनों ही उत्तरकाल के कवि और लेखकों के लिए उपजीव्य बने हैं। चूंकि इस विशाल साहित्य की रचना का उद्देश्य केवल साहित्यिक नहीं था, अतः इनमें आलङ्कारिक विकसित पद्धति का कोई निश्चित रूप तो नहीं मिलता है तथापि वाणी के सहज प्रयोग में **'स्वाभाविक अलङ्कृत शैली'** के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार लौकिक-साहित्य के निर्माण में यह साहित्य उपजीव्य रहा है उसी प्रकार शब्दालङ्कारों की सृष्टि एवं पद्धति-निर्धारण में भी यह उपजीव्य रहा है।

इधर **'तान्त्रिक वाङ्मय'** भी इसी मध्यवर्ती काल की उपलब्धि है जिसमें इष्टदेव की स्तुति और ध्यान-सम्बन्धी पद्यों में शब्दालङ्कार के सर्वसाधारण भेदों के अतिरिक्त बहुत से नये-नये प्रयोग निखरे हैं। **'बीजमन्त्रगोपन, मन्त्रगोपन, विधि-गोपन, यन्त्रगोपन'** आदि मुख्यतया इसी वाङ्मय की देन हैं। **आगम, यामल, पद्धतियां** तथा **पञ्चाङ्गादि** में शब्दालङ्कार के विभिन्न भेदों से सम्बद्ध ऐसी अनेक रचनाएं हैं जिनका विस्तार से विवेचन नहीं किया जा रहा है।

४-आदिकाव्य रामायण और महाभारत में शब्दालङ्कार

महर्षि वाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं। उनके मुख से अकस्मात् निःसृत—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह पद्य छन्दोमय काव्य का प्रथम अवतार है। लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होनेवाले सम अक्षरों से युक्त अनुष्टुप् का यह प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने किया; जिसमें लघुगुरु का निवेश

निवेश नियमबद्ध था। इस छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं।

शब्दालङ्कार की दृष्टि से इस **"चतुर्विंशतिसाहस्री-संहिता"** में अनुप्रास का विपुल प्रयोग है। कवि ने चन्द्रमा को अनेक रूपों में व्यक्त करते हुए अन्त्यानुप्रास का पूर्ण निर्वाह किया है। यथा—

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः॥
शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रस्तथा प्रकाशो विरराज चन्द्रः॥ (५।५४ तथा ५७)

वृत्त्यनुप्रास भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। यथा—

स पुष्कराक्षः क्षणजाहिताक्षः क्षरत् क्षतेभ्यः क्षतजं दुरीक्षम्॥ (१६।८६॥)

यह आनुप्रासिक प्रयोग कहीं-कहीं दो-दो पद्यों तक भी बढ़ गया है यथा—

ततः प्रियान् प्राप्य मनोभिरामान् सुप्रीतियुक्ताः समनोभिरामाः।
गृहेषु दृष्टा परमाभिरामां हरिप्रवीरः स ददर्श रामाः॥ (५।२३॥ आदि।)

यहां रामा शब्द का प्रयोग अनुप्रास से आगे बढ़ कर अर्थभेद के कारण **'यमक'** बन गया है। इसी तरह पादान्त-यमक के उदाहरण यहां पर्याप्त प्राप्त होते हैं। सुन्दरकाण्ड के ५वें सर्ग में ऐसे सत्ताईस पद्य प्राप्त हैं। **'आवृत्तिमूलकवर्णध्वनि, भाषा-सङ्घटनात्मक वर्णध्वनि, पदयोजना** और **वाक्यविन्यासरूप शब्दालङ्कारों के प्रयोग'** यहां पर्याप्त विस्तार से हुआ है। **व्याकरणमूलक वर्णध्वनि-समुच्चय** के लिए—**'चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका**[1] जैसे प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। **'क्रियापदों की चमत्कारपूर्ण आवृत्ति'** तथा **'समान-विभक्त्यन्त पदों की आवृत्ति'** भी यहां बहुत हुई है। यथा—

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गमाः॥[2]

इसी प्रकार प्रथमा बहुवचन के प्रयोगों का समुच्चयात्मक-प्रयोग भी चमत्कारपूर्ण हुआ है। यथा—

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः।
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः॥[3]

यहां इन्द्रान्त पदों का प्रयोग भी उतना ही रमणीय है जितना विभक्तियों का। सम्भवतः वाल्मीकि को **'विभक्ति-साम्ययुक्त-पदावृत्ति'** अधिक प्रिय थी। ऐसे अनेक पद्य रामा-

१. वाल्मीकिरामायण ४।३०।४५
२. वा० रा०, ४।३०।२७
३. वही, ४।३०।४३।३

यण में प्राप्त होते हैं जिनमें, प्रथमा, तृतीया, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों के बहुवचनान्त पदों की आवृत्ति हुई है। ऐसे प्रयोगों के अन्त्यवर्णों में एकरूपता होने से चित्रालङ्कार के बन्ध-चित्रों की रचना में भी कोई काठिन्य नहीं आता है। इसी प्रकार **'कृदन्त पदों की आवृत्ति'** भी वहां द्रष्टव्य है। यथा—

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृत्ता जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा जाता मही सस्यवनाभिरामाः॥[१]

यहां **'जाता'** पद की पादारम्भ में आवृत्ति चित्रालङ्कार के लिए पूर्ण उपादेय है। इसी प्रकार **'क्वचित्'** पदावृत्तिपूर्ण पद्य भी आए हैं। अन्यत्र आदिकवि **'अनुरणनात्मक'** पदों की आवृत्ति भी करते हैं। यथा—

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं, बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां, विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति॥[२]

यहां **'विश्रम्य'** पद की आवृत्ति रुक रुक कर आगे बढ़ने के प्रभाव को प्रेषित करती है। भाषा-सङ्घटन भी वाल्मीकि ने उत्तमपद्धति से किया है जो शब्दालङ्कार का ही अंग है। यथा—

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः।
बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीत—सितारुणैः॥[३]

इसमें समानवर्गीय वर्णों की आवृत्ति के साथ ही पूर्वार्ध में 'विशृङ्खलित' और उत्तरार्ध में 'शृङ्खलित' पदों से भाषासङ्घटन में वैशिष्ट्य आ गया है।

इस प्रकार रामायण में शब्दालङ्कार-नियोजन का प्रारम्भिक परिवेश बनता रहा है जो आगे चल कर बहुत उपयोगी तथा मार्गदर्शक सिद्ध हुआ।

'महाभारत' ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जाता है। इसमें हमारे जातीय इतिहास का भव्यरूप निहित है। महर्षि व्यास ने इस महाग्रन्थ में इतने व्यापक रूप से वर्ण्यविषयों का समावेश किया है कि—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'।

यह महाभारतकार का कथन सर्वथा सत्य सिद्ध होता है।

अलङ्काराङ्कन की दृष्टि से इसमें ग्रन्थकार की अनुपम काव्यप्रतिभा स्फुरित हुई है। शब्दालङ्कार के अनुप्रास और यमक भेदों के अतिरिक्त यहाँ श्लेष, एवं चित्रालङ्कार के

१. वही, ४।२८।२६।
२. वही, ३।२८।२२।
३. वही, २।६४।२०

अन्यान्य '**गूढ**' आदि भेदों के विभिन्न प्रयोग भी प्रस्तुत हुए हैं। महाभारत में एक पद्य ऐसा मिलता है जिससे हम '**काव्य की परिभाषा**' का आभास प्राप्त करते हैं। यथा—

अलङ्कृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां श्रियम्॥ (आदि० १।२८।)

इसमें दर्शित '**अलङ्कृत**' पद काव्य में अलङ्कारों की आवश्यकता को स्वीकृत करता है। महाभारत काव्य की रमणीयता से ओत-प्रोत है। कहा जाता है कि इसमें कूट श्लोकों की सङ्ख्या ८८०० है जिनके अर्थ अभिधा से न होकर असाधारण प्रतिभा से किए गए हैं। इन कूटों में चित्रकाव्य के '**प्रश्न, प्रहेलिका, च्युत, गूढ**' आदि अनेक भेद नियोजित हैं और उनके अर्थ की प्राप्ति के लिए श्लेष अलङ्कार का आश्रय अनिवार्य होता है। उद्योग पर्व ३५। ५६ के अनुसार **चित्र-भाष्य** के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव बतलाई गई है। विराट् पर्व ६।२४ में चित्रभाष्य के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। युद्ध प्रकरणों में अनेक अलौकिक चमत्कारसम्पन्न पद्य आते हैं।

ऊपर जिन्हें 'कूट' कहा गया है उनमें '**शब्दाश्रित**' और '**अलङ्काराश्रित**' दोनों ही प्रकार के प्रयोग हैं। इनमें प्रथम शब्दाश्रित कूट में—'**गूढार्थ, अनेकार्थ, मालाकूट, वर्णयोग, वर्णलोप, ध्वनिसाम्य, संख्यार्थ; लाक्षणिक, प्रसंग, व्युत्पत्ति, पर्याय, अप्रयुक्तार्थ, क्लिष्टान्वय और साभिप्राय कूट**' आते हैं तथा द्वितीय अलङ्काराश्रित कूट में—**शब्दालङ्कार ('अनुप्रास, यमक और श्लेष से युक्त), अर्थालङ्कार—(वक्रोक्ति विरोध, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, अन्योक्ति, अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, रूपकातिशयोक्ति, सूक्ष्म, युक्ति** तथा **अर्थश्लेष**" के प्रयोग हुए हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण इस प्रकार हैं—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञं प्रलापज्ञो वचोऽब्रवीत्॥[1]

यहाँ '**प्राज्ञ**' शब्द के तीन अर्थ हैं **१-बुद्धिमान्, २-ग्राम्य और ३-समझने में कठिन।** इसी प्रकार '**प्रलापज्ञ**' के भी दो अर्थ हैं : **१-ग्राम्यजनों की भाषा को जानने वाला** तथा **२-केवल असंस्कृत लोगों की तरह प्रलाप करनेवाला।** इस तरह यहां यमक और श्लेष अलङ्कार का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अपने प्रत्यक्ष अभिधेय अर्थ के वाचक न होकर गुप्तार्थ के सूचक शब्दों के प्रयोग से युक्त यह पद्य भी दर्शनीय है—

अलोहं निशितं शस्त्रं शरीर-परिवर्तनम्।
यो वेत्ति न तु तं हन्ति प्रतिघातविदं द्विषः॥[2]

---

१. महाभारत, १,१४५-२०

१. महाभारत, १, १४५-२२

इसमें अलोहं का अर्थ अग्निग्राही पदार्थों से परिपूर्ण तथा निशितं में 'निशि-रात्रि में तं—उस प्रासाद को, अर्थ अभिप्रेत है। एक अन्य पद्य में यमक का प्रयोग और द्रष्टव्य है—

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ॥[1]

यहां पूर्ण शब्द से ब्रह्म और आत्मा दोनों अर्थ पृथक्-पृथक् लिए गए हैं। महाभारत के ही **'कर्णपर्व'** के निम्नलिखित पद्य में **'गो'** शब्द के प्रयोग अनेक अर्थों में हुए हैं—

गोकर्णः सुमुखीकृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषिता,
गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोषु प्रभम्।
दृष्ट्वा गोगतकं जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै,
गोकर्णासनमर्दयच्च न यथा वा प्राप्य मृत्योर्विशम् ॥

संग्रह ग्रन्थों में महाभारत के कूटों का संग्रह भी स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होता है जिसमें अनेक कूट-पद्यों की व्याख्या की गई है। यथा—

खचरस्य सुतस्य सुतः खचरः खचरी जननी न पिता खचरः।
खचरस्य सुतेन हतः खचरः खचरो परिरोदिति हा खचर ॥[2]

इसमें खचर पद के राक्षस, वायु, हिडिम्ब और सूर्य आदि अर्थ गृहीत हैं। इस प्रकार महाभारत में शब्दालङ्कारों का यह पक्ष प्रबल रूप से विहित है।

५-शब्दालङ्कार-नियोजन की प्रवृत्ति का सामूहिक समीक्षण

जिस प्रकार वैदिक साहित्य में शब्दालङ्कारों के नियोजन के लिये कोई स्वतन्त्र दृष्टि नहीं थी और न वहां ऐसा कोई आग्रह ही था कि मन्त्र-साहित्य को अलङ्कार-सम्पन्न भी बनाया जाए। यही बात पुराणों की रचना में रही है। क्िन्तु यहाँ आकर भाषागत सौन्दर्य के कुछ तत्त्व ढलते जा रहे थे। काव्य-सौन्दर्य के पक्ष **कथा-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, बिम्बयोजना** आदि के माध्यम से अपना स्वरूप प्राप्त कर रहे थे और **वर्णध्वनि, शब्द-संघटना** तथा **विषयानुसारी शब्द-चयन** की दिशा का शुभारम्भ हो रहा था। यह क्रम रामायण और महाभारत में आकर निर्देशक सिद्धान्त के रूप में यत्र-तत्र विशिष्टता के साथ स्पष्ट हो गया। वाल्मीकि और व्यास ने काव्यजगत् में उपयोगी वरेण्य तत्त्वों के कतिपय उदाहरण उपस्थित किये, जिनमें अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति और श्लेष तो

---

१. महाभारत, १, ४६-६

२. **जननी खचरी जनकोऽखचारः**। इति पाठान्तरम्।

आए ही साथ ही कूट-काव्य जो चित्रालङ्कार का ही अपर नाम है वह भी पर्याप्त विकसित रूप में निर्मित हुआ ।

इन प्रवृत्तियों का स्वाध्याय और निरन्तराभ्यास लौकिक संस्कृत के साहित्यस्रष्टाओं के लिए निर्देशक प्रकाश की भाँति मार्गदर्शक बना जिसे अपनी-अपनी प्रतिभा का पुट देकर न केवल उनके आख्यानों और वर्ण्य-विषयों को ही नए रूप में प्रस्तुत किया , अपितु उनमें दर्शित जितनी विधाएं थीं, उन्हें भी पल्लवित करने का पूरा प्रयास किया।

इस प्रकार **'उत्तर वैदिक-साहित्य'** ही वह स्रोत था जिससे अनेक धाराओं में काव्य-सरिताएं बह निकलीं और उन्हीं से आलङ्कारिक परम्पराएँ स्फुरित हुईं । शब्दालङ्कार भी उनमें से एक है जो क्रमशः आगे बढ़ता हुआ अपने स्वतन्त्र स्वरूप को प्रतिष्ठित कर सका।

———

द्वितीय अध्याय

महाकाव्यों में शब्दालङ्कारों का संयोजन

□

शीर्षक की स्पष्ट

प्रस्तुत शीर्षक से हमारा तात्पर्य उन महाकाव्यों से है, जिनकी रचना में शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ हो। इनका विवेचन हम क्रमशः इन दो भागों में करेंगे—

(१) एकशब्दालङ्कारगर्भ महाकाव्य तथा

(२) अनेकशब्दालङ्कार गर्भ महाकाव्य।

सर्वेक्षण की दृष्टि से—

१-ग्रन्थ और ग्रन्थकार,

२-विषय-वस्तु-विश्लेषण

३-समीक्षा एवं मूल्याङ्कन।

इन तीन शीर्षकों में यहां यथावश्यक रूप से—

(क) ग्रन्थ का बाह्य एवं अन्तरङ्ग परिचय,

(ख) ग्रन्थकार का व्यक्तित्व एवं कृतित्वमूलक परिचय,

(ग) कृति में प्रस्तुत शब्दालङ्कारमूलक अंशों का विश्लेषण,

(घ) काव्यशास्त्रीय दृष्टि से परीक्षण,

(ङ) पूर्वप्रभाव एवं नवीन दाय तथा

(च) सामूहिक समीक्षात्मक मूल्याङ्कन।

इन ६ तत्त्वों को न्यूनाधिकरूप में प्रस्तुत करने का प्रयास होगा।

एकशब्दालङ्कारगर्भ महाकाव्य

महाकाव्यों की रचना में यद्यपि कवि का लक्ष्य बड़ा व्यापक होता है। नायक के जीवन की समस्त उदात्त घटनाओं का काव्यात्मक प्रक्रिया से संयोजन करते हुए उसकी वाणी-वचन-विन्यास में सहजगति से अलङ्कारों की संयोजना भी होती रहती है, तथापि ऐसे अनेक महाकाव्य हैं जिनमें शब्दालङ्कारों के किसी एक प्रकार का विशेषरूप से प्रस्फुटन हुआ है। ऐसे काव्यों का परिचय इस प्रकार है।

(१) अनुप्रासगर्भ महाकाव्य

अनुप्रास अलङ्कार इतना सुलभ-प्रवेश है कि यह प्रायः प्रत्येक रचना में उपलब्ध हो जाता है। संस्कृत कवियों ने इसी दृष्टि से इस अलङ्कार को माध्यम बनाकर प्रायः स्वतन्त्र महाकाव्यों की रचना नहीं की है। दो-तीन महाकाव्यों का उल्लेख यहां जो किया जा रहा है वह भी मात्र दिशानिर्देश के लिए ही है। वैसे उत्तरकाल में अन्त्यानुप्रास को अपनाने का भी प्रयास आरम्भ हुआ है किन्तु **गीतिकाव्यों** में इसका सबसे अधिक प्रयोग हुआ है और हो रहा है। कुछ उदाहरणरूप काव्य निम्नलिखित हैं—

१- श्रीकृष्ण-विजय— शङ्कर कवि (सन् १९०३ ई०)

शङ्कर कवि का यह काव्य १२ सर्गों में निबद्ध है। इसमें भागवत के दशमस्कन्ध की कथा का वर्णन है। काव्य में सर्वत्र अनुप्रास का प्रयोग हुआ है। शब्दार्थ-सौष्ठव से सुन्दर, सुकुमार, कवि के **'कृष्णविलासकाव्य'** के समान ही इसमें शब्द-सन्दर्भ की रम्यता लाने तथा उच्चावच वैचित्र्य-सम्पादन के लिए अनुप्रास की धोरणी का सम्यग् निर्वाह किया है। यथा—

मदापगाशीकरसेकशीता, माध्वीलिहां मांसलिता निनादैः।
हरन्तु तापं हरनन्दनस्य, कल्याणदाः कर्णसमीरणा मे ॥ १।१ ॥

यहाँ **'आदिमाक्षरानुप्रास'** की योजना मधुर है। बहुधा इस काव्य में **'द्वितीयाक्षरानुप्रास'** का प्रयोग हुआ है। यथा—

वाटीषु वाटीषु यदीययोषाः, शीतासु नीताः सुरतेन तान्तिम्।
उत्फुल्ल-सम्पल्लवपुष्पशय्या, भद्रासु निद्रासुखमाद्रियन्ते ॥ १।२३॥

यह महाकाव्य आनुप्रासिक रचनाओं में महत्त्वपूर्ण है।

२-प्रास-भारत— सूर्यनारायण सुमति (अठारहवीं शती ई०)

काश्यपगोत्रीय विश्वनाथ सुमति के पुत्र सूर्यनारायण सुमति ने इस काव्य में महाभारत की कथा को अनुप्रासालङ्कारपूर्ण पद्यों में निबद्ध किया है। दक्षिण के कवियों में आनुप्रासिक रचनाओं के प्रति सदा से आदर रहा है। सम्भवतः उसी से प्रभावित होकर इस काव्य की रचना हुई है। तञ्जौर की पाण्डुलिपि सूची भाग ६ में २५३४ संख्या पर इसका उल्लेख है।

३- विजयिनीकाव्य—श्रीश्वर भट्टाचार्य, विद्यालङ्कार (सन् १९०२)

कलकत्ता निवासी श्रीश्वर भट्टाचार्य ने १२ सर्गों में महारानी विक्टोरिया के चरित्र को ग्रथित किया है। इसमें अन्त्यानुप्रास का सर्वत्र निर्वाह हुआ है। कवि ने इसकी रचना के पश्चात् १९०३ में **'विक्रमभारतम्'** महाकाव्य भी लिखा है।

(२) यमकालङ्कार-गर्भ महाकाव्य

१-कीचकवध— नीतिवर्मन् (नौवीं शती ई०)

महाभारत के विराट् पर्व की कथा को आधार बनाकर पांच सर्गों में इस काव्य की रचना की गई है। कवि ने इसकी रचना में श्लेष और यमक अलङ्कार का मुख्यरूप से प्रयोग किया है। इस काव्य पर जनार्दनसेन ने टीका भी बनाई है।

२- युधिष्ठिर-विजय— वासुदेव (नौवीं शती ई०)

रवि के पुत्र तथा 'भारतगुरु' के शिष्य वासुदेव की यह कृति आठ आश्वासों में निबद्ध है। यहां आर्या छन्द का ही प्रयोग हुआ है। कथा का सूत्र महाभारत से गृहीत है जिसमें पाण्डु राजा के आखेटवृत्तान्त से आरम्भ कर युधिष्ठिर के पुनः राज्यसिंहासन पर आरूढ होने तक का वर्णन है। पूरे काव्य में यमकालङ्कार का मधुर-संयोजन इसकी विशेषता है। यथा—

प्रदिशतु गिरिशः स्तिमितां ज्ञानदृशं वः श्रियं च गिरिं शस्तिमिताम्।
प्रशसितपरमदमायं सन्तः सञ्चिन्तयन्ति परमदमा यम्॥ १-१॥

यही **'चरणान्तयमक की पद्धति'** कवि ने अन्ततक अपनाई है। साथ ही काव्योचित वर्णनों की गरिमा से अपनी कृति को मण्डित करने के लिए अन्यान्य अलङ्कारों का भी प्रयोग किया है। श्लेष का प्रयोग भी सहज ही हुआ है। यथा—

गुरुमहिमा ननु परमस्त्रय्या त्वं बोधितः पुमाननुपरमः॥४।७७॥

यहां 'त्रयी' पद से तीन वेद, तीन देव तथा तीन वर्ण अभिप्रेत हैं, जो श्लेष द्वारा प्राप्त हैं। **राजानक रत्नकण्ठ** (काव्यप्रकाश के टीकाकार) ने इस काव्य पर टीका लिखी है।

३-४-शौरि-कथोदय तथा 'त्रिपुरदहन' भी वासुदेव कवि के ही अन्य यमक-काव्य हैं। इनमें क्रमशः प्रथम काव्य में हरिवंश से सम्बद्ध कृष्णजन्म-वृत्तान्त से आरम्भ कर बाणासुर-विजय तक की कथा ६ आश्वासों में और द्वितीय काव्य में शङ्कर द्वारा ३ पुरों के दाह की कथा ३ आश्वासों में वर्णित है। इन काव्यों में भी यमक-प्रयोग पूर्ववत् ही हुआ है। एक-एक पद्य उदाहरणार्थ इस प्रकार है—

कीर्तिमदभ्रां तेन स्मरता भारतसुधामदभ्रान्तेन।
जगदुपहासाय मिता पार्थकथा कल्मषापहा यमिता॥ ॥ (शौ० क०)[1]

बबन्धुरेव बन्धुरे स्ववर्त्मनि स्थितिं जनाः।
पिनाकिनापि नाकिनाममोदि मोदकारिणा॥ (त्रि० द०)[2]

---

१. ईशान पण्डित के पुत्र **नीलकण्ठ** ने इस काव्य की टीका लिखी है तथा व्याख्या के प्रकार का निर्देश इस पद्य में दिया है—

व्याख्या पदच्छेद इह क्रमेण पदान्वयस्तत्क्रमतोऽर्थवादः।
विशेषणानामथ योजनेति, व्याख्या-प्रकारो गदितो मयाऽत्र॥

२. इस काव्य पर **पङ्कजाक्ष** ने **'हृदयग्राहिणी'** नामक टीका लिखी है तथा अन्य चार व्याख्याएं और भी बनी हैं।

५- नलोदय-काव्य—चार सर्गों का यह काव्य भी यमकमय होने से वासुदेव-रचित ही माना जाता है। इसमें विभिन्न छन्दों में महाराजा नल की कथा वर्णित है तथा यमकालङ्कार का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इस काव्य पर २० टीकाएं लिखी गई हैं। टीकाकारों में **रामर्षि** ने इसे नारायण पुत्र रविदेव की रचना कहा है परन्तु **विष्णु** नामक टीकाकार इसे वासुदेवरचित ही मानते हैं। अनेक टीकाओं का निर्माण इस काव्य की महत्ता को व्यक्त करता है। कुछ विद्वान् तो इसकी इस प्रसिद्धि के कारण इसे कालिदास की कृति भी कह गए हैं। इस काव्य का अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

रवितनुभूयमितायाः कृतेर्गतिः शब्दचित्रभूयमितायाः।
जनहासायमिताया धियश्च विवृता मयाधुना यमितायाः॥

इस प्रकार इस काव्य में यमकालङ्कार का जो प्रयोग हुआ है वह **चतुष्पाद-यमक** के रूप में है जबकि पूर्व काव्यों में **द्विपादयमक** ही है।

६- यमकरत्नाकर— श्रीवत्साङ्क (१२वीं शती का आरम्भ)

इस काव्य की रचना पाँच आश्वासों में हुई है। इसमें **'आर्या छन्द'** का प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन करते हुये कवि ने यमकालङ्कार का प्रयोग पूर्णरूप से किया है। **अर्धश्लोकयमक** का प्रयोग निम्न पद्य में दर्शनीय है—

पद्माक्षमासमेतं प्रसन्नतोयदगतिस्वभावस्थम्।
पद्माक्षमासमेतं प्रसन्नतो यदगति स्वभावस्थम्॥

इस प्रकार के काव्य को सुबोध बनाने के लिए कवि ने स्वयं इस काव्य पर स्वोपज्ञ टीका भी बनाई है।

७- रामचन्द्रोदय— वेङ्कटेश (सन् १५वीं शती ई०)

वेङ्कटेश कवि की यह मनोरम कृति रामचन्द्र के चरित्र वर्णन से ग्रथित है तथा इसमें भी यमक अलङ्कार का पूर्णरूप से निर्वाह हुआ है। इस काव्य में ३० सर्ग हैं। कवि ने स्वयं इस पर **'स्वोपज्ञ टीका'** भी बनाई है। इसका रचनाकाल १६३६ ई० है।

८- रामयमकार्णव— वेङ्कटेश (सन् १५वीं शती ई०)

आत्रेय-गोत्रीय श्रीनिवास के पुत्र वेङ्कटेश ने रामचरित्र का यमकालङ्कार-पूर्ण पद्यों में ग्रथन करते हुए इस काव्य की रचना की है। तंजौर की पाण्डुलिपि ग्रन्थसूची भाग ६ पर २६३१ संख्या में इसकी रचना का समय सन् १६५६ ई० बतलाया है।

९- रामचन्द्रोदय— गोपालराय राजेन्द्र (१८वीं शती)

गोपालराय ने इस काव्य के पाँच उच्छ्वासों में राम के चरित्र को निबद्ध किया है। पूरे काव्य में यमक अलङ्कार का प्रयोग हुआ है। तञ्जौर पाण्डुलिपि ग्रन्थसूची भाग ६, ग्रन्थसंख्या ४५३१ पर इसका उल्लेख हुआ है।

१०- सीतास्वयंवर- कुट्टमत्तु चेरिय रामकुरुप्पं (१८४५-१९०६ ई०)

इसमें रामायण पर आधारित सीता के स्वयंवर की कथा वर्णित है। कवि ने यमक-प्रयोग कौशलपूर्वक किया है। यथा—

आसेवे महिमधुरं सदा मुकुन्दं परोभयं महिमधुरम्।
हाटकरुचिपटलसितं स्मितं दधानं शशिप्रभापटलसितम्॥

इस प्रकार इसमें पूर्ववर्ती यमककाव्य-कर्ताओं की परम्परा का निर्वाह हुआ है और आज भी इस प्रकार की परम्परा में काव्य निर्माण हो रहा है।

(३-४) पुनरुक्तवदभास एवं वक्रोक्ति-गर्भ महाकाव्य

अनुप्रास, और यमक अलङ्कार के अनन्तर पुनरुक्तवदाभास तथा वक्रोक्ति नामक भेदों को स्वतन्त्ररूप से आश्रय बनाकर किसी महाकाव्य की रचना नहीं की गई है। ये अलङ्कार शब्दालङ्कार के क्षेत्र में अधिक व्यापक भी नहीं बने हैं। तथापि एक उदाहरण प्राप्त है।

१-कवि रहस्य—हलायुध

कवि हलायुध[1] द्वारा प्रणीत **'कविरहस्य'** काव्य की टीका करते हुए **'रविवर्मन्'** ने इस काव्य को **'अपशब्दाभास'** कहा है—**'आभासन्ति पदान्यत्र प्रचुराण्यपशब्दवत्।'** (इत्यादि) और अन्त में **'अपशब्दाभासाख्ये—कविरहस्यं नाम काव्यं समाप्तम्'** कहा है। अतः यह **पुनरुक्तवदाभास के एक** भेद का काव्य माना जा सकता है।[2]

(५) श्लेषालङ्कार- गर्भ महाकाव्य

महाकाव्यों के प्रणयन में कवियों ने पहले यत्र-तत्र श्लेष का प्रयोग करके एक मार्ग आविष्कृत किया तब उसी मार्ग का स्वतन्त्र रूप से अवलम्बन लेकर पूरे महाकाव्यों की रचना भी श्लिष्टरूप में प्रारम्भ हो गई। ऐसे काव्यों का प्रणयन दण्डी के **'द्विसन्धान काव्य'** से आरम्भ हुआ था, जिसका स्मरण भोज ने किया है, किन्तु आज वह काव्य उपलब्ध नहीं है।

राघव-पाण्डवीय (द्विसन्धान)— धनञ्जय (आठवीं शती का उत्तरार्ध)

उपलब्ध द्विसन्धान काव्यों में धनञ्जय का यह काव्य ही सर्वप्रथम है। इसमें रामायण और महाभारत की कथा इस कुशलता से लिखी गई है कि प्रत्येक पद्य के एक अर्थ से रामचरित निकलता है तो दूसरे अर्थ से कृष्णचरित। १८ सर्गों के ११०५ पद्यों में विभिन्न छन्दों का आश्रय लेकर कवि ने महाकाव्य के लक्षणों का पूरा निर्वाह किया है। साथ ही साधारण महाकाव्यों के समान अन्तिम सर्ग में विशेषरूप से शब्दालङ्कार-मूलक पद्यों की रचना को भी स्थान दिया है। इसमें यमक, एकाक्षरपाद, एकाक्षर बन्ध, द्व्यक्षर, पाद द्व्यक्षर, चतुरक्षर-बन्ध, शृंखला, गोमूत्रिका, गतप्रत्यागत, मुरज, समुद्गक, अश्वप्लुत, मुरजबन्ध, अर्धभ्रम,

---

१. यह कवि **काञ्जीवरम्** के निकटस्थ **आरसालई** नामक एक गांव का निवासी था। इसने इसी प्रकार का इसी नाम का एक अन्य काव्य और बनाया था।

२. उन्नीसवीं शती के **चिदम्बर**-निवासी **वेङ्कटकृष्ण** नामक एक कवि ने **'रामचन्द्रोदय'** नामक एक और महाकाव्य की रचना की है, जो इसी कोटि में आ सकता है।

षडरचक्र आदि अनेक पद्य हैं। यह सर्ग १४५ पद्यों से बना है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

वनेऽपूरि रिपूनेव नेंयताक्षक्षतायने।
पूतानेककनेतापू रिक्षकर्ममर्क क्षरि ॥१।५८॥
व्यापिपद् व्यापि पद्मोऽसौ रूक्षोरूक्षोभपीवरौ।
तौ भुजौ भूभुजौ पूर्वं वाचो वाचोद्धरो विभुः ॥१।८४॥

अश्वप्लुत-मुरजबन्ध का पद्य इस प्रकार है—

हरिः क्रान्तमतं भूतगरिमान्तगतं बत।
वरित्सुं तत्र तष्ट्वा तमरिणान्तरतप्यत ॥ १।१०४॥

'धनञ्जय-नाममाला' तथा 'विषापहार-स्तोत्र' ये दो अन्य रचनाएं भी धनञ्जय की प्राप्त होती हैं। महाकवि राजशेखर ने इनकी प्रशंसा में लिखा है—

द्विसन्धाने निपुणतां स तां चक्रे धनञ्जयः।
यथा जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः ॥[1]

तथा वादिराज ने अपने **'पार्श्वनाथ-चरित'** के प्रारम्भ में—

अनेकभेदसन्धानाः, खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः, कर्णस्येव प्रियाः कथम् ? ॥ कहा है।

इस 'राघव-पाण्डवीय' काव्य पर तीन टीकाएं बनी हैं, जिनमें प्राचीन दो टीकाएं अभी अप्रकाशित हैं।

२-ऋषभनेमि-काव्य— सूराचार्य (सन् १०३३ ई० रचनाकाल)

ऋषभनाथ और नेमिनाथ के चरित्र का एकसाथ वर्णन करनेवाला यह द्विसन्धानकाव्य द्रोणाचार्य के शिष्य तथा **'ओघनिर्युक्ति'** के टीकाकार श्रीसूराचार्य ने बनाया है। **'नेमिचरित्र-महाकाव्य'** तथा **'नेमिनाभेय-द्विसन्धान-काव्य' इसी के अपर नाम हैं।**

(क) **नाभेय-नेमि-काव्य**—नाम से ही हेमचन्द्रसूरि नामक (कलिकाल-सर्वज्ञ से अतिरिक्त) अजितदेवसूरि के शिष्य ने भी बनाया है जिसका संशोधन श्रीपाल (प्रज्ञाचक्षु)कवि ने किया था। लेखक ने इस पर 'स्वोपज्ञ टीका' भी बनाई है जो अप्रसिद्ध है तथा पाटन (गुजरात) के भण्डार में हैं। इसका रचनाकाल भी ग्यारहवीं शती ही है।

३-रामपाल-चरितम—सन्ध्याकरनन्दी (बारहवीं शती ईसवी)

प्रस्तुत काव्य में कवि ने प्रभु रामचन्द्र और बंगाल के समकालीन राजा रामपाल इन दोनों के चरित्र को श्लेष द्वारा निबद्ध किया है। इस तरह यह काव्य भी **'द्विसन्धान शैली'**

---

१. सूक्तिमुक्तावली में संगृहीत।

का ही माना जाता है। इसका संक्षिप्त नाम 'रामचरित' भी है। इसमें पांच सर्ग हैं जिनमें दो सौ बीस आर्याएं हैं। कवि उत्तरबंगाल के निवासी थे तथा इनके पिता का नाम प्रजापति नन्दी था और वे रामपाल के उच्च राज्याधिकारी थे।

४-राघव-पाण्डवीय— कविराज सूरि (बारहवीं शती ईसवी उत्तरार्ध)

इस काव्य में रामायण और महाभारत के आधार पर द्विसन्धान-पद्धति से प्रत्येक पद्य में दो अर्थों द्वारा दो कथाओं का क्रमिक ग्रथन हुआ है। इसमें १३ सर्ग हैं। कवि ने प्रथम सर्ग में अपनी इस रचना-पद्धति के बारे में लिखा है—

श्रीरामायणमाणिक्यं, भारतस्वर्णमुद्रितम्।
न कस्य कुरुते लोके, विस्मयोल्लासिताननम्॥३६॥
प्रायः प्रकरणैक्येन विशेषणविशेष्ययोः।
परिवृत्या क्वचित्तद्वदुपमानोपमेययोः॥३७॥

क्ववचित्पदैश्च नानार्थैः क्वचिद् वक्रोक्तिभङ्गिभिः।
विधास्यते मया काव्यं श्रीरामायणभारतम्॥३८॥
पदमेकमपि श्लिष्टं वक्तुं भूयान् परिश्रमः।
कथाद्वयैक्यनिर्वोढुः किं धरापतितोऽधिकम्॥३९॥
एकत्र चन्द्रातपसुन्दरस्य, पार्श्वे परस्मिन् स्फुरदुष्णभासः।
अयं सुमेरोरनुयाति लीलां, कथाद्वयाश्चर्यमयः प्रबन्धः॥

इस दृष्टि से काव्य की महिमा दिखला कर भी कवि ने अपनी विनम्रता निम्न पद्य से व्यक्त की है—

दोषान्धकारव्यपसारणेन, गुणाम्बुजोन्मीलननित्यदक्षाः।
सन्तः प्रबन्धं मम शोधयन्तु, लोकं मयूखा इव चण्डरश्मेः॥

इस प्रकार द्व्यर्थीकाव्य की परम्परा के आरम्भ तथा उसकी प्रक्रिया पर कविराज सूरि ने अच्छा श्रम किया है जो श्लेषालङ्कार का पूर्ण पोषक है।

५-पार्वती-रुक्मिणीय— विद्यामाधव (बारहवीं शती का मध्यकाल)

नौ सर्गों में निबद्ध शिव-पार्वती तथा कृष्ण-रुक्मिणी के परिणय की कथा को एक साथ श्लिष्टरूप में प्रस्तुत करनेवाला यह काव्य द्विसन्धान-पद्धति पर लिखा गया है। कवि ने भारवि के **'किरातार्जुनीय की टीका'** भी लिखी है। यह चालुक्य सोमदेव का सभा पण्डित था।

६–रसिकरञ्जन—रामचन्द्र कवि (सन् १५२४ ई०)

लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचन्द्र कवि ने इस रचना के निर्माण के बारे में लिखा है कि— **'एक श्लोक में ही वैराग्य और शृङ्गार से युक्त कथा को स्फुट रूप में कौन कह सकता है?** इस प्राकर की जनश्रुति को सुनकर मैं श्रृंगार-वैराग्य परक अर्थों से समन्वित १२५ पद्यों की

रचना करता हूं।[1] उदाहरणार्थ—

अहह सहजमोहा देहगेहप्रपञ्चे, नवरतमतिभग्ना कामिनीविग्रहाप्तिः।
तदहमिह विहर्तुं सन्ततामोदमुग्धा, स्वहितमहितकृत्यं हन्त ! नान्तः स्मरामि ॥६९॥

यहाँ श्लेष द्वारा **'कामिनी-विग्रहाप्ति'** और **'कामि-नीवि-गृहाप्ति'** जैसे पदच्छेदों से दो अर्थों का ग्रहण हुआ है। वैसे रचना के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि शब्दालङ्कार के अन्यान्य भेदों का भी इसमें अच्छा समावेश हुआ है। कवि की अन्य रचना **'रोमावलीशतक'** भी उत्तम है।

७-यादव-राघवीय—वेङ्कटाध्वरी (सत्रहवीं शती ई०)

'विश्वगुणादर्शचम्पू' के लेखक वेङ्कटाध्वरी ने कविराज के **'राघवपाण्डवीय'** के अनुकरण में इस काव्य की रचना की है। इसमें श्लेष के साथ ही अन्य शब्दालङ्कारों को भी महत्त्व मिला है। पद्यरचना प्रौढशैली में है। यथा—

साकेताख्या ज्यायामासीद्याविप्रादीप्तातार्थाधारा।
पूराजीतादेवाद्याविश्वाप्ताग्र्या सावाशारावा॥

ऐसे पद्यों में निहित अर्थ-वैशद्य सरलता से ज्ञात नहीं होता है। साथ ही श्लेष-सिद्धि के लिये पदों को प्रायः समस्तरूप में लिखना भी आवश्यक हो जाता है इससे भी अर्थप्राप्ति में काठिन्य रहता है।

८-यादव-राघव-पाण्डवीय— राजचूडामणि दीक्षित (१७वीं शती ईसवी)

'रत्नखेट' यह उपाधि कवि के पिता श्रीनिवास दीक्षित(शितिकण्ठ-विजय-महाकाव्यादि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता) को उनके आश्रयदाता चोलवंशीय राजा ने प्रदान की थी। अतः यह तथा **'अद्वैताचार्य, षड्भाषाचतुर, अभिनवभवभूति'** जैसी अन्य उपाधियों से विभूषित अनेक रचनाओं के पुरस्कर्ता कवि ने अपने पिता के चरित्र को **'रत्नखेटविजय'** नामक काव्य में प्रस्तुत किया है। यह कवि अपनी प्रौढ रचनाओं से प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत काव्य **'त्रिसन्धान-काव्य'** की परम्परा में लिखा गया है और इसमें **कृष्ण, राम और पाण्डवों के चरित्र** ग्रथित हैं।

(क) **'मञ्जुभाषिणी'** नामक काव्य **'प्रत्यक्षरश्लेषमय'** भी इसी कवि ने लिखा है।

९-राघव-यादव-पाण्डवीय— चिदम्बर (सुमति) (सत्रहवीं शती का पूर्वार्ध ईसवी)

यह काव्य तीन सर्गों में निबद्ध है तथा इसमें **रामायण, भागवत और महाभारत** इन

---

१. **एकश्लोककृतौ पुरः स्फुरितया सत्तत्त्वगोष्ठ्या समं,**
साधूनां सदसि स्फुटां विटकथां को वाच्यवृत्त्या नयेत्।
इत्याकर्ण्य जनश्रुतिं वितनुते श्रीरामचन्द्रः कविः,
श्लोकानां सह पञ्चविंशतिशतं शृङ्गारवैराग्ययोः ॥३९॥

तीनों ग्रन्थों की कथा का गुम्फन किया है। भाषागत असाधारण प्रभुत्व के कारण ही ऐसी रचनाओं का निर्माण हो सकता है। राम, कृष्ण और पाण्डवों के चरित्र का वर्णन कवि ने बड़ी चतुराई से किया है। एक पद्य उदाहरणार्थ इस प्रकार है—

> **अस्त्यञ्चिता या मधुरासमानैरनेकशोभारत-वासभूमिः।**
> **परैर्वरालङ्करणैः प्रवीरैः, पूर्हस्तिनामास्पदभूदयोध्या ॥**

इस तरह के पद्यों में श्लेषालङ्कार के प्रयोग कहीं बहुत सरल हैं तो कहीं कठिन; जहां दुरूह श्लेष हैं वहां टीका की नितान्त आवश्यकता होना स्वाभाविक ही था, अतः इस आवश्यकता की पूर्ति **कवि के पिता श्री अनन्तनारायण** ने पाण्डित्यपूर्ण **टीका** लिखकर की और दुर्बोध्य काव्य को सुबोध्य बनाया। यह कवि विजयनगर के वेङ्कटभूपाल का सभापण्डित था।

(क) श्लेषचिन्तामणि— चिदम्बर कवि (सत्रहवीं शती पूर्वार्ध)

चिदम्बर कवि की अन्यान्य श्लिष्ट रचनाओं के समान ही यह भी एक अन्य कृति है, जिसमें दिये गये पद्य द्वयर्थी हैं।

१०-यादव-राघव पाण्डवीय— अनन्ताचार्य (सत्रहवीं शती का अन्त्यभाग)

मैसूर प्रान्त के उदयेन्द्रपुरवासी पं० अनन्ताचार्य ने इस **त्रिसन्धान काव्य** की रचना की है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें **कृष्ण**, **राम** और **पाण्डवों** के चरित्र का सम्मन्वित श्लिष्ट वर्णन है जो कि **भागवत**, **रामायण** और **महाभारत** से सम्वद्ध है।

११-सप्तसन्धान-काव्य— मेघविजय गणि (सन् १७०३ ई० रचनाकाल)

सिद्धविजयजी के प्रशिष्य तथा कृपाविजयजी के शिष्य, अनेक ग्रन्थों के निर्माता मेघविजयजी गणि की यह रचना श्लेषकाव्यों की परम्परा में **एक-एक पद्य के सात-सात अर्थ करते हुए एक साथ सात कथाओं को प्रस्तुत करनेवाली नौ सर्गों में निबद्ध है।** इसी आधार पर इसका नाम **'सप्तसन्धान काव्य'** रखा गया है। समग्र काव्य की पद्य संख्या ४४२ है। इसमें क्रमशः **१-ऋषभदेव, २-शान्तिनाथ, ३-नेमिनाथ, ४-अजितनाथ, ५-पार्श्वनाथ, ६-रामचन्द्र तथा ७-कृष्ण इन सात** महापुरुषों का चरित्र ग्रथित है। ग्रन्थकार ने नौवें सर्ग के ३१वें पद्य में **'सप्तार्थसन्धानजकाव्यमेतत्'** से इस बात को स्वयं कहा है।[1] संस्कृत-साहित्य की प्रौढ रचनाओं में अपना एक अभिनव मार्ग चुनने तथा उसके लिए कृति-विशेष द्वारा उदाहरण उपस्थित करने में

---

१. इसी काव्य में मेघविजय गणि ने स्वयं से पूर्ववर्ती श्रीहेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित आदिम **'सप्तसन्धानकाव्य'** का सङ्केत देते हुए उसके अनुपलब्ध होने की बात इन पङ्क्तियों में कही है—

> **श्रीहेमचन्द्रसूरीशैः, सप्तसन्धानमादिमम्।**
> **रचितं तदलाभे तु स्यादिदं तुष्टये सताम् ॥**

कवि की प्रतिभा अच्छी उभरी है। मेघविजयगणि की ऐसी अन्य कई रचनाएं शब्दालङ्कार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका वर्णन यथावसर आगे किया जाएगा।

१२-राघव-नैषधीय— हरदत्त (अठारहवीं शती ईसवी)

जयशङ्कर के पुत्र हरदत्त ने प्रस्तुत काव्य दो सर्गों में पूर्ण किया है। इसमें **कृष्ण** तथा **नैषध-नल** का चरित्र द्विसन्धान-पद्धति से ग्रथित है। ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने टीका भी बनाई है।

१३-कोसल-भोसलीय— शेषाचल कवि (अठारहवीं शती का पूर्वार्ध)

छह सर्गों का यह द्व्यर्थी महाकाव्य तञ्जौर के भोंसलेवंशीय एकोजी के पुत्र **शाहजी** तथा कोसल प्रभु **रामचन्द्र** के चरित्र को श्लेष द्वारा एक ही साथ प्रस्तुत करता है। यह कवि शाहजी भोंसले का आश्रित था। कवि ने और भी कुछ रचनाएं लिखी हैं।

१४-नैषध-पारिजातम्— कृष्ण-दीक्षित (अठारहवीं शती ई०)

प्रस्तुत काव्य में राजा **नल** तथा **पारिजातहरण** की कथा का एक साथ वर्णन करते हुए द्विसन्धान-काव्य की परम्परा का निर्वाह हुआ है।

१५-अबोधाकर त्रिसन्धान काव्य— घनश्याम (सन् १७२८ से १७३५ ई०)

तञ्जौर के राजा तुकोजीके मन्त्री घनश्याम ने इस **तीन अर्थवाले काव्य** की रचना की है। इसमें क्रमशः १-नल, २-कृष्ण और ३-हरिश्चन्द्र के चरित्रों का ग्रथन हुआ है। काव्य की टीका स्वयं ग्रन्थकार ने ही लिखी है। रचना पूर्ण प्रौढ है। अपना परिचय देते हुए इन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

तनुरुचि यो न श्यामः, कवीनां स यदि घनश्यामः।
कवने कमनश्यामः, किमसूयाभिर्मुधैव नश्यामः॥

१६-कलिदूषणम्— घनश्याम (अठारहवीं शती का मध्यभाग)

प्रस्तुत रचना में **संस्कृत और प्राकृतभाषारूप उभयाश्रित श्लेषकाव्य** का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कवि ने कलिकाल के दूषणों का उल्लेख किया है। घनश्याम कवि ने संस्कृत में ६४ तथा प्राकृत में २० ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी रचना में पण्डितराज जैसी निर्भीकता के भी दर्शन होते हैं। एक स्थान पर ये लिखते हैं—

पुत्रो रोदितु सम्प्रदर्श्य जठरं तातान्नमित्यन्वहं,
भार्या मूर्खं दरिद्रपुङ्गव गृहाद् गच्छेति संक्रुध्यतु।
इन्द्रोऽसि द्रुहिणोऽसि विष्णुरसि भोः शर्वोऽसि साक्षादिति,
ब्रूत्वा कञ्चन पामरं न च वयं याचामहे काञ्चनम्॥

इन काव्यों में कुछ के सर्गों की दृष्टि से इनका समावेश महाकाव्यों में होना चिन्त्य है तथापि उनके लेखकों ने प्रायः महाकाव्य पद से ही इन्हें सम्बोधित किया है अथवा इनका कुछ

अंश ही प्राप्त हुआ है इस लिये उन्हें यहीं समाविष्ट कर लिया गया है।

(क)-शास्त्र-काव्य

श्लेषालङ्कार-मूलक काव्यों से ही सम्बद्ध एक अन्य परम्परा और संस्कृत-साहित्य में प्रचलित है जिसे आचार्यों ने **'शास्त्रकाव्य'** की संज्ञा दी है। शास्त्रकाव्यों में एक ओर तो कथा का प्रवाह चलता है तथा उसके साथ-साथ ही व्याकरण की शिक्षा भी शास्त्र के रूप में ग्रथित रहती है। इस पद्धति के भी अनेक महाकाव्य प्राप्त होते हैं। महाकाव्य के लक्षणों का इनमें उचित निर्वाह होने से अन्य शब्दालङ्कारों के प्रयोग भी यथावसर होते रहे हैं। इन काव्यों को **'द्व्याश्रय-काव्य'** भी कहा जाता है, जो उचित भी है क्योंकि इसमें दो बातों का आश्रय लिया गया है। इनमे कुछ प्रमुख काव्यों के नाम और रचयिता आदि की सूची इस प्रकार है—

१-भट्टिकाव्य-रावण वध—भट्टि (छठी शताब्दी ई०)

इसके कुछ अंशों में व्याकरण केअतिरिक्त अलङ्कारों का भी शास्त्रीय आश्रय लिया गया है। यह **पाणिनीय अष्टाध्यायी पर आधारित** है।

२-रावणार्जुनीय—भौमक (दसवीं शती ई०)

इसमें भी अष्टाध्यायी के ही उदाहरण २७ सर्गों में दिये है। रावण और कार्तवीर्यर्जुन की कथा का स्पष्ट वर्णन इसकी विशेषता है।

३-द्व्याश्रय काव्य—हेमचन्द्र (ग्यारहवीं शती)

इस काव्य का अपरनाम **'कुमारपालचरित'** है। इसमें **कुमारपाल के चरित्रवर्णन के साथ ही अपने व्याकरणग्रन्थ 'हैमशब्दानुशासन'** से संस्कृत **और प्राकृत व्याकरण की शिक्षा के लिए उदाहरणों का समावेश** किया है।

४-वासुदेवविजय—वासुदेव (१४००-१५०० ई० के मध्य)

श्रीमद्भागवत-महापुराण की कथा के आधार पर श्री **वासुदेव का चरित्र** ग्रथित करने के साथ ही इसमें **अष्टाध्यायी** का आश्रय लिया गया है।

५-धातुकाव्य—नारायण (सोलहवीं शती का उत्तरार्ध)

इसमें भी भागवत की कथा का ही आश्रय लिया गया है। इस काव्य को **'वासुदेव विजय' का उत्तरार्ध** भी कहा जाता है। **अष्टाध्यायी के आधार पर धातु-प्रयोगों का इसमें बाहुल्य है।**

इस प्रकार के काव्यों की रचना के प्रति भी कवियों का ध्यान बढ़ता रहा और आज भी इस परम्परा का निर्वाह हो रहा है। यहां केवल व्याकरणाश्रित काव्यों के बारे में ही विचार हुआ है किन्तु अन्य शास्त्रों के आश्रय पर भी ऐसे काव्य बने हैं, जिनका उल्लेख आगे

प्रसङ्गतः होगा।

समस्यापूर्तिमूलक महाकाव्य

श्लेषालङ्कार-मूलक उपर्युक्त काव्यों के अतिरिक्त चित्रालङ्कार-मूलक **काव्य भी कुछ** निर्मित हुए हैं, जिनमें **चित्रालङ्कार के एक भेद 'समस्यापूर्ति'** का आश्रय लेकर बनाए गये काव्यों का परिचय इस प्रकार है। (इनमें आकार की दृष्टि से उनकी न्यूनता होते हुए भी उनका यहां समावेश इसलिए किया जा रहा है कि वे किसी महाकाव्य के अंश की **समस्या-पूर्ति** करते हैं।)

१-देवानन्द-महाकाव्य— मेघविजयगणि (सन् १६४० ई०)

'दिव्यप्रभा अथवा **देवानन्दाभ्युदय'** नाम से प्रसिद्ध यह महाकाव्य सात सर्गों में निबद्ध है। इसमें विजयप्रभसूरि के जीवन वृत्तान्त का आलेखन हुआ है। यह **शिशुपाल-वध महाकाव्य के प्रथम सर्ग से सातवें सर्ग तक के पद्यों के अन्तिम चरण की पूर्ति करते हुए बनाया गया है।** कहीं-कहीं अन्य चरणों का भी समस्यापूर्ति के रूप में प्रयोग किया है। इसके सात सर्गों में क्रमशः ७८, १३०, १७६, ८५, ७२, ६० और ८५ पद्य हैं। यह एक चित्रकाव्य है, अतः इसमें अनुस्वार, विसर्ग, र-ल, ड-ल आदि अपवादों को स्वीकृत करते हुए कवि ने शिशुपालवध-काव्य के चरणों के अर्थों को अपनी कथा के अनुसार प्रदर्शित किया है। इतना होते हुए भी कवि ने स्पष्ट कहा है कि—"**इस काव्यरचना का उद्देश्य माघ कवि के साथ स्पर्धा करना नहीं है अपितु गुरु के प्रति भक्ति है।** (सातवें सर्ग का ८२वां पद्य)

इस काव्य पर कवि ने स्वयं **'लघु-टिप्पणी'** भी लिखी है। इस प्रकार यह एक अभिनवप्रयास ही माना गया है क्योंकि एक-दो पद्यों के चरणों की पूर्ति अथवा मेघदूत जैसे खण्डकाव्यों की समस्यापूर्ति की अपेक्षा यहां महाकाव्य के पद्यांशों की पूर्ति को **प्रश्रय** मिला है।

२-शान्तिनाथचरित्र अथवा नैषधसमस्या—मेघविजयगणि (वही)

उपर्युक्त कवि द्वारा रचित यह द्वितीय काव्य ६ सर्गों में निबद्ध है। इसमें **नैषधीय-चरित के प्रथम सर्ग के १४५ पद्यों के अन्तिम पद्य को छोड़ कर शेष सभी के प्रत्येक चरण की पूर्ति करते हुए शान्तिनाथ के चरित्र का वर्णन किया है।** वैसे इसमें कहीं-कहीं एक ही पंक्ति की अतिशयप्रियता के कारण दो-दो, तीन-तीन वार भी ग्रहण करके पूर्ति की गई है। किन्तु उनके अर्थ भिन्न-भिन्न रूप में किये हैं। इसकी एक और यह भी विशेषता है कि नैषध के पद्यों के चरणों की जो संख्या वहां है, प्रस्तुत काव्य के पद्यों में भी पूर्ति के रूप में वही स्थान दिया गया है।

इस काव्य के द्वारा शान्तिनाथ के जन्म से निर्वाण तक का वर्णन करते हुए **कवि ने** शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों से इसे पुष्ट वनाया है।

३-किरात-समस्यापूर्ति काव्य — मेघविजयगणि (वहीं)

भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के चरणों की पूर्ति करते हुए प्रस्तुत काव्य की रचना दो सर्गों में हुई है। ग्रन्थ अभी मुद्रित नहीं है।

४-जिनसिंह सूरि-पदोत्सव काव्य— समयसुन्दरगणि (सन् १६४५ ई०)

'रघुवंश-महाकाव्य' के तृतीय सर्गस्थ ७० पद्यों की पादपूर्ति के रूप में जिनसिंह सूरि के सूरिपद की महत्ता और प्रतिष्ठा का वर्णन इस काव्य में हुआ है। काव्य के किसी अंशविशेष को लेकर समस्यापूर्ति करने का हेतु केवल कवि की रुचि ही है, अन्य कुछ नहीं।

इस प्रकार के अन्य काव्यों की रचना भी सम्भव है किन्तु इतिहासकारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है, अतः हमने यह संक्षेप में निर्देश किया है।

महाकाव्यों का कलेवर विस्तृत होता है, अतः इनमें पूर्णरूपेण एक शब्दालङ्कार का प्रयोग वैसे अत्यन्त कठिन होता है। तथापि उपर्युक्त विवेचन से यह परिज्ञात हो जाता है कि इस प्रक्रिया के प्रति महाकवियों का उत्साह बराबर बना रहा है। आज भी यत्र-तत्र ऐसी रचनाओं के निर्माण में हमारा विद्वत्समाज सतत जागरूक है यह आनन्द का विषय है।

अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ महाकाव्य

संस्कृतभाषा में महाकाव्यों की रचना अतिप्राचीन काल से होती रही है। यही कारण है कि इसका साहित्य पर्याप्त समृद्ध हुआ है। आज हमारे समक्ष सैंकड़ों महाकाव्य हैं और उनके विविध रूप हैं। यह रूपगत भिन्नता कालक्रम से पद्धति-परिवर्तन द्वारा प्रभावित है। सामाजिक परिवेश में उर्वरित साहित्य में—१-वीरगाथा, २-भक्ति-वैभव, ३-राजस्तुतिरूप-वर्णन तथा ४-महापुरुष-चरित्र-ग्रथन, आदि प्रक्रियाएं यथासमय निखरती रहीं हैं, किन्तु इन सभी में शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों के प्रति आकर्षण सदा बना रहा है। **'अनुप्रास'** सर्वमान्य रचना में प्रसृत है तो **'यमक'** यत्र-तत्र प्रयुक्त होते हुए किसी विशेष सर्ग में पूर्ण-रूपेण प्रस्तुत हुआ है। **'श्लेष'** या तो स्वयं कवि ने निविष्ट किया है अथवा काव्य के टीकाकारों ने अपनी प्रतिभा से उसे परिस्फुट किया है। **'चित्रालङ्कार'** के प्रकारों का समावेश भी किसी एक सर्ग में विशेष-वर्णन के प्रसंग पर कतिपय विशिष्टताओं के साथ प्रायः होता रहा है। पहले हमने देखा है कि किसी एक शब्दालङ्कार को लक्ष्य में रखकर काव्य-रचना की गई है, और अब **'अनेकविध शब्दालङ्कारों से गर्भित'** महाकाव्यों का निर्देशन निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत है—

१-(क) बुद्धचरित—अश्वघोष (प्रथमशती ईसवी)

संस्कृत साहित्य के उपलब्ध महाकाव्यों में सर्वप्राचीन महाकाव्य अश्वघोष का 'बुद्धचरित' माना गया है। इसमें २८ सर्ग थे किन्तु अब १७ सर्ग ही उपलब्ध होते हैं। यह महाकाव्य इत्सिंग की यात्रा के समय भारत में सर्व आदृत था। काव्य की भाषा सरल और सरस होने के साथ ही वैदर्भी शैली से अनुप्रमाणित है। उपदेशवादी प्रक्रिया के कारण

अश्वघोष ने शब्दालङ्कारों में अनुप्रास और यमक का ही प्रयोग स्वाभाविक रूप से किया गया है। यथा—

आजन्मनो जन्म-जरान्तकस्य, तस्यात्मजस्यात्मजितः स राजा।
अहन्यहन्यर्थगजाश्वमित्रैर्वृद्धि ययौ सिधुरिवाम्बुवेगैः ॥ २।१ ॥
न चाजिहीर्षीद् बलिमभ्रमत्तो, न चाचिकीर्षीत् परवस्त्वभिध्याम्।
न चाविवक्षीद् द्विषतामधर्मं, न चाविवक्षीद् हृदयेन मन्युम् ॥ २।४४ ॥

यहां प्रथम पद्य में जकार का प्रयोग और द्वितीय पद्य में क्रियापदों की योजना अनुप्रास के पक्ष को प्रबल बनाती है।

हिमारिकेतूद्भवसम्भवान्तरे, यथा द्विजो याति विमोक्षयँस्तनुम्।
हिमारिशत्रुक्षयशत्रुघातने, तथान्तरे याति विमोक्षयन् मनः ॥ ११।७१॥

इसमें यमक का प्रयोग है और साथ ही 'बादलों के बीच से चातक उड़कर निकल जाता है, यह अर्थ बताने के लिये 'हिमारिकेतूद्भवसम्भव' का प्रयोग हुआ है, जो 'गूढचित्रालङ्कार, का द्योतक है।

२-(ख) सौन्दरनन्द— अश्वघोष (वही)

यह अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य है। इसमें १८ सर्ग हैं तथा गौतम बुद्ध के विमातृज भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी की कथा वर्णित है। 'सौन्दरनन्द' 'बुद्धचरित' की अपेक्षा अधिक ललित और काव्यमय है इसी में अश्ववोष की "भवत्यरूपोऽपि हि दर्शनीयः स्वलङ्कृतः श्रेष्ठतमैर्गुणैः स्वैः" (१८।४०) के अनुसार काव्य के अलङ्कृत और उत्तमगुणों से युक्त होने का आभास भी मिल जाता है। इसमें अनुप्रास और यमक का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यथा—

(१) **चलत्कदम्बे हिमवन्नितम्बे, तरौ प्रलम्बे चमरौ ललम्बे ॥** (१०।१३)

(२) **दरीचरीणामतिसुन्दरीणां, मनोहरश्रोणिचरेदरीणाम्।**
वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणां, पुष्पोत्कचानीमिव वल्लरीणाम्। (१० ।१३ ॥)

यहां पदान्तानुप्रास की छटा दर्शनीय है। इसी प्रकार यमक भी—

(१) **तदेतदाज्ञया विपाप्मनात्मना, विमोक्षधर्माद्युपसंहितं हितम् ॥९।४९॥**

(२) **अनेन दष्टो मदनाहिनाहि ना, न कश्चिदात्मन्यनवस्थितः स्थितः।**
मुमोह बोध्यो ह्यचलात्मनो मनो, बभूव धीमांश्च स शन्तनुस्तनुः ॥ १०।५१ ॥

(३) **स्थिते विशिष्टे त्वयि संश्रये श्रये, तथा न यामोह वसन् दिशं दिशम्।**
यथा च लब्धा व्यसनक्षयं क्षयं, व्रजामि तन्मे कुरु शंसतः सतः ॥ १०।५७ ॥

इस प्रकार कहीं-कहीं सम्पूर्ण पाद की आवृत्ति हुई है तो कहीं-कहीं सम्पूर्ण श्लोक को भी दोहराया गया है। यह प्रक्रिया काव्यारम्भ में ही प्रसार पाने लगी थी। यथा—

हविःषु यश्च स्वात्मार्थं, गामधुक्षद् वसिष्ठवत्।
तपःशिष्टेषु शिष्येषु, गामधुक्षद् वसिष्ठवत्॥ १२।३॥

इस प्रकार रामायण और महाभारत में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों के प्रयोगों की प्रवृत्ति महाकाव्यों में लाने का प्रथम श्रेय अश्वघोष को ही है। यही वह काल था, जब काव्य-रचना के वैधानिक तत्त्व निर्धारित हो रहे थे और एक ओर कविगण अपने-अपने प्रतिभा-वैभव का संयोजन कर अग्रिम कविगणों के लिए पक्ष को प्रशस्त कर रहे थे।

३- रघुवंश— कालिदास (ईसापूर्व प्रथम शती)[1]

महाकवि कालिदास का यह महाकाव्य १९ सर्गों में निबद्ध है। प्रसादगुण-सम्पन्न इस रचना में कालिदास ने शब्दालङ्कार का प्रयोग अत्यन्त समीचीन-पद्धति से किया है। सर्व-प्रथम पद्य—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ॥

—में वकार तथा पकार के प्रयोगों से छेकानुप्रास और वाग् शब्द के पादादि में दो बार प्रयोग से यमक एवं 'पार्वतीप-रमेश्वरौ' ऐसे विभाजन से श्लेष अलङ्कार अभिव्यक्त होते हैं। तदनन्तर '**यथाविधि हुताग्नीनाम्**' इत्यादि (पद्य ६) के चारों चरणों में 'यथा' शब्द का प्रयोग हुआ है। बीच के सर्गों में यत्र-तत्र कालिदास की यमकप्रियता का आभास भी मिलता है[2] किन्तु नवमसर्ग में प्रत्येक पद्य के चौथे चरण में १ से ५४ पद्यों तक यथावत् यमक अलङ्कार का प्रयोग अतीव कौशलपूर्वक किया है। यथा—

पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्, समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो, यमवतामवतां च धुरि स्थितः॥९।१॥

यह दशरथ के राज्य संभालने के वर्णन से उत्पन्न आनन्द का द्योतक वर्णन है अतः यहाँ यमक का प्रयोग कवि ने अवसरोचित समझा और उसका प्रयोग किया। यही परम्परा उत्तरकाल के कवियों ने क्रमशः समुन्नत की और शब्दालङ्कार के विभिन्न रूपों को अपनी रच-नाओं में स्फुट और घन दोनों रूपों में किया।

४-(ख)कुमारसम्भव— कालिदास (वही)

कालिदास का यह द्वितीय महाकाव्य १७ सर्गों में निबद्ध है। पार्वती और शिव के परि-णय तथा कुमार-कार्तिकेय की उत्पत्ति आदि की कथा को उसी '**प्रसन्न-गम्भीर-पदा सरस्वती**' के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यहाँ भी कालिदास ने अधिकांश रूप से छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एवं यमक का प्रयोग किया है। "**तां नारदः कामचरः कदाचित् कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।**

---

१. वस्तुतः कालिदास अश्वघोष से पूर्ववर्ती है ऐसी लेखक की मान्यता है।
२. अन्यत्र '**प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि।**' तथा '**वधाय बध्यस्य शरं शरण्यः**' इत्यादि **प्रयोग दर्शनीय हैं।**

(१।५०) अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा। (१-५८) अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः, सा मण्डनान्मण्डनमन्वयुक्त। (७।५)" इत्यादि प्रयोग अनुप्रास अलङ्कार से सम्पन्न हैं। नवमसर्ग में यह प्रक्रिया और भी अधिक व्यक्त हुई है। यथा—

सुकान्तकान्तामणितानुकारं, कूजन्तमाघूर्णितरक्तनेत्रम्।
प्रस्फारितोन्नम्रविनम्रकण्ठं, मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम्॥ (९।२)

और—

'पुरो भव त्वं न पुरो भवामि, नाहं पुरोगोऽस्मि पुरस्सरस्त्वम्। (१३-११)

जैसे प्रयोगों के साथ युद्धवर्णन में समास-बहुल पदों के प्रयोग भी हुए हैं, किन्तु यमक का प्रयोग नहीं के बराबर ही है।

५-किरातार्जुनीय— भारवि (सन् ५८०-५९० ई०)

महाकवि भारवि का यह महाकाव्य १९ सर्गों में रचित है। कालिदास की काव्य-प्रवृत्ति को नया मोड़ देते हुए भारवि ने कलापक्ष को प्राधान्य दिया है और अर्थगौरव की महत्ता को पूर्णरूप से प्रकट भी किया है। स्वयं कवि ने काव्य के सम्वन्ध में अपनी धारणा एक स्थान पर इस प्रकार व्यक्त की है—

स्फुटता न पदैरपाकृता, न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां, न च सामर्थ्यमयोहितं क्वचित्॥ (२।२७॥ कि०)

अर्थात् पद-संनिवेश में स्पष्टता, अर्थ की गम्भीरता, प्रत्येक पद की स्वायत्तार्थता एवं शब्द और अर्थ दोनों के सामर्थ्य काव्य के ग्राह्य हैं। "यद्यपि भारवि का ध्यान अर्थ-सम्पत्ति पर ही अधिक केन्द्रित था तथापि वे शब्द और उसके अलङ्कार-संनिवेश में भी पीछे नहीं रहे हैं। प्रस्तुत काव्य के प्रथम सर्ग का प्रथम पद्य इस बात का साक्षी है।[1] पदावृत्ति का प्रयोग कालिदास के प्रारम्भिक पद्य (वागर्थाविव० इत्यादि) से आगे बढ़ कर **'वने वनेचरः'** की स्थिति में आया और **'कथाप्रसंगेन जनैरुदारधीः'** इत्यादि पद्य० में श्लेष का प्रयोग किया। कालिदास द्वारा एक सर्ग में विस्तार से यमक के प्रयोग का जो सूत्रपात हुआ था उसे भारवि ने अपने काव्य के चौथे सर्ग में पूर्णरूपेण आगे बढ़ाया है।

इस शब्दालङ्कार-योजना की प्रवृत्ति को और आगे बढ़ाते हुए महाकाव्य-परम्परा में सर्वप्रथम एक सर्ग में विविध शब्दालङ्कारों का प्रयोग करने का शुभारम्भ भारवि की मौलिक देन है। चित्र-कवित्व का भी वहां पर्याप्त विस्तार है। यह सर्ग है १५ वां। यहीं पहली बार एकाक्षरात्मक पद्य भी निर्मित है—

---

१. श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णलिङ्गी विदितः समाययौ, युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥१।१॥

ननो ननुन्नो नुन्नो नो, नाना नाना ननाननु।
नुन्नो नुन्नो न नुन्नोनो, नानेनानुन्ननुन्ननुत् ॥

यह स्वरवन्धनमुक्त **'एकवर्णनियम-चित्र'** कहलाता है। इसी प्रकार **'एकाक्षर-पाद, निरोष्ठ्ययमक, द्व्यक्षर, विलोम, सर्वतोभद्र'** आदि के प्रयोग भी भारवि ने यहां प्रथम बार देकर अग्रिम कवियों के लिए शब्दालङ्कार के व्यापक प्रयोग के द्वार खोल दिए हैं। सर्वतो-भद्र का उदाहरण इस प्रकार है—

देवाकानिनिकावादे, वाहिका स्वस्वकाहि वा।
काकारे भभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥ (वही-२५)

६-रावणवध —भट्टि (सन् ६१०-६१५)

२२ सर्गों में उपनिबद्ध इस महाकाव्य की रचना अन्य काव्यों की अपेक्षा कुछ विलक्षण है। कवि ने मुख्यरूप से काव्य को चार काण्डों में बांटा है—**१-प्रकीर्ण, २-अधिकार, ३-सुबन्त** (प्रसन्न) और **४-तिङन्त**। भगवान् राम के जन्म से राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन करते हुए व्याकरण के नियमों का क्रमिक परिचय इस काव्य को **'शास्त्रकाव्य'** की कोटि में प्रथम **व्याकरणशास्त्रीय काव्य** के रूप में प्रस्तुत करता है। यह सब होते हुए भी कवि ने काव्य-कला का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। सर्ग १०, ११, १२ और १३ इसके निदर्शन हैं। इनमें शब्दालङ्कार की दृष्टि से दसवां सर्ग यमक के विभिन्न भेदों को प्रयोगात्मक रूप से प्रस्तुत करता है। प्रायः २५ भेदों का इनमें समावेश है।[1] यहीं अर्थालङ्कारों के भी क्रमिक प्रयोग हैं। एकादश और द्वादशसर्ग में माधुर्य और भावों का प्रदर्शन है तथा त्रयोदश सर्ग में **'भाषासम'** नामक श्लेषभेद का निदर्शन किया है। इस सर्ग के माध्यम से कवि ने प्राकृत-शिक्षा का भी कार्य सिद्ध किया है जिसे **दामोदर कवि** ने आगे बढ़ाकर **कोसल-भाषा** के माध्यम से शिक्षोप-योगी बनाया है। उपर्युक्त तीनों काण्डों को **'प्रसन्नकाण्ड'** की संज्ञा देना भी उचित ही है। इन तीन सर्गों के अतिरिक्त भी शब्दालङ्कारों का प्रयोग इस काव्य में हुआ है। वैसे इस काव्य को अनेक इतिहासकारों ने अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में ही स्थान देते हुए वहीं भट्टि के बारे में विवेचन दिया है किन्तु यह तो स्पष्ट ही काव्य है अतः हमने काव्य-परम्परा में ही स्थान देना उचित माना है। इनके भाषा-समक का एक उदाहरण इस प्रकार है—

चारुसमीरणरमणे, हरिण-कलङ्ककिरणावलीसविलासा।
आबद्धराममोहा, वेलामूले विभावरी परिहीना।१३।-।१।।

इस पद्य में एक साथ संस्कृत तथा महाराष्ट्री-प्राकृत रूपों का प्रयोग है और प्राकृत

---

१. यमकावली का यह पद्य दर्शनीय है—
नगजा नगजा दयिता दयिता, विगतं विगतं ललितं ललितम्। इत्यादि तथा चक्र-वालयमक पद्य **''अवसितं हसितं प्रसितं मुदा, विलसितं हसितं स्मरभासितम्'** इत्यादि।

में भी इस पद्य का यही रूप होता है।

७-जानकीहरण — कुमारदास (सन् ६२० ई० के लगभग)

भारवि द्वारा आरम्भ की गई महाकाव्य-रचना-पद्धति को आगे बढ़ाते हुए ही कुमारदास ने प्रस्तुत महाकाव्य बीस सर्गों में निर्मित्त किया है। यह विचित्र संयोग की बात है कि सिंहलद्वीप में स्थित राजा कुमारदास ने कालिदास और भारवि की रचना-पद्धति को एक निकटस्थ कवि की भांति ही पल्लवित किया है। अनुप्रास कवि का अतिप्रिय अलङ्कार है और वर्णन-कौशल में सिद्धहस्त होने के कारण काव्य में यत्र-तत्र अन्य शब्दालङ्कारों का प्रयोग भी किया है। यथा—

निनदता नदताडितमेखलं, विगलता गलतावृतसानुना।
असुभुजा सुभुजासुरसंहतिः, प्रविडिता विडिता दिशि भूभृता ॥१४।४४॥

आलङ्कारिक चमत्कार और वैदुष्यप्रदर्शन का युग भी इनके समय आरम्भ हो चुका था। अतः इस काव्य के १८वें सर्ग में **दुर्धर्षयमक** प्रयोग तथा **चित्रकाव्यात्मक** प्रयोगों के द्वारा भारवि की परम्परा को और आगे बढ़ाया गया। इसमें यमक के अतिरिक्त—**"निरन्तरानुप्रास, द्व्यक्षरानुप्रास, मुरज, गूढचतुर्थ, समुद्गक, प्रतिलोम, चतुरक्षरी, अर्धप्रतिलोम-सन्दष्टक, जालकद्वय, मात्रापहार-यथेष्टमात्रादान, महायमक और चक्रबन्ध"** के प्रयोग विशिष्ट हैं। यहाँ एक पद्य से दो, तीन, चार पद्य निकालने वाली चित्रालङ्कार-पद्धति का प्रथम प्रयोग हुआ है। चार पद्य निकलने वाले पद्य का रूप इस प्रकार है—

द्विषतामायुधै रेवमस्मदीया पताकिनी।
विह्वला चालितादित्यद्युतिभिः प्रतने कृता ॥१८।४५॥ (जालेन श्लोकचतुष्टयम्)

इनका निरन्तरानुप्रास (एक वर्णनियम-चित्र) भी दर्शनीय है—

तताततीति ततो तीता तातततातत्ततत्तौ।
ततो तोति तते तेतो तति तुत्ति तते तुतिः ॥ (वहीं ४६)

सम्भवतः चित्रकाव्य-साहित्य में सर्वप्रथम चक्र-बन्ध का उदाहरण कुमारदास ने ही दिया है, जो इस प्रकार है—

पिङ्गं शोणितनिर्गमेनकरणं भिन्नं सुरेन्द्रद्रुहा,
यत्नं प्राप्य दधानया विकलितेष्वोजःसु चञ्चद्दृशा।
तिग्मांशोस्तनयस्य पूर्वकलनामुल्लङ्घयन्त्या भिया,
यान्तं क्वापि विहाय संयतिरतिं हानिस्पृशा सेनया ॥ (वहीं-७३॥)

यह षडर-चक्रबन्ध है।

८-शिशुपालवध —माघ (सन् ७०० ई० के निकट)

कृष्ण के विविध चरित्रों में से एक शिशुपाल-वध-सम्बन्धी चरित्र को प्रस्तुत महाकाव्य

का विषय बनाकर महाकवि माघ ने २० सर्गों में इस काव्य की रचना की है। यह एक प्रौढ़ काव्य है और इसमें नवीन शब्दावली का प्रयोग तथा कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ-गौरव और दण्डी के पदलालित्य का भी एकत्र समायोजन हुआ है।[2] शब्दालङ्कार की दृष्टि से इस काव्य का बड़ा महत्त्व है। कवि ने भारवि के अनुसार ही रचना आरम्भ करते हुए प्रथम पद्य में अनुप्रास-मूलक शब्दों का प्रयोग किया है—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्नियन्ता वसुदेवसद्मनि।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद् हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥१।१॥

और प्रायः सभी पद्यों में कहीं अनुप्रास[3] और कहीं यमक का प्रयोग सामान्य रूप से होता ही रहा है। द्वितीय सर्ग में—

अदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम्।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ॥७४॥

कहते हुए कवि ने **चित्रकविता की ओर भी सङ्केत** किया है तथा वहीं एक अन्य पद्य से—'**शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते**' (८६) कहकर अपनी रचना-पद्धति का सङ्केत किया है। रेवतक पर्वत के वर्णन में यमक का प्रसार महत्त्वपूर्ण है—

राजीवराजीवशलोलभृङ्गं, मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम्।
कान्तालकान्ता ललनाः सुराणां, रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम् ॥ ४।६॥

कहीं कहीं इसी सर्ग में चरणों की आवृत्तियां भी हुई हैं तथा छठे सर्ग में भी यही प्रक्रिया प्रशस्त हुई है। यमक का इनका प्रसिद्ध पद्य—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्त-लतान्तमलोकयत् ससुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥ (६।२)

इत्यादि भी कालिदास के सर्ग-बद्ध-यमक प्रयोग की परम्परा को पूरे सर्ग में आगे बढ़ा रहा है। इस सर्ग में ७९ पद्य इसी प्रकार के हैं। भारवि और कुमारदास द्वारा प्रवर्त्तित युद्ध-वर्णन में शब्दालङ्कार के—चित्रालङ्कार-गत भेदों के सहित—प्रयोग को माघ ने उन्नीसवें सर्ग में प्रपुष्ट किया है। इनमें—**एकाक्षरपाद, निरोष्ठ्य, श्लेष, सर्वतोभद्र, मुरज, श्लोकप्रतिलोम, प्रतिलोमानुलोम, गोमूत्रिका, द्व्यक्षर, असंयोग, अर्धभ्रमक, गतप्रत्यागत, प्रतिलोमेनैकार्थ, गूढचतुर्थ, अतालव्य, एकाक्षर, अर्थत्रयवाची और चक्रबन्ध**" का प्रयोग हुआ है। द्व्यक्षर और यमक-प्रभेदों के तो कई उदाहरण इसमें दिए हैं। माघ का चक्रबन्ध जानकीदास के चक्रबन्ध से

---

१. नवसर्गगते माघे, नवशब्दो न विद्यते। (लोकप्रशस्ति)

२. उपमाकालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥ इत्यादि। (प्रसिद्ध-प्रशस्ति)

३. इन्हीं का —मधुरया मधुबोधितमाधवी० पद्य भी प्रसिद्ध है।

कुछ अधिक विशेषता लिये हुए हैं क्योंकि इसमें दो अङ्कन—'**माघकाव्यमिदं**' और '**शिशुपाल-वधं**' भी दिये हैं जो सर्वप्रथम यहां अवतरित हैं। (द्रष्टव्य-१९।१२०वाँ पद्य) यहीं पन्द्रहवें सर्ग में ३८वें पद्य के बाद ३४ पद्यों को मल्लिनाथ ने प्रक्षिप्त मानकर उनकी व्याख्या नहीं की है और वल्लभदेव ने 'सन्देहविषौषधि' व्याख्या में प्रत्येक पद्य के दो-दो अर्थ निन्दा और स्तुतिपरक किये हैं। यह श्लेष-काव्य की पूर्वभूमिका मानी जा सकती है। इसी पद्धति का अवलम्बन लेकर अग्रिम कवियों ने स्वतन्त्र श्लेषकाव्यों का प्रणयन किया हो, यह भी सम्भव है।

हरविजय-महाकाव्य —राजानक रत्नाकर (नवम शती का पूर्वार्ध)

कश्मीर के रत्नाकर कवि का यह महाकाव्य पचास सर्गों में ४३२१ पद्यों को आवर्जित करता हुआ एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। काव्यलक्षणोचित सभी प्रक्रियाओं को इसकी रचना में स्थान मिला है। कवि ने इसी में एक स्थान पर लिखा है कि—

हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां, शृणुत कृतप्रणयो मम प्रबन्धे।
अपि शिशुरकविः कविः प्रभावाद्, भवति कविश्च महाकविः क्रमेण ॥

अर्थात् इस काव्य के अध्ययन में रुचि रखनेवाला व्यक्ति अकवि होते हुए भी कवि बन जाता है और कवि क्रमशः महाकवि बन जाता है। ऐसी प्रतिज्ञा के कारण ही इसमें कविता के उदात्त-तत्त्वों का समावेश तो हुआ ही है, साथ ही विभिन्न काव्यमयी प्रवृत्तियों को भी पूरे प्रवाह के साथ प्रस्तुत कर दिया है।

शब्दालङ्कार के अनेक भेदों का प्रयोग करने के साथ-साथ कवि ने बहुत-से ऐसे भेदों का उन्मीलन किया है जो पूर्व-कवियों द्वारा अनिर्दिष्ट हैं। अनुप्रास और यमक के प्रयोग तो पद-पद पर हैं ही, साथ ही श्लेष तथा चित्रालङ्कारों का भी पर्याप्त समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ कतिपय नाम इस प्रकार हैं—

१- पिशाचभाषासमावेश,[1] **२- भाषाषट्क समावेश,**[2] **३- समप्रतिलोमानुलोमार्धपाद, ४- प्रतिलोम-विलोम-पाद, ५- प्रतिलोमविलोम चतुष्पाद, ६- युगलकगर्भ, ७- अनुलोमप्रतिलोम-पाद समञ्जस-बन्धगूढार्थश्लोक ८- प्रतिलोमानुलोम द्वारा दो श्लोक, ९- असंयोगाक्षरानेकपाद नन्दिकावर्तन, १०- अनुलोमप्रतिलोमपादपादान्तयमक, ११- यथेष्टमात्रापहार-दानरूप दो पद्य, १२- अर्थत्रयवाची, १३-अर्थचतुष्टयवाची १४- दो स्रग्धराछन्दों के अनुलोमप्रतिलोम पाठ १५- सप्तव्यञ्जनबन्ध, १६- प्रातिलोम्यसमानार्थ, १७- मात्रारहितगूढक्रियाकर्तृक, १८- अक्षर-च्युतक, १९- प्रातिलोम्येनाभिन्नपाद, २०- भाषा-समावेश, २१- पादनिरवद्य, २२- प्रागर्ध-निरवद्य, २३-चरमार्ध-निरवद्य, २४-प्रातिलोम्येनानन्तर श्लोक, २५-बिन्दुच्युतक, २६-प्रति-पादगोमूत्रिका मुरजबन्ध, २७- तवर्गबन्ध, २८-एकाक्षर (वंशस्थ-पद्य), २९-द्व्यक्षर (स्रग्धरा**

१-२. द्रष्टव्य चतुर्थसर्ग, पद्य सं. २६ तथा ३५, हरविजयमहाकाव्य।
३. अन्य पद्यों के लिये क्रमशः देखिये वहीं, सर्ग ५, १६, १९, ४३, ४६, ४८ आदि।

पद्य), ३०-अश्वपदबन्ध, ३१-राशिचक्रबन्ध, ३२-गरुडगतिचक्रबन्ध, ३३-तुरङ्गपद. ३४-भिन्न-वृत्तगोमूत्रिका, ३५-चतुरङ्गाश्वपादपूरण, ३६-शक्तिबन्ध, ३७-मुसलबन्ध, ३८-शूलबन्ध, ३९-आवलिबन्ध, ४०-जालबन्ध, ४१-सप्तदशाक्षरपद्य, ४२-सर्वतोभद्रबन्ध, ४३-अर्धभ्रम, ४४-काञ्चीबन्ध, ४५-तुणीरबन्ध, ४६-शरबन्ध" आदि ।

ऐसा लगता है कि कवि के पास अतुल शब्दभण्डार है और उसे सदुपयोग में लाकर प्रस्तुत करने की अद्वितीय प्रतिभा भी। पूर्ववर्ती अन्य कवियों ने जहां अपने महाकाव्यों में केवल अनुष्टुप् छन्द के पद्यों से ही चित्रयुद्धवर्णन में कतिपय उदाहरणों को प्रस्तुत कर इतिकर्तव्यता एवं परम्परा-निर्वाह को पूर्ण किया है, वहीं रत्नाकर ने बड़े-बड़े छन्दों में एकाधिक उदाहरण और कई नवीन प्रकारों से शब्दालङ्कार के साहित्य-कोष को गौरवान्वित किया है। एक **द्व्यक्षर** उदाहरण देखिए—

> **सत्सूतोस्तातितासासितससुतसती-सूतिसासत्तिसीतः,**
> **सन्तासी-सूत्तिसंसत्स्तुतसतिस्सितोलासतोत्तातिसासूः ।**
> **सेतुस्तुत्तीस्तितां सुस्ततसुततितुत्-सासितोत्त सितांस—**
> **स्तातो सातंससोत्सो ततसततसितः सत्त्सिसासुस्तुतासम् ।।** (१४८-४८ सर्ग)

इनका एकाक्षर पद्य भी दर्शनीय है—

> **तताितता तोतितलुत्तितोतितोत्तै तितातीति ततोऽत्ति तुत्तिः ।**
> **तातोऽतितोऽतुत्त तु तत्ततोत्ता तुत्तोत्ततातति ततित्तुतोत्तुम् ।।**

(हरविजय० १२६-४८ सर्ग।)

इसी प्रकार छियालीसवें सर्ग में स्रग्धरावृत्त में **'अनुलोम प्रतिलोमजन्य चार चक्रबन्धों की सृष्टि'** किसी आर्षपुरुषार्थ से न्यून नहीं कही जा सकती। (देखिये सर्ग ४६, श्लोक ७६।) यह काव्य 'रत्नाङ्क' से अनुस्यूत है और सर्गान्त में कवि की प्रशस्ति इस प्रकार वर्णित है—

"इति बालबृहस्पत्यनुजीविनो वागीश्वराङ्कस्य विद्याधिपत्यपरनाम्नो महाकवे राजानकरत्नाकरस्य कृतौ रत्नाङ्के हरविजये महाकाव्ये चित्रयुद्धवर्णनोद्घातो नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः सर्गः" ।

कवि ने विविध छन्दों की योजना में भी अपूर्व कौशल दिखाया है तथा सर्वथा अप्रसिद्ध छन्दों के प्रयोग भी किये है। शब्दालङ्कार-साहित्य का यह एक अद्भुत संग्रहग्रन्थ कहा जा सकता है।

९- कपफणाभ्युदय — शिवस्वामी (सन् ८५८-८८५ ई०)

दक्षिणदेश के शासक कपफण के चरित्र को उद्भावित करनेवाला यह काव्य अवन्तीवर्मा के सभासद् शिवस्वामी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें स्वयं कवि ने कहा है कि—

विदितबहुकथार्थश्चित्रकाव्योपदेष्टा, यमककविरगम्यश्चारुसन्दानमानी ।
अनुकृतरघुकारोऽभ्यस्तमेण्ठप्रचारो, जयति कविरुदारो दण्डिदण्डः शिवाङ्कः ।।

इसके अनुसार यह काव्य शब्दालङ्कार के अनेक भेद-प्रभेदों के उदाहरणों से समन्वित है। कवि शिवस्वामी एक प्रौढ़ रचनाकार हैं तथा अनेकविध रचनाओं से अपने प्रतिभा-वैभव का प्रसार करते रहे हैं। अतः प्रस्तुत काव्य के विभिन्न सर्गों में शब्दालङ्कारों का विभिन्न रूप से प्रयोग हुआ है। बीस सर्गों में निबद्ध यह काव्य **'शिवाङ्क काव्य'** भी कहा जाता है। ८वें सर्ग में यमकों का प्रयोग किया गया है। यथा—

नवकदम्बकदम्बकसन्तत-प्रसवनीयवनीयकषट्पदः ।
अकृत तोयततो यशसेनगो, भुवि भुजङ्गभुजङ्गलितापदम् ।।३६।।

१७-१८-१९वें सर्गों में चित्रकाव्य का अच्छा निदर्शन हुआ है जिनमें **'यमक, निरोष्ठ्य; द्व्यक्षर, एकाक्षर, गोमूत्रिका, प्रतिलोमानुलोम, मुरज, पद्म, क्रियागुप्ति, सर्वतोभद्र, अनेकपद्य, सप्तव्यञ्जनबन्ध, विंशव्यञ्जनबन्ध, काञ्ची, महायमक और संस्कृत-प्राकृत समावेश'** जैसे चित्रालङ्कारों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ निम्न दो पद्य दर्शनीय हैं—

केका काकोलकोलालक—कलकलकालालकोलीलकालो,
लोकालोकैकलोकीलिलकुकलकलाकालिकाकालकोलम् ।
काकी काकाकुलोल्कं कुलकलिललकल्लाककी कालकीलं,
काली कक्कोलकूलं कलकलकलिलं कल्लिलोकं लुलोके ।।१७।१२।।

यह दो वर्णों के नियमन से बना वर्णचित्रात्मक पद्य है। भाषाद्वय—समावेश का अन्य पद्य इस प्रकार है—

जत्तहतेरणमाशा सतापवल तामादाशि खंधे ।
सद्धेतावसदेहे हरसीकरणे हितोसि ततहा ।।१९।३।।

यहां प्राकृत और संस्कृत का समावेश है जो 'भाषासम-चित्र' का निदर्शक है। १९वें सर्ग में इसका प्रयोग बहुलता से हुआ है।

११- नैषधीयचरित — श्रीहर्ष (१२वीं शती का उत्तरार्ध)

श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित-महाकाव्य' मुख्य रूप से ध्वनिकाव्य माना जाता है किन्तु अर्थ की पुष्टि के लिए यहाँ अनुप्रास को बहुत महत्त्व मिला है। शब्द के अन्तिम वर्णों की सम—

---

१. **वाक्यानि द्विपदीयुतान्यथ महाकाव्यानि सप्त क्रमात्,**
त्र्यक्षप्रत्यहनिर्मितस्तुतिकथालक्षाणि चैकादश ।
कृत्वा नाटक-नाटिका-प्रकरणप्रायान् प्रबन्धान् बहून्,
विश्राम्यत्यधुनापि नातिशयिता वाणी शिवस्वामिनः ।। (वहीं)

ता वाला अनुप्रास कवि को अधिक प्रिय था तभी तो काव्य में ही उन्होंने कहा है कि—**'प्रथमचरमयोर्वा शब्दयोर्वर्णसाम्ये विलसति चरमेऽनुप्रासभासां विलासः।** इसी के अनुसार प्रथम-वर्णानुप्रास—**अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुलशैलशीली**—जैसे प्रयोगों द्वारा व्यक्त हुआ है तो अन्यत्र **मध्यमवर्णानुप्रास** के रूप में **'निलेषयन्त्रेण किमेष दृष्टः'** जैसे प्रयोग हुए हैं। श्रुत्यनुप्रास—**कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु**(१।१०) **स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः** (४।६०) **पुण्येन मन्ये धन्ये पुनरस्य कल्याणि कल्यानि तवाङ्गकानि** (८।५७), वृत्त्यनुप्रास—**ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये। तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम्॥** (३।६४) और अन्त्यानुप्रास—**अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा** (३।९३) जैसे अनेक पद्यों में सहज मुखरित हुए हैं। यमक का प्रयोग भी हर्ष ने यत्र-तत्र करते हुए भी पूर्वपरम्परा निर्वाह के रूप में पूरे एक सर्ग में किया है। नल-वर्णन के प्रसंग में—

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या, निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु, तवातिमहानलाभो, यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते॥१३।[1]

इस श्लोक में पञ्चनली का श्लेष द्वारा निदर्शन सन्धानकाव्य की परम्परा का प्रेरक माना जाता है।

इस प्रकार हर्ष ने अनुप्रास, यमक और श्लेषरूप शब्दालङ्कारों का नैषधीयचरित में बड़ी उदारता से प्रयोग किया है।

१२-सुरथोत्सव — सोमेश्वर (सन् ११७९-१२४२ ई०)

सोमेश्वर का यह महाकाव्य **'दुर्गासप्तशती'** के कथानक का ही पल्लवन है। अन्य महाकाव्यों के समान ही इसमें भी कवि ने शब्दालङ्कारों के अनुप्रास तथा यमक के यत्र-तत्र प्रयोग किये हैं। दसवें सर्ग में चित्रालङ्कारों की योजना है जिसमें—**'सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका, द्व्यक्षर, एकाक्षर, एकाक्षरपाद, समुद्गक'** आदि महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वतोभद्र का पद्य इस प्रकार है—

रंगादाम-मदागारं, गात्रमाक्ष-क्षमात्रगा।
दामासार-रसामादामक्षरत्रत्रक्षमः॥१०-७२

तथा एकाक्षर-पद्य इस प्रकार है—

रे रे रुरोरूरूरुरो ररेररिरिराररौ।
रैरी रीरा ररारीरारूरीरीरो रुरार रुक्॥१०-९५॥

---

१. यहीं यह बात भी स्मरणीय है कि कालिदास, भारवि और माघ के समान ही हर्ष के महाकाव्य का पहला पद्य भी इनकी रुचि का निर्देश करने में सफल हुआ है—**निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि॥१। १॥** में अनुप्रास-विन्यास अतीव मनोरम रूप से हुआ है।

कवि ने अपने वैदुष्य के बारे में भी पन्द्रहवें सर्ग में कहा है कि—[1]

मन्दश्छन्दसि कोऽपि कोऽपि विकलः सालङ्कृतिव्याकृता—
वर्थे कोऽपि वृथा श्रमो रसविधावन्धः स कोऽप्यध्वनि।
वक्त्रान्तर्विहरद्विरञ्चितनयामञ्जीरमञ्जुस्वर—
स्पर्धाबन्धुभिरेक एव कवते काव्यैः कुमारात्मजः ॥५१॥

१३-नरनारायणानन्दमहाकाव्य— वस्तुपाल (सन् १२२६ ई०)

धोलका (गुजरात) के राणा वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल का यह महाकाव्य सोलह सर्गों में निबद्ध है। इसमें नर-अर्जुन तथा नारायण-कृष्ण की मैत्री, रैवतक उद्यान विहार, सुभद्राहरण आदि विषय वर्णित हैं। काव्य की रचना शिशुपालवध से साम्य रखती है। अनुप्रास, यमक और श्लेष का स्थान-स्थान पर प्रयोग है। चौदहवें सर्ग का नाम **'चित्रभूषण'** है। इसमें—"**सशरशरासन, निरोष्ठ्य, अतालव्य, असंयोगाक्षर, गोमूत्रिका, मुरज, द्व्यक्षर, षोडशदल कमल, अत्रिवर्ग, अष्टार चक्र (कविनामगर्भ), दन्त्य, सर्वतोभद्र, अमूर्धन्य, अपञ्चवर्ग, षडक्षर, चतुर्व्यञ्जन, अन्त्यस्थाक्षर, कविनामाङ्क शक्तिबन्ध और खड्ग**" आदि चित्रालङ्कारों का निपुण प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

समं समन्तात् समचालि शूरैरथो रथोत्सङ्गकृतप्रतिष्ठैः।
नवीनवर्यैः कलयद्भिरग्रचमहोमहोवैरियुगान्यहेतोः ॥१४।१॥
चापं तदा दानरुचा रसज्ञासदृक्सहासस्थिततानवेन।
भल्लेन नद्धं शमनाननाभमग्रेसरं चारु न कः क आप ॥

ये दोनों 'सशरशरासन-बन्ध' के पद्य हैं। शक्तिबन्ध का पद्य इस प्रकार है—

बभ्रे तेन ततश्रीकविभाविविदितद्युता। तापदालोककरविकलासं संगिनारवः॥

यहां 'वसन्त-कवि-कविता' यह अङ्कन है'। कवि का यमक के प्रति विशेष आकर्षण था। अतः—अविश्रान्त, संदंशिका, महायमक, समुद्गक, प्रतिपादद्व्यावर्तादि-मध्यावसानयमक, त्र्यावर्तयमक' जैसे कई भेद नवीन पद्धति से प्रस्तुत किये हैं। **'त्र्यावर्तयमक'** इस प्रकार है—

अग्र्यः प्रत्यग्रवल्गत्तरलततशरं नन्वयं धन्वदण्डं,
चण्डं कर्वन्नसर्वप्रसररसलसद्गर्वसर्वस्ववश्यः।
वर्षन् हर्षप्रकर्षं गगनतललसत्स्वर्गमद्वर्गमन्तः,
प्रत्यक्षत्र्यक्षकल्पः प्रबलपरबलध्वंसनं स व्यधत्त ॥१४।३६॥

१४-धर्मशर्माभ्युदय —हरिश्चन्द्र (सन् १२३० ई०)

---

१. कवि का अपरनाम 'वसन्तपाल' है, यह १६वें सर्ग के ३८वें श्लोक से ज्ञात होता है।

कवि हरिश्चन्द्र ने प्रस्तुत काव्य में १५वें तीर्थङ्कर धर्मनाथ के चरित्र (जन्म से निर्वाण पर्यन्त) का ग्रथन किया है। भारवि, जानकीदास और माघ के समान ही यह कवि भी चित्रालङ्कार प्रणयन में अभिरुचि रखता था। इस काव्य के उन्नीसवें सर्ग में चित्रालङ्कारों का प्रयोग किया है। यहां **चित्रयुद्धवर्णन** ही अभिप्रेत है। '**प्रतिलोमानुलोमपाद, चतुरक्षर, अनुलोम-प्रतिलोमार्ध, द्व्यक्षर, अनुसमुद्गक, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, एकाक्षर, सर्वतोभद्र, मुरज, षोडशदलकमल** (कवि काव्यनामाङ्क) **अष्टारचक्रबन्ध**' और **षडरचक्रबन्ध**' इस सर्ग में अपनी विशिष्ट महत्ता को पुरस्कृत करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ पद्य दर्शनीय हैं।

एकाक्षर— **कंकः किं कोक के काकी किंकाकः केकिकोककम्।**
कौकः कुकैकक: कैकः क:केकाकाकुकांककम् ॥१९।८२॥

षोडशदल—**चक्रेऽरिसन्ततिमिहाजिषु नष्टपद्माऽतिख्यातिमेकचरिताकृतिधारिणीं यः।**
तिग्मासि रिष्टमतवत्स तवावतिक्ष्मां, किं तत्परं धरणिमित्रकृति ब्रवीमि ॥१९।१८॥

कः शर्मदं वृजिनभीतिहरं जितात्मा, हर्षाय न स्मरति तेऽभिनवं चरित्रम्।
सम्पद्गुणातिशयपस्त्यरुचं तवैति, कः कान्तिमानतिसुधाद्रवरोचमानाम् ॥१९।९९॥

यहां कर्णिकाक्षरों के साथ प्रथम दल के अग्रदलों से अक्षरों का चयन करके 'हरिचन्द्र-कृतं धर्मजिनपतिचरितमिति' यह अङ्कन भी किया गया है।

अष्टारचक्रबन्ध— **आतङ्कार्तिहरस्तपद्युमणिसद्भूरिप्रभाजिद्वसु—**
द्रष्टव्यं हृदि चिह्नरत्नमसमं शौचं च पीनोन्नते।
देहेऽधत्त हितं त्वमन्दम हृदि क्षुद्रेऽप्यतो दर्शनं,
वल्गुर्भद्रमहस्य रम्यमपरं क्षीणव्यपायं पदम् ॥१९।१०१॥

इस पद्य के प्रति चरणगत प्रथम चार, अन्तिम चार, तृतीय चार की पद्धति से १-१६, ३-१७, ६-१४ और ८-१२ क्रम के अक्षरों का चयन करने से यह श्लोकांक उद्धृत होता है—
आर्द्रदे वसुतेनेदं काव्यं धर्मजिनोदयम्। रचितं हरिचन्द्रेण परमं रसमन्दिरम् ॥

ये प्रयोग चित्रालङ्कार-साहित्य में हरिश्चन्द्र द्वारा अभिनवरूप में किये गये हैं जबकि यमकादि-प्रयोग तो सर्वसाधारण हैं ही।

१५-यादवाभ्युदय —वेदान्तदेशिक (सन् १४वीं शती का पूर्वार्ध)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य का यह महाकाव्य कृष्णचरित को माध्यम बनाकर लिखा गता है। कवि एक प्रसिद्ध धर्माचार्य होने के कारण 'वेदान्तदेशिक' उपाधि से सम्मान्य एवं इसी नाम से सुपरिचित हो गया है। साहित्य और वेदान्तादि दर्शन के अनेक ग्रन्थों की प्रौढ़ रचना के द्वारा संस्कृत-साहित्य के इतिहास में यह नाम चिरस्मरणीय है। प्रस्तुत काव्य के सभी सर्गों में अनुप्रास और यमक के प्रयोग तो सर्वसामान्य रूप से निबद्ध हैं ही; साथ ही इसके छठे सर्ग में चित्रालङ्कारों का प्रयोग बड़े विस्तार से हुआ है। जिसमें—**बिन्दुच्युतक, दुर्विज्ञानार्था प्रहेलिका, एक, दो तीन-स्थानीय वर्णों के नियमन से बने स्थानचित्र, गूढचतुर्थ, पादानुलोम, एकक्रियान्वितश्लोकावृत्ति, द्व्यक्षर, एकाक्षर, बहुचित्रसमुच्चय द्वयञ्जल,**

सर्वतोभद्र, अर्धभ्रमक, मुरजबन्ध, चक्रबन्ध, पद्मबन्ध, महायमक' आदि अनेक चित्रालङ्कार और चित्रबन्धों की योजना है। रचना और रचना-विधान को सुलभ बनाने के लिये प्रसिद्ध विद्वान अप्पय दीक्षित ने इस महाकाव्य की टीका लिखी है। अप्पय दीक्षित ने अपने **कुवलयानन्द** ग्रन्थ में शब्दालङ्कारों पर तनिक भी विचार नहीं किया है जब कि इस टीका में इन अलङ्कारों को स्फुट करने के लिये इतना अधिक विवेचन किया है कि अन्य टीकाकार वैसा कर नहीं पाये। काव्य का कलेवर, शैली प्रतिपादन, भाषा आदि सभी स्पृहणीय हैं

इस काव्य में चित्रालङ्कार के प्रयोग बड़ी चातुरी से हुए हैं। यथा—

एकस्थान-चित्र— **अहहांगखगंगाकगाहकांगांक गागकः।**
अघा कागांगकागांक गांगकागखगांगक ॥६।६८॥

यहां **'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः'** इसके अनुसार केवल कण्ठस्थानीय वर्णों का प्रयोग हुआ है। एक पद्य **'नाना'** इत्यादि (६।६६) और **'नयानयानयानया'** इत्यादि (६।९८) पद्य में क्रमशः—**स्वरचित्र, वर्णचित्र, स्थानचित्र, गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र, कङ्कण, अनुलोमप्रतिलोम-गतिचित्र'** आदि अनेक बन्ध और चित्रों का समावेश दिखाकर **'बहुचित्रसमुच्चय'** नामक चित्रालङ्कार का निर्देश किया है जो कि नवीन है।

चक्रबन्ध— **सद्दैवे कुरयातवैभवलताशोभ्युच्चनानागमे,**
भव्यं कर्म सदार्चितोद्भवनदीयादःसनाथीकृते।
चित्रादव्यनुवाहिवायवलभश्रेयःप्रचेयोत्सवे,
वेदोक्त्या समये भजे शुचि गिरौ मेरून्नतेऽस्मिन् ध्रुवे ॥६।१०४॥

इसमें **"वेङ्कटनाथीयो यादवाभ्युदयः"** यह अङ्कन भी रखा गया है।[1]

१३-दिग्विजय-महाकाव्य— मेघविजयगणि (सन् १६६३ ई०)

'उदयश्री' अङ्कन से अङ्कित तेरह सर्गों के इस महाकाव्य में मेघ-विजयगणि ने विजय-प्रभसूरि के कर्तव्य, विहार, चातुर्मास तथा तपागच्छ की पट्टावली आदि विषयों का वर्णन किया है। कविवर मेघविजयजी ने संस्कृत-साहित्य की विशेषतः शब्दालङ्कार-बाहुल्ययुक्त काव्य-सम्पदा से बड़ी सेवा की है। प्रस्तुत महाकाव्य में सर्वसामान्य काव्यों के समान ही यत्र-तत्र शब्दालङ्कारों का प्रयोग तो हुआ ही है साथ ही इसके सातवें सर्ग में निम्नलिखित शब्दा-लङ्कारों के प्रयोग भी दर्शनीय हैं—

---

१. काव्यकार तथा टीकाकार दोनों ने परिचय-पुष्पिकाएं इस प्रकार दी है—
(क) **इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु यादवाभ्युदये षष्ठः सर्गः।**
(ख) **इति श्रीमद्भारद्वाजकुलजलधिकौस्तुभश्रीविश्वजिद्याजिरङ्गराजाध्वरिवरसूनुना अप्पयदीक्षितेन विरचिते यादवाभ्युदयकाव्यव्याख्याने षष्ठः सर्गः।**

एकालापक, समस्त एकालापक, (४३) क्रियागुप्त (५४ से ४७), स्पष्टान्धक (४८) सन्दानोपमा (४९), गूढचतुर्थ (५०), निरौष्ठ्य (५१-५२), त्रिन्दुमत् (५३), बिन्दुच्युतक (५४ से ५६ तथा ६३, ६६), मात्राच्युतक तथा बिन्दुच्युतक (५७ से ५९), वर्णच्युतक-य-र-ल-व-श आदि (६१ से ६९), मुक्ताहारविभूषित बहिरेकालापक प्रश्नोत्तर (७०) तथा क्रियागुप्त-बिन्दु-च्युतक-सर्वतोभद्र-व्यस्तसमस्तैकालापक (७१) आदि।

उपर्युक्त सर्वविध शब्दालङ्कारों के प्रयोगों में यमक का प्रयोग प्रायः सर्वत्र हुआ है। यथा—

अनङ्गरागं नियतः स मुक्तभाभाःसाङ्गरागः सुतनोस्तनौ दधौ ।
अनङ्गरागं नियतः समुक्तभा प्रोच्चैः स्तनः कोनगिरिर्वनं दधत् ॥४१॥

यह **एकालापक** का उदाहरण है, जब कि—

ससंयमोऽमानि न कामशर्मणे, स्तनप्रदेशश्च मरालबालकः।
ससंयमोमानिनिकामशर्मणे, कीदृक् सुदृग् भूषणतामुपैत्ययम् ॥७०॥

इस पद्य में **बिन्दु**, **मात्रा** और **वर्णच्युतक** चित्रालङ्कार का निवेश है। कवि ने विषय-वस्तु तथा काव्यशास्त्रीय तत्त्वों को स्पष्ट करने के लिये '**स्वोपज्ञ टीका**' भी लिखी है।[1]

१७-राघवीय-महाकाव्य—रामपाणिवाद (सन् १००७ से १७८१ई०)

रामपाणिवाद संस्कृत काव्यों के निर्माण में परम कुशल हैं। केरल में मेलपत्तूर (मध्य-कालीन संस्कृत कवि) के पश्चात् इन्हीं का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इन्हें केरल का क्षेमेन्द्र भी कहते हैं।

प्रस्तुत काव्य के २० सर्गों में रामावतार से रामाभिषेक तक की कथा वर्णित है। ये कवि कालिदास से अत्यन्त प्रभावित हैं। इसमें यत्र तत्र अनुप्रास और यमक का प्रयोग करते हुए शब्दालङ्कार का पोषण किया गया है। **तुरङ्गमेनं चतुरङ्गसैनिकाः** (सर्ग १), **सा रराज नगरी नगरीति०** (सर्ग ५), **रणितकीचकसूचक-सूचिते** (सर्ग ६) जैसे पद तो इसमें सर्वत्र व्याप्त हैं। रसानुकूल पदावली का प्रयोग भी कवि का श्लाघनीय है—

(१) भ्रमणक्वणिता भ्रमालया, नखराग्रत्रुटिताभ्रमालया।
निबिडोरु निपातपातिताद्रुमपाषाण-निरुद्धमार्गया॥ (सर्ग ३)

(२) रविसुधाकरमण्डलकुण्डलस्तरलतारकहारगुणाञ्चितः।
भवति यः समये क्वचिदुन्नतो, नृप इव स्फुरदुज्ज्वलचामरः॥ (सर्ग ६)

१८-उत्तरनैषध महाकाव्य—अरुरमाधवन् उडितिरि (सन् १७६५ से १८३६ई०)

---

१. मेघविजयगणि की अन्य रचनाओं का वर्णन विभिन्न शब्दालङ्कार-सम्बन्धी कृतियों में किया जा रहा है, अतः वहीं देखें।

प्रस्तुत महाकाव्य में १६ सर्ग हैं। कवि ने श्रीहर्ष के नैषधीयचरित के अनुकरण में ही इसकी रचना की है। इसका छठा सर्ग यमकालङ्कार-पूर्ण पद्यों में रचित है।

१९-श्रीरामविजय महाकाव्य— श्रीरूपनाथ झा (अठारहवीं शती ई०)

कवि रूपनाथ झा मण्डला (म० प्र०) में रहते थे। इन्होंने इस महाकाव्य के नौ सर्गों में मृगया के लिये राम के वन गमन से लेकर सिंहासनारोहण तक की कथा वर्णित की है। कवि ने भाषा को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिये शब्दालङ्कारों का प्रयोग बहुलता से किया है।

२०-रामवर्म-महाराजचरित— पाच्चुमूत्तत (१८१४ से १८८४ ई०)

इसमें आइल्यम तिरुनाल महाराजा का चरित्र ८ सर्गों में निबद्ध है। कवि ने प्रस्तुत काव्य माघ कवि के अनुकरण में बनाया है। अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कारों के अतिरिक्त इसमें कहीं कहीं व्याकरण के सूत्रों की व्याख्या का सूचन करके शास्त्रकाव्य की परम्परा का भी आश्रय लिया है। **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** सूत्र से सम्बद्ध पद्य इस प्रकार है—

यतः क्वचिद् विप्रतिषेधसम्भवे, परं तु कार्यान्वितिपाणिनीप्सितम् ।
तच्छ्रीनगं सर्वविरोधमाक्षिपन्, नृपः परे ब्रह्मणि तत्परः किम् ।। (द्वितीय सर्ग)

इसी प्रकार **'सुबन्धोरारु'** सूत्र पर निम्न पद्य भी दर्शनीय हैं—

मृदुतां शिततां वहेत् प्रभुर्नृषु वन्दारुषु निन्दिते च षु ।
हरिनाम यथा सतां सुखां, भयमापादयते च रक्षसाम् ।। (तृतीय सर्ग)

२१-रामोदय—इलत्तूर रामस्वामी शास्त्री (सन् १८२४से १९०७ ई०)

शास्त्रीजी का यह महाकाव्य रामचन्द्र की कथा को आधार बना कर लिखा गया है। इसमें शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों का प्रयोग बहुलता से किया गया है। कवि ने **'सुरूपा-राघव'** नामक शास्त्रकाव्य भी १८ सर्गों में लिखा है जिसमें व्याकरणशास्त्र के उदाहरण हैं।

२२-यादव-दानविजय— त्रिशूर तैक्काट नारायण मूष (सन् १८७१-१९०८ ई०)

श्रीमूष अच्छे साहित्यकार हैं। भगवान् कृष्ण और यादवों की कथा का आधार लेकर यह महाकाव्य इनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें अनुप्रास, यमक और श्लेष के अतिरिक्त चित्रा-लङ्कारों का भी प्रयोग हुआ है।

२३- रघुनाथगुणोदय— नव्य चण्डीदास (सन् १८८५ ई०)

कश्मीर के इस कवि ने उक्त महाकाव्य के नवम सर्ग में यमक और चित्रालङ्कार का प्रयोग किया है।

२४- रुक्मिणीहरण – हरिदास सिद्धान्तवागीश (१९वीं शती ई०)

कृष्ण और रुक्मिणी के चरित्र से समन्वित यह महाकाव्य बङ्गाल के प्रसिद्ध कवि, भारताचार्य तथा अनेक ग्रन्थों के टीकाकार हरिदास सिद्धान्तवागीश द्वारा रचित है। इसके पन्द्रहवें सर्ग में यमक और चित्रालङ्कार की योजना की है। कुछ बन्ध नवीन हैं, जिनमें

'वाहवाहसहव्यूह०' से आरम्भ होनेवाला **कविनामाङ्क लताबन्ध, कमलबन्ध, सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम, गोमूत्रिका** आदि भी सुनियोजित हैं। यह काव्य कवि ने सोलह वर्ष की आयु में बनाया था। इनकी अन्य रचनाएं भी हैं, जिनमें नाटक और काव्यशास्त्र ग्रन्थों की प्रौढ़ टीकाएं हैं।

२५- कंसवध —मोहनभट्ट (समय अज्ञात)

महाराजा देवीसिंह के आज्ञानुवर्ती कवि-पण्डित मोहन भट्ट ने अपने आनन्दांक 'कंसवध' काव्य के २०वें सर्ग में पूर्व काव्यों की भांति 'चित्रसर्ग' की रचना की है। इसमें '**द्वयक्षर अतालव्य, एकाक्षरपाद, प्रतिलोमपाद, अमूर्धन्य, सर्वतोभद्र प्रतिलोमार्ध, मुरज, अर्धभ्रमगोमूत्रिका अकण्ठ्य, गूढचतुर्थपाद, निरोष्ठ्य, बिन्दुमती, क्रियागुप्त, खड्गबन्ध, प्राकृत सम, श्लोकत्रय, बिन्दुमती, पद्मबन्ध, चक्रबन्ध**' आदि की योजना है। इस सर्ग की पुष्पिका इस प्रकार है— "**इति श्रीमहाराजदेवीसिंहाज्ञानुवर्तिनः कविपण्डितापरनाम्नो मोहनभट्टस्य कृतावानन्दाङ्कपदसमुच्चये महाकाव्ये सिंहाख्ये कंसवधे चित्रसर्गो नाम विंशः सर्गः।**" इससे कवि का परिचय प्राप्त होता है। वैसे कवि प्रौढ रचनाकार है इसका अनुमान निम्न पद्य से भी प्राप्त किया जा सकता है।

> **नृःपुनीहि परयानुकम्पया पुंस्यते भृगृकुलैकपुङ्गव।**
> **उग्रमाप्यनव धर्मशासनं, स्वच्छवेब चरितं तवाखिलम् ॥१।३१॥**

६- सामूहिक —चिन्तन और विमर्श

संस्कृत-महाकाव्यों की संख्या बहुत बड़ी है। प्राचीन काल से चली आई इस परम्परा को यथावत् आगे बढ़ाने की दिशा में प्रत्येक कवि प्रयास करता आया है। ऐसे महाकाव्यों की परम्परा में—१-**चरित्रात्मक महाकाव्य** (जिनमें राम, कृष्ण एवं अन्य देवसम्बन्धी तथा प्रसिद्ध महापुरुषसम्बन्धी) दो प्रकार के हैं। विषय की दृष्टि से इनमें प्रथम प्रकार के लिए अधिकांश रामायण और महाभारत से गृहीत विषयों का पल्लवन हुआ है। इनकी संख्या सर्वाधिक है। द्वितीय प्रकार में साधुजन-चरित्र और राजा-महाराजाओं के चरित्र पर बने महाकाव्य हैं। इनकी भी संख्या पर्याप्त विस्तृत है।

इन महाकाव्यों में शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कारों के प्रयोग करना रूढ-सा है। कवि जाने-अनजाने इनका प्रयोग करता ही रहा है। एक ऐसा भी आया कि जिसमें किसी एक शब्दालङ्कार-विशेष को लक्ष्य में रखकर रचनाएं की गई और वे पाठकों के लिए ज्ञान एवं रुचि बढ़ाने में पूर्ण सफल हुई। इनका यथासम्भव विचार हमने '**एक शब्दालङ्कार-गर्भ महाकाव्य**' शीर्षक प्रकरण में किया है। द्वितीय कोटि में ऐसी भी परम्परा चल पड़ी थी कि अपने महाकाव्य के किसी एक सर्ग में वे अवश्य ही शब्दालङ्कार और उसके प्रमुख भेदों को समाविष्ट करते थे। कालिदास से ही यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी और आज तक इसका पालन होता आ रहा है। इस पद्धति के महाकाव्यों का कुछ परिचय हमने '**अनेकशब्दालङ्कार-गर्भ-महाकाव्य**' शीर्षक प्रकरण में दिया है।

इन महाकाव्यों और महाकाव्यकारों की प्रवृत्ति से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रत्येक कवि अपने काव्य को सुश्राव्य बनाने का यत्न करता रहा है और यह सुश्राव्यता शब्दालङ्कार पर ही निर्भर होने के कारण निरन्तर उन्हें प्रेरित भी करती रही है।

इस दिशा में अधिक गहराई से चिन्तन और विमर्श आवश्यक है जो स्वतन्त्र रूप से ही सम्भव है।

४- महाकाव्य तथा खण्डकाव्यों की मध्यधारा

संस्कृत भाषा के महाकाव्यों और खण्डकाव्यों की मध्यधारा के रूप में भी कवियों ने कतिपय रचनाएं लिखी हैं जिनमें कुछ **सप्तशतियां** हैं तो कुछ **पञ्चशतियां**; और कुछ स्वतन्त्र सङ्ग्रहात्मक काव्य हैं। इनकी रचनाओं का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय महाकाव्य अथवा खण्ड-काव्यगत लक्षणों से दूर रहकर स्वतन्त्र काव्य-निर्माण है। यहां ऐसी तीन रचनाओं का परिचय देकर इस पद्धति का दिशानिर्देश मात्र किया जा रहा है। यथा—

१-आर्या-सप्तशती— गोवर्धनाचार्य (बारहवीं शती ई०)

वङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभा-पण्डित तथा जयदेव के समकालीन गोवर्धनाचार्य ने **'गाथासप्तशती'** के अनुकरण पर 'आर्यासप्तशती' की रचना की है। इसमें विविध प्रणय-केलियों का ७०० आर्या-छन्दों में सरस चित्रण है। इसकी यह भी विशेषता है कि आर्याओं के रचना-क्रम में **'अकारादि मातृका के क्रम का निर्वाह'** किया गया है जो कि शब्दालङ्कार के **'वर्णनियमन-चित्रगत प्रभेद'** में आता है। आर्या छन्द में शब्दालङ्कार के अनुप्रास और यमक का प्रयोग वड़ी कुशलता से किया जा सकता है। श्लेष द्वारा एक प्रसङ्ग को अन्य प्रसङ्ग अथवा दृष्टान्त के साथ अभिव्यक्त करने का सौविध्य भी इसमें मिलता है।

इसी प्रकार कुछ अन्य सप्तशतियों की भी रचनाएं हुई हैं तथा हिन्दी कवि बिहारी की **'सतसई'** का संस्कृत में अनुवाद भी हुआ है।

२- एकाह्निक पञ्चशती— मुनि महेन्द्रकुमार (वर्तमान काल)

आशुकवि, शतावधानी मुनि महेन्द्रकुमारजी ने प्रस्तुत कृति का **सूर्योदय से आरम्भ कर द्वितीय दिन के ब्राह्ममूहूर्त तक के २४ घण्टों में निर्माण किया** है। इसमें सुदर्शन सेठ का चरित ५०० पद्यों में वर्णित है। यह कवि के आशुकवित्व का प्रमाण है कि ५०० पद्यात्मक कृति का नियमित समय में ही निर्माण कर दिया। इन पद्यों में यत्र-तत्र शब्दालङ्कारों का समावेश भी मनोरम हुआ है। प्रारम्भ पद्य **अष्टदल-कमलबन्धात्मक** है। यथा

सज्ज्ञानरोचिर्विशदं समस्तं, पदार्थसार्थं विमलीकरोति।
तद्रोचिषः स्याद् विधिवन्निवासः शीघ्रं मदीये विततेऽत्र चित्ते ॥

यहां **'वि'** अक्षर कणिका में स्थापित है। ऐसे अन्य ३-४ पद्य और भी दिये हैं। अन्त में एक पद्य **'षडरचक्रबन्ध'** का भी है। यथा—

वर्तन्ते समवृत्तयो मुनिवरा यस्मिन्ननेके सखे !,
सम्यग्ज्ञानचरित्रवीरनिधयस्तेजस्विनः शान्तिदाः।
विश्वस्ताः समभाविनश्च निपुणाः सम्पूरिताः कान्तिभि—
र्भिक्षोः पावनशासने प्रविदधे खेलां सदा प्रेमभिः ॥ ४९ ॥

३- साहित्य-वैभव—भट्ट मथुरानाथ शास्त्री (बीसवीं शती)

जयपुर के मञ्जुनाथ-अपरनामक भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने उक्त संग्रहकाव्य की रचना की है। इसमें साहित्य के विविध प्रकारों के नये-नये आयामों को प्रस्तुत करने के लिये कवि ने बड़ा प्रयास किया है। **'गजल, ठुमरी, दोहा, चौपाई, सवैया, कुण्डलिया, घनाक्षरी, बारहमासी**, अश्वधाटी आदि छन्दों का प्रयोग अभिनव है। भाषा प्रौढ और अलङ्कार-पूर्ण है। अनुप्रास और यमक के प्रयोग अतिमनोरम हैं। दो, तीन, चार अनुप्रास प्रतिपङ्क्ति में निवेशित हैं।

(क) **'जयपुर-वैभव'** इनकी दूसरी कृति है जिसमें उपर्युक्त पद्धति के वृत्तों में ही जयपुर, उस नगर के प्रतिष्ठित विद्वान् और नागरिकों का वर्णन है। इसी के **'चित्र-चत्वर'** नामक प्रकरण में अनेक चित्रबन्ध भी हैं। इनकी रचना-पद्धति का कुछ निदर्शन इस प्रकार है—

चञ्चच्चन्दिर विमलकुल कीर्तिविमञ्जुलरूप।
राज सदा सुखसम्पदा राजन् जयपुर-भूप॥
राजन् जयपुररञ्जनभर सज्जज्जनकर,
सिद्धिषण विशुद्धधरणिविबुध्यद्धृतिधर।
विच्छच्छल-परिगच्छच्छमल सदच्छच्छविकर
न्यञ्चच्चपलमुदञ्चच्चिरतरसुचञ्चच्चन्दिर ॥२५॥ (पृ० १२४)

यह **'अमृत-ध्वनि'** नामक छन्द में निर्मित है। ऊपर एक दोहा है और नीचे चार पङ्क्तियां अन्य हैं। शब्दसज्जा श्रुतिसुखद है। इनके एक **'चित्रबन्ध-काव्य'** का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

भास्वद्वंशावतंसं गुणगणगणनातङ्कतङ्कं ततङ्कं,
सापत्सापत्नपङ्क्तौ सकलकविकला-विश्रमास्थानभूमिम्।
सक्षेमं पालयन्ते विपुलजयपुरीमुल्लसद् भूरिभागां,
साधून् सम्मोदयन्तं हयवदनहरिर्मानसिंहं विपुष्यात्॥ (शिविकाबन्ध)

ऐसे ही अन्य नवीन तथा प्राचीन चित्रबन्ध द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रकार आपकी अन्य रचनाएं—**'गोविन्द-वैभव, ईश्वरविलसित, पद्यमुक्तावली, अलङ्कार-कलानिधि'** आदि प्रसिद्ध हैं। इस परम्परा में भी अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जो शब्दालङ्कार से अलङ्कृत हैं।

अनुप्रास-विन्यास से वर्णना-विलास कितना निखर आता है, यह साहित्य-वैभव के

उदाहरणों से सहज समझा जा सकता है। एक वसन्त-वर्णन का पद्य देखिए—

ललित-लताऽभिनव नायिकाविलासी वर-
वारिज-विकासी वनवीथीविपदन्तोऽयम्;
वञ्जुल-विपिन-मौनहन्ता पिकचिन्ताहरो,
मञ्जु-मलय-मन्द-मारुतैरनन्तोऽयम्।
'मञ्जुनाथ' महित-मीनकेतन—महामन्त्री,
मानिनी-मनःस्थ-मानतन्त्रीमिलदन्तोऽयम्;
सन्तोषयदिन्दुकर-दीपित-दिगन्तो विद्ध-
विरहि-दुरन्तो बत वर्द्धते वसन्तोऽयम् ॥[1]

यहां जिस उत्थान से प्रथम-द्वितीयादि चरणों में क्रम से वसन्त की सम्पदा का वर्णन है, वहीं शब्दालङ्कार का झङ्कार भी स्पृहणीय है। 'अधिकरण-बहुलता' १-असमस्त और समस्त पदों से अभिव्यक्त इस प्रकार की है—

१-पर्वतघनेषु पुलिनेषु पार्श्व-पत्तनेषु, पौरोपवनेषु पुरः प्रावृट् प्रतिभासते।

२-उपवन-विपिन-वाट-वल्लीवलय-वीथी-विटपिवितानेषु हि वर्द्धते वसन्तोऽयम् ॥इति॥

इसी प्रकार द्विःप्रास, त्रिःप्रास, चतुःप्रास, चारों चरणों में एकविध प्रास, चारों चरणों में पृथक्-पृथक् वृत्त्यनुप्रास, चारों चरणों में आरम्भ से अन्त तक एकाक्षरानुवृत्ति, पादान्तानुप्रास, समस्वर-विन्यासानुप्रास—जैसे अनेक उदाहरण प्रशस्त हैं;[2]

—

१-साहित्य-वैभव, पृ० १३

२-द्रष्टव्य वहीं, अन्यपृष्ठ।

तृतीय अध्याय

खण्डकाव्य में शब्दालङ्कारों का संयोजन

□

अलङ्कार-चारुता

काव्यरचना के उदात्त तत्त्वों में अलङ्कार-चारुता भी एक प्रमुख तत्त्व है और यह तत्त्व आग्रह अथवा अनाग्रह की अपेक्षा के बिना ही स्वतः वाणी में अभिव्यक्त होता रहता है। अतः कोई भी रचना ऐसी नहीं कही जा सकती कि जिसमें अलङ्कार का पूर्णतः अभाव हो। उसमें भी शब्दालङ्कार और उसका प्रथम भेद अनुप्रास तो पद-पद पर परिलक्षित होता ही है किन्तु शब्दालङ्कार के अन्य भेद भी वहां पर्याप्त रूप में अपनाये गये प्रतीत होते हैं। खण्डकाव्य भी इनके भेदप्रभेदों से मण्डित हैं जिनका विवेचन यहां आवश्यकतानुसार किया जाएगा।

खण्डकाव्य का क्षेत्र-विस्तार

'खण्डकाव्य' शब्द काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रूढार्थक है जिसमें काव्य के किसी एकांश की पूर्ति होती है, किन्तु यह नाम उत्तरकाल में आकर पर्याप्त व्यापक बन गया है और इसमें लघुकाव्य अथवा स्वल्प-पद्यात्मक[1] कृतियों का भी समावेश हो गया। इधर खण्डकाव्य का अपरनाम **'गीतिकाव्य'** भी चल पड़ा, जिसमें **दूत/सन्देश-काव्य, गीतिकाव्य, विज्ञप्तिकाव्य** आदि का भी समावेश किया गया। **'शतक-काव्य'** भी— जो स्तुति के अतिरिक्त किन्हीं अन्य वर्ण्य नियमों से सम्बद्ध हैं, वे भी इसी के क्षेत्र में आ जाते हैं अतः यही बात ध्यान में रखकर हम भी यहां इसी क्रम से विवेचन कर रहे हैं।

स्वीकृत पद्धति

साथ ही महाकाव्यों के सम्बन्ध में स्वीकृत पद्धति के अनुसार ही यहां भी **एक शब्दालङ्कार-गर्भ** और **अनेकशब्दालङ्कार-गर्भ** रूप में दो भेदों को भी पृथक्-पृथक् ध्यान में रखकर ग्रन्थपरिचय देना हमें अभीष्ट है।

१- एक शब्दालङ्कार-गर्भ खण्डकाव्य

शब्दालङ्कारों में अनुप्रास सर्वव्यापी अलङ्कार है अतः उससे संवलित खण्डकाव्यों की भी न्यूनता नहीं है। यहां अधिक विस्तार से बचने की दृष्टि से ऐसे अनुप्रास-निबद्ध खण्डकाव्यों का परिचय न देकर यमकालङ्कारवाले खण्डकाव्यों से ही परिचय आरम्भ कर रहे हैं।

---

१. यही कारण है कि अग्रिम विवेचन में केवल २०-२१ पद्योंवा[illegible] तियों को भी स्थान मिल रहा है।

यमकगर्भ खण्डकाव्य

१-घट-कर्पर-काव्य — घटकर्पर (प्रथम अथवा चतुर्थ शती)

महाकवि कालिदास तथा घटकर्पर दोनों समानकालिक हैं। जैसा कि— **'धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः'** इत्यादि पद्य में गिनाये गये विक्रम के नौ रत्नों से स्पष्ट है। यह काव्य यमकालङ्कार से युक्त २२ पद्यों में निर्मित है तथा इसकी ऐसी यमक-पूर्ण रचना के प्रति गर्वोक्ति करते हुए कवि ने स्वयं कहा है कि—

आलम्ब्य वाम्बु तृषितः करकोशपेयं, भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयम्।
जीवेय येन कविता यमकैः परेण, तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण ।।

कवि का मूल नाम प्राप्त न होने से 'घटकर्पर' नाम भी इसी पद्य के आधार पर प्रसिद्ध हुआ है।

इस काव्य में एक नवोढा वधू वर्षा ऋतु के आगमन पर मेघ के माध्यम से अपने पति के पास सन्देश भेजती है। पद्य-रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है—

निचितं खमुपेत्य नीरदैः, प्रियहीना हृदयावनीरदैः।
सलिलैर्निहितं रजः क्षितौ, रविचन्द्रावपि नोपलक्षितौ ।।

यहां चरणान्त्य-यमक का प्रयोग है।

इस प्रकार यमक के प्रयोग से प्रेरित होकर अन्य कवियों ने इस परम्परा में अन्यान्य कृतियों की रचना की है। संस्कृत-साहित्य के इतिहासलेखक इन्हें कालिदास से पूर्ववर्ती भी मानते हैं।

इस काव्य पर आठ टीकाएं प्राप्त होती हैं, जिनमें तीन टीकाएं जैन आचार्यों की भी हैं। यथा—

(१) पूर्णतल्लगच्छीय वर्धमानसूरिशिष्य शान्तिसूरि (ग्यारहवीं शती ईसवी)
(२) बृहद् गच्छ के रत्नप्रभसूरिशिष्य लक्ष्मीनिवास (चौदहवीं शती ई०)
(३) पूर्णचन्द्र।[1]

२-यमक भारत — आनन्दतीर्थ माधवाचार्य (सन् ११९९ ई०)

१२० पद्यों में निर्मित यह लघुकाव्य है। इसमें यमक का प्रयोग प्रमुख रूप से हुआ है। यथा—

ध्यायेत् तं परमानन्दं, यन्मायापतिमयदपरमानन्दम्।
उज्झितपरमानन्दं, पत्याद्याश्रयः सदैव परमानन्दम् ।।

यहां कृष्णस्तुति करते हुए चारों चरणों में **'परमानन्द'** पद से यमक हुआ है। इसी दृष्टि से इस कृति का नाम **'यमक-भारत'** रखा गया है। महाभारत की कथा का इसमें समावेश है। कहीं-कहीं चरणद्वयगत यमक भी प्रयुक्त है। यथा—

---

१. इसका विशेष परिचय—जैनसाहित्यनो इतिहास, भाग ३ में देखिये

यस्य करालोलं चक्रं कालं परस्य हि करालोलं चक्रम् ।
यस्य सदा पवमानः सन् यो व्यासोऽभवत् सदा पवमानः ॥

आनन्दतीर्थ का मूल नाम **माधवाचार्य** था। ये बड़े दिग्गज विद्वान् एवं अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ और दार्शनिक ग्रन्थों की टीकाएं भी इनकी महत्त्वपूर्ण हैं। **यदुपति आचार्य** ने इसकी टीका लिखी है। टीकाकार ने लेखक को—**'भारतीरमणप्राणात्म'** और **'भगवत्पाद'** जैसे सम्मान्य पदों से सम्बोधित किया है।

३-पारिजातहरण[1] —नारायणपण्डित (तेरहवीं शती का पूर्वार्ध)

नारायणपण्डित रचित इस काव्य में तीन आश्वास हैं तथा इनमें क्रमशः ५५, ५३ और ७२ पद्यों का समावेश है। कवि ने भगवान् के द्वारा सत्यभामा के लिए लाये गये पारिजात वृक्ष की कथा को यमकमय पद्यों में ग्रथित किया है। अतः यह 'यमक-काव्य' की शृङ्खला में एक अभिनव कड़ी के रूप में आदृत है। उदाहरणार्थ एक पद्य द्रष्टव्य है—

दत्त्वा तस्यै सेनया सेनया तं, मूढस्ताक्ष्यसिन यासेनयातम् ।
कालाय स्वर्भानुभानूच्चताकश्चक्रेणादाद् भानुभानुप्रभेण ॥
उचिता सुमनोभिरथ प्रणुती, रचिता सुमनोभिरजे जयिनी ।
शुचिता सुमनोभिरमुष्य रतैः, प्रचितासुमनोभिरिवाङ्घ्रिमितैः ॥

(प्रथम आश्वास, ५४-५५)

इस प्रकार कवि ने यमकालङ्कार के कुछ भेद-प्रभेदों को लक्ष्य में रखकर रचना को अलङ्कृत करने का प्रयास किया है। दुरूह **यमक** के भेदों के प्रति आग्रह न होने से यह कृति सरस बन पड़ी है।

कवि ने आश्वासपूर्ति पर पुष्पिका के रूप में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"इति श्रीमत्कविकुलतिलकश्रीमत्त्रिविक्रमपण्डिताचार्यसुतश्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यशिष्य— श्रीमन्नारायणपण्डिताचार्यविरचिते श्रीमत्पारिजातापहरणे काव्यराजे प्रथमाश्वासः।"

४-मेघाभ्युदय —मानाङ्क महीपति (ई० १२ से १४वीं शती बीच)

यह ३८ पद्यों का लघु काव्य है। इतके प्रथम पद्य का आरम्भ **'जितालिमाला'** पद से होता है। सभी पद्य यमकालङ्कार से युक्त हैं। मानाङ्क-महीपति के पिता का नाम **उग्रसेन** था।

५-वृन्दावन काव्य —मानाङ्क महीपति (ई० १२ से १४वीं शती के बीच)

यह काव्य भी यमकालङ्कार में रचित है। इस पर **शान्तिसूरि** तथा **लक्ष्मीनिवास** ने टीकाएं लिखी हैं।

---

१. इसी का अपरनाम **'पारिजातापहरण-काव्यराज'** भी है। **द्रष्टव्य—आश्वास पूर्ति** पुष्पिकांश।

६-राक्षसकाव्य —रविदेव (अज्ञात)

यह बीस पद्यों का यमकमय लघुकाव्य है। इसमें प्रियतमा के साथ वन में विहार करते हुए उसके प्रिय द्वारा वन की शोभा का वर्णन किया गया है। **वर्धमान सूरि के शिष्य शान्तिसूरि** ने इस पर भी टीका लिखी है। जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित 'काव्यसंग्रह' के पृ० ५७२ में यह मुद्रित है।

७- कृष्णलीला —मदनकवि (१७वीं शती)

मदन कवि ने 'घटकर्पर-काव्य' की एक-एक पंक्ति लेकर उसकी समस्या-पूर्ति के रूप में इस काव्य की रचना की है। उदाहरणार्थ—

'निचितं समुपेत्य नीरदैः प्रियहीना हृदयावनीरदैः ।
सलिलैर्निहितं रजः क्षितौ, रविचन्द्राविव नोपलक्षितौ ।।

इस पद्य के प्रथम चरण की पूर्ति निम्न प्रकार से की गई है—

'निचितं समुपेत्य नीरदैः' वसुदेवे हरिवन्दनीरदैः ।
रचितं फणिभूभुजाननैरुपरि च्छत्रसभासि काननैः ।।

इस प्रकार इसमें **'प्रतिपादान्तयमक'** का निर्वाह भी यथावत् किया गया है। अतः यह काव्य शब्दालङ्कार के **'समस्या-पूर्ति'** और **'यमक'** इन दोनों भेदों का प्रतिनिधित्व करता है।

८- कामदूतकाव्य —विष्णुदत्त हरिदत्त नोटयाल (बीसवीं शती)

टिहरी गढ़वाल के निवासी उपर्युक्त दोनों भ्राताओं ने सम्मिलित रूप से इस २६ पद्यात्मक काव्य में काम को दूत बनाकर सन्देश देने का वर्णन किया है। मुख्यरूप से द्रुत-विलम्बित छन्द का प्रयोग करते हुए यमकालङ्कार का आश्रय लिया गया है। प्रत्येक पद्य में चरणगत पूर्वार्ध में यमक की योजना स्पृहणीय है। यथा—

रसपदैः, सपदैर्मथिताशया, घनवने नवनेऽपि च संश्रया ।
पिकरवैः करवै किमहं स्पृहो, गतदये तदये तनुपे तनौ ।।३।।

अन्य छन्दःप्रयोग में भी यह प्रक्रिया सरस बनी है। यथा—

दरादरावरा दराऽन्वितास्मि सम्प्रति त्वयि ।
रमारमारमारमामवत्वदाश्रिता मतः ।।२१।।

यहां कोई विरहिता नायिका अपने विरह-कष्ट का कथन कर रही थी कि सहसा उसका प्रिय आ गया और काव्य समाप्त हो गया है। यह काव्य घटकर्पर की परम्परा का पूरक है। कवि ने अन्य रचनाएं भी की हैं जिनमें धर्मशास्त्र-विषयक **'धर्मवल्लीस्तव'** ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कतिपय प्रकीर्ण **चित्रालङ्कारगर्भ मुक्तक** भी इनके प्राप्त होते हैं।

---

१ इस काव्य का विशेष विवरण देखिए हमारा लेख "कामदूतकाव्यं तत्स्वरूपं च" शोध-प्रभा, वर्ष, ६ अंक प्रथम १९८३।

९- श्रीरामविवाहः (चित्रकाव्यम्) — स्वामी श्रीलक्ष्मण शास्त्री (२०वीं शती)

स्वामी लक्ष्मणशास्त्री द्वारा श्रीराम के विवाह-वर्णन में रचित तीन सर्गों का यह लघुकाव्य यमक के दो स्वरूपों से पुष्ट है। प्रथम और द्वितीय सर्ग के वसन्ततिलका वृत्तों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरणों के अन्त में **'द्व्यक्षरात्मक शृङ्खलायमक'** का निर्वाह है तथा तृतीय सर्ग के अधिकांश पद्यों में **'पादगत द्व्यक्षरयमक'** का प्रयोग है। यत्र-तत्र अन्य अर्थालङ्कारों का भी समावेश है। कवि की शब्दालङ्कार-प्रियता एवं विशाल शब्दज्ञता का परिचय इस रचना द्वारा सहज प्राप्त होता है।

चित्रालङ्कारगर्भ खण्डकाव्य

१०-रामकृष्ण विलोमकाव्य —दैवज्ञ सूर्य कवि (सोलहवीं शती का पूर्वार्ध)

दैवज्ञ कवि सूर्य की रचना शब्दालङ्कार-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसका वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए स्वयं कवि ने कहा है कि—

छन्दःपूरणमुत्क्रमक्रमविधौ साकाङ्क्षता तत्पदे—
ष्वारम्भाच्चरितक्रमोऽप्युपचयोऽप्येतत् त्रयं दुर्गमम्।
एवं सत्यपि सन्मतिः क्रियदपि प्रागल्भ्यमालम्बते,
तत्सर्वं गुणिनः क्षमन्तु यदहो यूयं श्रमज्ञा जनाः ॥२॥

और आगे **विलोमकविता** के निर्माण में सुकवि की बुद्धि के अधीर हो जाने की बात भी—**विलोमकविताकृतौ सुकविधीरधीरा भवेत्** (३) कही है। एक ही पद्य में दो या दो से अधिक कथाओं को श्लेष द्वारा व्यक्त करने के लिए जो 'सन्धान-काव्य' बने हैं उनकी अपेक्षा **'प्रत्येक पद्य के पूर्वार्ध का अनुलोम पाठ करने पर रामकथा और उसी पूर्वार्ध को विलोमक्रम से पढ़ने पर कृष्णकथा की प्राप्ति'** इस काव्य की अपूर्व विशेषता है। यही कारण है कि कवि ने अपनी रचना को **'त्रिवेणी'** की संज्ञा दी है। यथा—

भागीरथी रामकथातिरम्या, कालिन्दिका कृष्णकथा मनोज्ञा।
सरस्वती सूर्यकवेस्तृतीया, स्नातुं प्रयागेऽत्र मतिः कवीनाम् ॥

काव्य के पठन और उसके अर्थों की प्राप्ति के लिए कवि ने कहा है कि—

समाक्षराङ्घ्रिर्विषमाक्षरार्धाद्, द्विधा भवेद् व्यस्तकवित्वसीमा।
समानभिन्नार्थतया द्विधाद्या, भिन्नाक्षरार्धा च भवेद् द्वितीया ॥५॥
अध्याहारो यत्तदोर्वा विधेयः, पादाद्यन्ते वा विसर्गो विसर्गः।
कुत्राप्यूह्या लक्षणा व्यञ्जना वा, विद्यादेतां चित्रकाव्यानुपूर्वीम् ॥६॥

काव्य का एक पद्य उदाहरणार्थ इस प्रकार है—

तं भूसुतामुक्तिमुदारहासं, वन्दे यतो भव्यभवं दयाश्रीः।
श्रीयादवं भव्यभतोयदेवं, संहारदा मुक्तिमुतासुभूतम् ॥१॥

यहां पूर्वार्ध के दो चरण ही विपरीताक्षर क्रम से पढ़ने पर उत्तरार्ध बना हुआ है तथा

व्याकरणाल्पता से भी बचने का पूरा प्रयास किया है और अपनी रचना को **'द्राक्षापाक'** बतलाया है।

यह काव्य **'यमक, श्लेष, चित्रकाव्य** तथा **अनुप्रास'** आदि अलङ्कारों से परिपूर्ण होकर अपने ढंग का अनूठा उदाहरण बना हुआ है। इसका दूसरा नाम **'रामकार्ष्णि'** काव्य है तथा **'अन्वय-दीपिका'** टीका भी इसी पर लिखी गई है।

च्युत-चित्रालङ्कारगर्भ खण्डकाव्य

११-सीतारावण संवादझरी— चामराजनगर रामशास्त्री

(१९वीं शती का अन्तिम भाग)

मैसूर-स्थित श्रीराम शास्त्री की यह रचना **वर्णचमत्कृति-मूलक-चित्रालङ्कार** के **'च्युत-दत्ताक्षरा'** भेद से अलङ्कृत है। इसमें 'अशोकवाटिका में राक्षसियों के बीच बैठी हुई सीताजी से रावण अपनी प्रशंसा करते हुए श्रीराम की निन्दा करता है। सीताजी उसे सहन न करते हुए प्रत्येक पद्य के चतुर्थपाद से उत्तर देती हुई चातुर्य-पूर्वक रावण के उपर्युक्त तीन चरणों को उसकी निन्दा के रूप में ही व्यक्त कर देती हैं। इसके लिए **श्लेष अलङ्कार** तथा **वर्णलोप, वर्णदान अथवा उभयविध प्रयोग**' से पूरे पद्यार्थ की सङ्गति स्वयं रावण की निन्दा में हो जाती है।

इस प्रकार चमत्कारकारी शब्दविन्यास से युक्त इस रचना में 'सीता के द्वारा उभयार्थक प्रतिवचन से प्रत्याख्यात होने पर भी रावण सीता के उत्तर में निगूढ अर्थान्तर को न जानकर पतिव्रता के समक्ष कर्णपीडक शब्दों के कथन से विरत नहीं हुआ तब स्पष्ट एवं असन्दिग्ध **वर्णलोपात्मक उक्ति** से सीताजी ने अपना अभिमत साधन किया।

इस संवाद को हनुमान उस वाटिका में ही शिंशपावृक्ष पर बैठे हुए सुन रहे थे, उसे स्मृति में रखकर यथासमय श्रीराम को उन्होंने सुनाया[1]। सीता के पातिव्रत्य की कथा का यह काव्य अद्भुत है।

इसमें १०८ पद्य हैं जिनमें १६ पद्य भूमिकारूप, ५९ संवादात्मक तथा २० पद्यों से राम के द्वारा रावण का पराभव और सीता की प्राप्ति का वर्णन है। अन्य सात पद्यों में राम का अभिषेकान्त वृत्त एवं शेष से कवि ने अपना मनोगत-भाव व्यक्त किया है।

कवि रामशास्त्री ने किसी पण्डित-सभा में किसी के मुख से यह सुना कि— **'भवित्री रम्भोरु०'** जैसे आश्चर्यपूर्ण पद्य की रचना अब नहीं की जा सकती। इस उक्ति के कारण **'शतं पद्यानि रचयामि'** ऐसी प्रतिज्ञा की और तीस वर्षों तक श्रम करके पचास पद्य बनाये तथा उनकी स्वयं व्याख्या भी लिखी। इनकी विशेषता यह है कि इन पद्यों में श्लेष अलङ्कार का भी प्रयोग हुआ है, जबकि **'भवित्री रम्भोरु०'** पद्य में श्लेष नहीं है। केवल वर्णलोप द्वारा दो अर्थ व्यक्त किये हैं—अतः नौ पद्य ऐसे भी दिये हैं। एक दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

---

१. **इत्यूनां षष्टिमेकेन पद्यानि पवनात्मजः।**
अपि रामाय विदुषे विवृण्वन् हृषितोऽब्रवीत् ॥ ७६ ॥

अतल्पं निद्रालू रजनिषु कुवाग् दुर्गततमो,
महाकातर्याढ्यो मनसि विधुतप्रोज्ज्वलयशाः।
वधान्मांसादानां वहुविमतलाभो जनकजे,
कथं श्लाघ्यो रामः खल ! तमसकृन्मा स्पृश गिरा ॥१८॥

यहां—सीता की उक्तिरूप चौथे चरण में—प्रथम अर्थ है कि हे दुष्ट ! तू राम के पवित्र नाम का अपनी वाणी से भी स्पर्श मत कर। जबकि दूसरा अर्थ—तेरी उक्ति के तीनों चरणों में स्थित 'त' अक्षर का स्पर्श मत कर। इससे विभिन्न स्थानों पर आये 'त' का लोप होकर पद्य का अर्थ स्वयं रावण की निन्दा में परिवर्तित हो जाता है। अतः यहाँ '**च्यावितात्क्षर**' नामक चित्रालङ्कार है। इसका लक्षण वहीं टीका में इस प्रकार दिया है—

कस्मिंश्चिच्च्याविते वर्णे यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते।
चित्रं तदेव विज्ञेयं च्यावितात्क्षरनामकम् ॥

कहीं 'वर्णादेशचमत्कार' का आश्रय लिया गया है। यथा—

सदायत्तं सत्याविकलमपि मां विद्ध्यवनिजे,
सुधेत्येव ग्राह्या त्वदनुनयनोऽकिं मम न किम्।
सुखाधिक्यं रामादपि मयि विमूढा अपि विद-
त्यसम्बद्धं मे न श्रुतिमधम तेऽभ्येति वचनम् ॥२७॥

यहां अन्तिम चरण में निर्दिष्ट 'असम्बद्ध' पद में '**असं—सकार-रहितं**' तथा '**मबद्धं-मकारेण बद्धं**' ऐसा पदच्छेद द्वारा वर्णलोप करके उसके स्थान पर 'म'—वर्ण का आदेश किया जाने पर रावण के वचनों में ही उसकी निन्दा का अर्थ निकल आता है।

इसी प्रकार—**वर्णादेश**, **वर्णागम** आदि पद्धतियों से यह रचना पूर्णतः अद्भुत बनी है।

१२-सीतारावण संवादझरी — सीतारामशास्त्री

मैसूर के ही श्रीसीतारामशास्त्री ने यह रचना पूर्वकृति के उत्तरभाग के रूप में निर्मित की है। ये श्रीरामशास्त्रीजी के शिष्य थे। इस ग्रन्थ की रचना का कारण स्वयं कवि ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

यद्गूढार्थयुतान् शतं रचयितुं श्लोकान् स्वसङ्कल्पितान्,
शक्तोऽप्यत्र भवान् स्वविश्रममिषादर्धं परार्थं जहौ।
युक्तं तस्य विमत्सरस्य हि परप्रोत्साहशीलस्य तत्,
धन्यः स्यां भुवने कथं त्वहमहं प्राप्तावकाशो न चेत् ॥४॥

अर्थात् गुरुदेव ने सौ पद्यों की रचना द्वारा गूढार्थक काव्य की पूर्ति करने का विचार करके पचास पद्यों के पश्चात् सामर्थ्य होने पर भी विश्राम लेने के बहाने हम जैसे शिष्यों उत्साह के लिए छोड़ दिया था, उसी की पूर्ति करके मैं धन्य क्यों न बनूं।

इस रचना में कुल ७३ पद्य हैं। यहां भी पूर्व-रचना की पद्धति का ही अनुसरण हुआ है। तीन पद रावण की उक्ति के रूप में हैं तथा चौथा चरण सीता की प्रत्युक्ति है। सभी प्रत्युक्तियां गूढार्थ से युक्त हैं। इसमें तीन प्रकार के **अक्षर-चित्र** प्रमुख हैं। यथा **१-च्यावितान्क्षर, २-अधिदत्ताक्षर** तथा **३-प्रतिदत्ताक्षर**। इन तीनों विधियों को अर्थ प्राप्ति के लिए और भी पल्लवित किया गया है। रचना प्रौढ़ है। यथा—

> **मानिन्यः कति वा न सन्ति सततं मे पादवश्या गृहे,**
> **त्वामानीय तथाप्यहं बहुविदत्यासक्तितः कामये।**
> **कर्तव्या न मुधा त्वया मयि ननु श्रोणीसुते दोषधी-**
> **र्वाङ् निर्याति कुतः सदा खल ! हितापेक्षा तवेयं खलु ॥१७॥**

यहां तीन चरणों में सीता के समक्ष रावण अपनी प्रशंसा करता है तथा अपने प्रति अनुराग करने का निवेदन करता है, उसके उत्तर में सीता जी चौथे-चरण द्वारा कहती हैं कि—'हे दुष्ट ! तेरे मुख से ऐसी अहितकरी वाणी क्यों निकल रही है। इससे तेरा कल्याण नहीं होगा।' और इसी में गूढार्थ द्वारा व्यक्त किया है कि—तेरी वाणी में जो सदा है **सदा-सहित है** जो उचित नहीं है उसके स्थान पर **पेता-पकारेण इता**—अर्थात् पकार से युक्त वाणी का प्रयोग कर। इस प्रकार **द** के स्थान पर **प** वर्ण का प्रयोग करने से—**पादवश्या का पापवश्या, विदत्यासक्ति का विपक्ष्यासक्ति** और **दोषधीः** के स्थान पर **पोषधीः** पाठ होता है और इससे रावण के लिए विपरीत अर्थ निकल आता है। यह **प्रतिदत्ताक्षर-चित्र** है। स्वयं कवि ने अपने पद्यों को व्यवस्थित रूप से समझाने के लिए स्वोपज्ञ व्याख्या भी लिखी है।

१३-अभिनव सीतारावण संवादझरी — बच्चू सुब्बाराय (बीसवीं शती ईसवीं)

इस रचना के निर्माण का कारण भी श्री बच्चूसुब्बाराय ने पूर्ववत् ही बताया है। इसमें भी सखण्डश्लेष, अखण्डश्लेष और पूर्वोक्त च्यावितान्क्षरादि चित्रालङ्कारों का प्रयोग हुआ है। कृति में ५० पद्य ही प्रमुख हैं। इन पद्यों में कहीं **एक ही पद से तीन-तीन अर्थ निकालकर, कहीं समासगर्भितार्थ, सङ्केतितार्थ तथा व्यस्तरूपार्थ निकालकर,** अन्यत्र **पदविभाग की अपेक्षा के बिना ही शब्द के श्लेष द्वारा दो अर्थ करके, क्रिया** और **शब्दरूप वचनों के वैशिष्ट्य से, स्वरसहितच्यावितान्क्षरी, एकवर्णगतस्वरभेदप्रतिदत्ताक्षरी, वर्णभेदप्रतिदत्ताक्षरी, स्थानद्वय-प्रतिपादित-प्रतिदत्ताक्षरी, लुप्तैकवर्ण-वर्णद्वयारोपण, वर्णद्वयान्यतर-तदुभयगत-च्यावितान्क्षरी** आदि के प्रयोग हुए हैं। इन प्रयोगों में कतिपय नवीन भी हैं जो कि पूर्वापेक्षा विशिष्ट हैं। रचना का सौष्ठव बनाये रखने के लिए कवि ने पूरा प्रयास किया है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

> **मनोऽजस्रं सीते ! न परदलनेच्छा त्यजति मे,**
> **श्रुतोऽहं सीते किं न कुशलदयाक्रान्त इति च।**
> **तव प्राणेशं किं स्मरसि दलितश्रीकमबले !,**
> **तवोक्तं मन्ये दानरहितमिति सल्लापनमिदम् ॥७॥**

यहां द अक्षर से रहित तीनों चरणों का सङ्केत स्पष्ट है।

इसके पश्चात् **'गूढ-चित्र'** की पूर्ति के लिये भी कुछ खण्डकाव्य लिखे गये हैं जिनमें प्रस्तुत के साथ ही अप्रस्तुत विषयों को भी गूढ़ रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

समस्यापूर्ति-मूलक-खण्डकाव्य

चित्रालङ्कार के भेदों में **'समस्या-पूर्ति'** को भी आचार्यों ने एक भेद माना है। इस भेद के प्रभेद भी अनेक हैं[1] जिनमें 'अन्य कवि की किसी प्रसिद्ध रचना अथवा मुक्तक को लेकर उस पर अन्य कवि अपनी प्रतिभा से अन्य काव्य की रचना करता है।' प्रारम्भ में यह पद्धति केवल चतुर्थ-चरण की पूर्ति तक ही सीमित थी किन्तु उत्तरकाल में इसके नये-नये प्रकार आविष्कृत हुए और विभिन्न रचनाएं भी संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में प्राप्त हुईं। उदाहरणार्थ हम कतिपय खण्डकाव्यों के संक्षिप्त परिचय (उनमें आये वैशिष्ट्य के साथ) यहां दे रहे हैं।

कालिदास के मेघदूत की समस्यापूर्तियां

१- पार्श्वाभ्युदय — जिनसेन (आठवीं शती)

मेघदूत के पदों को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गये काव्यों में **'पार्श्वाभ्युदय'** सबसे पहला काव्य है। इस काव्य में चार सर्ग हैं—प्रथम सर्ग में ११८, द्वितीय में ११८' तृतीय में ५७ और चतुर्थ में ७१ पद्य हैं। इस प्रकार कुल ३६४ पद्यों में यह काव्य पूर्ण हुआ है।

इस रचना में कमठ यक्ष के रूप में, उसकी प्रेयसी भ्रातृ-पत्नी वसुन्धरा यक्षपत्नी के रूप में और राजा अरविन्द कुबेर के रूप में वर्णित हैं। मेघ के रूप में पार्श्वनाथ (मरुभूति) को चित्रित किया है। प्रसङ्गवश रामगिरि से अलकापुरी तक का इसमें वर्णन है। इस प्रकार कथानक में मेघदूत का अनुकरण और रचना में मेघदूत की समस्यापूर्ति इस काव्य के चमत्कारी पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। पूरे मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के पदों को यहां समस्या मान कर पूर्ण किया है।

पूर्ति में यह विशेषता है कि कवि कहीं तो श्लोक के चतुर्थांश को लेता है और कहीं अर्धांश को। कहीं-कहीं तीन चरणों को भी आवेष्टित किया है। भाषा प्रौढ़ है तथा विषय-वस्तु के अनुरूप समस्यामूलक पदों के अर्थों की सिद्धि के लिये यथावश्यक मूल पंक्तियों के भावों में विपर्यस्तता भी लाई गई है। कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

१- पादवेष्टित समस्यापूर्ति चतुर्थ चरणपूर्ति

---

१. **'कविकण्ठाभरण'** में क्षेमेन्द्र ने समस्यापूर्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार दिखाये हैं। द्रष्टव्य—प्रथम सन्धि। इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यों ने भी इस प्रणाली को काव्य का भेद मानते हुए इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या,
योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विरहन् बद्धवैरेण दग्धः,
"कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः" ॥१।१॥

२-अर्धवेष्टित-समस्यापूर्ति —(उत्तरार्ध-चरणद्वयपूर्ति)

वक्रोऽप्यध्वा जगति स मतो यत्र लाभोऽस्त्यपूर्वो,
मातुं शक्यं ननु वनपथात् कासिकाग्रार्जुनान्नात्।
"वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां,
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः" ॥१।१०३।

३-एकान्तरित-समस्यापूर्ति

"उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य! निक्षिप्य वीणां"
गाढोत्कण्ठं करुणविरुतं विप्रलापायमानम्।
"मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा,
त्वामुद्दिश्य प्रचलदलकं मूर्च्छनां भावयन्ती" ॥३।३८।

४-द्व्यन्तरित समस्यापूर्ति

"तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्,
स्वाङ्गुल्यग्रैः कुसुममृदुभिर्वल्लरीमास्पृशन्ती।"
ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं शून्यचित्तानुकण्ठी,
"भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती" ॥३।३९॥

इस प्रकार इनमें १-पहले पाद को चतुर्थ चरण के रूप में, २-दो चरणों को तृतीय चतुर्थ चरणों के रूप में, ३-तीन चरणों के बीच में एक अन्य दूसरा चरण देकर तथा ४-अन्य-तीन चरणों में दो के बाद तीसरा अन्य चरण देकर पूर्ति की गई है।[1]

कवि जिनसेन ने कालिदास के मूल भावों को सुरक्षित रखते हुए बड़े कौशल के साथ यह पूर्ति की है जो कि शब्दालङ्कार के एक विशिष्ट प्रकार को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत कर अपने आप में सर्वश्रेष्ठ रचना बन गई है।

मेघदूत की अन्यपूर्तियां

केवल चौथे चरण की पूर्ति पर निम्नलिखित दूतकाव्य भी हैं जिनमें समस्यापूर्तिरूप चित्रालङ्कार की प्रमुखता तो है ही, साथ ही शब्दालङ्कार के अन्य भेद अनुप्रास, यमक, श्लेष

---

१. यह काव्य मुद्रित है तथा इसके विशेष परिचय के लिए देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध लेखक का लेख 'संस्कृत-रत्नाकर' वर्ष १९६७ का दिसम्बर अंक।

आदि भी अच्छे रूप में प्रस्तुत हुए हैं—

१-**नेमिदूत**—	सांगणपुत्र विक्रम	१२३	राजिमती और नेमिनाथ का चरित्र (सन् १४१५ ई०)
२-**शीलदूत**—	चारित्रसुन्दरगणि	१२५	स्थूलभद्रचरित्र (सन् १४३० ई०)
३-**चन्द्रदूत**—	विमलकीर्ति	१४१	चन्द्र को ऋषभदेव के पास वन्दना के लिए दूत बनाकर भेजा गया (सन् (१६२४ ई०)
४-**मेघदूत-समस्या** —	उपाध्याय मेघविजय	१३०	गुरु के लिए विज्ञप्ति मेघद्वारा (सन् १६७० ई०)
५-**चेतोदूत**—	अज्ञात ?	१२९	गुरु के लिए सन्देश चित्र द्वारा
६-**सिद्धदूत**—	अवधूतराम योगी	१२६	आत्मशक्ति के पास सिद्ध द्वारा सन्देश
७-**मेघदूतसमस्या** —	कविसूर्य वाचस्पति	१४१	मेघद्वारा सन्देश प्रेषण।
८-**हनुमद्दूत**—	नित्यानन्दशास्त्री	१२६	राम का हनुमान द्वारा सन्देश प्रेषण।
९-**हनुमत्सन्देश**—	मधुसूदन मिश्र	१२८	राम का हनुमान द्वारा सन्देश प्रेषण।

इनके अतिरिक्त अन्य नामों से भी कुछ काव्य मेघदूत की समस्यापूर्तिरूप काव्य मिलते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१-**पत्नीनिचय**	—आलावर्दी खां	चतुर्थ चरण पूर्ति	
२-**चिमनीचरित**	—शिक्षक नीलकण्ठ	,,	,,
३-**मेघसन्देशविमर्श**	—कृष्णमाचार्य	,,	,,
४-**यक्षोल्लास**	—कृष्णमूर्ति	,,	,,
५-**घनवृत्त**	—रामचन्द्र	,,	,,

इतना ही नहीं, अनेक कवियों ने तो कतिपय श्लोकविशेष, पादविशेष, पद-विशेष आदि को ग्रहण करके भी मेघदूत की पूर्तियाँ की हैं जिनका एकत्र संग्रह करने से कोई न कोई पद्य निकल आता है।[1]

संस्कृत साहित्य में ऐसी सहस्राधिक रचनाएं प्राप्त हैं जिनमें समस्यापूर्ति को लक्ष्य में रखकर ही काव्य रचना हुई है। ऐसे ग्रन्थों का यत्किञ्चित् परिचय हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

चित्रबन्धरामायण — वेङ्कटेश्वर (सन् १६३५ ई०)

श्रीवेङ्कटेश्वर ने इस पद्यमयी रामायण में प्रत्येक पद्य चित्रबन्ध से पूर्ण दिया है। **'कङ्कण बन्ध, आन्दोलिका-बन्ध'** आदि इसके विशिष्ट प्रयोग हैं। इस काव्य पर यज्ञ-नारायण ने टीका भी लिखी है। **''कङ्कण-बन्ध''** का पद्य इस प्रकार है—

---

१. ऐसे काव्यों का विस्तृत परिचय लेखक का अन्य ग्रन्थ **'दूतकाव्य-परम्परा'** द्रष्टव्य है।

रामं देवं द्यामायावं द्रागाकारं भो दातारम् ।
गेयो भूदारो यो धेये, वन्दे हंसं तं भिन्नाधिः ।।३६।।

यह कृति अप्रकाशित है तथा तञ्जौर के 'प्राच्य गन्थागार' **में** सुरक्षित है ।

नक्षत्रवृत्तावली— वयस्कर नरायण वर्मन् (सन् १८४२-१९०२ ई०)

अनेक ग्रन्थों के लेखक विद्वान् नारायण वर्मन् ने प्रस्तुत कृति में ३८ पद्य दिये हैं तथा इसमें राजा और चन्द्रमा के वृत्त को एक साथ गूंथकर **द्विसन्धान-पद्धति की पूर्ति** की है । इसमें चित्रकाव्य भी हैं । कवि ने स्वयं इस पर टीका भी लिखी है । इन्हीं की अन्य रचना '**चित्र-प्रबन्ध**' भी है जो चित्रकाव्यात्मक है ।

सर्वमङ्गलोदयश्लिष्टकाव्य— पञ्चानन तर्करत्न (सन् १८३३-१९४१ ई०)

'अमरमङ्गल' नाटक, **विष्णुविक्रम** औंर **पार्थाश्वमेध** महाकाव्य, **प्राणदूत** और **इन्द्रियानुशासन** खण्डकाव्यों के रचयिता महामहोपाध्याय पञ्चानन तर्करत्न का यह काव्य श्लेष-पूर्ण है । इसका विशेष परिचय प्राप्त नहीं है । इन्हीं के पुत्र **श्रीश्रीजीवन्याय तीर्थ** भी अनेक ग्रन्थों के निर्माता तथा उत्तम कवि हैं जिनकी रचनाओं का परिचय आगे दिया जाएगा ।

चित्रकोशकाव्य— लेखक अज्ञात

स्व० पुण्यविजय जी महाराज के पुस्तक भण्डार से लेखक को इस ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त हुई है, जिसमें भट्टारक विजयप्रभसूरि को प्रणाम करके—

"**स्वस्तिश्रीसदनं भजामि सुभगं श्रीविश्वसेनाङ्गजम्**" इत्यादि पद्य से रचना प्रारम्भ हुई है । इसमें महायमकात्मक २२ पद्यों का जिनवर्णनाधिकार, हारबन्धात्मक चौदह पद्यों का द्वितीयाधिकार तथा कुछ पद्य तृतीयाधिकार के प्राप्त हैं । इसका कुछ अंश श्री अगरचन्द नाहटा-जी के बीकानेरस्थित भण्डार में भी है । इसमें—'छत्र, **चामर**, **स्वस्तिक**, **श्रीकरी**, **कलश**, **खड्ग**, **धनुः**, **शक्तिः**, **भल्ल**, **वज्र**, **मुद्गर**, **हल**, **मुशल**, **शर**, **त्रिशूल**, **शंख**, **रथ**, **अर्धभ्रम**, **कमल और ध्वज**' इन बन्धों से युक्त **महाकमलवन्ध** की योजना प्रथम २२ पद्यों में है । **बृहद्-हारबन्ध** के लिये चौदह पद्य द्वितीय अधिकार में हैं जिनमें **पार्श्वमणि**, **मध्यकमल**, **पार्श्वमणि** और **दोरक काव्य** का सङ्केत भी है । तृतीय में— **प्रश्नोत्तर**, **समुद्ग**, **अकवर्ग बीजपूर**, **मध्य-स्वस्तिक युत ४४ दलयुत कमलबन्ध** आदि हैं । 'ध्वजबन्ध' का पद्य इस प्रकार है—

तं देवं शाश्वतश्रीसमुदितमहसानन्तरूपं भदन्तं,
त्रस्तानां सान्तदाने सुरतरुमरुजं तत्त्वबोधं कतन्त्रम् ।
नत्वा सन्तं सुरेशार्चितमुदयभृतं शुक्लमांसान्तभानं,
तंसन्तं नाथभावं तनुसुभगतराकारतः सङ्कसन्तम् ।।१-२२।।[1]

---

१. श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आचार्यों ने इस प्रकार के और भी कुछ चित्र काव्य कोशों की रचना की है, जो अभी अप्रकाशित ही हैं । (लेखक)

भाषा-चित्र-काव्य

रहीम-काव्य — अब्दुलरहीम खानखाना (सन् १५५३ ई०)

लाहोर के निवासी वीरवर अब्दुर्रहीम खानखाना अकबर के प्रधान सेनापतियों में प्रथम थे। इन्होंने संस्कृत और हिन्दी-फारसी मिश्रित इस काव्य की रचना की हैं। नायिका-वर्णन, मदनाष्टक, दोहावली, शृङ्गारवर्णन, त्रयस्त्रिंशद्-योगावली और खेटकौतुक आदि इनकी अन्य रचनाएं हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में इनके मदनाष्टक का एक पद्य रचनागत वैशिष्ट्य के लिये दर्शनीय है—

शरदि निशि निशीथे चाँद की रोशनाई,
सघनवननिकुंजे कान्ह बंशी बजाई।
रतिपतिसुतनिद्रा साइयां छोड़ भागीं,
मदनशिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥ १ ॥

इसी प्रकार खेटकौतुक आदि में भी भाषा को मिश्रित कर पद्य दिए हैं जो **'भाषाचित्र'** नामक शब्दालङ्कार के उदाहरण हैं।

१- उपदेश काव्य[1] —गुमानी कवि (सत्रहवीं शती)

जनसाधारण को उपदेश देने की दृष्टि से भर्तृहरि आदि के शतकों के समान ही कूर्माचल के कवि गुमानी ने उक्त काव्य लिखा है। इसमें कवि का वाग्विलास विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता के रूप में व्यक्त हुआ है। कवि ने शब्दालङ्कार के भाषाचित्र को महत्त्व देते हुए मिश्रभाषा-मूलक पद्यों की भी सृष्टि की है। यथा—

बाजे लोक त्रिलोकनाथ शिव की पूजा करें तो करें,
क्वे क्वे भक्त गणेश का जगत् में बाजा हुनी तो हुनी।
रामो ध्यान भवानि का चरणमां गर्दन् कसै ले गरून्,
धन्यात्माऽतुलधामनीह रमते रामे गुमानी कविः ॥ १ ॥

यहां चारों चरणों में क्रमशः हिन्दी, कूर्माचली, नेपाली और संस्कृत के पद हैं। अतः यह **'चतुर्भाषाचित्र'** का उदाहरण है। **'द्विभाषाचित्र'** भी इनका इस प्रकार है—

अयि दशरथसूनो एक विन्ती म गर्छू, तव चरणसरोजं आन शिर...पर्छू।
भवजलनिधिमेनं हेरि ढेरे म ठर्छू, सपदि कुरु तथा त्वं जोन विछ् पार तर्छू॥

यहां आधाचरण संस्कृत और आधा (उत्तरार्ध) नेपाली में है। इसी प्रक्रिया का द्वितीय प्रकार तीन पद अन्य भाषा के और एक पद संस्कृत का देकर आविष्कृत किया है। यथा—

---

१. सम्भवतः इसी रचना का नाम **'गुमानीशतक'** भी है।

राजा बड़ा दशरथ की बुहारी, कन्यायनी भूप बड़ा जनक् की ।
क्याभन्दिछन् रावनवश् पड्या की, हा राम हा देवर तात मातः ॥

कवि अपने नाम को स्फुट करने के लिए विचित्र कथन भी करता है । यथा—

कोर्मध्यमो ह्रस्वतृतीयकेन, स्वरेण दीर्घप्रथमेन युक्तः ।
पोरन्तिमस्तोश्चरमश्च वर्णौ, दीर्घ द्वितीयेन ममाभिधानम् ॥

इनकी समस्यापूर्ति शक्ति भी अपूर्व थी । कहीं तीन पद संस्कृत के देकर एक चतुर्थ पद अन्य भाषा का सूक्तिपद देकर भी पूर्ति की है । यथा—

बलाधिकान्मन्त्रविदः सपापान्, हत्वा रणे तान् धृतराष्ट्रजातान् ।
शशास धर्मात्मज एव राज्यं, आखिर भले का जग में भला है ॥

श्रीतारादत्त पन्त ने इसका परिचय देते हुए ठीक ही लिखा है—

तपसः साक्षात् तीर्थं वचसस्तु विभूतिरेवायम् ।
महसो महाकविरहो यशसः सर्वसाराब्धिः ॥
कूर्माचलनवजगतो भूषणभूतस्य पन्तवंशाब्धेः ।
कौस्तुभरत्नं जगतः कविरत्नं लोकरत्नाख्यः ॥

२- अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ खण्डकाव्य

गीतिकाव्यों में शब्दालङ्कारों का संयोजन

उपर्युक्त 'एक शब्दालङ्कार-गर्भ खण्डकाव्यों के अनुसार ही 'अनेक शब्दालङ्कारों से गर्भित खण्डकाव्यात्मक' रचनाएं भी संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त प्राप्त होती हैं । जिनका क्रमिक परिचय इस प्रकार है—

दूतकाव्य-परम्परा में शब्दालङ्कार

१- मेघदूत— कालिदास (पहली शताब्दी ईसवी)

यह खण्डकाव्य साहित्यजगत् में अति प्रसिद्ध है । पूर्व एवं उत्तर ऐसे दो भागों में विभाजित इस काव्य में कालिदास ने मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग किया है तथा शब्दालङ्कार की दृष्टि से अनुप्रास को ही अपनाया है । उदाहरणार्थ— पूर्वमेघ में **'प्रत्यासन्ने'** इत्यादि चौथे पद्य में **"प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनैः"** बीसवें पद्य में **"तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः"** तैंतीसवें में—**"शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार"** तथा उत्तरमेघ के सैंतीसवें पद्य में—**'चलकुवलयश्रीतुला'** चुआलीसवें पद्य में—**"अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं, सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन,'** जैसे छेकानुप्रास का प्रयोग हुआ है । एक दो स्थानों पर **'श्रीविशालां विशालाम्' दीर्घयामा त्रियामा'** जैसे प्रयोग भी उपलब्ध हैं । इस काव्य में **'वीप्सा'** के रूप में **'काले काले, मन्दं मन्दं, खिन्नः खिन्नः, क्षीणः क्षीणः'** जैसे पदों का प्रयोग भी हुआ है जो शब्दालङ्कार के ही रूप हैं ।

इस खण्डकाव्य की शब्दालङ्कार के क्षेत्र में एक विशिष्ट देन यह भी है कि—'संस्कृत-कवियों ने इसके अनेक अनुकरण तथा इसके चतुर्थ चरणों को लेकर समस्यापूर्तिमूलक काव्यों की रचनाएं भी बहुत की हैं जिनका कुछ परिचय हमने 'एकशब्दालङ्कार खण्डकाव्य' के सन्दर्भ में दिया है।

यहाँ हम इसके अनुकरणमूलक और शब्दालङ्कारयुक्त कुछ दूतकाव्यों का परिचय दे रहे हैं, जो इस प्रकार है—

२-चन्द्रदूत — जम्बूकवि (ई० दसवीं शती का उत्तरार्ध)

मेघदूत की शैली पर लिखित **'मुनिपतिचरित'** के निर्माता जम्बू कवि की यह रचना है। चौदह पद्यों के पश्चात् आगे की प्रति खण्डित है। काव्य का विषय है किसी विरहिणी द्वारा अपने प्रिय के पास चन्द्र को दूत बना कर सन्देश भेजना। यह काव्य यमकालङ्कार से पूर्ण पद्यों में ही रचित है। कवि ने **'जिनशतक'** की भी रचना की है। इस दूत काव्य की टीका शान्तिसूरि (११वीं शती) ने की है।

३-पवनदूत — धोयी कवि (तेरहवीं शती, ईसवी)

मेघदूत, घटरकर्पर और जम्बू कवि के चन्द्रदूत के पश्चात् धोयी कवि का यह दूत-काव्य सर्वप्रथम है। लक्ष्मणसेन के सभाकवि तथा जयदेव के समकालिक प्रस्तुत कवि को **'कवि-क्ष्मापति'** पद से सम्बोधित किया है। इस रचना में दक्षिण दिशा से मलय पवन को दूत बनाकर बंगप्रदेश में भेजा है। कवि ने मेघदूत के अनुकरण के साथ ही उसके बहुत से पदों को यथावत् भी ग्रहण किया है। यथा—

"श्रीखण्डाद्रेः परिसरमतिक्रम्य गव्यूतिमात्रं,
गन्तव्यस्ते किमपि जगतीमण्डनं पाण्ड्यदेशः।"

तथा— **"लीलागारैरमरनगरस्यापि गर्वं हरन्ती,**
गच्छेः काञ्चीपुरमथ दिशो भूषणं दक्षिणस्याः॥"

अथवा— **स्निग्धश्यामं गुरुभिरुपलैः पर्वतं माल्यवन्तं,**
पश्येरुत्तम्भिनमिव पुरः केशपाशं पृथिव्याः॥

इनमें अनुप्रास और यमक का भी यथावसर समावेश हुआ है।

४- मनोदूत— विष्णुदास (पन्द्रहवीं शती ईसवी)

श्री चैतन्यदेव के मातुल श्री विष्णुदास ने १०१ वसन्ततिलका वृत्तों में इस काव्य की रचना की है। इसमें मन को दूत बनाकर भगवान् के चरणों में सन्देश भेजा है। शब्द-विन्यास की निपुणता तथा अनुप्रासपूर्ण सरस पदविन्यास आदि इस काव्य में दर्शनीय हैं। यथा—

हिन्तालतालवटशालरसालजालतालीतमालकृतमालपियालकोलैः।
जम्बीरवीरतरुबिल्वकदम्बजम्बूखर्जूरनिम्बहरिचन्दनसिन्धुवारैः॥

५-(१) उद्धव-सन्देश — रूपगोस्वामी (सोलहवीं शती ईसवी)

रूपगोस्वामी का यह दूतकाव्य १३१ पद्यों में निबद्ध है। इसमें विरह व्याकुल कृष्ण ने उद्धव को दूत बनाकर राधा के लिये सन्देश भेजा है। रूप गोस्वामीजी की प्रसादमधुर पदावली इसमें सर्वत्र प्रयुक्त है। कहीं कहीं श्लेष का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

> बाले चन्द्रावलि ! न हि बहिर्भूय भूयः प्रदोषे,
> गेहात् तृष्णावति ! कुरु पुरः कृष्णवर्त्मावलोकम् ।
> सर्वस्यान्तर्जडिमदमने पावके नाद्य लब्धे,
> मुग्धे सिद्धिं मम रसवती प्रक्रिया न प्रयाति ॥

यहां एक सखी दूसरी सखी से कह रही है। कृष्णवर्त्म और रसवती पदों में श्लेष द्वारा कृष्ण का मार्ग और अग्नि तथा पाकशाला और सरसता का कथन हुआ है। 'नहि बहि' और 'भूय भूयः' जैसे पदों से वीप्सा—अनुप्रास भी परिलक्षित होता है।

६-(२) हंसदूत — रूपगोस्वामी (सोलहवीं शती ईसवी)

रूपगोस्वामी का यह दूसरा दूतकाव्य उपर्युक्त काव्य के समान ही सरस है। इसमें १४२ पद्य हैं तथा वे शिखरिणी छन्द में निर्मित हैं। राधा ने अपने विरह दुःख को निवेदन करने के लिए हंस को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजा है। इसकी रचना भी उपर्युक्त पद्धति से ही हुई है अतः भी वैसी हो मधुरिमा व्यक्त है। एक पद्य उदाहरणरूप में प्रस्तुत है—

> न निर्वक्तुं दामोदरपदकनिष्ठाङ्गुलिनख—
> द्युतीनां लावण्यं भवति चतुराभ्योऽपि चतुरः ।
> तथापि स्त्रीप्रज्ञासुलभतरलत्वादरमसौ,
> प्रवृत्ता तन्मूर्त्तिस्तव रतिमहासाहसरसे ॥५३॥

७-चन्द्रदूत — श्रीकृष्ण तर्कालङ्कार (अठारहवीं शती ईसवी का तृतीयचरण)

काव्यप्रकाश तथा दायभाग के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध गोपीकान्त भट्टाचार्य के पुत्र श्रीकृष्ण तर्कालङ्कार के इस काव्य में श्रीराम ने सीता के पास चन्द्र के माध्यम से सन्देश भेजा है। इसमें कवि ने न्यायशास्त्र का वैदुष्य भी वहुधा निर्दिष्ट किया है तथा वङ्गीय कवियों का प्रिय शब्दालङ्कार अनुप्रास पूर्णरूप से प्रयुक्त हुआ है। यथा—

> रामो रामाभिरामो रमितकरभवैरात्मरामाविराम—
> स्तप्तो मोमुह्यमानो झटिति वियति तं वीक्ष्य चन्द्रं तदीयैः ।
> सूरोऽयं वा स्मरो वा स्मररिपुरपि वा स्वर्मणिर्वा विभाति,
> प्राणेशीवक्त्रचन्द्रः किमु गगनचरस्तर्कयामास चैतत् ॥१॥

८-मनोदूत — व्रजनाथ तैलंग (सन् १७२०-१७८७ ई०)

पंचनद निवासी, तेलंग ब्राह्मण रामकृष्ण के पुत्र व्रजनाथ का यह दूतकाव्य शिखरिणी

छन्द में लिखा गया है । इसमें २०२ पद्य हैं । द्रौपदी के चीरहरण की कथा और द्रौपदी के द्वारा मन को दूत बना कर कृष्ण के पास सन्देश भेजने का उपक्रम इस काव्य की विषय-वस्तु है । रचना में शब्दालङ्कार का पर्याप्त प्रयोग हुआ है । यथा—

उदासीना दीना मृदुहसितहीना नतमुखी,
निलीना स्वेष्वङ्गेष्वहह ! सुखहीना यदुपते ।
निशानाकीनाशाधिकभयकरै रन्धतनयैः,
सभायामासीना द्रुपदतनया पीड्यत इह ।।७०।।

यहां पदान्त्यानुप्रास का निर्वाह उत्तम है । इसी प्रकार यमक और श्लेष के प्रयोग भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं ।

९- पद्मदूत — सिद्धनाथ विप्र (१८वीं शती ई०)

सेतुबन्धन के लिए समुद्र के किनारे पर आये हुए श्रीराम के पास सीता ने पद्म को दूत बनाकर अपना सन्देश भेजा है । यहाँ **'माम् उद्धर'** यही प्रमुख सन्देश है । इसमें विप्र कवि ने प्रहेलिका आदि वाक्चातुरी को भी व्यक्त किया है जो कि चित्रालङ्कार का एक भेद है । यथा—

सुग्रीवस्याङ्गद उत यदा भ्रातृपुत्रो रहस्याद्,
यत्त्वां पृच्छेद् वदतु सुषमं बुद्धिमत्तां प्रकाश्य ।
प्रष्टव्ये कस्त्वमिति हि सुहृत् तस्य चाहं तदाक—
श्चेदित्युच्यात् सलिलज भवानङ्गदं तं स एव ।।५०।।

यहाँ **'क'** शब्द और **'स'** शब्द को सूर्यवाचक मानकर कवि ने अपह्नुति अलङ्कार के माध्यम से वचनभङ्गी व्यक्त की है । इसी प्रकार इक्यावनवें पद्य में भी प्रश्नोत्तर-रूप प्रहेलिका को प्रस्तुत किया है ।

१०- काकदूत — गौरगोपाल शिरोमणि (बीसवीं शती का मध्य भाग)

इसमें विरहिणी राधा ने कृष्ण को लाने के लिये कौए को दूत बनाकर मथुरा भेजा है । यहां कवि ने सजातीय पदों के विन्यास के प्रति अपने अनुराग को अधिकांश रूप में व्यक्त किया है तथा यत्र-तत्र विभिन्नार्थों की प्राप्ति के लिये श्लेष अलङ्कार का प्रयोग भी किया है । वैसे श्लिष्ट पदों की व्याख्या न होने से यह दुर्बोध भी हो गया है । एक पद्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

काकोदरो यादृश एव जन्तोः, काकध्वजो वा जलसम्भवस्य ।
काकोलरूपः किमु नाशकोऽत्र, काकोऽयमागान्मम सन्निधाने ।।६।।

यहां राधा कौए को देख कर विभिन्न मानसिक तर्क कर रही है । **'काक'** पद का चारों चरणों में प्रयोग यमक का रूप है तथा इसके भिन्न-भिन्न अर्थ होने से श्लेषालङ्कार भी निखरा है । इसमें विभिन्न छन्दों का प्रयोग भी हुआ है ।

११- मेघदौत्य — त्रैलोक्यमोहन गुह, योगी (बीसवीं शती ई०)

इस काव्य में यक्षपत्नी अपने लिए सन्देश लानेवाले मेघ को ही पुनः दूत बनाकर यक्ष के पास भेजती है। अतः यह मेघदूत का प्रतिकाव्य है। इसमें कवि ने २०० से अधिक पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखे हैं। प्रारम्भ के मङ्गलाचरणाष्टक में एकाक्षर, द्व्यक्षर पद्य भी इसमें दिये हैं जो चित्रालङ्कार के पूरक हैं।

१२- बकदूत — म० म० अजितनाथ न्यायरत्न (बीसवीं शती)

प्रस्तुत काव्य में किसी मधुकरी (भ्रमरी) ने विरहातुर होकर अपने प्रियतम मधुकर को खोजने के लिए बक (बगुले) को दूत बनाया है। यह बक विभिन्न नगरों की यात्रा के लिये कृष्णनगर से निकला और नवद्वीप में यात्रा समाप्त हुई। इसके प्रारम्भ के १६ पद्य प्राप्त नहीं है। सामाजिक दुर्दशा का चित्रण इसमें अच्छा हुआ है। प्रायः २०० पद्य उपलब्ध हैं। कवि ने अनुप्रास, यमक और श्लेष का प्रयोग प्रायः किया है। कहीं-कहीं बंगभाषा और संस्कृतभाषा के मिश्रण से '**भाषाचित्र**' अथवा '**भाषाश्लेष**' का प्रयोग भी किया है जो कि नवीन है। अर्धावृत्त तथा श्लोकावृत्त यमक भी यहां प्राप्त होता है। यथा—

प्राचीनेयं द्विजवरपुरी यत्र बल्लालसेन—
कीर्तिर्वापी गिरिरिव लसद्भग्नसौधावशिष्टम्।
अद्याप्यास्ते यवनबहुला दीर्घकालक्रमेण,
मोल्लापल्लीत्यभवदधुना सानुमेया पुरीयम्॥

यहां '**सानुमेया**' पद श्लिष्ट है जिसके अर्थ हैं—**सा अनुमेया, सा न मेयापुरी** और **मेयानां—माहम्मदानां पुरी**' इत्यादि।

इसी प्रकार '**सन्ति द्वादशमन्दिराङ्कितपदे वैरागिरामागिरा**' इत्यादि पद्य में '**वैरागिरामागिरा**' यह वङ्गभाषा का पद है और संस्कृत में '**वैरागि-रामा-गिरा**' अर्थ अभिप्रेत है जो श्लेषालङ्कार का पूरक है। इसी पद्य में अन्यत्र 'वाजार' पद का प्रयोग हुआ है जिसमें बङ्गभाषा में '**बाजार**' और संस्कृत में '**बाजार**' ऐसा अर्थ अभिप्रेत हुआ है। यहीं '**सुरतरङ्गिण्याः**' पद में शुद्ध श्लेष द्वारा गङ्गा और कामोन्मत्ता नायिका का निर्देश है। यमक के प्रयोग भी इनके दर्शनीय हैं। यथा—

केऽपि भद्रमुखाः सन्ति, द्विजराज चिकित्सकाः।
केपिभद्रमुखाः सन्ति द्विज ! राजचिकित्सकाः॥

यहां बड़ी ही सरलता से अर्धावृत्ति यमक का प्रयोग हुआ है जिसमें आंग्लपद्धति के अनुसार **के० पि० भद्र नामक चिकित्सक** का सङ्केत है और उनका पूरा नाम **कालीपद भट्ट** अथवा **कालीप्रसाद भद्र** है। म्युनिसीपालिटी के सदस्यों के कार्य की निन्दा करते हुए कवि ने महायमक का प्रयोग भी किया है। यथा—

"कैश्चिद् वानरकायपातनकरी ग्रामोन्नतिः साधिता"

इन चरणों की चारों आवृत्तियों में सामान्य पदच्छेद द्वारा अर्थ व्यक्त किया है।

अन्य दूतकाव्य

इस प्रकार दूतकाव्यों में शब्दालङ्कार के प्रारम्भिक भेदों को पूर्णरूप से तथा अन्य भेदों को सामान्य रूप से अवसर मिला है। इस काव्य-पद्धति का साहित्य भी बहुत समृद्ध है। अब तक प्रायः १५० से अधिक दूतकाव्यों का निर्माण हुआ होगा। इनमें मुख्यतः—

१-विप्रलम्भ शृङ्गारपरक **२-रामभक्तिपरक**
३-कृष्णभक्तिपरक, **४-शान्तरसपरक (जैन देवचरित्रगर्भ)**
५-दर्शनशास्त्रपरक आध्यात्मिक भावयुक्त, **६-समस्यापूर्तिरूप,**
७-विनोदमूलक हास्यपरक और व्यङ्ग्यपूर्ण **८-प्रकीर्णविषयक**

ऐसे दूतकाव्य हैं। '**कल्पना, काव्यकला, दिव्यदेशदर्शन, प्रभावकपुरुष-संस्मरण, स्तुति-विलास तथा आध्यात्मिक चिन्तन**' इन काव्यों के वर्ण्य-विषय हैं। दूतकृत्य के लिए—**मेघ, चन्द्र, (शशि, इन्दु), पवन (मारुत)**, अनिल, वात (मरुत्), **भक्ति, मन, (चित्त, मानस), हृदय, प्राण, तुलसी, पद्म**, पदांक, **वाणी**, सुरभारती, पत्र[1] (डाक-पत्र) **कर्णजशर, पान्थ, उद्धव, पुत्र,[2] सिद्ध, सुभग, हनुमत्, कृष्ण, कोकिल, पिक, हंस**, शुक, **कीर**, दात्यूह, हारीत, **चातक, चकोर, कोक, चक्रवाक**, रथांग, **मयूर, कपोत**, काक, **बक, सम्पाति**, भृंग, भ्रमर, शुनक, **मूषक, रेलयान और मुद्गर** आदि को स्वीकृत किया है।

इस पद्धति से काव्यचेतना में अनेकविध नवीन प्रवृत्तियों का जन्म और विकास होता ही रहा है और आज भी हो रहा है, जिसके फलस्वरूप संस्कृत-साहित्य में इस पद्धति ने अपना गौरवपूर्ण स्थान बना लिया है।

अन्य खण्डकाव्यों में शब्दालङ्कार

उपर्युक्त खण्डकाव्य की विशिष्टधारा के अतिरिक्त भी अनेक खण्डकाव्यों की रचनाएं हुई हैं जिनमें आकारगत दीर्घता अथवा स्वल्पता होते हुए भी उनका महत्त्व बना हुआ है। ऐसे कतिपय अनेक शब्दालङ्कारगर्भ खण्डकाव्यों का विवेचन इस प्रकार है।

१-रामाष्टप्रास-मञ्जरी — वेङ्कटराघवाचार्य सेतलर (सन् १८४६ १९०६ ई०)

कवि तमिलनाडू के कौशिक गोत्रीय रङ्गनाथ के पुत्र और त्रिचनापल्ली के एस० पी० जी० कालेज में प्रधानाध्यापक थे। इस मञ्जरी में श्रीराम के चरित्र को वर्णित किया है। यहां प्रतिचरण में दो-दो स्थानों पर अनुप्रास की योजना प्रमुख है। अतः यह **अष्टप्रास** से युक्त है। अनुप्रास की सिद्धि के लिए प्रयुक्त शब्दावली की योजना से यमक और श्लेष भी सहज समाविष्ट हो गये हैं।

१-२ पत्रदूत और **पुत्रदूत** इन दो काव्यों की रचना इन पंक्तियों के लेखक (रुद्रदेव त्रिपाठी) ने की है। जिनमें पत्रदूत काव्य प्रकाशित है।

इसी प्रकार आपने **'रङ्गनाथाष्टप्रास'** की भी रचना की है।

२- आसेचनकरामायण — सुब्रह्मण्य सूरि (१८५०-१९१३ ई०)

मद्रास के पुदुकोटा के अन्तर्गत कनायगुडी-निवासी शङ्करनारायण के पुत्र श्री सुब्रह्मण्य सूरि ने १९९ पद्यों में इस रामायण की रचना की है। इसके प्रत्येक पद्य में तीन चरणों में रामकथा है और चौथा चरण नीतिवाक्य से युक्त है। इस प्रकार यह **'द्व्याश्रयकाव्य'** अथवा— **'समस्यापूर्ति काव्य'** की श्रेणी में आकर चित्रालङ्कारपूर्ण कृति कही जा सकती है। साथ ही अन्य शब्दालङ्कार भी प्रयुक्त हैं। कवि ने अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें **'बुद्धिसन्देश'** (दूतकाव्य) तथा कुछ **गीतिकाव्य** भी हैं।

३- सन्तानगोपाल-काव्य — लक्ष्मी तम्बुराटी (सन् १८५० -१९०९ ई०)

केरल के प्रसिद्ध कटन्तनार राजकुटुम्ब की इटवलम् शाखा से सम्बद्ध लक्ष्मी तम्बुराटी ने तीन सर्गों में इस खण्डकाव्य की रचना की है। यहां कृष्ण की कथा वर्णित है। प्रथमसर्ग के ४३ पद्यों में अर्जुन के अग्निप्रवेश तक की कथा, द्वितीय सर्ग के ३७ पद्यों में भगवद्वर्णन और तृतीय सर्ग के ५० पद्यों में अग्रिम कथा समाविष्ट है। पूरा तृतीय सर्ग यमकालङ्कार में लिखा गया है जो द्रुतविलम्बित छन्द में है।

४- पूतनामोक्ष — मूरियल नारायण नम्बीश (सन् १८५२-१९२२ ई०)

केरल के 'त्रिचूर' नगर के निवासी का यह चार सर्गो का खण्ड काव्य है। इसमें ललितरूपधारिणी पूतना का गोकुल में आगमन प्रथम सर्ग में वर्णित है। द्वितीय सर्ग में कृष्ण का वर्णन तथा अन्य दो सर्गों में पूतना द्वारा दुग्ध पान कराना और उसकी मृत्यु का वर्णन है। कवि ने अपनी रचना को शब्दालङ्कार के अनुप्रास और यमक भेदों से अलङ्कृत किया है। **यथा—**

अस्तु निस्तुलमनाकुलं, स्वस्ति मे नवकलापसुन्दरम्।
पूतनाघनपयोधरोद्गलत्प्राणवायुरसपानतुन्दिलम् ॥१।१॥

यह प्रारम्भिक पद्य है। अन्यत्र उद्यान वर्णन में कवि ने लिखा है—

कुन्दवृन्दहरिचन्दनाङ्कितो, नन्दनीयसुमनोगणञ्जिते।
नन्दनन्दनविलोकनागते, नन्दने नयननन्दने ननु॥

यमक प्रयोग भी कवि का दर्शनीय है—

अथ यथाकथमन्तरुपेत्य सा, तडिदिव भ्रमिताखिललोचना।
निजविलासशतैस्सममोहयद्, व्रजवधूर्जवधूतपयोधरा॥
शिशुरयं कथमद्य निहन्यते, नवकलापकलापकलेवरः।
वननिषूदननीलमणिं नवा, शिरसि का रसिका कुरुते मणिम्॥

इस प्रकार कहीं चतुर्थचरण और कहीं द्वितीय-चतुर्थचरणगत यमक की योजना की

गई है। यत्र-तत्र 'यशोदा-यशोदा' जैसे पदों से श्लेष का भी प्रयोग हुआ है। कवि ने **'हंससन्देश'** और **'इन्दुसन्देश'** की रचना भी की है।

५- यक्षसमागम-काव्य — परमेश्वर झा (सन् १८५६-१९२४ ई०)

दरभंगा जिले के तरुवनी ग्रामवासी श्री परमेश्वर झा की यह कृति कालिदास के मेघदूत की कथा को पल्लवित करते हुए यक्ष की प्रेयसी के समागम पर लिखी गई है। मन्दाक्रान्ता छन्द में ही यहाँ शब्दालङ्कार-योजना सुन्दर स्वरूप में प्राप्त है। यथा—

बाले भाले रुचिररुचिरः सूक्ष्मसिन्दूरबिन्दुः,
कर्णे पुष्पं दशनवसने गाढताम्बूलरागः।
सौवीरं ते दृशि नखततीर्याविकश्चित्रवासो,
गौरे गात्रे गुणिनि सुभगं भावुकत्वं गृणन्ति ॥ २३ ॥

कवि ने— **'महिषासुरवधनाटक'** 'वाताह्वान' काव्य' तथा **'कुसुमकलिका'** नामक आख्यायिका जैसे ग्रन्थों की भी रचनाएं की हैं जो कवि के काव्यकौशल की परिचायक हैं।

६-निरोष्ठ्य-रामायण संग्रह — एस० सी० शठकोपाचार्य (सन् १८६५ ई० जन्मकाल)

त्रिचनापल्ली के सेन्ट जोसेफ कालेज के संस्कृताध्यापक मोहनूरं कन्दोड एस० सी०-शठकोपाचार्य ने यह कृति अनुप्रास और चित्रालङ्कार की **वर्णनियमगत-पद्धति** को ध्यान में रखकर निर्मित की है। इसमें रामायण की कथा का संग्रह करते हुए कवि ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए दो पद्य द्रष्टव्य हैं—

इत्थं काशाग्रगण्यः सततगतिजनिः श्लाघितस्तेन धीरः,
सद्यः संज्ञातशक्तिः सलिलधितरणं द्राक् चिकीर्षन्नयत्नात्।
आकाराधिं दधत् स श्रितगिरिशिखरश्चेतसा जानकीशं,
निध्यायाकाशसृत्याऽनिलसदृशगतिः सागरं निस्ततार ॥
रिङ्गत्तरङ्गचयसङ्गतशङ्खजालडिण्डीरखण्डनिचयैर्निचितं च कीशाः।
रत्नाकरं गिलगिलैर्झषनक्रनाकैः, कीर्णं निरीक्ष्य निखिला अथासन् ॥

कवि ने ऐसी ही अन्य नौ रचनाएं लिखी हैं जिनमें अन्य अलङ्कारों के साथ ही शब्दालङ्कार भी प्रयुक्त हैं।

७- अलिविलासि- संलाप — म० म० गङ्गाधर शास्त्री तैलंग (१८७५ ई०)

यह खण्डकाव्य शास्त्री जी ने षड्दर्शनों के सिद्धान्तों का सूक्ष्म परिचय देते हुए आत्मा की सिद्धि और परमात्मा की सिद्धि के विवरण के संलापरूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही इसमें शब्दालङ्कारों के अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र नामक भेदों का प्रयोग भी निपुणता से किया गया है।

जैसे संस्कृत-काव्य रचना के आयाम अतिविस्तृत हैं उसी प्रकार इसके रचना-

शिल्पियों का समुदाय भी पर्याप्त पल्लवित और पुष्पित है किन्तु ऐसी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय ही यहां दिया गया है जो कि प्रेरणाप्रद होगा।

संग्रहात्मक एवं अनुकरणात्मक खण्डकाव्य

कुछ कवियों ने अपनी प्रासङ्गिक रचनाओं को ही सङ्ग्रह के रूप में प्रस्तुत किया है, उनका आकार भी खण्डकाव्यों के अनुरूप ही है। इसी प्रकार कुछ कवियों ने कुछ प्रक्रिया-विशेष का आलम्बन लेकर अनुकरणात्मक रचनाएं लिखी हैं वे भी अपने विषय-निरूपण एवं कलेवर के आधार पर खण्डकाव्यों की कोटि में ही आ जाती हैं। अतः इस प्रक्रिया का भी संक्षिप्त परिचय कराने की दृष्टि से केवल दो कृतियों का परिचय तथा एकपद्धति की रचनाओं की लघु-नामावली यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

१- भामिनी-विलास — पण्डितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शती ईसवी)

पण्डितराज जगन्नाथ की यह रचना विभिन्न पद्यों का उत्तम संग्रह है[1]। इसमें प्रास्ताविक, शृङ्गार, करुण और शान्त नामक चार विलास हैं। प्रथम विलास में अन्योक्तियां हैं। अनुप्रास-पूर्ण पदावली की योजना बहुत ही रमणीय है। यथा—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्—
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेक-भेकाकुले,
मरालकुलनायकः कथय रे! कथं वर्तताम्॥
(प्रास्ताविक-विलास)

इसी प्रकार शृङ्गार-पद्यों में भी पदबन्ध मनोरम हैं। यथा—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं, नीरे सरोजं न मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा, मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला॥
(शृङ्गार-विलास २२)

अन्यत्र निर्वेदाभिव्यक्ति भी इसमें प्रसादपूर्ण है। यथा—

अपारे संसारे विषम-विषयारण्यसरणौ,
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।
परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीरनिलयः,
समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु॥

---

१. पण्डितराज नवीन रचनाओं के निर्माण में बड़े दक्ष थे। इसी लिये रसगङ्गाधर में उन्होंने लिखा है—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः, कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

यह रचना भर्तृहरि के शतकत्रय का अनुकरण करती है। पण्डितराज की भाषा वस्तुतः कोमलाकन्त-पदावली से युक्त है अतः उसमें शब्दालङ्कारों का मधुर समावेश हुआ है।

सन्धि-रामायण — विश्वनाथ सुकुल (वर्तमानकाल)

शास्त्रकाव्य की परम्परा में निर्मित प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने व्याकरण की सन्धियों से सम्बद्ध उदाहरणों को पञ्चसन्धि के क्रम से प्रस्तुत किया है। काव्य की दृष्टि से इसमें २०५ पद्यों में रामायण की कथा ग्रथित है जो अश्वमेध-सम्बन्धी चरित्र तक है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

मुन्यन्नानां समध्वाज्यस्य च ग्रीशेन लाकृतिम्।
विष्णुं संस्मृत्य चयने, नियुक्ता नायकास्ततः॥ ५॥

छात्रों को पढ़ाते समय उनकी सुविधा के लिये यह काव्य १९०३ से १९४० ई० के बीच लिखा गया है। कवि सुल्तानपुर के उच्च माध्यमिक विद्यालय में संस्कृताध्यापक थे।

'रामायण' नामक अन्य खण्डकाव्य

'रामायण' नाम को अपनी रचना से सम्बद्ध करके अनेक आचार्यों ने शब्दालङ्कारों से समन्वित रचनाएं निर्मित की हैं। उनमें से कुछ के नाम और परिचय इस प्रकार हैं—
१- मन्त्ररामायण, २- नामगर्भ रामायण, ३- सीतारामायण, ४- परन्तुरामायण, ५- किन्तु रामायण, ३- निरोष्ठचरामायण आदि। ऐसी ही कतिपय विभिन्न रामायणों की रचना मोरो पन्त ने अठारहवीं शती में की है। इनमें रामायण के कथात्मक पद्यों में ही मन्त्र, रामनाम, सीता और किन्तु—परन्तु आदि शब्द गर्भित हैं। कहा जाता जाता है कि श्री पन्त ने ऐसे १०८ रामायण-ग्रन्थ लिखे थे। ये काव्य गूढचित्र के अन्तर्गत आ सकते हैं। इनके अतिरिक्त जिन रामायण के नाम मिलते हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१- तिथिरामायण, २- क्रियागोपन रामायण, ३- विशेषणरामायण, ४- आर्यारामायण, ५- समुद्रबन्ध रामायण, ६- बालरामायण, ७- गायत्री रामायण ८- मन्त्र रामायण (नीलकण्ठ सूरि), ९- सन्धिरामायण आदि।

शतक-काव्य (ललित-साहित्यात्मक)

खण्डकाव्य की शृङ्खला में ही कवियों ने शतक-काव्यों की भी रचनाएं की हैं जिनमें काव्योचित विषयों का वर्णन १०० अथवा कुछ अधिक पद्यों में पूर्ण किया गया है। ये शतक **स्फुट पद्यरूप** तथा **विषय-विशेष वर्णनरूप** हैं। इनमें भी शब्दालङ्कारों का समावेश हुआ है; अतः कुछ कृतियों का परिचय देना अनुपयुक्त नहीं होगा। यथा—

१-३ नीति-शृङ्गार-वैराग्य-शतकत्रय — भर्तृहरि (सातवीं शती)

भर्तृहरि के मुक्तक पद्यों के सङ्कलनरूप उक्त तीन शतकों में पहला **नीतिशतक** है। इसके पद्यों में परोपकार, वीरता, साहस, उद्यम, उदारता आदि उदात्त मनोभावनाओं का

सरस-मनोरम वर्णन हुआ है। 'शृङ्गार शतक' दूसरा शतक है। इसमें रमणियों के मनोमोहक सौन्दर्य तथा आकर्षक हावभावों का वर्णन है। तीसरा शतक **'वैराग्य-शतक'** नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सांसारिक आकर्षणों और भोगों के प्रति औदासीन्य का वर्णन है। रचना में शब्दालङ्कार की दृष्टि से अनुप्रास और यमक के प्रयोग पर्याप्त हैं। इनमें से प्रत्येक का एक-एक उदाहरण इस प्रकार है—

१- जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं, मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चित्तं प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं, सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

२- कुकुङ्‌पमङ्ककलङ्कितदेहा, गौरपयोधरकम्पितहारा।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा, कं न वशीकुरुते भुवि रामा॥

३- अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा,
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः,
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव-शिव-शिवेति प्रलपतः॥

इन पद्यों में सानुप्रास शब्दयोजना, क्रियानुप्रास तथा वाक्यालङ्कार के रूप में वा अव्यय की आवृत्तियां आदि शब्दालङ्कार के पूरक हैं।

४- अमरुशतक — अमरुक (नवमशती से पूर्व)

मुक्तकों में भी प्रबन्ध काव्यों के समान रसबन्ध की संयोजना की क्षमता रखनेवाले अमरुक की यह रचना साहित्य-सुषमा से पूर्णतया मण्डित है। श्रृङ्गारपूर्ण रस का इसमें पूर्ण परिपाक हुआ है। १०८ पद्यों में प्रस्तुत यह शतक अनुप्रास के प्रयोगों से पुष्ट है। प्रकृतिचित्रात्मक एक पद्य इस प्रकार है—

रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदोदबिन्दुप्लुतो,
व्यालोलालकवल्लरीः प्रचलयत् धुन्वन्नितम्बाम्बरम्।
प्रातर्वाति मधौ प्रकामविकसद् राजीवराजीरजो—
जाला मोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन् मारुतः॥

यहां प्रयुक्त शब्दों में वर्णसाम्य अनुप्रास-विदग्धता को पूर्णतया व्यक्त करता है, जबकि 'राजीव-राजी' में यमक का भी उन्मीलन हो रहा है। **विकट समासान्त पदावली तथा छोटे-छोटे पद्योंवाली ललित्त वैदर्भी का विलक्षण प्रयोग करते** हुए व्यञ्जनावृत्ति का विन्यास अमरुक की अपूर्व देन है। इसी प्रकार कहीं-कही यमकालङ्कार का प्रयोग भी हुआ है। यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा,
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।

मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी,
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ।।

ऐसी रचनाओं से कृति की मञ्जुलता सर्वग्राही बनी हुई है।

५- वसन्तशतक— सदाशिव शास्त्री (सन् १८८७ ई०)

शब्दालङ्कार तथा ओजोगुण-प्रधान यह शतक वसन्तवर्णन को लक्ष्य में रखकर सदाशिव शास्त्री ने लिखा है इसमें अश्वधाटी छन्द का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

कल्याकुलः कनककल्यादिलोभहृतखल्या मुधा श्रयसि रे,
कल्यागमाद् भ्रमसि पोल्याशयाशु धृतकुल्यापिपासुरनिशम् ।
शल्यातितीक्ष्ण-विषतुल्याधराशिदुतहल्या जिधृक्षसि कथं,
चिल्यात्तकान्तिविधुतुल्याननां बुधमतल्ल्या नतां भज शिवाम् ।।

वहाँ तल्ली, चिल्ली जैसे अप्रसिद्ध पदों का प्रयोग कुछ क्लिष्ट हो गया है तथापि इस में बारह स्थानों पर एक ही प्रकार के वर्णप्रयोग द्वारा अनुप्रास का निर्वाह विस्मयोत्पादक है। इसी प्रकार यमकयुक्त पद्य भी इसमें दर्शनीय हैं। यथा—

अबलया वलयादिविभूषणं, विमलया मलयाद्रिविलेपनम् ।
प्रियमनोयमनोचितमंशुकं, घनतया न तया स्तनयोर्दधे ।।

इस प्रकार खण्डकाव्यों की परम्परा में शृङ्गारवर्णनात्मक शतक काव्य भी अनेक निर्मित हुए हैं जिनमें— **१- भल्लटशतक, २- शृङ्गारधनदशतक, ३- रोमावलीशतक, ४- आर्याशतक, ५- शृङ्गारशतक** आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं। यहां निदर्शन के लिए उपर्युक्त उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

अन्य लघुकाव्य

अन्य कुछ कवियों द्वारा निर्मित ऐसे भी काव्य हैं जो शत की संख्या से न्यून होने से इस विवेचन में नहीं आये हैं। ऐसे काव्यों में महाकवि विल्हण द्वारा रचित **"चौरपञ्चाशिका"** हरविजयमहाकाव्य के रचियता महाकवि रत्नाकर की **"वक्रोक्तिपञ्चाशिका"** रुद्रकवि के **'भाव-विलास'** तथा **'दानलीला'** एवं कविवर शिवभक्तदास का **'भिक्षाटन-काव्य'** आदि महत्त्व पूर्ण हैं। इनमें शृङ्गार-रस के माध्यम से पद्य रचनाएं की गई हैं तथा उनमें शब्दालङ्कारों का स्पृहणीय प्रयोग भी पर्याप्त हुआ है।

इसी प्रकार लहरी-काव्य भी प्राप्त होते हैं, जैसे—**शृङ्गारलहरी, मत्तलहरी, विलापलहरी, मातृभूलहरी, स्वाराज्यलहरी, गायत्रीलहरी, बदरीशलहरी** तथा **भैरवलहरी**। इनमें भी शब्दालङ्कारों के प्रयोग हैं।[1]

---

१. अन्तिम तीन लहरियों का प्रणयन इन पंक्तियों के लेखक (डा० रुद्रदेव त्रिपाठी) ने किया है। इनमें चित्रबन्ध और समस्यापूर्ति को भी अच्छा स्थान मिला है, जो द्रष्टव्य है।

खण्डकाव्य — :: एक विहंगावलोकन ::

काव्य-रचना का लघुरूप खण्डकाव्य है। इसके कई रूप उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः सत्य भी यह है कि कवि अपने मानसिक भावों को अभिव्यक्त करने के लिए किसी परिधि में बंधना नहीं चाहता है, वह तो स्वच्छन्द विचार-विहारी है। अतः यथेच्छ रूप में काव्यविचारों को व्यक्त करता है। उसके समक्ष विश्व की विशाल प्रकृति नृत्य करती है। उनमें से कुछ बातों को चुनकर उनपर अपनी लेखिनी चलाता है तो वे प्रकृति-वर्णनात्मक काव्य बनते हैं। जब वह जागतिक सचेतन प्राणियों को देखता है तो उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर उन्हें अपनी शब्दावली में समेट कर नये परिधान में प्रस्तुत करता है। यही स्थिति मा वीय चेतना की है। सचेतन मानव के कर्मकलाप उसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और वह उनमें अपने आत्मतत्त्व को उंडेल कर तदाकार बनाता है। यह तदाकारता ही उसके लिए ब्रह्मास्वादसदोहर होती है। उससे मुक्त होकर वह पुनः अपने स्वरूप में आकर उनकी वास्तविकता को प्रस्तुत करता रहता है।

इस विधा में अलङ्कार-योजना के लिए पूरा अवकाश रहता है। कवि अपनी रुचि से उन्हें प्रस्तुत कर उक्ति में सौन्दर्य लाता है और कृति को रस-पेशल बनाता है। उसकी भावना मूर्तिमती होती है और पाठक के मन को अपनी रचना-माधुरी से आप्यापित करती रहती है। यहाँ केवल शब्दालङ्कारगर्भ खण्डकाव्यों का विवेचन किया है और उनमें विहित प्रयोगों से यह व्यक्त करने का प्रयास किया गया है कि ये कृतियां लघु होते हुए भी अपनी सीमा में अप्रतिम ही हैं।

लघुपद्यात्मक कृतियों का क्षेत्र जैसा विशाल है वैसी ही उसकी वर्णन-पद्धतियां भी व्यापक हैं। ललितसाहित्य के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के व्याकरण, न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग, वेदान्त, ज्योतिष, नीति, आयुर्वेद आदि अनेक विषयों की प्रतिपत्ति के लिये इस प्रकार की काव्य-रचना का आश्रय लिया जाता रहा है और उनमें भी शब्दालङ्कारों के प्रयोग होते रहे हैं। उदाहरण के लिये—

लोलम्बिराज का **'वैद्यजीवन'** द्व्याश्रयी खण्डकाव्य है जिसमें काव्य-सौष्ठव के साथ ही वैद्यक-सम्बद्ध औषधोपचारों का भी निर्देश है। ज्योतिष में **'लीलावती'** की रचना गणित जैसे क्लिष्ट विषय को भी ललित वचनों से विन्यस्त करती है।

अतः यह खण्डकाव्य-परम्परा शब्दालङ्कारसाहित्य के लिये परम उपादेय है।

(क) लहरी साहित्य का विस्तृत परिचय प्राप्त करने के लिए द्रष्टव्य—**मालव-मयूरः** संस्कृत मासिक पत्र में प्रकाशित हमारा **'लहरी-लीलामृतम्'** शीर्षक लेख। यही लेख **'सागरिका** में भी प्रकाशित हुआ है।

विज्ञप्ति-काव्यों में शब्दालङ्कार

१- त्रिदशतरङ्गिणी[१]— सहस्रावधानी मुनिसुन्दर सूरि (सन् १४०९ के निकट)

प्रस्तुत विज्ञप्तिकाव्य मुनि सुन्दर सूरि ने अपने गुरु देवसुन्दर सूरि के प्रति पर्युषणपर्व पर क्षमायाचना को माध्यम बनाकर लिखा है। 'श्राद्धविधिनिश्चय' में मुनिजी के शिष्य हर्ष-भूषण ने इस विज्ञप्ति-पत्र के बारे में लिखा है कि यह १०८ हाथ लम्बा (लिखित) था और इसमें अनेक चित्रकाव्य अंकित थे।[२] तदनुसार ही उपलब्ध प्रति (जो कि अपूर्ण ही प्राप्त है) से तीन स्रोत होने का ज्ञान होता है। प्रथम स्रोत का नाम **'जिनादिस्तोत्ररत्नकोश'** अथवा **'नमस्कार-मंगल'** है। द्वितीय स्रोत का नाम और लेखन प्राप्त नहीं है। तीसरे स्रोत का नाम **'गुरुपर्ववर्णन'** है। इसी प्रकार प्रत्येक स्रोत का महाह्रद है जिनमें प्रथम स्रोत का— **'वर्तमानचतुर्विंशतिश्रीजिनस्तवचतुर्विंशतिका'** नाम दिया है तथा तृतीय स्रोत का नाम **'गुर्वावली'** दिया है। इसी प्रकार इन ह्रदों के तरंगों का भी उल्लेख है।[३]

मुनि सुन्दर सूरि उत्कृष्ट लेखन में सिद्धहस्त थे। इनकी अनेक रचनाएँ शब्दालङ्कार के तत्त्वों का पूर्ण पोषण करने वाली हैं। प्रस्तुत रचना में सामान्यतः अनुप्रास, यमक और श्लेष का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ ही चित्रालङ्कार के भी अनेक प्रकार निरूपित हुए हैं जिनमें — **प्रासाद, पद्म, चक्र, षट्कारक, क्रियागुप्तक, तर्कप्रयोग, अनेक चित्राक्षर, द्व्यक्षर, पचवर्गपरिहार, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, मुरज, सिंहासन, अशोक, भेरी, समवसरण, सरोवर और आठ महाप्रातिहार्य** आदि **तीन सौ चित्रबन्धों की योजना थी।**

इनके अतिरिक्त इसमें १- **मङ्गल शब्दश्लोकरूप सर्वज्ञाष्टक**, २- **पञ्चमवर्गपरिहाररूप श्रीनेमिजिनस्तवनाष्टक**, ३- **एकाक्षरी तथा द्व्यक्षरी पद्योंसे समन्वित वर्धमानस्वामिस्तव**,

---

१. वि० सं० १४८० में रचित हर्षभूषण गणि के **'अञ्चलमतदलन-प्रकरण'** में इसका उल्लेख है।

२. **श्रीमहापर्वाधिराज श्रीपर्युषणपर्वविज्ञप्तित्रिदशतरङ्गिण्यां तृतीये श्रीगुरुवर्णनस्रोतसि गुर्वावलिनाम्नि मह्राह्रदे ऽनभिव्यक्तगणना- एक षष्टिस्तमतरङ्गः।**

(पृ. ४५५ दलसुख मालवणिया)

—जैन संस्कृतसाहित्य का इतिहास, भाग ६।

३. धर्मसागरगणि ने 'पट्टावली-समुच्चय (भा० १ पृ०) के अन्तर्गत 'गुरुपरिवाडी' (तपागच्छ-पट्टावली) की गाथा १६ की स्वोपज्ञटीका (पृ० ६६) में इनका उल्लेख किया है जिसे श्री ही० र० कापडिया ने **'इलस्ट्रेशन्स आफ लेटर्स डायग्राम'** (भाग-२, पृ० ११६-१७) बम्बई विश्वविद्यालय की पत्रिका में उद्धृत किया है।

४-क्रियागुप्तकरूप विश्वकालनीयव्यापिजिनस्तवाष्टक तथा ५- **वीरदण्डकस्तुति** शब्दालङ्कार के क्षेत्र में महनीय माने जा सकते हैं।

२- विज्ञप्ति-त्रिवेणी — उपाध्याय जयसागर (सन् १४२७ ले० का०)

'पृथ्वीधर-चरित्र' आदिग्रन्थों के प्रणेता जयसागर ने प्रस्तुत विज्ञप्ति की १- सरस्वती २- गङ्गा और ३- यमुना रूप तीन वेणियों में गद्य और पद्यमय रचना प्रस्तुत की है। सिन्ध देश के 'मलिकवाहन' नामक गाँव से, **'पाटण'** (गुजरात) स्थित खरतर-गच्छीय **जिनभद्रसूरि के साथ उपाध्याय जयसागर** जी द्वारा की गई यात्रा के बारे में पूछे गये तीर्थादि के विवरणों के उत्तर में लिखी गई यह विज्ञप्ति - **प्रश्नोत्तर, द्विव्यंजन, महाद्भुत, अद्भुत, प्रहेलिका, छत्र-बन्ध, १६ दल कमल बन्ध, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, बीजपूर, आसन, चामर, अष्टारचक्र, क्रियागूढ, चतुरर्थी पद्य, पञ्चवर्ग-परिहार, स्वस्तिक आदि** चित्रालङ्कारों से युक्त है। इसमें से उदाहरण-रूप एक 'चतुरर्थी पद्य' इस प्रकार है:—

यः स्वैरवैरिविलयाय सहःसहस्वी, स्वीयस्ववंशबहुलाम्बरशर्वरीशः।
शश्वल्ललौ वशविहाररसीह शीलं, श्रेयो रहस्यसरसीरुहसूर एषः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपनी रचनाओं में शब्दालङ्कार के अनेक रूप प्रस्तुत करके लेखक ने इस क्षेत्र में चिरस्मरणीय कार्य किया है। यह सम्पूर्ण रचना १०१२ श्लोक-प्रमाण है तथा विविध नगरों-प्रदेशों के वर्णन से अनुप्राणित है। इनकी गद्यरचना भी प्रौढ तथा आनुप्रासिक तत्त्वों से युक्त है।

३-आनन्दलेख — महोपाध्याय विजयगणि (सन् १६३७ ई०)

'हैमलघुप्रक्रिया' आदि ग्रन्थों के निर्माता उपाध्याय विनय विजयगणि ने अहमदाबाद के निकटस्थ **'बारेजा'** ग्राम से **'खम्भात'** स्थित विजयानन्दसूरि को लक्ष्य करके यह विज्ञप्तिलेख लिखा है। इस कृति में भिन्न-भिन्न छन्दों में रचित २५२ पद्य हैं जो पांच अधिकारों में विभक्त हैं। प्रथम अधिकार **'चित्रचमत्कार'** नामक है। इसमें प्रारम्भिक दस पद्यों में अनुप्रास तथा यमक से सज्जित उपक्रम करते हुए आगे क्रमशः—**पूर्णकलश, अर्धभ्रमक, छत्र, शर, धनुः, वज्र, शक्ति, भल्ल, खड्ग, रथपद, मुशल, त्रिशूल, हल, चामर, श्रीकरी, शंख और श्रीवत्स, नामक सत्रह बन्धों के १८ पद्यों से ही स्वगुरुनामगर्भित 'अष्टादशारचक्रबन्ध'** की योजना की है। इसका कर्णिकाक्षर **'ज'** हैं। यहीं चक्र के अतिरिक्त **'कमल और त्रिशूल बन्ध'** से युक्त ११ पद्यों से **'गुरुद्वय-नामगर्भित सप्तशलाका-घटित चामर-द्वयविराजित छत्रबन्ध'** की रचना की है जो अभिनव है। यहीं कवि ने लिखा है —

इत्थं चामरयुग्म-बन्धमधुरच्छत्रस्तवोरुस्रजा,
श्रीमन्नाभिनराधिराजतनयं भक्त्युत्सुकोऽपूपुजत्।
विश्वव्यापककीर्ति-'कीर्तिविजय'-श्रीवाचकाधीशितुः,
शिष्योऽयं 'विनयो, नयोज्ज्वलमतिः श्रेयः श्रियां सिद्धये ॥४१ ॥

इसके अनुसार उपर्युक्त पद्यों में श्री ऋषभदेव का वर्णन हुआ है।

द्वितीय अधिकार का नाम 'अलङ्कार-चमत्कार' है इसमें अर्थालङ्कारयुक्त पद्य हैं किन्तु प्रायः सभी पद्य अनुप्रासादि से मण्डित हैं। यहीं चौथा अधिकार पुनः **'श्लेष-चित्र चमत्कार'** नामक है, जिसमें-**'भाषा, गुप्तक्रिया, गुप्तक्रियाकर्मक, गुप्ताव्ययक्रियाक, गुप्तान्वय, गुप्तामन्त्रण, गुप्तकरण, गुप्तसम्प्रदान, गुप्तापादान, गुप्तसम्बन्ध, गुप्ताधार, एक-द्विव्यञ्जन, बिन्दुच्युतक, एकस्वर, दन्त्यस्थान, अतालव्य व्यञ्जन, अवर्ग्य, अनवर्ग्य और तुरगपद-चित्रों'** के २१ पद्य दिये हैं जिनमें कुछ विधाएं सर्वथा नवीन हैं। पञ्चम अधिकार में ऐसे लेखों लेखकाव्यों के सात भेद बताते हुए प्रस्तुत लेख को सातवां **'धर्मलेख'** स्वीकार किया है।[1] इस प्रकार चित्रालङ्कार के विविध नवीनरूपों को जन्म देने का श्रेय श्रीविनयविजयगणि को इस रचना से सहज प्राप्त हो गया है।

४- विज्ञप्तिका — विजयसिंह सूरि (सन् १६४४ ई०)

श्री विजयसिंह सूरि ने अपने गुरु तपोगच्छपति श्री विजयदेवसूरि के प्रति दीपावली-पर्व पर यह 'विज्ञप्तिका' लिखी है। इसमें प्रायः ३१० पद्य हैं। प्रारम्भ में महावीर स्वामी को नमस्कार करके ४२ वें पद्य से नानाविध चित्रालङ्कारमय पद्यों की रचना की है, जिनमें क्रमशः— **'मुशल, त्रिशूल, शंख, चमर, श्रीकरी, हल, धनुः, खड्ग, शक्ति, छत्र, रथ, कलश, अर्धभ्रम, मुद्गर, वज्र, स्वस्तिक, ध्वज, अष्टारचक्र, २८ दल कमल (द्वितीयाक्षर कर्णिक), ४४ दल कमल (द्वितीयाक्षर कर्णिक), गोमूत्रिका, दर्पण, श्रीवत्स तथा महायमक (६९ वें पद्य तक) की योजना की है। तदनन्तर (१०६ संख्यक पद्य से) चम्पक-मण्डित सिंहासन, दर्पण, मत्स्ययुग्म, श्रीवत्स, शरावसम्पुट, नन्दावर्तस्वस्तिक, भद्रासन तथा नागपाश बन्ध के पद्य (१२४ तक) दिये हैं १५२ से १७४ तक के पद्यों में 'परिधिसहित कङ्कण-बन्ध', १७५ से १७९ तक 'मध्यमणिद्वय-मण्डितवृत्तत्रयपदकडीकलितहारबन्ध चित्र' के पद्य हैं, इसी बन्ध में दवरक (सूत्र-द्वारा) के दो पद्य (१९८-९९) भी आते हैं। यह अभिनव प्रयोग है तथा सर्वथा नवीन दृष्टि से समन्वित भी। पद्य सं० २०० से— 'मुशल, त्रिशूल, शंख, श्रीकरी, चामर, हल, मल्ल, धनुः, खड्ग, शक्ति, रथ, कलश, अर्धभ्रम, कमल, शर, मुद्गर, वज्र, स्वस्तिक और पताका बन्धों के २१ पद्यों से परिधि पद्य सहित 'विंशतिदल कमल-बन्ध' की रचना की हैं। पुनः नागपाश, ९६ दल कमल (गतप्रत्यागत रीति से परिधित्रय से युक्त), ४८ दल कमल के ऊपर चमरद्वय, एक व्यंजन, व्यञ्जनद्वय एवं बीजपूरादि चित्र (पद्य ३७५ तक) दिये हैं।**

---

१. स सप्तधा लेख उदीरितो ज्ञैः, पृथक्-पृथक् कार्यफलोपदर्शी।
व्यापारलेखः कुसुमेषुलेखः, स्नेहस्य लेखः स्फुटरोषलेखः।। २३०।।
शोक-प्रमोद-प्रभवौ च लेखौ, यो धर्मलेखः स च सप्तमः स्यात्।
तथा— अयं पुनः सप्तम एव लेखो, लेखेषु सर्वेषु च सार्वभौमः॥ इत्यादि।
आनन्दलेख, अ० ५।

इस प्रकार यह कृति चित्रालङ्कार की पुष्टि में पूरा योग देती है। रचना में माधुर्य है। बीच-बीच में अन्य शब्दालङ्कार भी विकसित हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है —

प्रमोदपात्री पृथुहर्षदात्री, सम्यग्विधात्री हितहेतुमात्री।
कल्याणकर्त्री निखिलार्तिहर्त्री, कृपैकपुत्री गुणपङ्क्तिधर्त्री॥

इस प्रकार यमकादि के प्रयोग भी पर्याप्त प्राप्त होते हैं तथा इनमें कई बन्ध पहली बार ही निर्दिष्ट हुए हैं। कमल बन्धों की रचना **में २८ दल** और **९६ दल वाले** वन्ध भी अभिनव हैं। **जैन सम्प्रदाय में मङ्गलरूप माने जानेवाले प्रतीक भी यहां चित्रबन्धों में पहली बार अवतरित हुए हैं**। अतः आकार-चित्रमूलक शब्दालङ्कार के नवीन रूपों को आविष्कृत करने में विजयसिंह सूरि का विशेष योगदान स्पृहणीय है।

५- विज्ञप्ति-पत्र — उदयविजय (सन् १६४२ ई०)

विजयसिंह सूरि के शिष्य उदयविजय की यह कृति ३१७ पद्यों से युक्त है। इसमें पूर्व विज्ञप्तियों के समान ही दो विभागों में प्रायः ६७ **चित्रबन्धों को स्थान मिला है**। जिनमें— (प्रथम भाग में) मुशल, त्रिशूल. शंखादि हैं तथा द्वितीय भाग में पुनः 'मुशल त्रिशूलादि बन्धों की योजना की है। इन बन्धों में विजयसिंह मूरि की विज्ञप्ति का बहुधा अनुकरण है, दो-चार ही बन्धों के नाम नवीन प्रतीत होते हैं।[1]

६-७- विज्ञप्तिका — पं० विनयवर्धन गणि (सन् १६४० ई० के निकट)

तपागच्छाधिपति श्री विजयदेव सूरि के प्रति प्रेषित इस विज्ञप्तिका में विनयवर्धनगणि ने अनुप्रास और यमकालङ्कार के साथ-साथ **व्यस्तसमस्तजाति**, **प्रश्नोत्तर** और '**क्यारावन्ध**' की रचनाएँ भी की हैं। कृति ७२ पद्यों में पूर्ण हुई है। लेखक ने सन् १६४५ में एक और ९४ पद्य की '**विज्ञप्तिका**' लिखी है, जो सामान्य है। तथापि अनुप्रास और यमक का प्रयोग तो उत्तम ही हुआ है।

८- विज्ञप्तिका — विनयवर्धनगणि (सन् १६४६ई० र० का०)

विनयवर्धन गणि द्वारा रचित यह तृतीय विज्ञप्तिका है। यह भी विजयसिंह सूरि को उद्देश्य करके लिखी गई है। इसमें १०४ पद्य हैं जिनमें— (पद्य सं० ६३ से ७७ तक) ६० दल वाले एक '**कमलबन्ध की योजना अद्भुत है**। प्रति चरण के अन्त में '**सारङ्गम्**' शब्द **का** प्रयोग— जिसे कर्णिका में लिखा जाता है—होने से यह शब्द **साठ बार प्रयुक्त** हुआ है और

---

१. श्रीकापड़िया ने इस 'विज्ञप्तिका' की प्रति कागजों पर लिखित तथा उन्हें कपड़े पर चिपका कर सुरक्षित किए हुए **मुनि श्री पुण्यविजयजी के** पास देखी थी जो पौने ग्यारह इंच चौड़ी तथा २० फुट और साढ़े नौ इंच लम्बी है। इसमें अनेकविध चित्रबन्ध वने हुए हैं। सम्भवतः इसी का अपरनाम मुनिजी ने इन पंक्तियों के लेखक को '**लेखराजहंस**' वताया था। अब यह प्रति अहमदावाद के '**लालभाई दलपत भाई प्राच्य विद्या-मन्दिर**' में होगी।

इन सबके अर्थ भी पृथक्-पृथक् लिये गये हैं, अतः यह श्लेष का भी उदाहरण है[1]। इसके अतिरिक्त **द्विर्व्यस्तसमस्तजाति, व्यस्तसमस्तजाति** एवं **निरोष्ठचवर्णरूप पद्य** भी दिये हैं। **अनेकार्थी पदप्रयोगात्मक बन्ध** का प्रयोग नवीन है।

६- विज्ञप्तिका (विज्ञप्तिलेख) — पं० लाभविजय (सन् १६८६ ई० र० का०)

पत्तनस्थित स्वगुरु विजयप्रभ सूरि के प्रति १२७ पद्यों में लिखित इस विज्ञप्तिका में विशेषतः ४ पद्यों से बना षोडशदल कमल बन्ध, धनुर्बन्ध, खड्गबन्ध तथा **'स्नातस्या' स्तुति के पद्यों की पादपूर्ति** द्रष्टव्य है। भाषा प्राञ्जल तथा प्रवाहशील है। वर्णन में सरसता तथा चमत्कारिता से रचना स्पृहणीय बन पड़ी है।

१०- विज्ञप्तिका — दयासिंह (सन् १७१४ ई० र० का०)

जैसलमेर स्थित जिनसुखसूरि के प्रति रूपावास से दयासिंह कवि ने ५७ पद्यों में यह 'विज्ञप्तिका' बनाई है। भाषागत वैविध्य की दृष्टि से यह अपने ढंग की अनूठी है। इसमें— **प्राकृत, मरहट्ठी, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश और समसंस्कृत** के पद्य हैं। भाषा प्राणवान् है,। यथा—

जानुदघ्नजलजातसूतयः, शालयः किल कलामका इव।
प्राणयन्ति मुनिनाथलालसास्तं मुहुर्मम मनोमनोरथाः ॥ ६ ॥

११-१२- विज्ञप्ति-पत्र काव्य — मुनि धुरन्धर विजय (वर्तमानकाल)

मुनि धुरन्धर विजय जी एक प्रतिभासम्पन्न जैन मुनि हैं। बाल्यकाल से ही संस्कृत में पद्यरचना करने की प्रवृत्ति के साथ ही चित्रकाव्य-निर्माण की ओर इनका विशेष झुकाव रहा है। आपने एक ही नाम से दो विज्ञप्तिकाव्य लिखे हैं। इनमें अपने परमगुरु गच्छाधिपति श्री प्रेमसूरिजी महाराज को विज्ञप्ति प्रेषित की है। पहली कृति में ५ चित्रबन्ध तथा स्वर-चित्रादि हैं और दूसरी कृति में ३७ चित्रबन्धों की योजना की है।

इनके अतिरिक्त **'भटेवा पार्श्वनाथ चित्रस्तोत्र, अजितशान्तिस्तव के पद्यों की चित्रबन्ध के रूप में स्थापना** आदि इनके महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

---

१. सारङ्ग शब्द के साठ अर्थ इस प्रकार हैं—
१- सूर्य, २- चन्द्र, ३- राजहंस, ४- हस्ती, ५- वायु, ६- सिंह, ७- गिरि, ८- मेघ, ९- वीणा, १०- शंख, ११- कन्दर्प, १२- पृथ्वी, १३- कर्पूर, १४- कृष्णा, १५- महादेव, १६- जल, १७- कुठार, १८- खड्ग, १९- दीपक, २०- कुसुम, २१- कार्मुक, २२- नदी, २३ भृङ्ग, २४- निर्ग्रन्थ, २५- कमल, २६- अगुरू, २७- अग्नि, २८- पिक, २९- स्वर्ण ३०- अश्व, ३१- रमण, ३२- चितेरा, ३३- नेत्र, ३४- चित्र, ३५- मुख, ३६- काजल, ३७- सारिका, ३८- सर्प, ३९- चन्दन, ४०- कुल ४१- रात्रि, ४२- लक्ष्मी, ४३- रत्न, ४४- सुवास, ४५- गरुड, ४६- कीर, ४७- खंजन, ४८- बन्दर, ४९- चक्र, ५०- श्वेतवर्ण, ५१- सफल वाणी, ५२- चातक, ५३- मृग, ५४- वेणी, ५५- वाहन, ५६- राग, ५७- मेंढक, ५८- बांसुरी ५९- सहर्ष तथा ६०- कुक्कुट।

१३- पाणिनीय द्व्याश्रय विज्ञप्ति लेख— अज्ञात (सत्रहवीं शती ई०)

अज्ञातकर्तृक यह विज्ञप्तिलेख (काव्य) शास्त्रकाव्यों की शृङ्खला का पूरक है। इसमें शिवनगरी से कुर्कुटनगर स्थित युवराजसूरि विजयरत्नसूरि के पास कवि ने विज्ञप्ति प्रेषित की है। यह चार विश्रामों में विभक्त है तथा उनमें क्रमशः ११, २२, १५ और १३ पद्य हैं। प्रारम्भ पद्य - **'स्वस्ति श्रियै वररुचिर्जगतोऽपि शिक्षाशास्त्रे पटुर्जयति पाणिनिमूलशास्ता'** इत्यादि और अन्तिम पद्य— **'वपुस्तपः स्थानमिवाश्रयोऽस्तु'** इत्यादि है। यह प्रति **'भाण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना'** में क्रमांक २९९ । ए० १८९२-९३ पर सुरक्षित है। और इसकी प्रतिलिपि **'राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर,** में प्राप्त है।

१४- पाणिनि द्व्याश्रय विज्ञप्तिकाव्य — मेघविजय (१८वीं शती ई०)

शास्त्रकाव्यों के समान ही विज्ञप्ति-काव्य की रचना को लक्ष्य में रखकर यह काव्य लिखा गया है। इसमें शिवनगरी से तत्कालीन गणनायक श्रीविजयप्रभ सूरि के पास कवि ने विज्ञप्ति प्रेषित की है। **अष्टाध्यायी के सूत्रानुसारी प्रयोग** तथा विज्ञप्ति का सम्मिलित रूप होने से इसे **'पाणिनि द्व्याश्रय'** की संज्ञा दी गई है। यह चार विश्रामों में विभक्त है यथा—

१- संज्ञा-सन्धि और ऋषभदेव का वर्णन
२- अच्सन्धि और कुर्कुट नगरी का वर्णन'
३- अच्सन्धि और शिवनगरी तथा वहां चातुर्मास में किये गये धार्मिक कृत्यों का वर्णन।
४- हल्सन्धि और आचार्य विजयप्रभसूरि का वर्णन।

इसकी पद्य संख्या क्रमशः २५, ३८, ३६ तथा ३९ है। इस प्रकार कुल १३८ पद्यों की यह रचना एक नये विधान की पूर्ति करती है। इसका प्रारम्भिक पद्य **स्वस्तिश्रियां सत्यकृतित्व-भाजां'** इत्यादि और अन्तिम **'एवं जगद्भासनकारि यस्यानुशासनं श्रीगणवासवस्य'** इत्यादि है। यह अप्रकाशित है। इसकी पाण्डुलिपि **'भाण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट' पूना,** में ए०२९९। १८८-८३ संख्या पर सुरक्षित है तथा अन्य प्रति **राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान-जोधपुर'** में प्राप्त है।

१५- गुरुविज्ञप्तिलेखरूप चित्रकोशकाव्य — मेघविजय

यह काव्य मेघविजय जी ने सादड़ी (राजस्थान) से श्रीपुर स्थित गणनायक श्रीविजयप्रभ सूरि को चातुर्मास में किये गये धार्मिक कार्यों की विज्ञप्ति को माध्यम बनाकर लिखा है। इसमें तीन अधिकार थे जिनमें से प्रथम अधिकार प्राप्त नहीं है। द्वितीय में ४७ पद्य हैं तथा तृतीय अधिकार के ९ पद्य ही प्राप्त हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस में चित्रबन्धात्मक पद्य होने की सम्भवना है। इसकी प्रति **श्रीअगरचन्द नाहटा के बीकानेर स्थित भण्डार** में और **'श्रीलाल-भाई दलपतभाई प्राच्यसङ्ग्रहालय-अहमदाबाद'** के पुण्यविजयजी पुस्तकसङ्ग्रह में है।[1]

२-**'चित्रकोश-काव्य'** रूप विज्ञप्ति लेखों को और भी कुछ जैन मुनिराजों ने लिखा है तथा इनकी कुछ खण्डित प्रतियां यत्र-तत्र भण्डारों में भी उपलब्ध होती हैं।

मूल्याङ्कन

विज्ञप्ति-सम्बन्धी कृतियां श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के मुनियों की विशिष्ट देन है। यह दूतकाव्य की निकटवर्तिनी पद्धति होते हुए भी अलङ्कृत रचनाओं के रूप में अधिक स्फुटित हुई है। "मुनिराज श्रीजिनविजय जी ने **'विज्ञप्ति-लेख-संग्रह'** की भूमिका में सूचित किया है कि —'जैन विज्ञप्तिकाव्य' अनेक प्रकार के प्राप्त होते हैं जिनका एकत्र सङ्कलन अत्यावश्यक है। हमारे पास ऐसे काव्यों का पर्याप्त सङ्ग्रह भी हुआ है।'

इस दृष्टि से शब्दालङ्कार-साहित्य की अभिवृद्धि में इस प्रकार के साहित्य से बहुत कुछ प्राप्त हो सकता है। उपर्युक्त साहित्य में भी अनेक नवीन-नवीन प्रकारों का प्रयोग हुआ है। इस साहित्य का समग्र-सञ्चय और प्रकाशन नितान्त आवश्यक है।

गीतिकाव्यों में शब्दालङ्कार

१- दशावतार-चरित — क्षेमेन्द्र (सन् १०६३ ई०)

गेयकाव्यों की परम्परा में सर्वप्रथम काव्य के रूप में ख्याति-प्राप्त यह चरितकाव्य विष्णु के दस अवतारों का वर्णन करते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है। काश्मीर के साहित्यिकों ने जिस प्रकार अन्यान्य काव्यगत शैलियों के आविष्कार में योगदान किया है उसी प्रकार गीतिकाव्यों में भी यह नवीन शैली आविष्कृत की है।

प्रस्तुत कृति में प्रायः सभी रचनाएं अनुप्रास, यमक एवं अन्य श्लेषादि अलङ्कारों से पूर्ण हैं। मसृण-पदावली की संयोजना का एक उदाहरण इस प्रकार है—

ललितविलासकला-सुख-खेलन-ललना-लोभन-शोभन-यौवन-मानित-मदने।
अलिकुलकोकिल-कुवलयकज्जल-कालकलिन्दसुताविवलज्जल-कालियकुलदमने।
केशिकिशोर-महासुरमारणदारुणगोकुलदुरितविदारण-गोवर्धनधरणे।
कस्य न नयनयुगलरतिरङ्गे, मज्जति मनसिजतरलतरङ्गे वररमणी-रमणे॥

— ८। १७३॥

इस प्रकार क्षेमेन्द्र का यह काव्य भले ही अधिक गीतियों को प्रस्तुत नहीं करता हो किन्तु अपनी शैली के द्वारा उत्तरकाल के कवियों के लिये मार्ग तो प्रशस्त करता ही है। क्षेमेन्द्रकृत **'दशावतार-चरित'** में यह गीत पद्य के रूप में ही आया है किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'जयदेव ने गीतगोविन्द जैसे ताल-लयवद्ध गेयकाव्य की रचना के लिये इससे अवश्य ही प्रेरणा प्राप्त की होगी।'

श्रीनाहटाजी के भण्डार में भी एक-दो ऐसी प्रतियां हैं, ऐसा उनके साथ हुए पत्र-व्यवहार से ज्ञात हुआ है। (लेखक)

२-गीतगोविन्द — जयदेव (बारहवीं शती)[1]

श्रीकृष्ण तथा राधा की लीलाओं को भावों की मधुरिमा, सङ्गीतमयता एवं अभिव्यक्ति-नैपुण्य के साथ प्रस्तुत करते हुए १२ सर्ग तथा २० प्रबन्धों में यह काव्य रचित है। इस काव्य में गद्य, पद्य और गीत इन तीनों का मिश्रित प्रयोग हुआ है । कहीं-कहीं संवादशैली का भी निर्वाह है। इस प्रकार यह **'सङ्गीत-नाटक'** और **'सङ्गीत-काव्य'** की संज्ञा से भी अभिहित है। इस काव्य की रचना-पद्धति अनुप्रासालङ्कार से परिपूर्ण है। यथा—

ललित-लवङ्गलता-परि॑ीलनकोमल-मलय-समीरे ।
मधुकर-निकर-करम्बित कोकिलकूजित-कुञ्जकटीरे ॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते,
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि ! विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ २ ॥

अथवा

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर हृदयेशम् ॥ १ ॥
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ।
गोपीपीनपयोधरमर्दन-चञ्चलकरयुगशाली ॥ (ध्रुवपद)
नामसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदुवेणुम् ।
बहु मनुते तनुते तनु-सङ्गत-पवन-चलितमपि रेणुम् ॥ २ ॥ (सर्ग ५ प्रबन्ध ११)

यहां पदान्त्यानुप्रास और 'तनुते तनु' में यमक के प्रयोग दर्शनीय है।

इनके पद्यों में भी इसी पद्धति का पूरा निर्वाह है। यथा—

वसन्ते वासन्तीकुसुमसुकुमारैरवयवै—
भ्रमन्तीं कान्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणम् ।
अमन्दं कन्दर्पज्वलजनित-चिन्ताकुलतया,
चलद्बाधां राधां सरसमिदमूचे सहचरी ॥ १ ॥

विश्व की समस्त साहित्य-सम्पदा में इतनी सौन्दर्य और माधुर्य से ओत-प्रोत रचना का मिलना कठिन है। भावानुकूल भाषाप्रयोग, शब्दसौष्ठव-प्रवाह, समाससङ्कुल सङ्घटना में समास-रहित पदों का मिश्रण, रस और अर्थाभिव्यञ्जक कोमलकान्तपदावली, ललित एवं अनुप्रास-युक्त छन्द तथा रमणीय गेयता के कारण जयदेव ने एक अद्भुत और अभिनय शैली का आविष्कार किया है। इनका एक भी पद्य और गीत ऐसा नहीं प्राप्त होगा जिसमें अनुप्रास और यमक के प्रयोग उपलब्ध न हो ।

इस पर विद्वानों ने अनेक टीकाएं लिखी हैं तथा विविध पक्षों को स्फुट करते हुए कृष्ण को परब्रह्म और राधा को जीवात्मा सिद्ध किया है ।

---

१. स्वयं कवि ने इस काव्य को महाकाव्य कहा है किन्तु इसके कलेवर तथा रचना-विधान को ध्यान में रखकर यहां इस प्रकरण में स्थान देना ही उचित माना है।

३- अभिनव -गीतगोविन्द — गजपति पुरुषोत्तमदेव (१५वीं शती का आरम्भ)

प्रस्तुत गीतकाव्य में १० सर्ग हैं। कवि ने गीतगोविन्द का अनुकरण पूर्णरूप से किया है और उसमें सफलता भी प्राप्त की है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

उद्यत्फुल्लकदम्बडम्बरसटाटोपः स्फुटत्कन्दली,
पुञ्छः केतकपुष्पतीक्ष्णनखरः कुन्दप्रसूनश्रुतिः।
जातीकुड्मलदन्तसन्ततिरियं पञ्चास्यलीलायितं,
धत्ते सम्प्रति पान्थ ! मत्तकरिणो हन्तुं पयोदागमः ॥ ७।२ ॥

यह पद्य जिस प्रकार आनुप्रासिक पदावली से सम्पन्न है उसी प्रकार की सफलता गीतों में भी इन्हें प्राप्त हुई है। यथा—

न कुरु सुधाकर-रुचिमददमनं वदनमुदञ्चदरुणिमपदम्,
पदजितमपि तव धृतमुखशोभं मुदमुपगच्छति कोकनदम्।
परिहर रुषमूरीकुरु तोषं प्रणयिनि ! पूरय मम कामम्,
कामयसे कियदनुभावयितुं विरहं दारुण-परिणामम् ॥ ८।३।१ ॥

यहाँ माधव द्वारा राधिका के अनुनय में ये पंक्तियां कही गई हैं। इनमें रचनागत सौष्ठव और शब्दालङ्कारपूर्ण नाद-माधुर्य भी उचित मात्रा में विकसित हुआ है।

-गीत-गोविन्द के अनुकरण में रचित अन्य गीतकाव्य

जैसा कि उपर्युक्त गीतिकाव्यों के समीक्षण से स्पष्ट हो गया है कि— गीतिकाव्य में मुख्यरूप से अनुप्रास और यत्र-तत्र यमकालङ्कार के प्रयोग बहुलता से होते हैं। गीतिकाव्य में ध्रुवपद के अन्त्यवर्णों की समानता ही अन्य चरणों में भी होती है अतः वह अन्त्यानुप्रास के रूप में सर्वत्र प्रयुक्त होकर शब्दालङ्कार का पोषण करती है। साथ ही पदों की कमनीयता, ललिता एवं मृदुलता भी गीति का प्रमुख तत्त्व होने से उसकी पूर्ति के लिए पद-विन्यास प्रायः अनुप्रासालङ्कार से परिपूर्ण होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर गीतगोविन्द काव्य के अनुकरण में अन्य अनेक गीतिकाव्य लिखे गये हैं। जिनमें से कुछ का परिचय इस प्रकार है —

१-	**गीत-गौरीश**	: भानुदत्त (सन् १४५०-१५०० ई०)
२-	**रामगीतगोविन्दकाव्य**	: जयदेव (१६ वीं शती) (ये कोई अन्य जयदेव हैं। यहाँ राम के चरित्र का ग्रथन है)
३-	**गीतिगिरीश**	: रामजी भट्ट (१६ वीं शती)
४-	**गोपगोविन्द**	: (अज्ञात)
५-	**गीतवीतराग**	: चारुकीर्ति (जैन) (सन् १४०० से १७५८ के बीच)
६-	**गीतगोपाल**	: नरेश चिक्कदेवराय (सन् १६७२ से १७०४ ई०)
७-	**गीतराघव**	: प्रभाकर (सन् १६१८ ई०)
८.	**गीतराघव**	: रामकवि (१७वीं शती)

९. **गीत-राघव** : हरिशङ्कर कवि (१७वीं शती)
१०. **गीतराघव** : वेणी मिश्र (")
११. **गीतदिगम्बर** : वंशमणि (सन् १६५५ ई०)
१२. **गीतमहेश्वर** : (सीताराम-विहारकाव्य में सूचित)
१३. **गीतभागवत** : रामदुर्ग नृपति (१६६२ ई०)
१४. **गीतरत्नाकर** : श्रीकण्ठ कवि
१५. **रामगीतरत्नाकर** : उपनिषद् ब्रह्मयोगिन्
१६. **गीतराम** : राम पणिवाद (सन् १७०७ से १७८१ ई०)
१७. **गीतरास** : लक्ष्मण सोमायजी
१८. **गीतशङ्करकाव्य** : अनन्तनारायण पञ्चरत्न
१९. **गीतशङ्कर काव्य** : भीष्ममिश्र, मैथिल (हरिकवि)
२०. **गीतसीतापति काव्य** : अच्युतराय मोडक
२१. **गीतसुन्दर काव्य** : सदाशिव दीक्षित (सन् १७२९ ई०)
२२. **गीतगङ्गाधर** : कल्याण कवि
२३. **गीतगङ्गाधर** : गङ्गाधर कवि
२४. **गीतगङ्गाधर** : नञ्जराज (सन् १७३६ - १७२९ ई०)
२५. **गीतगिरीश** : श्रीहर्ष कवि
२६. **गीतगोपाल** : चतुर्भुज कवि
२७. **गीतमाधव** : वाबू रेवाराम कायस्थ (सन् १८६२-१८७३ ई०)
२८. **गीतगोपीपतिकाव्य** : श्रीकृष्णदत्त झा (सन् १८८२ ई०)
२९. **गीतगौरीवरण** : श्री तिरुमल घट्ट
३०. **गीतदामोदरकाव्य** : श्री शम्भुनाथ
३१. **गीत-काशीपति** : चन्द्रदत्त झा

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में गीतिकाव्यों का निर्माण पर्याप्त मनोयोग से हुआ है । कुछ काव्य ऐसे भी हैं जिनके नाम 'गीत' शब्द से सम्बद्ध तो नहीं किन्तु उनमें पद्धति गीत-गोविन्द जैसी अपनाई गई है । यथा—**पीयूषलहरी**- जयदेवाचार्य, **मुकुन्दविलासयतीन्द्र**-रघुनाथ, **पदामृत-समुद्र**- राधामोहन ठाकुर, **मुदितमाधव**- शतञ्जीव मिश्र, **पद-कल्पतरु**-गोविन्ददास, **क्षणदागीत-चिन्तामणि** विश्वनाथ चक्रवर्ती, **नरहरिचरित**-रामचन्द्र खड्गराय, **व्रजयुवविलास**- कमललोचन खड्गराय, **सङ्गीतरघुनन्दन**-रीवां नरेश— **प्रसन्न माधव** तथा **सङ्गीतराघव** — गङ्गाधरशास्त्री

मंगरूरकर, शान्त-सुधारस-विनयविजयगणि, राघवाह्निक-सोमकवि आदि।

यह स्पष्ट ही है कि इन सब में कोमलकान्त पदावली, सङ्गीतसुलभ नादात्मकता तथा मुख्यतः अनुप्रास और उसके भेदों का उचित प्रयोग किया गया है। साथ ही यथावसर यमक और श्लेषालङ्कार भी इनमें समाविष्ट हैं। अतः ये काव्य शब्दालङ्कारों के पोषण में पूर्ण सहयोगी हैं।

गीतिकाव्यों में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों का मूल्याङ्कन

गान-सरस्वती का माधुर्य सामान्य छन्दोमयी वाणी की अपेक्षा कुछ अधिक ही होता है। **'गीतियोग्यत्वं गेयत्वं'** इस सामान्य लक्षण से ऊपर उठकर - **'अभिव्यञ्जनाकौशल, शब्दों की ध्वनि तथा अर्थ का सुन्दर सामञ्जस्य, भाषा की कोमलता एवं भावों की तीव्रता' के साथ ही शब्दालङ्काररूप नाद-माधुर्य की भी वह अपेक्षा रखती हैं।**

ऐसे गीतिकाव्यों में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों में यद्यपि अनुप्रास और यमक को छोड़ कर अन्य भेदों के प्रयोग उपलब्ध नहीं होते हैं तथा इस बात का कोई प्रतिबन्ध हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिए कूटभावात्मक, प्रतीकात्मक तथा उपदेशपरक गीतों में यत्र तत्र गूढ-चित्र के दर्शन हो जाते हैं। आरातिक्य अथवा नीराजना-गीतियों में ध्रुवपद आदि की योजना से समस्यापूर्ति के उदाहरण भी प्राप्त हो जाते हैं।

संस्कृत-गीतियों में नियोजित पदावलियों की अपनी स्वतन्त्र-विशेषता है। गद्यकाव्य में प्रयुक्त पदावली जैसे दीर्घसमास-सम्पन्न होती हैं उनमें वहाँ से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है। गीतिकारों ने गीतिपदों की योजना में प्रमुखरूप से दो बातें ध्यान में रखी हैं **१- पूरी अर्धाली की समस्त-पदात्मक योजना**, जिसके अन्त में प्रयुक्त अनुप्रास का साम्य द्वितीय अर्धाली में मिलना है। **२- अर्धाली में प्रयुक्त पदखण्डों के अन्त में नियोजित अनुप्रास**, जो कि उसी एक में अथवा उससे आगेवाली अर्धाली में भी प्रयुक्त है।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं प्रतिचरण के अन्त में भी अनुप्रास-योजना की गई है जो चारों चरणों में साम्य रहने पर उसकी पूर्ति करते हैं। गीति-काव्यों का मुख्य तत्त्व उसकी गेयता है। अतएव कहा जाता है कि —

सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः॥

अर्थात् गेयतत्त्व से देवता भी प्रभावित हैं फिर मनुष्यों का तो कहना ही क्या ? संस्कृत-गीति शब्द का तात्पर्य सङ्गीतार्थक गीत, वाद्य और नृत्य — नहीं हैं, अपितु इसका अर्थ यहाँ गीतिकार द्वारा अपने हृदय की रागात्मक भावना को ध्वन्यात्मक शैली में छन्दोबद्ध करना है। इससे आत्मानुभूति की सरस व्यञ्जनात्मक अभिव्यक्ति होती है।

अन्य साहित्य की भाँति गीतिकाव्य का उदय भी वेदों से माना जाता है। वैदिक ऋचाओं में गीतिकाव्य के अर्धस्फुटित अङ्कुर देखे जा सकते हैं। वेदवाणी में लालित्यपूर्ण

तथा अलङ्कृत रूप से अनभूत भावना का प्रयोग प्राप्त होता है। उत्तरकाल के गीतिकाव्यों में तत्तत्कालीन गीतिविधाओं का प्रयोग होने से इनकी आलङ्कारिकता उत्तरोत्तर बढ़ती है और पुरानी रागिनियों और नवीन गीतिपद्धतियों को भी इसमें स्थान मिला है।

संस्कृत नाटकों में भी यत्र-तत्र गीतियों का प्रयोग प्रारम्भकाल से ही होता आया है और आधुनिक युग तो अन्य भाषाओं में गीति-व्यवहार की प्रधानता बढ़ जाने के कारण 'गीति-काव्यों का युग' ही कहा जाता है। इसी प्रकार 'स्तवमाला' जैसे स्तुति ग्रन्थों में भी अनेकविध गीतियों के प्रयोग हुए हैं, ये सभी प्रकीर्ण गीतिकाव्यों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और गद्यगीतों का निर्माण भी संस्कृत में अब बढ़ रहा है उनसे भी शब्दालङ्कार की अभिवृद्धि में योग प्राप्त हो रहा है।

इस दृष्टि से गीतिकाव्य में शब्दालङ्कार-नियोजन को यद्यपि महाकाव्य अथवा खण्डकाव्यों के समान स्थान तो नहीं मिला है तथापि जितना अवसर मिला है, वह भी इसकी श्रीवृद्धि में सहायक ही है।[1]

::×::

---

१. गीतिकाव्यों के विषय में विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए देखिये—लेखक (डा० त्रिपाठी) द्वारा सम्पादित 'राघवाह्निकम्' गीतिकाव्य की १९ पृष्ठों में लिखित "भूमिका"। इसमें ६० गीतिकाव्यों का सोदाहरण-विवेचन प्रस्तुत है।

चतुर्थ अध्याय

स्तोत्रकाव्यों में शब्दालङ्कारों का संयोजन

□

काव्य का संसार आपार है। इसमें काव्य-कला-कुशलों ने अपनी अनेक कृतियों को प्रस्तुत किया है। स्तोत्रकाव्य इन सब का मूल है क्योंकि हमारा आदिम देवकाव्य ऋग्वेद स्तुतिरूप ही है। स्तोत्र काव्यों के प्रकार भी पर्याप्त विस्तृत हैं, इनमें संख्याश्रित स्तोत्रों का विभाजन क्रमशः १- **सहस्रक स्तोत्र**, २- **शतक स्तोत्र** तथा ३- **अवान्तरनाममिश्रित स्तोत्र** के रूप में किया जा सकता है। इन तीनों प्रकारों में केवल किसी एक प्रकार के विशिष्ट शब्दालङ्कार का प्रयोग रहने पर उसे १- **एक शब्दालङ्कारगर्भस्तोत्र तथा विभिन्न** शब्दालङ्कारों के बाहुल्य से युक्त होने पर उसे २- **अनेक शब्दालङ्कारगर्भस्तोत्र** में समाविष्ट किया जाना उचित होगा।

इसी पूर्वस्वीकृत पद्धति के अनुसार यहां हम शब्दालङ्कारों के नये-नये स्वरूपों को प्रस्तुत करने वाले कतिपय **'निर्देशक-निदर्शन रूप'** स्तोत्रों का विवेचन दे रहे हैं जो इस प्रकार है—

१- सहस्रक स्तोत्रकाव्य

देवताविषयक-स्तोत्र काव्यों में **'सहस्रक'**काव्यों का प्रणयन पर्याप्त रूप से हुआ है। इन सहस्रकों में मुख्यरूप से दो प्रकार परिस्फुट हुए हैं-**१. केवल नाम सञ्चयात्मक** तथा **२. नामगुम्फनरूप काव्यात्मक**। प्रथम प्रक्रिया में अपने-अपने इष्टदेव के एक सहस्र अथवा उससे कुछ अधिक नामों का संग्रह हुआ है। यद्यपि ऐसे नाम-सङ्ग्रह में काव्य-तत्त्व और अलङ्कारों का उपयोग नहीं हुआ है, तथापि शब्दालङ्कार की दृष्टि से यह प्रकार महत्त्वपूर्ण है जिसमें इष्टदेव के नाम के पूर्वाक्षर को प्राधान्य देते हुए पूरे सहस्रनाम की रचना हुई है। उदाहरणार्थ-कालिका से सम्बन्धित-ककारादि सहस्रनाम, गणेश से सम्बद्ध गकारादि। द्वितीय प्रक्रिया में अपने इष्टदेव की स्तुति में लिखे गये एक हजार पद्यों की संख्या वाले स्तोत्रों का समावेश होता है। ऐसे स्तोत्र मुख्यतः भक्ति-काव्य ही हैं, इसमें काव्यगत विभिन्न तत्त्वों के समावेश के साथ ही अलङ्कार तथा उसमें भी शब्दालङ्कार के अनेक भेदोपभेदों से पूर्ण पद्यों की रचना महत्त्वपूर्ण होती रही है। ऐसे कतिपय सहस्रनाम और सहस्रक काव्यों का परिचय इस प्रकार है—

(क)- एक शब्दालङ्कार-गर्भ सहस्रक-स्तोत्र (केवल नामसञ्चयात्मक)

१- गकारादि गणेश-सहस्रनाम

रुद्रयामल में इस स्तोत्र का संग्रह है। इसमें गणपति के सहस्रनामों का इस प्रकार सङ्कलन किया गया है कि प्रत्येक नाम गकार से ही आरम्भ होता है। यह वर्ण केवल अकारान्त न होकर अन्य स्वरों से युक्त भी प्रयुक्त है। अनुष्टुप् छन्द में ऐसे नामों का संग्रह यद्यपि काव्य की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व तो नहीं रखता, तथापि जब ये नाम एक ही पद्य में ५-७ बार आजाते हैं तो वे वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण बन जाते हैं। साथ ही नाम-चयन की किसी विशिष्ट पद्धति का भी उसमें आश्रय लिया गया हो, तो वह चमत्कृति-पूर्ण भी हो जाता है। इस प्रकार के कतिपय अन्य सहस्रनाम इस प्रकार हैं —

१. **ककारादि काली-सहस्रनाम १६५ पद्य (महाकालसंहितान्तर्गत)**

२. **तकारादि तारा-सहस्रनाम २४४ पद्य, (ब्रह्मयामलान्तर्गत)**

३. **भकारादि भुवनेश्वरी-सहस्रनाम ३०३ पद्य, (महातन्त्रार्णवान्तर्गत)**

४. **दकारादि दुर्गा-सहस्रनाम २३६ पद्य, (कुलार्णवतन्त्रान्तर्गत)**

५. **रकारादि राम-सहस्रनाम (ब्रह्मयामलान्तर्गत)**

६. **कालीककारादि-सहस्रनामस्तोत्र (शिखरिणी छन्द में निर्मित)**

७. **गायत्री-सहस्रनाम १७९ पद्य, (रुद्रयामलान्तर्गत)**

यह **'गायत्रीमन्त्रवर्णात्मक दिव्यसहस्रनाम'** से भी प्रसिद्ध है इसमें कही आठ और कहीं दस पद्य में भी एक-एक मन्त्रवर्ण का प्रयोग हुआ है। वर्णों में स्वरभेद एवं स्थानादिभेद भी स्वीकृत किये हैं। यथा—

यमोपाधिविनिर्मुक्ता यशस्यविधिरच्युता।
यातना यातना देहा यात्रापायदिवर्जिता।। १६६।।

यहां 'यातना' शब्द की आवृत्ति यमकालङ्कार का उदाहरण भी बनती है।

२- नामगुम्फनरूप काव्यात्मक सहस्रक-स्तोत्र

इस प्रक्रिया में किसी सहस्रनाम के प्रत्येक नाम के आधार पर पृथक्-पृथक् पद्यों की रचना की जाती है। इस प्रकार की रचना में भक्ति और कवित्व का सामञ्जस्य प्रस्तुत होता है। कवि अपनी प्रतिभा से शब्दालङ्कार के अन्य प्रकारों का समावेश भी कर देते हैं। यथा—

१- नाम-विलास — साहिब् कौल (सोलहवीं शती)

काश्मीर के महान् तान्त्रिक-सिद्ध साहिब् कौलने इस में **'देवी सहस्रनाम'** को आधार बनाकर प्रत्येक पद्य में एक एक नाम का समावेश किया है। रचना में काव्यत्व भी पर्याप्त है। अन्त में महाकाव्य के किसी एक सर्ग में जिस प्रकार यमक और चित्रालङ्कारों का प्रयोग

होता है उसी प्रकार इसमें भी प्रयोग हुआ है। इसमें सोलह भक्तियां हैं जो सर्गरूप हैं।

प्रस्तुत काव्य में सर्ग के स्थान पर **'भक्ति'** पद का प्रयोग किया गया है। ध्वनिरणनात्मक पद्य और अर्धभ्रम, पद्म, गोमूत्रिका एवं द्व्यक्षरादि चित्र-बन्ध पद्य महत्त्वपूर्ण हैं। अन्त में लिख है —

नाम्नां सहस्रमिदमीरितमीश्वरेण, पुण्यैकपुण्यमुदयोदयमादिदेव्याः।
सम्यक् प्रकाशितमहः किल नन्दिकेन, नानन्दयेत् कमिह पूरुषतैकहेतुः॥
१६ । ७७॥

और वहीं कहा है कि—

सोऽहं तेन मुहुः प्रणुन्नहृदयः सर्वास्ववस्थास्वपि,
सुन्दर्याः स्तवराज ईशकथिते नाम्नां पुरा नन्दिने।
साहिब्कौल इति प्रसिद्धमहसि स्थानेऽमले दर्शये,
स्वातन्त्र्येण निवेशितात्मविभवः सूक्तेर्विलासं स्फुटम्॥

इस प्रकार यह काव्य शब्दालङ्कार के पोषण में दुहरा सहयोग पुरस्कृत करता है।

२- श्रीविष्णुचरितामृतम् (चित्रकाव्यम्) — स्वामी श्री लक्ष्मण शास्त्री

(सन् १९०८ से वर्तमान काल)

आप निरञ्जनसम्प्रदाय के स्वामी मधुसूदन के शिष्य हैं और उन्हीं से संस्कृत, ज्यौतिष, अंग्रेजी आदि का आपने अध्ययन किया है। आपने सन् १९०८ से संस्कृत-रचना आरम्भ की और क्रमशः **१- श्रीविष्णुचरितामृत, २-श्रीरामविवाह, ३-श्रीरामपाद युगलीस्तव, ४- श्रीहरिहर-द्वादशाक्षरी स्तोत्र, ५- श्रीमहामन्त्रराजस्तोत्र तथा ६- श्रीविष्णुस्तवद्वादशी** आदि चित्रकाव्यमयी कृतियों का निर्माण किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना महाभारतान्तर्गत **'विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र'** के १५७ पद्यों का माध्यम रखकर की गई है। ३७ सर्गों में पूरित यह काव्य श्रीविष्णु के २४ अवतारों के मनोज्ञ चरित्र को प्रस्तुत करने के साथ-साथ अपनी चित्रकाव्य पद्धति में भी स्पृहणीय है। **अनुष्टुप् छन्द के प्रतिचरण का चौथा अक्षर क्रमशः उपर्युक्त स्तोत्र के प्रत्येक अक्षर का आवर्जन करता है तथा लिपिबद्ध रूप में चरणगत चतुर्थाक्षरक्रम से सम्पूर्ण सहस्रनाम को प्रस्तुत करता है।** उदाहरणके रूप में निम्न पद्य द्रष्टव्य है —

श्रीसेव्यं विष्णुमासेव्य, चित्ते विश्वं च तज्जनम्।
कुर्वे श्रीविष्णुचरितामृतं विष्णुजनप्रियम्॥ १॥

इसमें प्रत्येक चरण के चौथे वर्णों के मेलन से 'विश्वं विष्णु' ये दो नाम निकल आते हैं। चित्रकाव्य की विभिन्न प्रक्रियाओं में यह प्रक्रिया प्रहेलिका, गुप्त, प्रश्नोत्तर एवं अंकन के नाम से अभिहित है। जो प्रहेलिका **'अन्तः उत्तरवाली'** होती है उसमें **वर्णोच्चयन** से उत्तर प्राप्त किया जाता है। गुप्त-प्रक्रिया में भीं वर्ण गुप्त रहते हैं और विभिन्न वर्णों का सङ्कलन एक निश्चित

नामादि का सूचन करता है। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर एवं अङ्कन भी इसी पद्धति से होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में एक निश्चित पद्धति से स्तोत्र को समाविष्ट किया गया है, अत; यह उपर्युक्त विधियों का पल्लवन ही माना जाएगा। चरित्र की रक्षा, अभीष्ट वर्णों का यथास्थान गुम्फन एवं सरल भाषा का प्रयोग कवि की विद्वत्ता के परिचायक हैं।

६- ललिता-सहस्रकाव्यम् — श्रीहरिशास्त्री दाधीच (वर्तमान काल)

जयपुर के आशुकवि श्री हरिशास्त्री जी ने इस काव्य में **'ललितासहस्रनाम'** को आधार बनाकर उसके प्रत्येक नाम का गुम्फन करते हुए एक हजार पद्यों की रचना की है। नाम-ग्रथनात्मक इन पद्यों में देवी ललिता के गुण, कर्म और चरित्रों का वर्णन भी सहज हो गया है।

शास्त्रीजी अच्छे प्रतिभासम्पन्न कवि और तन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ थे। संस्कृत तथा हिन्दी-भाषा में आपकी अनेक रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

इस पद्धति की रचनाओं को **'गूढ-चित्र'** नामक अलङ्कार में भी लिया जा सकता है और अन्य विचार से **समस्या-पूर्ति** चित्रालङ्कार में भी समावेश हो सकता है। ऐसी और भी रचनाएँ संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध हैं तथा वर्तमान काल में भी ऐसी कृतियाँ निबद्ध हो रही हैं जिनका यह निदर्शन मात्र है।

अनेक शब्दालङ्कार — गर्भ सहस्रक स्तोत्र

जिस प्रकार उपर्युक्त सहस्रक-स्तोत्र काव्यों में इष्टदेव के एक हजार नाम गर्भित करके काव्य-रचना करने की प्रक्रिया अपनाई गई, उसी के अनुरूप अपने इष्टदेव की स्वतन्त्ररूप से स्तुति करते हुए एक हजार पद्यों से युक्त काव्य भी इस परम्परा में प्रायः लिखे जाते रहे हैं। इन सहस्रकाव्यों में कवि का लक्ष्य मुख्यरूप से तो इष्टदेव का गुण अथवा चरित्र-कीर्तन ही रहता है किन्तु इसके साथ ही वह काव्यात्मक विभिन्न तत्त्वों का भी उसमें पूर्ण रूप से समावेश करता है।

ऐसे सहस्रक-काव्यों की रचना में महाकाव्यों के समान अन्यान्य अलङ्कारों के साथ ही शब्दालङ्कारों की भी योजना की जा रही है। अनेक भक्त आचार्यों ने शिव, विष्णु, देवी, लक्ष्मी, रङ्गनाथ, गुरु, कृष्ण आदि को लक्ष्य में रखकर रचनाएं की हैं। इतना ही नहीं **श्रीवासुदेवानन्द-सरस्वती** ने तो इस संख्या को दुगुनी करके **'द्विसाहस्र-चरितम्'**[1] भी लिखा है। एक अन्य कवि ने राजकोप का भाजन बन जाने पर क्षमायाचना के माध्यम से भी एक सहस्रक की रचना की है ऐसे ही सहस्रक-काव्यों की परम्परा को जैन-कवियों ने भीं अपनाया है। इनमें से कुछ का परिचय इस प्रकार है—

लक्ष्मीसहस्रम् — वेङ्कटाध्वरि (१७वीं शती ई०)

काव्य, चम्पू एवं अन्यान्य प्रकार के अनेक ग्रन्थों के निर्माता तथा अभिनव साहित्यकार

१- यह ग्रन्थ और वासुदेवानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन वामन दत्तात्रेय गुलवणी महाराज द्वारा-समर्थ भारत मुद्रणालय, पुणें (महाराष्ट्र) से किया गया है।

श्रीवेङ्कटाध्वरि ने सहस्रश्लोकी इस काव्य की रचना की है। कहा जाता है कि —"प्रस्तुत कवि **'विश्वगुणादर्शचम्पू'** की रचना के निमित्त सभी वस्तुओं में दोष देखने की प्रवृत्ति के कारण अन्धा हो गया था। तब उस दोष से बचने के लिये कवि ने एक मात्र भगवत्स्तुति को आधार मानकर लक्ष्मी और श्रीनिवास की स्तुति में पृथक्-पृथक् दो सहस्र-पद्यात्मक काव्यों की रचना की जिसके फलस्वरूप इन्हें पुनः दृष्टि प्राप्त हो गई।'

इस रचना में सभी प्रकार के अलङ्कारों को पूर्णरूपेण स्थान दिया है। शब्दालङ्कार के प्रयोगों का बाहुल्य प्रस्तुत स्तोत्रकाव्य के २२वें **'चित्रस्तबक'** में परिलक्षित होता है। चित्र-काव्यादि के लक्षण **'काव्यकूतूहल'** आदि अन्य ग्रन्थों से **'स्वोपज्ञटीका'** के रूप में प्रस्तुत कर देने से विषयवस्तु को समझने में सहायता मिलती है। चित्रस्तबक में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों की तालिका इस प्रकार है —

१. अनुप्रासचित्र	२- अपशब्दाभासचित्र	३- गोमूत्रिका
४- प्रथमपादगूढ	५- चतुर्थपादगूढ	६- निरोष्ठ्य
७- क्रियावञ्चन	८- सप्तविभक्तिवञ्चन	९- अर्धपादानुलोमप्रतिलोम
१०- पादानुलोम-प्रतिलोम	११-अर्धानुलोमप्रतिलोम	१२- श्लोकानुलोमप्रतिलोम
१३- प्रातिलोम्येन भिन्नार्थ	१४- अनतिरिक्त-पदपदार्थानुलोमप्रतिलोम	
१५- अपुनरुक्तव्यञ्जन	१६- द्विशृङ्गाटक	१७- द्विचतुष्कचक्रबन्ध
१८- चतुरस्रचक्रबन्ध	१९- षोडशदल	२०- अर्धभ्रमयमक
२१- हारबन्ध	२२- मुरजबन्ध	२३- सजातीय निरन्तरयमक
२४- गरुडगति चक्रबन्ध	२५- चतुरङ्गतुरग-बन्ध	२६- सर्वतोभद्र
२७- त्रिस्वर	२८- एकस्वर	२९- त्रिव्यञ्जन
३०- द्विव्यञ्जन	३१- एकव्यञ्जन	३२- एकव्यञ्जन
३३- द्वयज्झल-विषमयमकसर्वतोभद्र	३४- द्विव्यञ्जनैकस्वर	३५- अष्टदल
३६- चक्रबन्ध	३७- अष्टारचक्र	३८- गवाक्षबन्ध
३९- जालबन्ध	४०- भिन्न-भिन्नवृत्तानुलोमगोमूत्रिका श्लोक	
४१- प्रतिलोमगोमूत्रिका	४२- अष्टदलकमल	४३- यमकचित्र
४४- अनुलोमप्रतिलोमचित्रादि	४५- नानायमकचित्र आदि।	

इस प्रकार महाकाव्यों में जैसे कोई एक सर्ग का विशेषरूप से शब्दालङ्कारमय प्रणयन होता है उसी प्रकार यहां भी हुआ है। रचनागत प्रौढता भी इन के काव्य में द्रष्टव्य है। यथा —

पायान्मामुरसावितः श्रियमुमाराध्यां प्रपद्येतमां,
का वा न स्थिरमश्नुते शमधनोऽप्यालोकितो जातुचित्।
वेदान्तैर्विनुताङ्घ्रये न किमुत श्रेयो नर्ति तन्वतां,
सेवामो रचयामि मानस! सदा भक्त्यावहावादरम्॥ २२।८॥

नामादि का सूचन करता है। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर एवं अङ्कन भी इसी पद्धति से होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में एक निश्चित पद्धति से स्तोत्र को समाविष्ट किया गया है, अत; यह उपर्युक्त विधियों का पल्लवन ही माना जाएगा। चरित्र की रक्षा, अभीष्ट वर्णों का यथास्थान गुम्फ़न एवं सरल भाषा का प्रयोग कवि की विद्वत्ता के परिचायक हैं।

६- ललिता-सहस्रकाव्यम् — श्रीहरिशास्त्री दाधीच (वर्तमान काल)

जयपुर के आशुकवि श्री हरिशास्त्री जी ने इस काव्य में **'ललितासहस्रनाम'** को आधार बनाकर उसके प्रत्येक नाम का गुम्फन करते हुए एक हजार पद्यों की रचना की है। नाम-ग्रथनात्मक इन पद्यों में देवी ललिता के गुण, कर्म और चरित्रों का वर्णन भी सहज हो गया है।

शास्त्रीजी अच्छे प्रतिभासम्पन्न कवि और तन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ थे। संस्कृत तथा हिन्दी-भाषा में आपकी अनेक रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

इस पद्धति की रचनाओं को **'गूढ-चित्र'** नामक अलङ्कार में भी लिया जा सकता है और अन्य विचार से **समस्या-पूर्ति** चित्रालङ्कार में भी समावेश हो सकता है। ऐसी और भी रचनाएँ संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध हैं तथा वर्तमान काल में भी ऐसी कृतियाँ निबद्ध हो रही हैं जिनका यह निदर्शन मात्र है।

अनेक शब्दालङ्कार — गर्भ सहस्रक स्तोत्र

जिस प्रकार उपर्युक्त सहस्रक-स्तोत्र काव्यों में इष्टदेव के एक हजार नाम गर्भित करके काव्य-रचना करने की प्रक्रिया अपनाई गई, उसी के अनुरूप अपने इष्टदेव की स्वतन्त्ररूप से स्तुति करते हुए एक हजार पद्यों से युक्त काव्य भी इस परम्परा में प्रायः लिखे जाते रहे हैं। इन सहस्रकाव्यों में कवि का लक्ष्य मुख्यरूप से तो इष्टदेव का गुण अथवा चरित्र-कीर्तन ही रहता है किन्तु इसके साथ ही वह काव्यात्मक विभिन्न तत्त्वों का भी उसमें पूर्ण रूप से समावेश करता है।

ऐसे सहस्रक-काव्यों की रचना में महाकाव्यों के समान अन्यान्य अलङ्कारों के साथ ही शब्दालङ्कारों की भी योजना की जा रही है। अनेक भक्त आचार्यों ने शिव, विष्णु, देवी, लक्ष्मी, रङ्गनाथ, गुरु, कृष्ण आदि को लक्ष्य में रखकर रचनाएं की हैं। इतना ही नहीं **श्रीवासुदेवानन्द-सरस्वती** ने तो इस संख्या को दुगुनी करके **'द्विसाहस्र-चरितम्'**[1] भी लिखा है। एक अन्य कवि ने राजकोप का भाजन बन जाने पर क्षमायाचना के माध्यम से भी एक सहस्रक की रचना की है ऐसे ही सहस्रक-काव्यों की परम्परा को जैन-कवियों ने भीं अपनाया है। इनमें से कुछ का परिचय इस प्रकार है—

लक्ष्मीसहस्रम् — वेङ्कटाध्वरि (१७वीं शती ई०)

काव्य, चम्पू एवं अन्यान्य प्रकार के अनेक ग्रन्थों के निर्माता तथा अभिनव साहित्यकार

१- यह ग्रन्थ और वासुदेवानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन वामन दत्तात्रेय गुलवणी महाराज द्वारा-समर्थ भारत मुद्रणालय, पुणें (महाराष्ट्र) से किया गया है।

श्रीवेङ्कटाध्वरि ने सहस्रश्लोकी इस काव्य की रचना की है। कहा जाता है कि —"प्रस्तुत कवि **'विश्वगुणादर्शचम्पू'** की रचना के निमित्त सभी वस्तुओं में दोष देखने की प्रवृत्ति के कारण अन्धा हो गया था। तब उस दोष से बचने के लिये कवि ने एक मात्र भगवत्स्तुति को आधार मानकर लक्ष्मी और श्रीनिवास की स्तुति में पृथक्-पृथक् दो सहस्र-पद्यात्मक काव्यों की रचना की जिसके फलस्वरूप इन्हें पुनः दृष्टि प्राप्त हो गई।'

इस रचना में सभी प्रकार के अलङ्कारों को पूर्णरूपेण स्थान दिया है। शब्दालङ्कार के प्रयोगों का बाहुल्य प्रस्तुत स्तोत्रकाव्य के २२वें **'चित्रस्तबक'** में परिलक्षित होता है। चित्र-काव्यादि के लक्षण **'काव्यकूतूहल'** आदि अन्य ग्रन्थों से **'स्वोपज्ञटीका'** के रूप में प्रस्तुत कर देने से विषयवस्तु को समझने में सहायता मिलती है। चित्रस्तबक में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों की तालिका इस प्रकार है —

१. अनुप्रासचित्र	**२- अपशब्दाभासचित्र**	**३- गोमूत्रिका**
४- प्रथमपादगूढ	**५- चतुर्थपादगूढ**	**६- निरोष्ठ्य**
७- क्रियावञ्चन	**८- सप्तविभक्तिवञ्चन**	**९- अर्धपादानुलोमप्रतिलोम**
१०- पादानुलोम-प्रतिलोम	**११-अर्धानुलोमप्रतिलोम**	**१२- श्लोकानुलोमप्रतिलोम**
१३- प्रातिलोम्येन भिन्नार्थ	**१४- अनतिरिक्त-पदपदार्थानुलोमप्रतिलोम**	
१५- अपुनरुक्तव्यञ्जन	**१६- द्विशृङ्गाटक**	**१७- द्विचतुष्कचक्रबन्ध**
१८- चतुरस्रचक्रबन्ध	**१९- षोडशदल**	**२०- अर्धभ्रमयमक**
२१- हारबन्ध	**२२- मुरजबन्ध**	**२३- सजातीय निरन्तरयमक**
२४- गरुडगति चक्रबन्ध	**२५- चतुरङ्गतुरग-बन्ध**	**२६- सर्वतोभद्र**
२७- त्रिस्वर	**२८- एकस्वर**	**२९- त्रिव्यञ्जन**
३०- द्विव्यञ्जन	**३१- एकव्यञ्जन**	**३२- एकव्यञ्जन**
३३- द्व्यज्झल-विषमयमकसर्वतोभद्र	**३४- द्विव्यञ्जनैकस्वर**	**३५- अष्टदल**
३६- चक्रबन्ध	**३७- अष्टारचक्र**	**३८- गवाक्षबन्ध**
३९- जालबन्ध	**४०- भिन्न-भिन्नवृत्तानुलोमगोमूत्रिका श्लोक**	
४१- प्रतिलोमगोमूत्रिका	**४२- अष्टदलकमल**	**४३- यमकचित्र**
४४- अनुलोमप्रतिलोमचित्रादि	**४५- नानायमकचित्र आदि।**	

इस प्रकार महाकाव्यों में जैसे कोई एक सर्ग का विशेषरूप से शब्दालङ्कारमय प्रणयन होता है उसी प्रकार यहां भी हुआ है। रचनागत प्रौढता भी इन के काव्य में द्रष्टव्य है। यथा —

पायान्मामुरसावितः श्रियमुमाराध्यां प्रपद्येतमां,
का वा न स्थिरमश्नुते शमधनोऽप्यालोकितो जातुचित्।
वेदान्तैर्विनुताङ्घ्रये न किमुत श्रेयो नतिं तन्वतां,
सेवामो रचयामि मानस! सदा भक्त्यावहावादरम् ॥ २२।८॥

यहां 'उ' शव्द की सातों विभक्तियों के एकवचन के रूपों का गुप्तरूप में प्रयोग होने से **'सप्तविभक्ति-वञ्चन'** नामक चित्रालङ्कार है।

ऐसे सहस्रकाव्यों में कवित्व का पूरा परिपाक होता है तथा कवि की भवित का भी पोषण हो जाता है।

२-क्षमापन-सहस्र — केरलवर्म वलिय कोइतम्बुरान (सन् १८४५-१९१५)

प्रस्तुत सहस्रक-काव्य कवि ने कारागार में रहकर अपने अपराध की क्षमा मांगने के लिये आइल्यम तिरुनाल को सम्बोधित करके लिखा है। इसमें चालीस विंशतियां हैं जिनमें विशेष रूप से दसवीं और ग्यारहवीं विंशतियां यमकालङ्कारपूर्ण तथा बीसवीं और चालीसवीं विंशतियां विभिन्न चित्रालङ्कारों से परिपूर्ण हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है—

दुष्टजनेषु विशिष्टविचारात्, कष्टमिदं मम पुष्टमुदीतम्।
विष्टपरक्षणदृष्ट तदेतन्नष्टमदुर्जनतुष्ट विधेहि।। (११वि०)

इसी प्रकार नृसिंह कवि का ३- **शिवदयासहस्र**, सुन्दरेश्वर कवि का ४- **शिवपाद-कमल-रेणुसहस्र**, प्रतिवादिभयङ्कर वेङ्कटाचार्य की धर्मपत्नी **त्रिवेणी**[1] के **५- लक्ष्मीसहस्र** तथा **६- रङ्ग-नाथ सहस्र**, उन्नीसवीं शती के महत्त्वपूर्ण सहस्रकाव्य कहे जा सकते हैं। काव्यकण्ठ वासिष्ठ गणपति मुनि का **७- उमासहस्र** अत्यन्त प्रौढ सहस्रकाव्य है। इसमें मुनिजी ने भक्ति, चरित्र, साहित्य तथा वेदान्तादि-समन्वित आध्यात्मिक तत्त्वों का भी समावेश बड़ी रोचकता के साथ किया है।

अन्य सङ्ख्याश्रित स्तोत्रकाव्य

सहस्रक और शतक-काव्यों की परम्परा में ही केवल संख्याओं को आधार मानकर सप्तशती, पञ्चशती, त्रिशती और द्विशती आदि काव्यों की भी रचना इस साहित्य में हुई है। दुर्गासप्तशती और गीता (७०० पद्य) यद्यपि मार्कण्डेयपुराण और महाभारत के अन्तर्निविष्ट अंश हैं किन्तु इनकी महत्ता से प्रेरित होकर ऐसी अन्य रचनाओं को प्रस्तुत करने का भी प्रयास होता रहा है तथा उनमें भी भक्ति के साथ ही शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों का निपुण-प्रयोग कवियों ने अवश्य किया है।

इस काव्यशृङ्खला में **शतक-स्तोत्रों** की रचना महत्त्वपूर्ण है तथा इसमें **'एकशब्दा-लङ्कारगर्भ'** तथा 'अनेक शब्दालङ्कारगर्भ' दोनों ही प्रकारों का समावेश हुआ है। इनका वर्णन इस प्रकार है—

एकशब्दालङ्कारगर्भ शतक स्तोत्र

१- सूर्यशतक — मयूर-भट्ट (सातवीं शती ईसवी)

मयूर भट्ट और बाण भट्ट ये दोनों कवि समकालिन हैं तथा इनकी शैली में भी

---

१. ये उपेन्द्रपुर के विद्वान् अनन्ताचार्य की पुत्री थीं। सन् १८१७ ई० में इनके **'यादव-राघवपाण्डवीय'** त्र्यर्थी काव्य की पूर्ति के दिन ही इनका जन्म हुआ था।

साम्य है। कवियों के कवित्वाभिमान को शान्त कर देने वाले कवि मयूर की यह एक मात्र उपलब्ध कृति है। स्रग्धरा-वृत्त में लिखित यह शतक इस पद्धति का सर्वप्रथम काव्य माना जाता है। कवि के पास शब्दों का अपार भण्डार है तथा उनकी प्रयोग-पद्धति पर पूर्ण अधिका भी है। इसलिये कवि ने प्रत्येक पद्य में सूर्य का नया नाम देने का प्रयास किया है। यथा—प्रथम पद्य में भानु, द्वितीय में भास्कर, तीसरे में ब्रह्म, चौथे में तिग्मरोचि, पांचवे में तीव्रभानु, छठे में घर्मांशु, सातवे में हरित्, आठवे में खरांशु, नौवे में दीप्तांशु, दसवें में दिनकर आदि। अनुप्रास का तो कवि अनन्य उपासक है। एक पद्य दर्शनीय है —

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्,
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते—
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमङ्घोविघातम्।। ६।।

इस प्रकार के वृत्त्यनुप्रास की योजना कवि ने पर्याप्त उदारता से की है। कहीं यमकालङ्कार को भी बड़ी सावधानी से प्रस्तुत करते हुए कवि ने सूर्य की प्रार्थना की है। यथा —

सानौ सा नौदयेनारुणितदलपुनर्यौवनानां वनाना—
मालीमालीढपूर्वा परिहृतकुहरोपान्तनिम्ना तनिम्ना।
भावो भावोपशान्ति दिशतु दिनपतेर्भासमाना समाना,
राजी राजीवरेणोः समसमयमुदेऽतीव यस्या वयस्या।। ३८।।

यहां प्रत्येक चरण के आरम्भ तथा अन्त में और चतुर्थ चरण में आदि, मध्य एवं अन्त में यमक-प्रयोग स्पृहणीय है। इस प्रकार यह शतक-काव्य अग्रिम कवियों के लिये मार्ग-दर्शक बना है।

२- चण्डीशतक — बाण भट्ट (सातवीं शती ईसवी)

हर्षचरित तथा कादम्बरी जैसे महनीय गद्यकाव्यों के रचयिता कविवर बाणभट्ट ने गद्य-रचनाओं के अतिरिक्त पद्यात्मक रचना भी की हैं। उन्हीं में 'चण्डीशतक' नामक यह स्तोत्र-काव्य भी उनकी अमर देन है। प्रस्तुत स्तोत्र के १०२ पद्यों में गौडी रीति का प्रयोग करते हुए कवि ने अनुप्रास और यमक का प्रयोग किया है। जिस प्रकार मयूर भट्ट की रचना में भाषा का ओज परिलक्षित होता है, वैसा ही ओज वाण के इस स्तोत्र में परिस्फुट हो रहा है। एक उदाहरण देखिये —

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे,
जाताशङ्के शाङ्के विरमति मरुति व्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं,
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी।। ६६।।

यहां प्रत्येक चरण के आदि, मध्य और अन्त्य भागों में वर्णावृत्ति हुई है। इन आवृत्तियों में ध्वनिसाम्य अधिक है अत; नादसौन्दर्य अधिक मुखरित हुआ है। यमक का प्रयोग यथावसर सूर्यशतक के समान ही बाणभट्ट ने भी किया है। मार्कण्डेय-पुराण के देवी-माहात्म्य की कथा को आधार बनाकर इसमें महिषासुर के वध का वर्णन है। एक अन्य पद्य और द्रष्टव्य है —

दृष्टावासक्तदृष्टिः प्रथममथ तथा सम्मुखीनाभिमुख्ये,
स्मेरा हास-प्रगल्भे प्रियवचसि कृतश्रोत्रपेयाधिकोक्तिः।
उद्युक्ता नर्मकर्मण्यवतु पशुपतेः पूर्ववत् पार्वती वः,
कुर्वाणा सर्वमीषद्विनिहितचरणालक्तकेव क्षतारिः ॥

यहां भी अनुप्रास का प्रयोग हुआ है। इन रचनाओं ने अग्रिम कवियों को प्रेरणा देकर उनका मार्ग प्रशस्त भी किया है।

३- रामाष्टप्रास स्तोत्र —-रामभद्र दीक्षित (अठारवीं शती ईसवी)

'**श्रृङ्गारतिलक भाण**' के रचयिता, सहज़ीरापुर-निवासी रामभद्र दीक्षित का यह स्तोत्र **११६** पद्यों में निर्मित है। इममें राम की स्तुति करते हुए अनुप्रास के प्रयोग की एक परम्परा का प्रयोग हुआ है जो कि '**अष्टप्रास**' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक पद्य में आठ स्थानों पर शब्द के द्वितीय वर्ण का साम्य इसकी विशेषता है। यथा—

क्षोणिस्थस्य यदर्चया किल पदश्रेणिर्भवन्नाकिनां,
गाणिक्येन सदोचिता गणयितुं माणिक्यमालाभिधा।
प्राणिश्रोत्रसुखावहा सुरनदी वेणीमयोत्सारिणी,
पाणिश्लिष्टधनुः स मेऽस्तु शरणं तूणीभृताँसो विभुः ॥ ११६ ॥

इस स्तोत्र की टीका सेतुशास्त्री ने लिखी है।

४- अष्टप्रास-शतकत्रय— इल्लत्तूर रामस्वामी (सन् १८२४ -१६०७ ई०)

केरल-निवासी रामस्वापी ने प्रस्तुत शतकत्रय में उपर्युक्त सुप्रसिद्ध अनुप्रासगर्भ-रचना का अवलम्बन लेकर प्रतिपद्य में आठ-आठ अनुप्रास वाले पद्यों की रचना की है। '**शिवाष्टप्रास**' तथा अन्य ३४ साहित्यिक कृतियों का निर्माण कर आपने संस्कृत-साहित्य की पूर्ण सेवा की है।

उत्तर काल के शतक काव्य

अनुप्रासपूर्ण शतक-स्तोत्रों के आलेखन की इस परम्परा को मयूर और बाणभट्ट के शतकों से प्रेरित होकर अनेक उत्तरकाल के कवियों ने आगे बढ़ाया है। प्रौढ़ गद्य, दीर्घसमास-शैली तथा मुख्यतः वृत्त्यनुप्रास का चारों चरणों में निर्वाह इस शैली का वैशिष्ट्य रहा है। इस दृष्टि से कुछ शतकों का परिचय इस नामावली से प्राप्त हो सकेगा —

१- दव्यार्याशतक —रमणपति (सत्रहवीं शती ई०)
२- अम्बुजवल्लीशतक —श्रीनिवास पुत्र वरददेशिक (")
३- वराहशतक — " " (")
४- रसवतीशतक —लक्ष्मणार्य कवि (")
५- अम्बाशतक —सदक्षर कविकुंजर (सन् १६१४ से १६३४ ई०)
६- मीनाक्षीशतक —पारिथीयूर कृष्ण कवि (१९वीं शती ई०)
७- हनुमच्छतक, ८- लक्ष्मीनृसिंह शतक, ९- मालिनीशतक भी उपर्युक्त कवि ने ही लिखे हैं।
१०- कालिकाशतक - बटुकनाथ शर्मा (सन् १८९५ ई०)

अनेक शब्दालङ्कार -गर्भ शतकस्तोत्र

१- स्तुतिविद्या — स्वामी समन्तभद्र (द्वितीय शती ई०)

आचार्य समन्तभद्र की यह रचना जिनशतक के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें ११६ पद्य हैं। प्रायः सभी पद्य यमक तथा चित्रालङ्कारों से पूर्ण हैं। भरत क्षेत्र की वर्तमान चौबीसी के चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करते हुए कवि ने चुआलीस पद्यों में **'मुरज-बन्ध'** की योजना की है। इनमें **'अनन्तरपाद मुरज'** और **'इष्टपाद मुरज'** भी हैं। बहुधा इन्हीं चित्र-बन्धात्मक पद्यों में कहीं, **'गुप्तक्रिया, गुप्तकर्म, निरोष्ठ्व्यञ्जन, गोमूत्रिका, पद्मबन्ध** तथा **यमक** अलङ्कार के प्रयोग भी हुए हैं। यथा —

स्नात-स्वमलगम्भीरं जिनामित-गुणार्णवम्।
पूतश्रीमज्जगत्सारं जनायात क्षणाच्छिवम्॥ २॥

इसमें 'मुरज-बन्ध' और 'गोमूत्रिकाबन्ध' दोनों ही विहित हैं। **साधिकपादाभ्यासयमक** का यह उदाहरण भी द्रष्टव्य है —

नतपीलासनाशोक-सुमनोवर्षभासिनः।
भामण्डलासनाशोकसुमनोवर्णभासितः॥ ५॥

इसी प्रकार **अर्द्धभ्रम, गतप्रत्यागत, एकाक्षर, एकाक्षरैकपाद, युग्मयमक, श्लोकयमक, चक्रबन्ध** (अनेक पद्य) तथा अन्यान्य बन्धसापेक्ष पद्यों की रचना भी असाधारण वाग्वैभव तथा प्रतिभा के परिचायक है। एक-दो पद्यों में तो ऐसे अलङ्कारों का एक समुदाय ही समाविष्ट है। यथा—

पारावाररवारापाराक्षमाक्ष क्षमाक्षरा।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर॥ ८४॥

इसमें **'बहु क्रियापद, द्वितीयपादमध्ययमक, अतालुव्यञ्जन, अवर्णस्वर, गूढद्वितीयपाद, सर्वतोभद्र** तथा **गतप्रत्यागतार्धभ्रम'** नामक चित्रालङ्कार हैं।

इसी प्रकार **'गतप्रत्यागत पादयमक, द्व्यक्षर तथा** सन्निवेशविशेष से उद्भूत **अनुलोम-प्रतिलोम श्लोकयुगल** मण्डित' एक अन्य पद्य दर्शनीय है—

नमेमान नमामेन-मानमाननमानमा ।
मनामोनु नुमोनाम नमनोमम नो मन ।। ६३ ।।

इस दृष्टि से यह अत्युत्तम रचना है । कवि की अन्य रचनाओं में **'स्वयम्भु'-स्तोत्र'** तथा **युक्त्यनुशासन'** आदि भी अत्यन्त शंसनीय है । प्रस्तुत शतक पर आचार्य वसुनन्दि ने टीका भी लिखी है ।[1]

२- देवीशतक — आनन्दवर्धन (सन् ८६५-८८५)

आनन्दवर्धन की इस कृति का उद्गम उन्होंने भगवती के द्वारा स्वप्न में दी गई आज्ञा को बतलाया है तथा उसे इस शतक के अन्तर्गत **'महाचक्रबन्ध'** के पद्यों में गर्भित अक्षरों के सञ्चयन से प्रसूत निम्न पद्य द्वारा व्यक्त किया है—

देव्या स्वप्नोद्गमादिष्ट-देवीशतकसंज्ञया ।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम् ।। १०१ ।।

तथा अन्तिम पद्य में इस शतक को 'दुष्करस्तोत्र'[2] कहा है । इसमें मुख्यतया शब्दालङ्कार के **'यमक,[3] प्रतिलोमानुलोम, मुरज, समुद्गक, गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र, प्रतिपाद प्रतिलोमानुलोम द्व्यक्षर, अर्धभ्रम, भाषाष्टकसमावेश, जालबन्ध, गूढचतुर्थ, तूणबन्ध, रेफविवर्तिक, द्वात्रिंशदर-चक्र, प्रहेलिका, पुनरुक्तवदाभास, अपशब्दवदाभास और अनेकार्थवाले श्लेष'** नामक भेदों का समावेश हुआ है । १०४ पद्यों की रचना में अनेकविध छन्दों का उपयोग, यमक, चित्रबन्धों के कुछ नवीन प्रयोग आनन्दवर्धन की इस ओर प्रगाढ रुचि को प्रकट करते हैं ।

सोलह पद्यों के द्वारा निर्मित तथा लेखनभेद से ही बत्तीस अरोंवाला **'चक्रबन्ध'** यहां जैसा बनाया गया है, वह पूर्णरूपेण अभिनव है तथा वैसा अन्य उदाहरण संस्कृत-साहित्य में दुर्लभ है।

इस शतक की टीका **चन्द्रादित्य के पुत्र कय्यट** (९७८ ई०) ने लिखी है जिससे इसके रहस्यों के समझने में पर्याप्त सरलता होती है ।

३- जिनशतक — जम्बूकवि (सन् ९६८ ई०)

यह कृति स्रग्धरा छन्द में निर्मित २५-२५ पद्यों के चार परिच्छेदों में विभक्त हैं । इसमें क्रमशः जिनेश्वर के चरण, हाथ, मुख और वाणी का शब्दालङ्कारादि से अलङ्कृत वर्णन

विशेष जानकारी के लिये —

१. प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखक के निर्देशन में 'विद्यावारिधि' के लिये राष्ट्रिय-संस्कृत संस्थान-दिल्ली में प्रस्तुत **'स्वामिसमन्तभद्रस्य संस्कृतसाहित्ये योगदानम्'** शोधप्रबन्ध द्रष्टव्य है

२. **येनानन्दकथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी ।**
तेन सुदुष्करमेतत्स्तोत्रं देव्याः कृतं भक्त्या ।। १०४ ।। — **देवीशतक, आनन्दवर्धन**

३. महायमक, काञ्ची, आवली, निरन्तरावली, अप्रत्यभिज्ञा, जैसे यमक दर्शनीय हैं । —वहीं ।

४- इसका चित्रात्मकरूप लेखक के **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार' शीर्षक शोध-प्रबन्ध में द्रष्टव्य है ।**

किया गया है। यमक अलङ्कार का प्रयोग विशेष रूप से हुआ।

४- ईश्वर-शतक — अवतार कवि (सन् १६२२ ई०)

काश्मीरवासी अवतार कवि का यह शतक शिवजी की स्तुति के साथ ही शब्दालङ्कारों के— **'पुनरुक्तवदाभास, यमक (विभिन्न प्रकार के), महादेवबन्ध, गोमूत्रिका, काञ्ची, वज्र, अर्धभ्रम, त्रिशूल, सर्वतोभद्र, परशु, गदा, अष्टदलकमल, क्षुरिका, तूण, चक्र,(साङ्क), खड्ग, मुसल, सप्तान्यबन्धयुक्त महाचक्र, शर, डमरु, हल, नन्दिकावर्त, स्फुर (ढाल), कुसुमोच्चय, तुरगपद, गजपद, भद्रकावर्त, षोडशदलकमल, छत्र, चतुर्महादेव स्वस्तिक, एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, भाषाश्लेष, तवर्गबन्ध, गूढक्रिय और प्रतिलोमानुलोम** आदि-भेद-प्रभेदों से अलङ्कृत है। कवि की रचनाशक्ति प्रौढ होने के साथ ही नये-नये प्रकारों को जन्म देने में भी सफल हुई है। कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें एक से अधिक चित्रबन्ध समाविष्ट हैं। इस पर 'रत्नकण्ठ' ने टीका लिखी है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

रसासार सारसार सारसार रसारसा।
रसारसा सारसार सारसार रसारसा॥ ७१॥

इस पद में बारह प्रकार के बन्ध एवं वैचित्र्य का टीकाकार ने उल्लेख किया है।

५- सारस्वत-शतक — श्रीश्रीजीवन्याय तीर्थ (वर्तमानकाल)

भट्टपल्ली (चौबीस परगना-बंगाल) निवासी श्री श्रीजीवन्यायतीर्थ की यह रचना देवी की स्तुति में लिखित ११२ पद्यों में पूर्ण हुई है। इसमें विविध छन्दों में बनाए हुए पद्यों से विविध प्रकार के चित्रबन्धों की रचना की है। कवि की भाषा प्राञ्जल तथा भाववाहिनी होने के साथ ही रस-पूर्ण है। अनेक नाटक एवं अन्य प्रकार की संस्कृत-रचनाओं से परिमार्जित लेखनी द्वारा प्रसूत यह शतक बहुत अच्छा बन पड़ा है। इसमें निर्मित चित्रबन्धों में कवि ने नवरात्रि में की जाने वाली पूजा के क्रम को ध्यान में रखकर उसी क्रम से चित्रबन्धों की रचना की है। जिनमें—**स्वस्तिक, मुरज, शंख, घण्टा, पताका, घट, आसन, वृक्ष, लता, वीणा, पुस्तक, हंस, मयूर, कुम्भ, अक्षमाला, कङ्कण, माल्य, हार, काञ्ची, विषमाक्षर तथा समाक्षर गोमूत्रिका, वृक्ष, चतुर्दल-अष्टदल-द्वादशदल-षोडशदल पद्म, महापद्म, लता, पद्ममाला, पद्ममालिका, मठ, रथ, विमान, धेनु, गज, अश्व, नौका, छत्र, सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम, विविडितचक्र, षडरचक्र, मुण्ड, खड्ग, छाग, खड्ग, महिष, धनुर्बाण, मुद्गर, तूण, पाश, त्रिशूल, गदा, फणि, सर्प, अङ्कुश, शङ्ख और मुरज** रूप पैंसठ बन्धों की योजना है।

अन्य पद्यों में यमक और श्लेष अलङ्कारों का भी प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण पद्य इस प्रकार हैं—

सुकल्पने हृद्भवने सवासने कुशासने ग्रन्थिघनेऽष्टबन्धने।
सुखागतं ह्यतनो सदास्तु ते कृतोऽप्यनुग्रश्रि ! सुदिष्टतो हि नः॥ २२॥

यह 'आसन-बन्ध' का पद्य है। इसमें बन्धनाम भी ग्रथित है तथा वासना और वासन-

वस्त्र जैसे अर्थों से श्लेषालङ्कार का प्रयोग भी किया है। इसी प्रकार—

मायासारा ज्ञानालोका सामाराका भायादेका ।। ३६ ।।

इस 'कन्या' छन्द के पद्य से 'कङ्कण-बन्ध' की रचना हुई है। और **इसी पद्य के विपरीत पाठ, द्वितीयाक्षर, तृतीयाक्षरादि से पद्यारम्भ करके त्यक्तवर्णों का अन्त में योग करने से अन्य सात पद्य भी बनाये हैं।**

यहां विभिन्न बन्धों के लिये भिन्न छन्दों का प्रयोग किया है तथा ग्रन्थकार ने स्वयं एक टीका भी इस शतक पर बनाई है।

अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ लहरीकाव्य[1]

शतक-काव्यों के अनुसार ही आचार्य-कवियों ने '**लहरी-काव्य**' लिखने की परम्परा भी प्रारम्भ की। जिसक शुभारम्भ आद्य शङ्कराचार्य से ही माना जाता है। इस काव्य-परम्परा में भी अनेक रचनाएं क्रमशः निर्मित हुई है, जिनका कुछ परिचय इस प्रकार है—

सौन्दर्य-लहरी — शङ्कराचार्य (प्रथम शती ईसवी से पूर्व)

आद्य शङ्कराचार्य द्वारा उद्‌भावित इस स्तुतिकाव्य में १०० पद्य हैं, अतः इसे शतक-काव्य भी कहा जा सकता है। आचार्य की रचनाएं शब्दालङ्कार से परिपूर्ण बनी हैं। भाषा का माधुर्य अपूर्व रसधारा बहाता है। इसमें भगवती त्रिपुरसुन्दरी की स्तुति की गई हैं। सभी पदों में प्राय अनुप्रास का निर्वाह है जो कहीं तो सामान्य ही है और कहीं विशिष्ट। यथा—

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता,
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः,
पुरस्तादास्तां नः परमथितुराहो पुरुषिका ।। ७ ।।

यहां वर्णावृत्ति चमत्कारपूर्ण है। जब कि —

शरज्ज्योत्स्नाशुद्धां शशियुतजटाजूटमकुटां,
वरत्रासत्राणस्फटिकघटिकापुस्तककराम्।
सकृन्न त्वा नत्वा कथमिव सतां संनिदधते,
मधुक्षीरद्राक्षामधुरिमधुरीणाः फणितयः ।। १५ ।।

इस पद्य में वर्णावृत्ति के अतिरिक्त नत्वा नत्वा और मधु मधु पदों से यमकालङ्कार भी प्रस्फुट होता है। इतना ही नहीं यहां पूर्वार्ध ओर उत्तरार्ध की पंक्तियों में पहली और तीसरी तथा दूसरी और चौथी पंक्ति में प्रयुक्त अनुप्रासों का समान प्रयोग भी है। अनेक पद्यों में यमक प्रयोग भी हुआ है। यथा — **निषण्णां षण्णां** (२१) **भवेत् पूजा पूजा** (२५), **सपर्या-**

१- यहां 'एक शब्दालङ्कार-गर्भता' का कोई उदाहरण नहीं मिलता है अतः इसी रूप में परिचय दिया जा रहा है।

पर्यायः (२७), **कृपाधाराधारा** (४९) इत्यादि पद्यांश ।

इस ग्रन्थ पर प्रायः चालीस टीकाएं हैं जिनमें मन्त्रशास्त्र, द्व्यर्थी और यन्त्र, मन्त्र, योग आदि विषयों से सम्बद्ध प्रमुख हैं। प्रत्येक पद्य में गुप्त मन्त्र और यन्त्र-सम्बन्धी निर्देश इसमें सर्वातिशायी हैं।

उत्तरकाल के आचार्यों ने इस रचना से प्रेरित होकर अनेक लहरी-काव्यों की रचनाएं की हैं।[1] इनमें से यहां एक-दो लहरियों का परिचय देना अनुपयुक्त नहीं होगा।

गङ्गा लहरी — पण्डितराज जगन्नाथ (सन् १५९०-१६६५ ई०)

इस लहरी-स्तोत्र के पीछे पण्डितराज के जीवन की घटना संवलित है। यदि वह सत्य न भी हो तो भी यह रचना भक्ति-भाव से ओत-प्रोत है। इसमें शिखरणी छन्द में निर्मित ५२ पद्य हैं। कवि ने अपनी स्वभावसिद्ध पद्धति में ही यह रचना की है, अतः भावकुतूहल के साथ ही अनुप्रास की व्यापकता पद-पद पर अनायास अङ्कित हो गई है। **''जगन्नाथ-स्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः''** जैसी स्वाभाविक उक्ति में भी सकार का अनुप्रास झलक उठा है। ऐसी ही इनकी अन्य चार लहरियाँ —**१- सुधालहरी, २- अमृतलहरी, ३- लक्ष्मीलहरी** और **४- करुणालहरी** हैं।

कतिपय अन्य लहरी नामक स्तुतिकाव्य

श्रीशङ्कराचार्यजी की सौन्दर्य-लहरी से प्रेरित होकर संस्कृत स्तोत्रकारों ने अनेक लहरी-नामक स्तुतिकाव्यों की रचनाएं की हैं, जिनमें कुछ के नाम अकारादि क्रम से इस प्रकार हैं —

लहरी का नाम	कर्ता	विशेष
१- अभेदलहरी	श्रीशङ्कराचार्य	शिखरिणी छन्दमयी, २८ पद्य
२- आत्माभेदलहरी	"	वेदान्तपरक
३- आनन्दलहरी	"	देवीस्तुतिरूप
४- "	नारायणेन्दु सरस्वती	"
५- "	एक जनार्दन	वेदान्तपरक
६- "	लक्ष्मण विद्यालङ्कार	रामस्तुतिरूप
७- आर्यालहरी	रामनाथ तर्कराम	स्तुतिमयी
८- आह्लादलहरी	जानी महापात्रपुत्र जयदेव	आत्मानन्द परक
९- गणेशलहरी	श्रीशङ्कराचार्य	गणेशस्तुतिमयी
१०- गोदालहरी	श्री अच्युतराय	गोदावरी नदी स्तुति

१. सौन्दर्य-लहरी तथा आनन्द-लहरी के पद्यों के चरणों की पूर्तिरूप कुछ स्तुतियां भी जैन मुनियों ने बनाई हैं। द्र० **संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भा० ३ — श्रीकापड़िया

११- जगन्नाथलहरी	एशियाटिक सोसायटी	बंगाल ग्रन्थसूची, काव्य भाग -७
१२- जीवन्मुक्तानन्दलहरी	श्रीशङ्कराचार्य	वेदान्तमयी
१३- नर्मदालहरी	"	नर्मदास्तुतिरूप
१४- मीरालहरी	पण्डिता क्षमा राव	भक्तिमती मीराचरित्रमयी
१५- यमुनालहरी	पण्डितराज जगन्नाथ	यमुना स्तुति
१३- "	ग्वाल कवि	"
१७- रामसौन्दर्यलहरी	महाकवि सार्वभौम	रामस्तुतिरूप
१८. रेवापीयूषलहरी	श्री अच्युतराय	नर्मदास्तुति
१९. लीला-लहरी	श्रीविद्याधरशास्त्री	भगवल्लीलावर्णन
२०. वाणी-लहरी	श्रीहरिशास्त्री दाधीच	वाणीस्तुति
२१. विश्वेश्वर-लहरी	खण्डराज दीक्षित	विश्वेश्वरस्तुति
२२. शङ्करानन्दलहरी	स्वामि-दीक्षित	(निरोष्ठ्यचम्पू)
२३- शिवानन्दलहरी	श्रीशङ्कराचार्य	अध्यात्मज्ञानमयी
२४- सौन्दर्य-लहरी	मूक कवि	देवीस्तुतिरूप
२५- स्तवार्थामृत-लहरी	वैष्णव कवि	स्तोत्र-संग्रहरूप

इसी परम्परा में हमने भी तीन लहरी काव्यों की रचना की है। इनमें एक है **'गायत्र लहरी'** दूसरी **'बदरीश-लहरी'** और तीसरी है **भैरव-लहरी**[1]। इनका परिचय इस प्रकार है।

१- गायत्री-लहरी — रुद्रदेव त्रिपाठी (वर्तमानकाल)

इस लहरी-काव्यरूप गायत्री-स्तुति में १०९ पद्य निर्मित हैं। इसमें अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों के साथ ही १४ चित्रवन्ध के पद्य भी दिये हैं। एक पद्य उदाहरणार्थ इस प्रकार है—

वारं वारं वरं यां धृतिकृतिमतिकाः श्रीभरा भव्यभक्ताः,
सेवन्ते वन्द्यवर्या नवनवनवनैर्ललिसा-लक्ष्य-लब्ध्यै ।
शान्तां दान्तां स्तुतां तां गतिमतिततिदां साधुमाधुर्यधुर्यां,
गायत्रीं यज्ञयन्त्रीं स्तुहि महितहितां स्वान्त ! कान्त स्वतन्त्राम् ॥ १०७ ॥

यह द्वादशपुष्पात्मक माला-वन्ध है। अन्य वन्ध भी नवीन दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। अनुप्रास तथा यमकालङ्कार के प्रयोग भी यहां प्रायः हुए हैं।

२- बदरीश-लहरी — रुद्रदेव त्रिपाठी (वर्तमानकाल)

इस लहरी-काव्य में हिमालय की चोटी पर विराजमान भगवान् बदरीनाथ की स्तुति की गई है और वहां जाने के मार्ग का वर्णन, प्राकृतिक दृश्य तथा यात्रियों की श्रद्धाभक्ति का भी उल्लेख किया गया है। शिखरिणी छन्द में १०८ पद्य निर्मित हैं। यह अभी अप्रकाशित है।[2]

१-भैरवलहरी का परिचय अन्यत्र दिया गया हैं।

२-इस लहरी का कुछ अंश संस्कृत मासिक-पत्र **"मालव-मयूरः"** में मुद्रित है।

३- एक शब्दालङ्कारगर्भ (अवान्तर नामाश्रित) स्तोत्र

इस प्रकरण में उन स्तोत्रों का विवेचन किया जा रहा है कि जो सहस्रक और शतक न होकर केवल स्तोत्र अथवा सङ्ख्याश्रित (अष्टक, षोडशी, द्वात्रिंशिका आदि) नामों से सम्बोधित हैं। हमने इन्हें **'अवान्तर नामाश्रित-स्तोत्र'** की संज्ञा दी है।

ऐसे स्तोत्रों की सङ्ख्या विपुल है तथा एक ही आचार्य ने एकाधिक स्तोत्रों की भी रचना की हैं। अतः कालक्रम से ही इनका उल्लेख करना उचित माना है। साथ ही जिन स्तोत्रों से शब्दालङ्कार के किसी भेद-विशेष का ज्ञान हो तथा कुछ नावीन्य प्रतीत हो ऐसे ही स्तोत्र यहां चुनकर दिये जा रहे हैं। यहाँ पहले 'एकशब्दालङ्कार गर्भ स्तोत्र' तथा बाद में 'अनेक शब्दालङ्कार गर्भ स्तोत्र' इस प्रकार का क्रम पूर्वस्वीकृत पद्धति के अनुसार ही है।

१-२-६- आर्याष्टक, पञ्झटिका स्तोत्र, अम्बाष्टक — आदि शङ्कराचार्य

आदि शङ्कराचार्य के स्तोत्रों में शब्दालङ्कारों का प्रयोग सदा अपने अनूठे रूपों में हुआ है। आपके द्वारा प्रणीत स्तोत्रों में **आर्याष्टक** और **पञ्झटिका स्तोत्र** मुख्य हैं। इसमें—

आलीढीकृतकाली कृतदृढनायिका शातपत्राली।
काकालीकृतकरताली सिद्धिकराली सदा पातु ॥ ३ ॥
रुधिरोदधिकृतवासां भैरवहासां वितीर्णजनताशाम्।
उन्मूलितभवपाशां मेचकभासां नमामि सुविलासाम् ॥ ४ ॥

तथा आर्याष्टक

जय जय जननि त्वद्गुणमननिस्मरणान्नश्यतु बत मम जननिः।
अथ चेत्प्रभवति कुरु तद्वर्नानि कुर्वेऽहं ते नुतिशततननिम् ॥ १ ॥

पञ्जटिकास्तोत्र

जैसे पद्य हैं जो अनुप्रास की धारा को निरन्तर प्रवाहित करते हैं। 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं' शीर्षक आपका मोहमुद्गर स्तोत्र तो प्रसिद्ध ही है।

हम देख चके हैं कि दाक्षिणात्य कवि भाषागत लालित्य के साथ-साथ शब्दगत अलङ्कारों के प्रयोग अपनी रचनाओं में पूर्णरूप से करते रहे हैं। आचार्य शङ्कर भी उसी परम्परा के कवि रहे हैं अतः उनकी रचनाएं स्तोत्ररूप होते हुए भी परम मनोहर बनी हुई हैं। 'अम्बाष्टक' की रचना अश्वधाटी छन्द में हुई है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में तीन-तीन अनुप्रासों का प्रयोग होता है। चारों चरणों में मिलाकर बारह स्थानों पर अनुप्रास आने से इसे **'द्वादशानुप्रास'** भी कहा जाता है। अथवा **'त्रिप्रास'** के नाम से अभिहित करते है। इस स्तोत्र के आठों पद्यों में क्रमशः —

'चेटीभवन्निखिलखेटीकदाबतरुवाटीषु नाकिपटली,
कोटीरचारुतरकोटीमणीकिरणकोटीकरम्बितपदा।
पाटीरगन्धकुचशाटीकवित्वपरिपाटीमगाधिपसुता ॥

घोटीकुलादधिकधाटीमुदारमुखवीटीरसेन तनुताम् ॥ १ ॥

जैसे प्रत्येक चरण में द्वितीय,नवम और सोलहवे वर्ण की आवृत्ति की गई है। यही आवृत्ति प्रतिपद्य के चारों चरणों में समान होने से मधुर बन गई है। शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे अनुप्रास के लक्षण कही नहीं आये है अतः यह एक नवीन दाय ही है। कवि की रचना-पद्धति में प्रौढता के बिना ऐसी प्रक्रिया का निर्वाह बहुत कठिन होता है। यहां सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकारों के शब्दों का प्रयोग है।

४- कृष्णकर्णामृत — लीलाशुक (सोलहवीं शती)

लीलाशुक का यह स्तोत्र चैतन्य महाप्रभु का परमप्रिय स्तोत्र रहा है। लीलाशुक ने अपना परिचय प्रस्तुत स्तोत्रकाव्य में इस प्रकार दिया है —

ईशानदेवचरणाभरणेन नीली दामोदर-स्थिरयशःस्तबकोद्गमेन।
लीलाशुकेन रचितं तव देव कृष्णा-कर्णामृतं वहतु कल्पशतान्तरेऽपि॥

इसके अनुसार इनके पिता दामोदर तथा गुरु ईशानदेव थे। इनकी रचना अत्यन्त मधुर तथा अनुप्रास, यमकादि अलङ्कारों से परिपूर्ण है। यथा—

मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः,
कारं कारं करणविवशं गोकुलव्याकुलत्वम्।
श्यामं कामं युवजनमत्तेमोहनं मोहनाङ्गं,
चित्ते नित्यं निवसतु महो वल्लवीवल्लभं नः॥

प्रस्तुत कृति के अतिरिक्त भी इनकी 'वृन्दावनस्तुति' आदि अन्य कृतियाँ है।

६- मूकाम्बिकास्तोत्र — कुट्टमत्तु कुंजम्बु कुरुप्प (सन् १८४५-१९११ ई०)

केरलवासी कुरुप्प का यह स्तोत्र शब्दालङ्कार से पूर्ण है। कवि ने भगवती मूकाम्बा को प्रसन्न करके उनकी कृपा से ही विद्या प्राप्त की थी। अतः इस स्तोत्र में उनकी गाढभक्ति भी अभिव्यक्त होती है। एक पद्य उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है —

धीमच्चित्ताब्जवाटीविहरणवरटीभावभागाम्बराटी,
कोटी-कोटीरकोटीमणिघृणिपरिवीप्ताङ्घ्रिरास्नायवाटी।
पाटीरप्रौढगन्धोज्ज्वलितकुचतटीलम्बितानर्थशाटी—
कोटीभूताश्रितायां धृतविधुमकुटी पातु धातुर्वधूटी॥

वैसे कवि शङ्कराचार्य के 'अम्बाष्टक' गत अश्वधाटी के पद्यों से पूर्ण प्रभावित है और यथासम्भव उसी के पदों को यहाँ नियोजित भी किया है। कवि की अन्य रचनाओं में कुछ रूपक और कथाएं भी प्रसिद्ध हैं।

४- श्रीकृष्णकेश-पादादिवर्णनस्तोत्र — राजराजवर्म तम्बुरान (सन्१८५३ ई०)

चेन्नंगूर (केरल) के एन्नक्याट कोट्टारम् नगरवासी प्रस्तुत कवि ने यह स्तोत्र

स्रग्धराछन्द में निर्मित किया है। इसकी भाषा प्रौढ एवं शब्दालङ्कार से परिपूर्ण है। यथा—

सोत्कण्ठं सिन्धुकन्यामृदुलतरकराम्भोजसंवाहिताभ्यां,
संसारापारवारावुरपतितनिरालम्बनालम्बनाभ्याम् ।
भूयानस्तु प्रणामो मम भुवनपतेः प्राग् बलिध्वंसलीला—
द्यावाभूम्यन्तरालद्रुतपरिमितिजङ्घालजङ्घालताभ्याम् ॥

स्तुति-चतुर्विशतिकाएं (यमक-गर्भ)

जैन-साहित्य में स्तुतिकाव्यों के प्रकारों में **'चतुर्विंशतिका'** भी काव्य का एक स्वतन्त्र प्रकार है। वैसे तो स्तुति के अनेक प्रकार है किन्तु उनकी अपेक्षा इसमें कुछ विशिष्टता है और वह है — **'चार-चार श्लोकों वाली चौबीस स्तुतियां'**। ये चार-चार पद्योंवाली स्तुतियाँ जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों को उद्दिष्ट करके निर्मित होती हैं तथापि चारों पद्यों में केवल तीर्थंकरों की ही स्तुति नहीं होती है, अपितु इनके लिये एक नियम निर्धारित है। तदर्थ **'देववन्दन भाष्य'** में कहा गया है कि —

अहिगयजिन पढम थुई, बीआ सव्वाण तइअ नाणरस ।
वेयावच्चगराणं, उवओगत्थं चउत्थ थुई ॥

इसके अनुसार प्रथम पद्य में मुख्य तीर्थंकर, द्वितीय में अन्य तीर्थङ्कर, तृतीय में श्रुतज्ञान तथा चतुर्थ में तीर्थङ्करों के वैयावृत्यकर देव-देवी अथवा अभीष्ट विद्यादेवी आदि की स्तुति होती है। ऐसी स्तुतियों की रचनाएं अनेक हुई हैं किन्तु उनमें भी केवल यमकालङ्कार को महत्त्व देकर बनाई गई चतुर्विंशतिकाएं भी बहुत प्राप्त हैं जिनका यत्किञ्चित् परिचय इस प्रकार है —

१- चतुर्विशतिका — बप्पभट्टि सूरि (सन् ८१८ ०ई)

अनेक स्तुति-काव्यादि के रचयिता श्री बप्पभट्टि की यह रचना यमकपूर्ण चतुर्विंशतिकाओं में सर्वप्रथम है। इसमें ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक के चौबीस तीर्थङ्करों की चार-चार पद्यों में स्तुतियाँ हैं। इसमें प्रयुक्त यमकालङ्कार की योजना दो चरणों में अन्तिमाक्षर चतुष्टय की समानरूपता से हुई है। प्रायः बारह प्रकार के छन्द इसमें प्रयुक्त हैं। यथा —

नम्रेन्द्रमौलिगलितोत्तमपारिजात—
मालार्चितक्रम भवन्तमपारिजात। इत्यादि।

कवि की अन्य रचना में **"सिद्धसारस्वत-स्तव"** है, जिसके १३ पद्यो में मन्त्रशास्त्र के तत्त्वों को गर्भित किया है।[1]

---

१. यह स्तोत्र हमारे द्वारा सम्पादित **'साहित्य-शिक्षा-मञ्जरी'** के परिशिष्ट १ में सटीक मुद्रित है तथा यह स्याद्वादामृत-प्रकाशन-मन्दिर-न्यास (ट्रस्ट) **पालीताणा** से प्राप्य है।

२- जिनस्तवन-चतुर्विंशतिका — हेमविजय गणि (सन् १५६७ ई०)

इस चतुर्विंशतिका में गणि जी ने कृति के कुछ पद्यों के द्वितीय और चतुर्थ चरण में समानता लाकर यमक के **'द्वितीय-चतुर्थचरणसम'** नामक भेद की पूर्ति की है। साथ ही इसमें प्रदत्त प्रत्येक चार पद्यात्मक स्तुति के अन्त में वर्णयोजना इस पद्धति से की है कि उनसे १-१ षोडशदलवाला कमलबन्ध भी बनता जाता है। इस प्रकार इससे **२४ कमलबन्धों की रचना** भी होती है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रत्येक कमल-बन्ध के आद्याक्षररूप सोलह चरणों से एक-एक अक्षर ग्रहण करने पर एक-एक गुरु का नाम सङ्कलित होता है। यथा—

पयोजपाणिं वृषभं वृषाङ्कं, रमातनूजन्मभिदा वृषाङ्कम्।
महोदयश्रीरजनीमृगाङ्कं, गुरुं स्तुवे कीर्तिनिरस्तराकम्॥ १॥
रुचिं दधानं परमामिताकं, श्रीमङ्गलैस्तं समुपैति साकम्।
हीलाप्रहीणं श्रितपुण्यपाकं, ररक्ष यस्त्वां हृदि बुद्धिलोकम्॥ २॥
विद्यानवद्या तमुपैत्यशोकं, जलेशयश्रीजितशाल्यशोकम्।
यस्त्वां स्मरेत् पीडितकामघूकं, सूरप्रभं हर्षितसाधुकोकम्॥ ६॥
रिपुव्रजाक्रान्तमसुं वराकं, पुन्नाग-पुन्नागनुतिव्वमूकम्।
गर्भारसंसारजलैकभेकं, वाग्वर्य-नाभेय पुनीह्यशोकम्॥ ४॥

यहाँ इन पद्यों के चरणों का अन्तिमाक्षर 'क' कर्णिकाक्षर है तथा शेष चरण १३ पत्रों में अवतरणक्रम से लिखे जाते हैं। पत्र के शिखरगत अक्षरों के चयन से **'परमगुरु हीरविजयसूरिपुङ्गवाः'** यह पद निकलता हैं। अतः यह **'नामाङ्कसकर्णिक षोडशदलकमलबन्ध'** का उदाहरण है।

इसी कवि की अन्य रचना चतुर्विंशति-जिनस्तुतयः' का भी उल्लेख मिलता है जो यमकमय है। उसका प्रथम पद्य मालिनी छन्दोमय इस प्रकार है —

दिश सुखमखिलं नः सीरसाधारणस्त्वं,
वृषभरतरसायामीश मानं दधानः।
सुरनरनिकरेण स्तूयते यः सदोद्यद्—
वृषभरतरसायामीशमानन्दधानः ॥ १॥

३- स्तुति-चतुर्विंशतिका— शोभनमुनि (सन् १००८ ई०)

प्रस्तुत कवि 'तिलकमञ्जरी' के लेखक धनपाल का संसारी भाई था। आपने बप्पभट्टि सूरि के समान ही चतुर्विंशतिका की रचना की है। इसमें विशेष रूप से—**लाटानुप्रास, समचरणयमक, आद्यान्तिमचरणसमयमक, समविषमोभयचरणसम यमक** तथा **महायमक**, के प्रयोग भी हुए हैं जो पूर्वापेक्षा नवीन हैं।

४- ऐन्द्रस्तुति चतुर्विंशतिका — यशोविजय उपाध्याय (सन् १६७३ ई०)

श्रीयशोविजयजी महाराज ने इस चतुर्विंशतिका में पूर्वस्वीकृत पद्धति के अनुसार ही

चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की है। इसमें विविध छन्दों का प्रयोग करते हुए यमकालङ्कार का पूर्णरूप से प्रयोग किया है जिसमें द्वितीय-चतुर्थचरणयमक, शृङ्खला-यमक आदि के प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। यथा—

ऐन्द्रव्रातनतो यथार्थवचनः प्रध्वस्तदोषो जगत्,
सद्योगीतमहोदयः शमवतां राज्याधिकाराजितः।
आद्यस्तीर्थकृतां करोत्विह गुणश्रेणीर्दधन्नाभिसूः,
सद्योगीतमहोदयः शमवतां राज्याधिका राजितः ॥१॥

पांचवीं स्तुति में शब्दावृत्ति यमक का प्रयोग भी दर्शनीय है —

नम नमदमरसदमरससुमतिं सुमतिं सदसदरमुदारमुदा।
जनिताजनितापदपदविभवं विभवं नर नरकान्तं कान्तम् ॥ १ ॥

यहाँ चौबीसवीं स्तुति में 'अर्णवदण्डक' छन्द का भी प्रयोग हुआ है जिसमें द्वितीय, तृतीय और सप्तम-अष्टम पंक्तियों में समता लाकर यमक का उपयोग हुआ है।

५- चतुर्विंशतिजिनानन्दस्तुति — पं० मेरुविजय (१७वीं शती

यहां भी पूर्ववत् १-तीर्थङ्कर, २- समस्त जिन, ३- सिद्धान्तनिरूपण और ४-शासन-देवी प्रार्थना आदि हैं। सभी स्तुतियाँ वसन्तलिका में निर्मित हैं। सभी पद्यों में यमक प्रयोग है। यथा —

आनन्दमन्दिरमुपैमि तमृद्धिविश्वनाभेयदेवमहितं सकलाभवन्तम्।
लब्ध्वा जयन्ति यतयो भवयोधमादौ नाभेयदेवमहितं सकलाभवन्तम् ॥

इसी प्रकार अन्य चतुर्विंशतिकाएं भी निर्मित हैं।

स्तम्भनक पार्श्वनाथ स्तुति (यमकमय) — जयसागर उपाध्याय (सन् १४२६ ई०)

यह स्तुति अनेकविध शब्दालङ्कारपूर्ण स्तुतियों के रचयिता जयसागर उपाध्याय ने बनाई है। इसमें पाँच पद्य हैं जिनमें यमक का प्रयोग हुआ है। यथा—

योगात्मनामप्यपरं परं परं, भिन्दानमेनः सकलं कलं कलम्।
वामेयभाहुः सदयादयादया, मुदे स मे दभ्र महामहामहा ॥ १ ॥

अपनी रचना के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि—

दिष्ट्या स्तम्भनकेशपार्श्वभगवन्नानागुणग्रामणी —
रेषा श्रीजयसागरेण रचिता स्वल्पाक्षराऽपि स्तुतिः।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रविदुषा यायादुपादेयतां,
सौवर्णाभरणं सुरत्नखचितं यद्वा न कस्य प्रियम् ॥ ५ ॥

शङ्खेश्वरपार्श्वस्तवन ७ पद्यात्मक महायमकपूर्ण भी इन्हीं के द्वारा रचित है।

एकाक्षरी, द्व्यक्षरी, मन्त्रगर्भ एवं वर्णपरिहारादि चित्रस्तोत्र

वर्धमान स्वामिस्तव — मुनि सुन्दर सूरि (सन् १४१५ के निकट रचनाकाल)

मुनि सुन्दर सूरि सहस्रावधानी का यह स्तव एकाक्षरी और द्व्यक्षरी १० पद्यों में निर्मित है। साथ ही स्तोत्र को समझाने के लिए स्वोपज्ञ टीका भी निर्मित है। उदाहरण-स्वरूप दो पद्य दर्शनीय हैं —

रैरिरीरोरुरारीरे—रेरा रारी राराऽरा।
रा ररं रारे रुरुरु —र ररोरा ररीररा ॥ २ ॥

यह एकाक्षर पद्यात्मक स्तव है।

ययीममायामयमाययौ यया याय्यामयायामयमा ययेयः।
योयूययायाम ममेयमाय—यामोमयाया मम मामयामः ॥ ८ ॥

यह दो अक्षरों से निर्मित पद्य है।

मातृकाक्षर-काव्य — लक्ष्मीकल्लोल मुनि (सन् १५३३ ई०)

यह स्तुति 'क' से आरम्भ करके 'ह' तक के तैंतीस अक्षरों को एक साथ लिख कर उनसे पदच्छेद आदि इस प्रकार किये गये हैं कि जिनसे स्तुतिरूप अर्थ निकल आता है। इस पर अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

मातृकाक्षरपद्यरूप स्तुति — मनरूपविजय (अज्ञात)

यह भी एक पदात्मक स्तुति है। इसका पद है—

काखगोघङचच्छौ जो झाञटाठाडढाणतु।
थादधानिपफाबाभा मायाराजवशंषसः ॥

चिन्तामणिपार्श्वनाथ स्तव (पञ्चवर्ग-परिहारमय) — जयसागरगणि
(सन् १४२६ ई०)

यह स्तोत्र ५ पद्यों में निर्मित है। इसमें क-च-ट-त-प इन पांचों वर्गों के अक्षरों को छोड़ कर केवल य-र-ल-व-श-ष-स-ह —वर्णों से ही रचना की गई है। स्तुतिकार ने स्वयं कहा है—

अभिमत-फललाभकरं चिन्तामणि-पार्श्वनाथ-तीर्थकरम्।
यरलवशषसहवर्णैं किञ्चिदहं वर्णयिष्यामि ॥ २ ॥

और यह रचना इस प्रकार की है —

यः स्वैरिवैरिविलयायसहः सहस्वी स्वीयस्ववंशवहलांवरशर्वरीशः।
शश्वल्ललौ वशविहार-रसीहशीलं, श्रेयो रहस्यसरसीरुहसूर एव ॥ ३ ॥

पञ्चवर्गपरिहारमय पार्श्वस्तोत्र— खरतरगच्छीय जयसागरोपाध्याय
(पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्ध)

चिन्तामणि पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखा गया ३ पद्यों का यह स्तोत्र **'कचटतप'** रूप

पाँचों वर्गों के अक्षरों को छोड़ कर केवल '**यरलवशषसह**' इन अक्षरों से बना है। यह भी शब्दालङ्कार का एक प्रकार है। स्वयं कवि ने पूर्वोक्त पद्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि—

अभिमतफललाभकरं चिन्तामणिपार्श्वनाथ-तीर्थकरम्
यरलवशषसह-वर्णैः किञ्चिदहं वर्णयिष्यामि ।।

और इसी प्रतिज्ञा-मूलक आद्य पद्य के पश्चात् '**श्रीवल्लिवाम-सुरसालरसालवालः**' इत्यादि पद्यों से स्तुति की गई है। ऐसी रचना में एक ओर तो अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों का ही नियमित प्रयोग होने से चित्रालङ्कारता आती है और दूसरी ओर छेकानुप्रास एवं वृत्यनुप्रास का भी निर्वाह हो जाता हैं। प्रस्तुत स्तोत्र के कई चरणों में '**सुरसालरसाल**' जैसे पदों के प्रयोग से यमकालङ्कार का निर्वाह भी वैशिष्ट्य प्रस्तुत करता है।

मातृकाश्लोकमाला चतुर्विंशतिजिनस्तुति — वाचक श्रीवल्लभ (सन् १४३० ई०)

ज्ञानविमल उपाध्याय के शिष्य वाचक वल्लभ ने दो परिच्छेदों के २७-२७ पद्यों में इस जिनस्तुति की रचना की है। इसमें मातृका के प्रत्येक अक्षर को प्रतिपद्य के चारों चरणों के आदिमाक्षर के रूप में व्यवहृत कर इष्टस्तुति की गई है। यथा—

थं देहि सद्यो लसदुत्पलानां, थट्टैः कलानां कलितो दिनेशात्।
थे चोदयस्योदिततः सुकान्ते, थो रोहिणीनायक चन्द्रमस्त्वम् ।। ८ ।।

प्रस्तुत कवि ने इसी प्रकार की शब्दालङ्कार पूर्ण अन्य स्तुतियाँ भी लिखी हैं।

युष्मदस्मद् अष्टादश-स्तवी — सोमसुन्दर सूरि (सन् १४३२ ई०)

प्रस्तुत अठारह स्तोत्रों की रचना में युष्मद् और अस्मद् शब्दों के रूपों को आवर्जित करते हुए जैनतीर्थङ्करों की स्तुतियाँ की गई हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

१- युष्मद्-बहुव्रीह्येकवचनमय-श्रीपार्श्वस्तव,
२- युष्मत्पद-बहुव्रीह्येकवचनमय-श्री अजितशान्ति स्तव,
३- युष्मत्पद-वहुवचनान्तपदैकवचनगर्भ-साधारणजिनस्तव।
४- युष्मदेकवचनबहुव्रीहिद्विवचन-प्रयोगसुभग-श्रीऋषभस्तव,
५- युष्मद्-शब्द-बहुव्रीहि-द्विवचनगर्भ श्रीपार्श्वसुपार्श्वस्तव,
६- युष्मद्-शब्द-बहुवचन-बहुव्रीहिद्विवचनप्रयोगमयसाधारणजिनस्तव,
७- युष्मद्शब्दैकवचनान्यपदबहुत्वगर्भ-श्रीनेमिस्तव,
८- यूष्मद्शब्द-द्विवचनबहुव्रीहिबहुवचनप्रयोगगर्भ सीमन्धर-युगन्धर-स्तव,
९- युष्मद्शब्दबहुव्रीहि-वचनगर्भ-सर्वजिनस्तव।

इस प्रकार के नौ स्तवों से 'युष्मद्' शब्द के प्रयोगों को गर्भित करके एक भाग की पूर्ति की गई है, जबकि—

१०- अस्मद्-बहुव्रीहयेकवचनप्रयोगगर्भ स्तव,
११- अस्मद्-शब्द-द्विवचनगर्भ-वहुब्रीह्येकवचनमय-साधारण-जिनस्तव,

१३- अस्मद्-शब्द-बहुवचन-बहुव्रीहयेकवचन-प्रयोगमय-वीरस्तव,

१३- अस्मद्-शब्दैकवचनबहुव्रीहिद्विवचन-प्रयोगचारु-श्रीऋषभस्तव,

१४- अस्मद्शब्द-बहुव्रीहि-द्विवचनगर्भ-श्रीऋषभवीरस्तव,

१५- अस्मद्शब्द-बहुवचन-बहुव्रीहि-द्विवचनगर्भ-लोकान्तिक-विज्ञप्ति-रूपसाधारण-जिनस्तव,

१६- अस्मद्शब्दैकवचनबहुव्रीहिवचनगर्भ-शाश्वतजिनस्तव,

१७- अस्मद्शब्दद्विवचन-बहुव्रीहिबहुवचनमय-सूर्येन्दुस्तुतिरूप-श्रीवीरस्तव,

१८- अस्मद्शब्दबहुव्रीहि-बहुवचनमयसुरासुरविज्ञप्तिरूप-स्तव, ।

इन नौ स्तवों में 'अस्मद्' शब्द से बननेवाले रूपों को आवर्जित किया गया है । इनमें प्रत्येक शब्द के ६३ रूपों का प्रयोग हुआ है । इस रचना का उद्देश्य 'सामान्य बुद्धिवाले मुनियों की व्युत्पत्तिसिद्धि' बतलाया है ।[1]

शब्दालङ्कार के 'गूढ-चित्र' प्रभेद में इसका समवेश होता है क्योंकि यहां कवि ने स्तुति के साथ ही प्रस्तुत शब्दों के रूपों को भी गर्भित किया है ।[2]

यूयं युवां त्वं-स्तुति —धर्मघोषसूरि (१४-१५वीं शती)

युष्मद् शब्द के ही उपर्युक्त पदों को मूलरूप में रखकर धर्मघोष सूरि ने इस स्तुति की रचना की है । इसमें श्लेषालङ्कार के सहयोग से भिन्न-भिन्न अर्थ भी किये हैं ।

वीतरागस्तव —विवेकसागर (सोलहवीं शती)

इस स्तव में 'हरि' शब्द की योजनावाले दस पद्य हैं तथा श्लेषद्वारा हरिशब्द के **तीस अर्थ** किये हैं ।

महावीरजिनस्तव — गुणविजय (अज्ञात)

इस स्तव के प्रारम्भिक तीन पद्यों में '**सारङ्ग**' शब्द के स्तव रूप अर्थ गर्भित करके स्तुति हुई है । कुल १५ पद्यों में यह स्तव निर्मित है ।

साधारणजिनस्तव — लक्ष्मीकल्लोल (सोलहवीं शती)

इस स्तव में '**पराग**' शब्द को गर्भित रखकर २८ पद्यों की रचना की गई है । इसमें **परागशब्द के १०८ अर्थ** गर्भित हैं ।

---

१. '**युष्मच्छब्दत्रिषष्टिरूपरचनाङ्किता क्षुल्लादिबुद्धिव्युत्पत्तये**' इत्यादि पुष्पिका द्रष्टव्य है —जैनस्तोत्रसंग्रह (भा० १, पृ० १-१६)

२. इन स्तवों पर लेखक के शिष्य सोमदेवगणि ने सन् १४४० ई० में '**अवचूर्णि**' की रचना की है ।

त्रिसन्धान-स्तोत्र— -रत्नशेखरसूरि (पन्द्रहवीं शती)

प्रस्तुत स्तोत्र में पांच पद्य हैं। रचनाकार ने **ऋषभ, नेमि और पार्श्वनाथ** की **एक साथ** स्तुति की है। इसी कवि का **'नवखण्ड-पार्श्वस्तव'** भी श्लेषगर्भ है ।

समस्यापूर्तिरूप स्तोत्र

पुष्पदन्त रचित शिवमहिम्नः स्तोत्र की समस्यापूर्तियां

१- समस्या-महिम्नः स्तोत्र— ऋषिवर्धन सूरि

पुष्पदन्त रचित इस **'शिवमहिम्नः स्तोत्र'** के प्रत्येक पद्य के आद्य चरण की पूर्ति के रूप में रचित यह ३३ पद्यों का स्तोत्र अञ्चलगच्छ के जयकीर्ति सूरि के शिष्य ऋषि-वर्धन सूरि ने बनाया है। इसमें कवि ने ऋषभदेव की महिमा का वर्णन किया है। इन्ही ने अन्य ग्रन्थ **'नलदमयन्तीरास'** तथा **'जिनेन्द्राशयपञ्चाशिका' की भी रचनाएं की हैं।**

२- शान्तिजिन महिम्नः स्तोत्र — सिद्धान्त सार (सन् १५१३ ई०)

भट्टारक प्रभु इन्द्रनन्दि सूरि के शिष्य सिद्धान्तसार की यह रचना है। इसमें प्रस्तुत स्तोत्र के चतुर्थ चरणों की पूर्ति करते हुए शान्तिनाथ का चरित्र वर्णन किया है। प्रथम पद्य इस प्रकार है—

महिम्नस्ते भावी सुर-वरनराधीशविहित—
स्तुतीनां चेतस्सु प्रथितकुतुकानामपि सताम्।
समारम्भः शान्ते जिनवर ! मनोभूक्षयविधौ,
"ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः"॥ १॥

३- ऋषभमहिम्नः स्तोत्र — विशालराज (अज्ञात)

महिम्नः स्तोत्र के पद्यों के चतुर्थचरणों की पूर्ति के रूप में यह स्तोत्र ऋषभदेव की स्तुति में निर्मित है। इसमें ३३ पद शिखरिणी, २ मालिनी तथा एक एक हरिणी, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्द में हैं।

४- श्रीआदिजिनमहिम्नः स्तोत्र तथा ५- श्रीपार्श्वजिन-स्तोत्रः— की भी पाण्डुलिपियां क्रमशः (विजय कस्तूरसूरि जी वर्तमान आचार्य) के पास तथा भाण्डारकर प्राच्यग्रन्थागार पुस्तक-सूची में अंकित हैं।

ऐसी समस्या-पूर्तियां काव्य के एक प्रधान भेद चित्रालङ्कार तथा अन्य शब्दालङ्कारों का प्रासङ्गिक पूर्ति के द्वारा अपना और आश्रित रचना दोनों का महत्त्व बढ़ाती हैं।

वेदपादान्तस्तोत्ररूप समस्यापूर्तियां

वेदमन्त्रों के किसी एक चरण को समस्या के रूप में ग्रहण करके उनकी पूर्ति द्वारा स्तव का निर्माण भी अनेक आचार्यों ने किया है इन स्तोत्रों में अन्य आलङ्कारिक विशेषताओं

के साथ ही समस्यापूर्ति भी हुई है। ऐसे पांच स्तोत्रों का परिचय इस प्रकार है —

१- **वेदपादान्त-शिवस्तुति**	आद्य शङ्कराचार्य
२- **वेदपादान्त-देवीस्तुति**	" "
३- **वेदपादान्त-दत्तस्तोत्र**	स्वामी वासुदेवानन्दसरस्वती
४- **वेदपाद-रामायण-स्तोत्र**	भगवद् रामानुज
५- **गणपतेर्वेदपादस्तवः**	साम्ब दीक्षित (दामोदर-उपाध्याय)

इनमें अन्तिमस्तव का एक पद इस प्रकार है—

त्वमेवैको वन्दनेनैव तुष्टो, भियं लोके नाकिनामप्यपाराम्।
हृत्वा तेभ्यो दीननृभ्यो ददासि, 'श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्' ॥[1]

यहां श्रीसूक्त के एक पद की पूर्ति की गई है।

कल्याण-मन्दिर स्तोत्र की पादपूर्तियां (सत्रहवीं शती ईसवी से)

नाम	कर्ता	पद्य	पूर्ति	समय
१- **कल्याणमन्दिरस्तोत्र**	लक्ष्मीसेन	४४	चतुर्थचरण	सन् १६६३ ई०
२- **विजयक्षमासूरिलेख**	अज्ञात	३८	"	सन् १७२१ ई०
३- **जैनधर्मवरस्तोत्र**	भावप्रभसूरि	४५	"	सन् १७३४ ई०
४- **पार्श्वजिनस्तवन**	अज्ञात	४५	"	—

५- **पार्श्वनाथस्तोत्र** लींबडी (गुजरात) के भण्डार के सूचीपत्र पृ० ६४ क्र० १६१३में सूचित

६- **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** (पादपूर्ति)—कान्तिविजयगणि, भण्डार, भावनगर में रक्षित

७- " " प्रेमजी मुनि (कान्तिविजयजी के भण्डार में प्राप्त

८- **वीरस्तुति**—केवल प्रथम पद्य चार चरणों की पूर्ति

९- **वीर-जिनस्तुति**—चार पद्यात्मक पूर्ववत्।

१०- **विजयानन्दसूरीश्वरस्तवन**—चतुरविजयमुनि ४६ पद्य चतुर्थचरण १६२५

११- **पूज्यगुणादर्श-काव्य**—मुनिघासीलाल जी ४५ " वर्तमान

१२- **कल्याणपादपूर्त्यात्मकस्तोत्र**—पं० गिरिधरशर्मा नवरत्न ४५, द्वितीयचरण वर्तमान

१३- **कालु-कल्याणमन्दिर स्तोत्र**—मुनि नथमल ४५ चतुर्थचरण "

१४- " " " " " "

१५- " " " " " "

१६- " " धनराजस्वामी " " "

१७- " " आचार्य तुलसी " " "

१—(संस्कृत रत्नाकर—दिल्ली, अप्रैल, १९६६ ई०)

इस प्रकार की समस्या-पूर्तियों में नवीनता लाने के लिये मुनि लाभविजय-प्रभ सूरि पर लिखित 'विज्ञप्तिलेख' के ९७ से १०० पद्यों में—**स्नातस्यास्तुति के प्रथमपद्य का प्रथमचरण, ज्ञानपञ्चमी स्तुति के द्वितीयपद्य का द्वितीयचरण, कल्याणमन्दिर स्तोत्र के प्रथम पद्य का तृतीयचरण** और **भक्तामरस्तोत्र के तृतीय पद्य का चौथा चरण लेकर चार पद्यों की रचना की है।** समस्या पूर्ति के क्षेत्र में ऐसे विभिन्न प्रयोग शब्दालङ्कार के प्रकारों की वृद्धि में पूर्ण सहायक हुए हैं।

भक्तामर-स्तोत्र की समस्यापूर्तियां (१७वीं शती से)

मानतुङ्गसूरि द्वारा प्रणीत एवं **'भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणां'** से आरम्भ होनेवाले ४४ पदों के स्तोत्र का जैनसम्प्रदाय में पर्याप्त आदर है और यह अपनी मन्त्रतन्त्रात्मकता के कारण सिद्ध भी माना जाता है। इसीलिये अग्रिम काल के कवियों ने इस स्तोत्र के पाद और पादांश को लेकर बहुत से 'समस्यापूर्तिमूलक स्तोत्र' बनाये हैं, जिनकी नामावली इस प्रकार है—

नाम	कर्ता	पद	पूर्ति	समय
१- **ऋषभभक्तामर**	**समयसुन्दर**	४८	चतुर्थचरण	सन् १६२३ ई०
२- **दादापार्श्वभक्ताभर**	राजसुन्दर मुनि	४८	प्रथमचरण	सन् १६२८ ई०
३- **पार्श्वभक्तामर**	विनयलाभगणि	४५	चतुर्थचरण	अज्ञात
४- **नेमिभक्तामर**[1]	रत्नसिंहसूरि	४९	"	सन् १६७७ ई०
५- **वीरभक्तामर**	धर्मवर्धनगणि	४५	"	सन् १६८३ ई०
६- **ऋषभचैत्यवन्दन**	ज्ञानविमलसूरि	—	"	सन् १६९४ ई०
७- **नेमिभक्तामर**	भावप्रभसूरि	४४	"	सन् १७२७ ई०
८- **सरस्वतीभक्तामर**	धर्मसिंह सूरि	४४	"	अज्ञात
९- **शान्तिभक्तामर**	लक्ष्मीविमल	४५	"	सन् १७३३ ई०
१०- **जिनभक्तामर**	अज्ञातकर्तृक	—	"	अज्ञात
११- **ऋषभजिनस्तुति**	"	४४	" (अपूर्ण)	"
१२- **नवकल्लोल-पार्श्वभक्तामर**	"	—	"	"
१३- **चन्द्रामलक-भक्तामर**	जयसागरसूरि	—	"	बीसवीं शती ?
१४- **पादपूर्त्यात्मक स्तोत्र**	विवेकचन्द्र	—	"	अज्ञात
१५- **आत्म-भक्तामर**	हीरालाल हंसराज	—	"	बीसवीं शती
१६- **सूरीन्द्र-भक्तामर**	चतुरविजय	४५	"	"
१७- **वल्लभभक्तामर**	विचक्षणविजय	४४	"	"
१८- **कालू-भक्तामर**	कानमलस्वामी	४६	द्वितीयचरण	सन् १९२८

---

१ इस स्तोत्र का आरम्भ 'प्राणप्रिय' पद से होता है, अतः इसे **प्राणप्रिय काव्य** भी कहते हैं।

१९- **कालूभक्तामर**	सोहनलालस्वामी ४६	चतुर्थ, चरण	बीसवीं शती
२०- **हरिभक्तामर**	कवीन्द्रसागर —	"	"
२१- **भक्तामरशतद्वयी**	लालारामशास्त्री —	"	"
२२- **भक्तमारपादपूर्त्यात्मकस्तोत्र**	गिरिधरशर्मा नवरत्न १९२	सर्वचरण	"
२३- **नेमिगुरुभक्तामर**	धर्मधुरन्धर सूरि —	चतुर्थचरण	"
२४- **नेमिवीर-भक्तामर**	बाबूरामजैन द्व्याश्रय, —	"	"
२५ **भक्तामरस्तोत्रपादपूर्ति**	काव्यमाला गुच्छ १ में प्रकाशित		
२६-**कर्तव्य-षट्त्रिंशिका**	आचार्य तुलसी	कतिपयांशपूर्ति	वर्तमान
२७- **लघुभक्तामर**	६ पद्य —		—
२८- **आदिनाथ स्तुति**	प्राचीन आचार्य प्रथम पद्य के चार चरणों की पूर्ति ।		

इस स्तोत्र पर प्रायः २५ टीकाएं रचित हैं तथा इससे सम्बन्धित कथा, उद्यापन, पूजा आदि का साहित्य भी पर्याप्त प्राप्त होता है।[1]

इस पद्धति से और भी अनेक स्तोत्रों की समस्यापूर्तियां हुई हैं जो चित्रालङ्कार के **'समस्याचित्र'** नामक भेद की पूर्ति करती हैं।

चित्रबन्धात्मक स्तुतियां

सर्वजिनस्तवन (चतुर्विंशतिदल कमल बन्धमय) — धर्मघोष सूरि (सन् १२३८ ई०)

प्रस्तुत स्तोत्र द्वारा कवि ने चौबीस दल वाले कमलबन्ध की योजना की है। इसमें ८ पद्य शार्दूलविक्रीडित छन्द में हैं। अन्तिम पद्य पुष्पिका रूप है तथा अन्य सात पद्यों से कमल की रचना हुई है। पहला पद्य परिधिरूप है तथा छह पत्रों के प्रत्येक चरण के तीन-तीन खण्ड एक-एक में रहते हैं। चरण में पांच-पांच और छह अक्षरों के बाद के अक्षर तीन बार आवृत होते हैं जो चौबीस लघुकर्णिकाओं में निविष्ट हैं। इसका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

नम्राखण्डलमौलिमण्डलमिलन्मन्दारमालोन्छलत्—
सान्द्रामन्दमरन्दपूरसुरभीभूतक्रमाम्भोरुहान् ।
श्रीनाभि प्रभवप्रभुप्रभृतिकांस्तीर्थकरान् शङ्करान्,
स्तोष्ये साम्प्रतकाललवजननान् भक्त्या चतुर्विंशतिम् ॥

जिनप्रभ सूरि के स्तोत्र काव्य (सन् १३०८ ई०)

श्वेताम्बर जैन-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य जिनप्रभ ने शब्दालङ्कार से पूर्ण अनेक स्तुतियों की रचनाएं की है। इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि **'ये प्रतिदिन एक नवीन स्तुति का**

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए— "भक्तामरस्तोत्र की विविधपक्षीय दिव्यता लेख। लेखक-डा० रुद्रदेवत्रिपाठी, मुनिद्वयअभिनन्दन ग्रन्थ, व्यावर, १९७३ ई०।

निर्माण करके ही आहार ग्रहण करते थे। इनकी सात सौ स्तुतियां थीं, जिनमें से अब कुछ ही उपलब्ध होती हैं, जिनमें शब्दालङ्काररूप स्तोत्रों की परिचयात्मक सूची इस प्रकार है—

नाम	आरम्भ-पदांश	आकार	विशेषता
१-पार्श्वजिनस्तवन	'श्रीपार्श्व०	९ पद्य	पादान्तयमकमय
२-अजितजिनस्तोत्र	विश्वेश्वरं०	२१ "	महायमकमय
३-चन्द्रप्रभजिनस्तुति	देवैर्यस्तुष्टुवे०	४ "	समचरणयमकमय
४-सुव्रतजिनस्तोत्र	निर्माय निर्माय०	—	त्र्यक्षरयमकमय
५-नेमिजिनजिरापल्लीस्तोत्र	जीरिकापुरपति०	१५ "	"
६-नेमिजिनप्रातिहार्यस्तव	त्वां विनुत्य०	१० "	समचरणयमकमय
७-चतुर्विंशति-जिनस्तोत्र	ऋषभदेव भवन्तं०	—	त्र्यक्षरयमकमय
८- " "	ऋषभनम्रसुरा०	२९ पद्य	"
९- " "	ऋषभतीर्थमनाथ०	२९ "	"
१०- ' "	कनककान्तिधनुः०	२९ "	चतुर्थचरण में त्र्यक्षरावृत्ति०
११- " "	तत्त्वानि तत्त्वानि	२८ "	अखण्ड यमकमय
१२-शारदास्तोत्र	वाग्देवते भक्तिमतां०	१३ "	चरणसम-यमकमय
१३-जिनसिंहसूरिस्तोत्र	प्रभुः प्रदद्या०	१३ "	" "
१४-श्रीऋषभजिनस्तोत्र	अस्तु श्रीनाभिदेवो०	११ "	श्लेषमयदशक्दिपालस्तुतिगर्भित
१५-चतुर्विंशतिजिनस्तुति	पात्वादिदेव०	२९ "	श्लेषमय
१६- " "	यं सततमक्षमालो०	३० "	"
१७-ऋषभजिनस्तोत्र	अल्लालाहि०	११ "	पारसीकभाषामय,
१८- "	निरवधिरुचिर०	४० "	अष्टभाषामय
१९-नेमिजिनस्तोत्र	श्रीहीरकुल०	२० "	क्रियागुप्तमय
२०- "	दोसावहादर	१० "	नवग्रहनामगर्भ प्राकृत०
२१-वीरजिनस्तोत्र	कंसारिक्रमनिर्यदा०	२५ "	छन्दोनाममय
२२- "	चित्रैः स्तोष्ये०	२७ "	विविधचित्रबन्धमय
२३- "	निस्तीर्य विस्तीर्ण०	१७ "	लक्षणप्रयोगमय
२४- "	स्वश्रेयससरसी०	२६ "	पञ्चवर्गपरिहारमय
२५- "	ॐ नमस्त्रिजगतां०	९ "	महामन्त्रगर्भ

ऐसे कुछ स्तोत्र काव्यमाला गुच्छ ७, प्रकरण-रत्नाकर भाग २ और ४, जैन स्तोत्र-संग्रह तथा स्तवनसंग्रह में छपे हैं।[1]

इनमें वीरस्तव का अपरनाम **'चित्रस्तव'** भी है। इसमें सूरिजी ने **कमल (अष्टदल तथा षोडशदल) खड्ग, चक्र (षडर), चामर, त्रिशूल, धनुष, पद, बीजूपर, मुरज, मुशल, शक्ति, शर, हल तथा हार आदि बन्ध तथा कुछ लोमविलोम पद्य** दिए हैं। इनकी भाषा प्राञ्जल है। उदाहरणार्थ यथा—

श्रीमद्धामसमग्रविग्रह मया चित्रस्तवेनामुना,
नूतस्त्वं पुरुहूतपूजित विभो सद्यः प्रसद्यैधि माम्।
ख्यात-ज्ञात-कुलावतंस सकलत्रैलोक्यक्लृप्तान्तर—
स्फारक्रूरतरज्वरस्मरतरत्संरब्धरक्षारत ॥२७॥

यह **'चामरबन्ध'** का पद्य है।

सहस्रावधानी मुनि सुन्दर सूरि के स्तोत्र (सन् १६४३ से १४५० ई०)

मुनि सुन्दरसूरि संस्कृत-साहित्य के देदीप्यमान कवि हैं। उन्होंने अवधान-कला एवं अन्यान्य विद्याओं की उपासना के आधार पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। स्तोत्र इनका प्रिय विषय रहा है। अतः शब्दालङ्कारगर्भित तथा विशेषतः चित्रवन्धात्मक अनेक स्तोत्र संगृहीत है।

सर्वजिनसाधारणस्तवन (६४ दलकमलबन्धमय) — श्रीधर्मशेखर (सन् १४४३ ई०)

पण्डितवर धर्मशेखर का यह स्तवन २१ पद्यों से निर्मित है। इसमें कवि ने ६४ दल-वाले 'कमल-वन्ध' की योजना की है। अन्तिम पद्य परिधिरूप है। एक पद्य उदाहरण के लिये द्रष्टव्य है —

जीयास्त्वं देव भद्र प्रवर कुटजगच्चन्द्र देवेन्द्रवन्द्य-
श्रीविद्यानन्ददान-प्रवरगुणनिधे धर्मघोषप्रवीण।
मुक्तासोमप्रभाली-धवल-गुरुयशोनाथ निःशेष-विश्वं,
स्फारस्फूर्जत्प्रभावः शमदमपरमानन्दयाशु प्रकामम् ॥७॥

अष्टमङ्गलचित्रस्तव — उदयमाणिक्य (सन् १४५५ ई०)

दस पद्यों में निर्मित यह स्तोत्र जैनधर्म में अष्टमङ्गल के नाम से **'वन्दे रुचा तर्जितचारु-कान्ति'** इत्यादि स्तुति-पद्यों द्वारा-**१-दर्पण, २-भद्रासन, ३-शरावसम्पुट, ४-मत्स्ययुगल, ५-कलश, ६-गुरुनामगर्भ स्वस्तिक,**[2] **७-श्रीवत्स** तथा **८-चामर** के आकारों के चित्रवन्धों से वना है। इसके कारण ये आकार-चित्रमूलक शब्दालङ्कार के भेदों के उदाहरण वन गये हैं। इस प्रकार के

१. श्री हीरालाल रसिकदास कापडिया ने **'संस्कृतसाहित्यनो इतिहास'** भाग ३ में अन्य २६ स्तुतियों के नाम तथा **'जैनस्तोत्र-सन्दोह'** भाग १ की भूमिका में भी कुछ स्तुतियों के नाम दिये हैं।

२. इनके गुरु का नाम **रत्नसिंह** दिया है।

चित्रकाव्यों के आकार प्रस्तुत कवि के द्वारा प्रथम ही निर्मित हुए हैं। इन आकृतियों में पद्य के समावेश के लिए लक्षणों का निर्देश नहीं है। ९ पद्यों में चन्द्रप्रभस्वामी के गुणों का वर्णन करते हुए प्रणाम, प्रार्थना आदि किये गये हैं, जबकि अन्तिम पद्य पुष्पिकारूप है। उदाहरण के लिए एक पद्य इस प्रकार है—

चन्द्रातपप्रायसुकीर्तिरामं, चन्द्राननं सारगुणाभिरामम् ।
यः स्तौति चन्द्रप्रभमस्तसारं, यमी स आप्नोति भवाब्धिपारम् ॥३॥

इससे **'शरावसम्पुटबन्ध'** का निर्माण होता है।

वर्तमान-जिनस्तव (आतपत्रबन्धमय) श्रीधर्मसुन्दर (सिद्धसूरि) (सन् १४८० ई०)

कनकसूरि के शिष्य धर्मसुन्दर की यह कृति साधारणतः उपलब्ध आतपत्र (छत्र) बन्धवाली अन्य बन्धाकृतियों की अपेक्षा नवीन है। इसमें १५ पद्य हैं। इसे महाछत्र कहा जा सकता है। इसका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

श्रीवर्द्धमानं ह्यभिनौम्यमानममानदेवैः परिणूयमानम् ।
अहं महं तं सुगुणैरनन्तं, पवित्रछत्राकृतिकाव्यबन्धात् ॥१॥[1]

कमलबन्धस्तव (गुरु एवं कविनामगर्भ) — उदयधर्म (पन्द्रहवीं शती ईसवी)

इस कृति का पूरा नाम **'महावीरजिनस्तवन'** भी है। इसमें अठारह पद्य हैं जिनमें अन्तिम पुष्पिकारूप है। शेष पद्यों से **'बत्तीस दलवाला कमल-बन्ध' निर्मित होता है। स्तव का आरम्भ**—

'सन्मत्त्रिदशवन्द्यपदं श्रीवर्द्धमानममलं विजितारम् ।
संस्तवीमि भवसागरपारं प्राप्तुमिच्छुरुरुसद्गुणरत्नम् ॥१॥

से हुआ है। इस कमल की रचना में दो चरणों से एक पत्र बनता है। सोलह पद्यों से कमल पूर्ण हो जाने पर सत्रहवां पद्य गुरुनाम तथा कविनाम से अङ्कित कर कमल की परिधि के रूप में लिखा है। अन्तिम पद्य इस प्रकार है —

श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रनन्दन जिन श्रीवीरनीरुक्तनो,
स्तुत्वा त्वां नयनाग्निसम्मितदलाम्भोजन्मबन्धस्तवात् ।
नेहे चक्रिपदं न वासवपदं नास्तापदं सम्पदं,
किन्तु त्वत्पदपङ्कजयोनियमले भृङ्गायतां मे मनः ॥१८॥

यह स्तोत्र हमने अपने लेख—**'महावीर-चित्रकाव्यार्चना'** में मुद्रित किया है।[2]

चतुर्हारावली-चित्रस्तव — जयतिलकसूरि (पन्द्रहवीं शती)

प्रस्तुत कृति चार हारावलियों में विभक्त है और प्रत्येक में चौदह-चौदह पद्य हैं।

१-२. द्रष्टव्य — महावीर परिनिर्वाणस्मृतिग्रन्थ, श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली प्रकाशन। डा० रु० त्रिपाठी द्वारा शुद्धरूप में प्रस्तुत।

अन्तिम पद्य चारों हारावलियों के समान है। प्रथम हारावली में ऋषभादि २४ जिन, द्वितीय में २४ अतीत जिन, तृतीय में २४ अनागत जिन तथा चतुर्थ में २० विहरमाण और ४ शाश्वत जिनों की स्तुति है। प्रत्येक चार-चार पद्यों के आद्य और अन्त्याक्षरों के ग्रहण से इनके नाम उद्धृत होते हैं। इन्हीं से हारबन्धों की योजना होती है। तेरहवाँ पद्य (प्रत्येक हारावली का) अन्य बन्धों की भी सृष्टि करता है जिससे २४ दल **पद्म, स्वस्तिक, वज्र** और **बन्धूक-बन्ध** बनते हैं। एक पद्य इस प्रकार है—

श्री-नाभिसूनो जिनसार्वभौ -'म वृ-षध्वज त्वन्नतये ममे-हा।
षड्जीवरक्षापर देहि दे-वी, भ-र्त्रञ्चति स्वं पदमाशुवी-र ।।१।।

इस पद्य के पूर्वभाग से **श्रीवृषभ** और पश्चिम भाग से **महावीर** नाम निकलते हैं।

पार्श्वजिनेश्वरस्तुति (शतदलकमलबन्धमय) — सहजकीर्तिगणि (सन् १५४२ ई०)

यह स्तोत्र २६ पद्यों से निर्मित है जिनमें २५ पद्य मूल स्तुतिपद्य हैं तथा एक पद्य उसकी पुष्पिका के रूप में है। वहीं कहा गया है कि —

इत्थं पार्श्वजिनेश्वरो भुवनदिक्कुम्भ्यङ्गचन्द्रात्मके,
वर्षे वाचकरत्नसारकृपया राकादिने कार्तिके।
मासे लोद्रपुरस्थितः शतदलोपेतेन पद्मेन सन्,
नूतोऽयं सहजादिकीर्तिगणिना कल्याणमालाप्रदः ।।२६।।

यह विविध छन्दों में निर्मित है तथा चरणगत अन्त्याक्षर 'मं' को कर्णिकाक्षर (समानरूप) बनाकर प्रत्येक दल में एक-एक चरण लिखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पत्र के आद्य चरण से एक-एक अक्षर लेकर तीन पद्यों का उद्धार किया जाता है जिनसे भी पार्श्वनाथ स्तुति होती है। शेष चार अक्षर अधिक रहते हैं। यह स्तोत्र लोधपुर गुजरात में एक प्रस्तर पर उत्कीर्ण है। स्तुति का प्रारम्भिक पद्य इस प्रकार है—

श्रीनिवासं सुरश्रेण्यसेव्यक्रमं, वामकामाग्निनीरोपमम्।
माधवेशादि-देवाधिकोपक्रमं, तत्त्वसंज्ञानविज्ञानभव्याश्रमम् ।।१।।

यहां कर्णिकाक्षरगत वर्ण सानुस्वार, सविसर्ग, केवलवर्ण आदि रूप में भी ग्राह्य हुआ है जो चित्रकाव्यत्व के कारण दोष नहीं माना गया है। इस स्तुति में कुछ अंश अस्पष्ट और त्रुटित भी था जिसे हमने सुधार दिया है। देखें—संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार।"

समयसुन्दरगणि के स्तोत्र (सन् १५९४-१६४३ ई०)

ऋषभ-भक्तामर आदि के रचयिता श्री समयसुन्दरगणि ने भी अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ स्तोत्र लिखे हैं। अनेक स्तोत्र शुद्ध चित्रबन्धात्मक भी है। 'समयसुन्दर कृति कुसुमाञ्जलि' में श्री अगरचन्द नाहटाजी ने इनका प्रकाशन किया है। उदाहरणार्थ कुछ नाम इस प्रकार हैं।—**१-वीतरागस्तव-विविधछन्दोमय, २-आदिनाथस्तोत्र-भङ्गश्लेषमय, ३-महावीर-स्वामि-**

स्तवन-यमकमय, ४-पार्श्वनाथसमस्यास्तव, ५-समस्यास्तव, ६-पार्श्वनाथस्तवन-शृङ्खलामय, ७-पार्श्वनाथस्तवन-यमकमय, ८-पार्श्वनाथहारबन्ध-स्तोत्र, ९-पार्श्वाष्टक-गुजराती-संस्कृतमिश्र, १०-पार्श्वनाथस्तवन-अन्तर्यमकमय, ११-अमीझरापार्श्वनाथस्तुति-कुमार-सम्भव, मेघदूत, शिशुपालवध; मितभाषिणी, सप्तपदार्थी तथा वृत्तरत्नाकर के आद्य पद्यों की पूर्तिरूप, १२-पार्श्वस्तवन श्लेषमय, १३-चिन्तामणि-पार्श्वनाथस्तवन-श्लेषमय १४-शङ्खेश्वर पार्श्वनाथ-स्तवन-अनुप्रासगर्भ, १५-पार्श्वनाथस्तोत्र-यमकमय, १६-सीमन्धरस्वामिस्तवन-अनुप्रासगर्भ आदि ।

शान्तिजिनस्तुति (महास्वस्तिकबन्धमयी) (अज्ञात १६वीं शती)

इस स्तुति से निर्मित महास्वस्तिक की आकृति ही प्राप्त है। चित्र रचना १७वीं शती की है। इसका पूर्ण अंश करके हमने लेख **"चित्रबन्ध साहित्ये स्वस्तिक बन्धः"** में कियाहै ।

अरनाथजिनस्तव (सहस्रदलकमलबन्धमय) — श्रीवल्लभगणि (सन् १६१३ ई०)

खरतरगच्छ के ज्ञानविमलगणि के शिष्य वाचक श्रीवल्लभगणि का यह स्तव जैनों के १८वें तीर्थंकर अरनाथ की स्तुति में रचित है। इसमें ५५ पद्य हैं तथा प्रत्येक पद्य में वर्ण-योजना इस पद्धति से की गई है कि दो अक्षरों के बाद तीसरा अक्षर **'र'** ही आता है। इस प्रकार एक हजार बार **र** अक्षर का प्रयोग आश्चर्यजनक तो है ही, साथ ही इसके द्वारा एक **'सहस्रदल-कमलवन्ध'** की रचना भी हो जाती है। यह कमल-बन्धात्मक पद्य साहित्य की रच-नाओं में एक अपूर्व एवं अभिनव प्रयोग है। इसका पहला पद्य इस प्रकार है—

असुरनिर्जरवन्धुरशेखरप्रचुरभव्यरजोभिरयं जिरम् ।
क्रमरजं शिरसा सरसं वरं जितरमेश्वरमेदुरशङ्करम् ।।

इस महान् प्रयास की सिद्धि के लिए कवि ने एकाक्षरी-कोष का भी उपयोग किया है जबकि अधिकांश शब्दों का चयन प्रचलित शब्द संग्रहों से हुआ है। लेखक ने इस पर एक स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी है। हमने इसके खण्डितांश को पूर्ण करके लक्षण-पद्य सहित अपने शोध-प्रबन्ध में मुद्रित किया है।

पार्श्वनाथस्तवन (विविधबन्धमय) — जिनभद्रसूरि (सन् १६३३ ई०)

यह स्तवन १९ पद्यों से निर्मित है । इसमें कवि ने पार्श्वनाथ की स्तुति से युक्त विविध चित्रबन्ध बनाये हैं । इसका सूचन करते हुए पहले पद्य में स्वयं कवि ने कहा है कि —

चक्रेण ध्वज-चामरे सुरुचिरे छत्रोत्पले दीपिका-
मुद्रामासनदर्पणौ च दधता श्रीवत्सशङ्खावपि ।
घण्टाहारलतां विमानमनघं सत्तोरणं स्वस्तिकं,
प्रेङ्खन्त्वं कलशं सुरेन्द्र सहितं श्रीपार्श्वनाथं स्तुवे ।।१।।

इसमें निर्दिष्ट १८ बन्धों के पद्य इसमें हैं। एक बन्धात्मक पद्य द्रष्टव्य है—

सदासमसमापायहरामायवचस्तव ।
वरानराणां धीराणां स्तुत्यरावश्रये घनम् ॥७॥ (दीपिकाबन्ध)

महावीरस्तोत्र (नागपाशचित्रबन्धमय) श्रीइन्द्रसौभाग्यगणि (१७वीं शती)

यह स्तवन अभी अप्रकाशित है।

नौ पद्यों से निर्मित यह स्तोत्र 'नागपाश-चित्रबन्ध' की सृष्टि करता है। इसका प्रारम्भ पद्य इस प्रकार है—

श्रीमद्वीरजिनाधीशं शङ्करं जगदीश्वरम् ।
रम्यच्छविकनकाभं भजध्वं सुरपूजितम् ॥१॥

इसमें प्रतिचरण के अन्त्याक्षर का प्रतिचरण के आद्याक्षर के रूप में आवर्तन हुआ है। यह अजितसेन द्वारा प्रदर्शित नागपाश-चित्रबन्ध की अपेक्षा नवीन है। यह स्तोत्र हमने पूर्ण करके **'नागपाशचित्रबन्ध-विचार'** में प्रकाशित किया है।

वीरजिनस्तोत्र — सोमतिलक सूरि (सत्रहवीं शती)

'द्वात्रिंशद्दलकमलबन्धगर्भित' यह स्तोत्र १० पद्यों से निर्मित है। इसमें कवि ने ८ पद्यों में र अक्षर को कर्णिकारूप में रखकर प्रत्येक दल में ३-३ अक्षर रखे हैं। प्रारम्भ के पद्य में कवि का नाम भी गर्भित किया है। प्रथम पद्य इस प्रकार है —

श्रीमद्वीर स्तुवे धीर, सोहं वीर हतोऽप्यरम् ।
मह्यां त्वां रभसस्मेर, प्रतापपरवेदिक ॥१॥

देवीस्तोत्र (कामधेनुबन्धमय) — सदाशिव (सन् १७६० ई० रचनाकाल)

वाराणसी के **'सरस्वती-भवन-पुस्तकालय'** में ४११७० संख्या पर पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित यह स्तोत्र मन्दाक्रान्ता छन्द के १६ पद्यों से निर्मित है। इन पद्यों के प्रत्येक चरण के ४, ६, ४ और ३ अक्षरोंवाले खण्ड बनाकर उन्हें १६ × १६ = २५६ कोष्ठकों में क्रमश: लिखा जाता है। इन कोष्ठकों में लिखे हुए पदांशों को कहीं से भी आरम्भ करके पढ़ने पर श्लोक बनते चले जाते हैं। इसका आदि पद्य इस प्रकार है—

उद्यद्भासां प्रहसितमुखीं बालचन्द्रं दधानां,
भक्तौघानां प्रविततकरैर्दर्शयन्तीं सुसिद्धिम् ।
सिद्धैर्ध्येयां विमलमतिभिर्योगिगम्यां भवानीं,
वन्दे नित्यं सुरतरुतले विन्ध्यपृष्ठे निषण्णाम् ॥१॥

वस्तुत: यह पद्य छन्दो-विधान की सावधानी से ही यतस्ततः पढ़े जाने पर नवीन छन्दों को जन्म देता है। कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

विमथ्य शब्दवारिधिं विनिर्ममे सदाशिवः,
शिवागुणामृतक्षरास्वकामधेनुमक्षराम् ।

नगेन्द्रभूवसून्मिते सुवत्सरे तपस्यके,
विशुद्धपक्षसत्तिथाविमामलीलिखत् पुनः ।।
सदाशिवपुरीशिवासशिवराजधानीजनिः,
सदाशिवसमाख्यकः शिवपदार्चकः सन्ततम् ।
अनेकपदसुन्दरी-त्रिपुरसुन्दरीप्रीतये,
स धेनुमलिखत् स्वयं त्रिपुरसुन्दरीमाश्रितः ।।

पञ्चजिन हारबन्धस्तव —- श्रीकुलमण्डनसूरि (सन् १७९३ ई०)

कुलमण्डन सूरि का यह स्तोत्र २३ पद्यों से निर्मित है। इसमें ४ पद्य ऋषभ, ४ शान्ति, ५ नेमि, ४ पार्श्व तथा ४ महावीर से सम्बद्ध हैं। हारबन्ध की रचना गुजरात में प्रचलित पुष्पमाला के समान है, जिसमें कहीं पुष्प छोटे हैं तो कहीं बड़े। इनके कारण उनके दलों की संख्या भी विषम है। मध्य में एक स्वस्तिकाकारवाला चन्द्रक (लाकेट) है। इसके प्रारम्भ का पद्य निम्नलिखित है —

गरीयोगुणश्रेण्यरेणं प्रवीणं, परार्थे जगन्नाथ धर्मं धुरीणम् ।
धराधारमादिप्रभो रङ्गरम्यं, स्तुवे त्वां बुधध्येय धौतारिवारम् ।।१।।

अम्लानपङ्कजमालास्तोत्र — मोरोपन्त (अठारहवीं शती ईसवी)

महाराष्ट्रवासी पन्तसम्प्रदाय के प्रतिनिधि श्री मोरोपन्त मुख्यतः मराठी भाषा के महाकवि थे। किन्तु इन्होंने संस्कृत-काव्यों की रचना भी पर्याप्त की है। इनकी उपलब्ध श्लोक संख्या ४९१८ है। प्रस्तुत स्तोत्र में पांच पद्य हैं। दाता धाता विता त्वं० इत्यादि पद्य से आरब्ध इस स्तोत्र के द्वारा साठ पुष्पोंवाले हारबन्ध की रचना होती है। प्रत्येक पुष्प में मध्य कर्णिकाक्षर श्लिष्ट होता है जो प्रतिचरणगत २-४-६, ९-११-१३, तथा १८-२० संख्यावाले अक्षरों के रूप में है। शेष अक्षर पुष्प के चार-चार दलों में लिखे जाते हैं।

इस प्रक्रिया में एक-एक पद्य की रचनाएं प्रायः होती रही हैं, किन्तु पूरे स्तोत्र के रूप में इनकी यह रचना प्रथम ही है।[1]

महावीर-स्तुति (१६ दल कमलबन्धमय) —श्री भीमजी (१८वीं शती)

भीमजी नामक श्रावक रचित इस स्तुति में चार पद्य हैं तथा चारों पद्यों से 'षोडश-दल कमल-वन्ध' बनता है और उसी से—**श्रीमहिमप्रभसूरिविनेय-भीमजी-कृतम्'** यह अङ्कनात्मक निर्देश भी प्राप्त होता है। प्रथम पद्य इस प्रकार है —

श्रीमत्तरं नमाम्येनं महाशक्तिं सनातनम् ।
हितं जनाव निर्मानं मान्यं त्रिजगतां जिनम् ।।१।।

---

१. इसका सचित्र प्रकाशन हमने अपने शोधप्रबन्ध—**'संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार'** पृ० ३४७-४८ में किया है।

चतुर्विंशतिजिन स्तुति (अनेकचित्रबन्धमयी) अज्ञातकर्तृक

यह स्तुति किसी प्राचीन आचार्य द्वारा रचित है। इसमें—'ओङ्कार, ह्रीङ्कार, नकार, मःकार, शङ्ख, सुदर्शनचक्र, हार, गोमूत्रिका, दर्पण, सुसक, रवि, चन्द्र, वज्र, बीजूपूर, खड्ग, शर, धनुष्, छुरिका, हल, कमल, गदा, नागपाश, तूणीर, स्वस्तिक और त्रिशूल' आदि चित्र बन्धों के पद्य दिये हैं। एक-दो पद्य इस प्रकार हैं—

> मुक्तेः पदं विपदमानवदानधर्मं, मायाभिमानदजनप्रियलब्धशातम्।
> त्वं देहि विश्वततकान्तिविराजमानं, कासार-जन्ममुखयत्नकरोदयाय ॥ (ह्रींबन्ध)
> कलुषपङ्कखरांशनिभञ्जिनं, नमत पारगतं नलिनद्युतिम्।
> जनिमहीरुहमत्तगजोपमं, कजमुखं विमलं सदयं सदा ॥ (नमः-बन्ध)

यह स्तुति अप्रकाशित है तथा श्री पुण्यविजयजी महाराज के संग्रह से हमने प्रतिलिपि करके सम्पादित की है जो प्रकाश्य है।

गङ्गातरङ्गबन्ध-शिव स्तोत्र —शङ्कर कवि (अज्ञात)

'शिवस्तोत्र' के रूप में चित्रबन्ध का यह स्तोत्र 'सरस्वती भवन वाराणसी' से प्राप्त है।[1] इसकी रचना भी कामधेनु पद्धति से ही हुई है। यहां २, ४ और ६ अक्षरों के खण्डों को कोष्ठकों में लिखा गया है। कवि ने अपना परिचय इस रूप में दिया है—

> प्रोद्यच्छब्दपयोनिधिं स्वमनसा मन्थाचलेनाद्भुतं,
> निर्मथ्याशु विनिर्मिता शिवपुरी श्रीशङ्करेणादरात्।
> सैषा शङ्कर-शङ्करस्तुतिमिलच्छन्दोविशेषाद्भुता,
> सूते कामगवीव पद्यनिवहान् गङ्गातरङ्गानिव ॥

इससे स्पष्ट है कि यह पाठ-प्रक्रिया के आधार पर अन्य अनेक पद्यों को जन्म देता है। कामधेनु-बन्ध का ही यह अपर नाममूलक अन्य स्तोत्र है।

श्रीरामपादयुगलीस्तवः (चित्रकाव्यम्) — स्वामी श्रीलक्ष्मण शास्त्री (वर्तमानकाल)

श्री स्वामी जी द्वारा मधु-माधवी वृत्त में निबद्ध २४ पद्यों का यह स्तव विश्वामित्र महर्षिकृत '**श्री रामदुर्ग स्तोत्र**' के प्रत्येक अक्षर को अपने प्रतिपद्य के पादगत आद्यन्ताक्षरों में आवर्जित करता है। इस प्रकार आद्यन्त के वर्णों को पढ़ने से पूरा स्तोत्र निकल आता है। यह इसकी चित्रात्मकता है जो प्रहेलिका के भेद एवं गर्भ-प्रक्रिया में मान्य है। विशेषता यह है कि जो वर्ण पाद के आदि में है वही अन्त में भी आया है। यथा—

> श्री-दायिनो भवतु नः किल साम्बुज-श्री—
> रामस्य पादयुगली क्षपिताघपू---रा।

---

१. इसकी संख्या वहाँ ४५६९९ है। प्रवेश संख्या १११० है।

श्रीहरिद्वादशाक्षरी स्तोत्र (चित्रकाव्य) — स्वामी श्रीलक्ष्मण शास्त्री

प्रस्तुत स्तोत्र में अकार से हकार पर्यन्त वर्णों की बारहखड़ी का क्रमशः समावेश है। ङ, ञ और ण वर्णों को छोड़ कर अन्य वर्णों की द्वादशाक्षरी में सरलता है । उदाहरण के लिये —

अहो आत्मेष्टा सा इति विदित ईशो भुवनपा,
उदग्रौजा ऊरीकृतपुरुतपा एधितबलः ।
य ऐश्वर्यौका ओमितिपदसुधा और्वसमभा,
जना अंहो सा जः क्षिपतु बहुदूरं हि भवताम् ।। १ ।।

यहां अकार-स्वर की द्वादशाक्षरी प्रयुक्त है । इसी प्रकार 'ङ' वर्ण की द्वादशाक्षरी इस प्रकार नियोजित है—

यो नाघोण् ङयि ङावधो ङिति हरिः स्त्रीवल्लभो ङीब्यथा,
प्राङुब् बप्तिरुगात्मने पददौ ङूर्जस्विधातुर्यथा ।
ङेङैङो समसन्धिताक्षरवृतो ङौ कुल्यदीर्घस्वरो,
माङं प्राप्य तिङः प्रकृत्युपमया भूतार्थदस्तं भजे ।।

इस आर्षपुरुषार्थ का निदर्शन शब्दालङ्कार-साहित्य में अपने ढंग का वस्तुतः अनूठा है। यह प्रक्रिया समस्यापूर्ति के भेदों में एक भेद मानी जाएगी ।

श्रीमहामन्त्रराज स्तोत्र —स्वामी श्रीलक्ष्मण शास्त्री

प्रस्तुत स्तोत्र में प्रत्येक पद्य के उत्तरार्ध में—

'श्रीराम राम कृतरक्षण राम राम ।
श्रीराम राम शरणं भव राम राम' ।।

द्वारा नौ बार राम-नामों का समावेश है, जो स्तोत्रपाठक के रामनामस्मरण के लिये है । इसी प्रकार **'श्रीविष्णुस्तव द्वादशी'** आदि रचनाएं भी चित्रकाव्यात्मक हैं ।[1]

मन्त्रादिगर्भ-स्तुतियां

आगमिक दृष्टि से **'मन्त्रवर्णगर्भ, यन्त्र-रचना-विधान गर्भ, तन्त्र-प्रक्रिया-गर्भ, पारद-सुवर्ण-गुटिकादि-विधान गर्भ, आभाणक-गर्भ, भेषजप्रयोगगर्भ'** जैसी स्तुतियों का भी बहुत अधिक निर्माण हुआ है । उदाहरण के लिए — **मेधादक्षिणामूर्तिमन्त्रवर्णपदस्तुति 'ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मम स ....मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा'** इत्यादि मन्त्र के वर्णाक्षरों का प्रत्येक अर्धाली में संयोजन करते हुए १४ अनुष्टुप् पद्यों में स्तुति की गई है । **महागणपति—स्तोत्र के 'योगं योगविदां'** इत्यादि सोलह पद्यों में गणपतिमन्त्र — **ॐ गं गणपतये वर वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा'** की संयोजना

---

१. श्री स्वामी लक्ष्मण शास्त्री जी ने चित्रकाव्य-सम्बन्धी विशाल साहित्य का निर्माण किया है, जिसका प्रकाशन नागोर (राजस्थान) से हुआ है ।

है। गायत्रीमन्त्र से गर्भित स्तुतियां भी बहुत प्राप्त हैं। विश्वामित्ररचित **'गायत्रीस्तवराज'** में तो अनेक प्रकार के गायत्रीमन्त्रों को गर्भित करके स्तुति की गई है। ये भी चित्रालङ्कार के **'गूढ-चित्र'** नामक भेद के ही उदाहरण हैं। ऐसी स्तुतियाँ जैनाचार्यों द्वारा भी निर्मित हुई हैं तथा हो रही हैं। यह विद्या शब्दालङ्कार-साहित्य के अभिवर्द्धन में भी स्पृहणीय है, विस्तारमय से यहां सामान्य निर्देश मात्र किया गया है।

शब्दालङ्कार-पूर्ण कतिपय अन्य स्तुतियां

स्तुति-साहित्य में शब्दालङ्कार-पूर्ण स्तुतियों का निर्माण बहुत अधिक हुआ है। इसमें कई ऐसी महत्त्वपूर्ण स्तुतियाँ भी हैं जिनके कर्ताओं का परिचय और समयादि का परिचय प्राप्त नहीं है। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

१- श्रीहरगौरी स्तोत्र-द्व्याश्रय श्लेषमय

२- साधारण जिनस्तुति द्विव्यञ्जनमयी —देवविजयगणि

३- साधारणजिनस्तवन-केवलाक्षरमय —श्रीलब्धिसूरि

४- शङ्खेश्वरस्तोत्र-यमकमय

५- उदयवल्लभस्तुति-अनेक चित्रबन्धमयी

६- हीरविजयसूरिस्वाध्याय-अनेक चित्र-बन्धमय

७- श्रीपार्श्वनाथस्तव-कल्पवृक्षबन्धमय

८- वर्धमानजिनस्तव ३२ दल कमल-बन्धमय

९- पार्श्वनाथस्तवन ३२ दल कमलबन्धमय

१०- पार्श्वनाथ स्तोत्र चलच्छृङ्खलागर्भ

११- चित्रबन्धस्तोत्र—गुणभद्र

१२- चतुर्विंशति जिनस्तुति-मातृकाश्लोक-माला

१३- साधारणजिनस्तव-अनेक चित्रबन्धमय

१४- आदिनाथस्तवन-कामघटबन्धमय, सीमन्धरस्वामिस्तवन-चक्रबन्धमय, रत्नसुन्दरगणि

१५- कविनामगर्भस्तुतयः — लब्धिसूरि

१६- भोज्यादिनामगर्भस्तुति आदि।

अष्टमहाप्रातिहार्य-स्तव — मुनि धुरन्धरविजय (आधुनिक)

यह स्तव चाणस्मा (गुजरात) से प्रकाशित 'भटेवा पार्श्वनाथ स्मृति-ग्रन्थ' में, सचित्र मुद्रित है। इसमें कवि ने **सिंहासन, छत्र, देवदुन्दुभि, वंशी, पताका** आदि आठ महाप्रातिहार्यों के चित्रबन्ध नवीन बनाकर प्रस्तुत किये हैं। आज भी ऐसे अनेक विद्वान् और जैन मुनि हैं जो ऐसी स्तुतियों की रचना कर रहे हैं।[1]

१- हमने भी ऐसी १०-१५ स्तुतियों में विविध चित्रबन्धों के प्रकारों को आविष्कृत कर इस साहित्य की सेवा की है। (लेखक)

३-(ख) अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ (अवान्तर नामाश्रित) स्तोत्र

अवान्तर-नामाश्रित स्तोत्रों के इस प्रकार में दो पद्धतियां प्रचलित हैं जिनमें प्रथम है **१- विविध स्तोत्ररचनात्मक** तथा द्वितीय है **२- स्वतन्त्र स्तोत्ररचनात्मक**। इनमें विविध प्रकार के शब्दालङ्कारों से सम्पन्न स्तोत्रों का समावेश और स्तुतिपद्यों का समावेश होता है, जिनका कुछ परिचय इस प्रकार है—

स्तुतिकुसुमाञ्जलि — जगद्धर (१३५० ई०)

स्तुतिसाहित्य में विशिष्ट गौरवास्पद प्रस्तुत कृति में प्रायः सर्वत्र शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ है तथापि स्तुति-संख्या २२ से ३० तक में प्रमुखरूप से शब्दालङ्कार को महत्त्व मिला है। कवि की दृष्टि शब्द-सज्जा पर विशेष उल्लासवती दिखाई देती है। कवि-काव्यप्रशंसात्मक पद्य में स्वयं कवि ने कहा है कि —

ते केचिदस्खलितबन्धनवप्रबन्ध-सन्धानबन्धुरगिरः कवयो जयन्ति ।
येषामचर्चितरसापि चमत्करोति, कर्णे कृतैव भणितिर्मधुरा सुधेव ।। ५ ।।

और इसी कारण इनकी रचनाओं में अलङ्कार के विविध स्वरूप मुखरित हुए हैं। यथा —

१- कादिपदबन्धस्तोत्र (१२ पद्य) — इसमें प्रत्येक पद का आरम्भ 'क अक्षर से हुआ है यथा— **'कल्लोलिनीकुटिलकैरविणीकुटुम्ब०** इत्यादि। (पृ० १२)

२- शृङ्खलाबन्धस्तोत्र (२७ पद्य)—इसमें शृङ्खला के समान पदावृत्ति है। यथा — **'कलिकम्पनमघशरणं शरणं चरणद्वयं०'** इत्यादि । (पृ० २७)

३- द्विपदयमकस्तोत्रम् (२८ पद्य) इसमें 'द्विपदयमक' का प्रयोग हुआ है। यथा—

'अविरलभस्मरजोधवलं, विहितमहाशमलाभम् ।
भज भगवत्यगजाधवलं श्रमशमनं विनलाभम् ।। २ ।।

४- रुचिरव्यञ्जन-स्तोत्र (२७ पद्य) — इसमें व्यञ्जनों की योजना इस प्रकार हुई है कि जिससे शब्दालङ्कार का पर्याप्त पोषण हुआ है।

५- पादादियमकस्तोत्रम् (३५ पद्य) — इसमें **'पादादि-यमक'** का प्रयोग प्रत्येक पद्य में किया गया है।

यथा—**हन्तापहन्तापदुपद्रवाणां यस्याक्षयस्याक्षणिकः प्रसादः** ।। १ ।। इत्यादि।

६-पादमध्ययमकस्तोत्रम् (३४ पद्य) —इसमें 'पादमध्ययमक' का प्रयोग हुआ है। यथा— **जयति संमतिसंयत-पाण्डवा०** इत्यादि ।। १ ।।

इसी प्रकार अन्य स्तोत्रों में **पादान्तयमक** (२७ पद्य), **एकान्तरयमक** (३६ पद्य) तथा **महायमक-** ८१ पद्य) वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं - यथा—**रविकान्तकविसजमानया** ।। ७ ।। इत्यादि।

जगद्धर की इन रचनाओं में शब्दालङ्कार अपने आह्लादक गुणों से उल्लसित हो रहा है। वाक्यकदम्ब में क्लिष्टता नहीं है। यमक-प्रयोग व्यस्त और समस्त दोनों ही प्रकार के हैं,

किन्तु अभङ्गपदों के बन्धन जटिल न होकर सरल ही अधिक हैं। शब्दालङ्कार के अनेकविध नवीन प्रयोगों के कारण रचना गौरवपूर्ण है।

२- स्तवमाला — रूपगोस्वामी (सोलहवीं शती ईसवी)

प्रस्तुत स्तव-संग्रह में गोस्वामी जी ने विविध शब्दालङ्कारपूर्ण ६० स्तवों की रचनाएं की हैं। रूपदेव की वाणी जहां भाव और अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण है वहीं शब्दालङ्कार के अनेक भेद-प्रभेदों से भी अलङ्कृत है। अनुप्रास की छटा तो पद-पद पर व्याप्त है। इनकी सूची इस प्रकार है—

१- चैतन्याष्टक (प्रथम), २- चैतन्याष्टक (द्वितीय), ३- चैतन्याष्टक (तृतीय), ४- आनन्द-स्तोत्र, ५- लीलामृतस्तोत्र, ६- प्रेमेन्दुसागर स्तोत्र, ७- केशवाष्टक, ८- कुञ्जविहार्यष्टक (प्रथम), ९- कुञ्जविहार्यष्टक (द्वितीय), १०- मुकुन्दाष्टक, ११- व्रजनवयुवराजाष्टक, १२- प्रणामप्रणयस्तव, १६- हरिकुसुमस्तबक, १४- गाथाछन्दःस्तव, १५, त्रिभंगीछन्दःस्तव, १६- मुकुन्द-मुक्तावली, १७- आनन्दचन्द्रिका, १८- प्रेमसुधास्तव, १९- श्रीराधाष्टक, २०- प्रार्थनापद्धति, २१- चाटुपुष्पाञ्जलि, २२- गान्धर्वप्रार्थनाष्टक, २३-नामयुगाष्टक, २४- व्रजनवीन-युगद्वन्द्वाष्टक, २५- कार्पण्यपञ्जिकास्तोत्र, २६- उत्कलिकावल्लरी, २७- गोविन्दविरुदावलि, २८- नन्दोत्सवादिचरित, २९- शकटतृणावर्तभंगादि, ३०- यमलार्जुनभङ्ग, ३१- वृन्दावने वत्स-चारणादि, ३२- वत्सचारणादिचरित, ३३- तालवनचरित, ३४- कालियदमन, ३५- भाण्डीर-क्रीडनादि, ३६- वर्षाशरद्विहारचरित, ३७- वस्त्रहरण, ३८- यज्ञपत्नीप्रसाद, ३९- गोवर्ध-नोद्धरण, ४०, नन्दाहरण, ४१- रासक्रीडा, ४२- सुदर्शनादिमोचन, ४३- गोपिकागीत ४४- अरिष्टवधादि, ४५- रङ्गस्थलक्रीडन, ४६- लीलान्तरवर्णन, ४७- पुनर्वस्त्रहरण, ४८- रासक्रीडावर्णन, ४९- स्वयमुत्प्रेक्षितलीला, ५०- ललितोक्त-तोटकाष्टक, ५१- चित्र-कवित्वानि, ५२- गीतावली, ५३- रासलीला-वर्णन, ५४- ललिता-प्रणामस्तोत्र, ५५- विशाखास्तोत्र, ५६- मथुरास्तव, ५७- गोवर्धनाष्टक, ५८- गोवर्धनाष्टक, ५९- वृन्दावनाष्टक, तथा ६०- नामाष्टक।

इन स्तोत्रों में शिखरिणी, पृथ्वी, अनुष्टुप्, स्वागता, मालिनी, तोटक, त्रिभङ्गी, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका, उपजाति, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसी के अन्तर्गत '**गोविन्दविरुदावली**' में चण्डवृत्त और उसके "वीरभद्र, अच्युत, उत्पल, गुणरति, मातङ्गखेलित, तिलक, पङ्केरुह, सितकञ्ज, पाण्डूत्पल, इन्दीवर, अरुणाम्भोरुह फुल्लाम्बुज, चम्पक, वञ्जुल, कुन्द, वकुलभासुर, वकुलमङ्गल, मञ्जरी,-कोरक, गुच्छ, कुसुम, दण्डक, त्रिभङ्गी, विदग्धत्रिभङ्गी, मिश्रकलिका, कलिका, अक्षमयी, सर्वलघु, गुच्छक, कोरक,

अनुकूल, प्रफुल्लकुसुमाली, अशोकपुष्पमञ्जरी, कलगीत, अनङ्गशेखर, द्विपदिका, हारिहरिण, इन्दिरा, मत्तमातङ्गलीलाकर, मुग्धसौरभ, सम्फुल्ल, ललितभृङ्ग, कान्तिडम्बर, मुखदेव, गुच्छकभेद, (विभक्ति-सप्तक से सम्बुद्ध्यन्त), भुजङ्गप्रयात, कुसुमस्तबक दण्डक, पज्झटिका, दोधक, मत्ता, स्रग्विणी, भ्रमर-विलसिता, जलोद्धतगति, आर्या, अलोला'' आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है।

इन छन्दों में कवि ने **'आद्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, द्विपादाद्यनुप्रास, चतुष्पादाद्यनुप्रास** आदि विभिन्न प्रकारों के प्रयोग किये हैं। जैसे —

कृष्णलाकृतहाराय कृष्णलावण्यशालिने ।
कृष्णाकूलकरीन्द्राय कृष्णाय करवै नमः ।। २ ।। (प्रणामस्तव)

यहाँ **आद्याक्षरानुप्रास** तथा **पादादियमक** का सुलभ प्रयोग है। इसी के अनुसार— **अन्य छन्द द्वारा 'मुकुन्दमुक्तावली' में अर्धश्लोकगत प्रतिपादान्त्य-यमक'** इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है —

इन्द्रनिवारं व्रजपतिवारं निर्धुतवारं हृतधनवारम् ।
रक्षितगोत्रं प्रीणितगोत्रं त्वां धृतगोत्रं नौमि सगोत्रम् ।। ११ ।।

कलिका के भेदों में **'अक्षमयी'** कलिका जो गोविन्दविरुदावली में प्रयुक्त है वहाँ **अ** से आरम्भ करके **क्ष** तक के वर्णों से आरम्भ होनेवाले पदों की योजना की गई है। साथ ही पदों के अन्त में अनुप्रास का निर्वाह भी हुआ है। यथा —

'अच्युत जय जय' आर्तकृपामय, इन्द्रसखार्दन ईतिविशातन, उज्ज्वलविभ्रम ऊर्जितविक्रम ऋद्धिधुरोद्धर ॠभुदयापर लृदिवकृपेक्षित लॄवदलक्षित एधितबल्लव ऐन्दवकुलभव ओजःस्फूर्जित औग्र्यविवर्जित अंसविशङ्कट अष्टापद' आदि (५९) इसी विरुद में स्वर-चित्रावली बारहखड़ी का प्रयोग भी दर्शनीय है। यथा —

कर्णे कल्पितकर्णिकः कलिकया कामायितः कान्तिभिः,
कान्तानां किलकिञ्चितैः किसलयन् कीलालधीः कीर्तिभिः ।
कुर्वन् कूर्दनकानि केशरितया कैशोरवान् कोटिशः,
कोपी कौकुरकंसकष्टकृतिकः कृष्णः क्रियात् काङ्क्षितम् ।। ६० ।।

इसके साथ ही अन्य छन्दों में वर्गानुसारी पदों की योजना करते हुए क्रमशः अन्त्यानुप्रासनिबद्ध अनुप्रास का भी प्रयोग किया है।

चण्डवृत्त के भेदों में आनेवाले पद्य-भेदों में **कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और-पवर्ग से निस्पन्न होनेवाले पद्यों में अनुप्रास का रूप** और भी अनूठा प्रतीत होता है। यथा —

''जय जय हन्त द्विपदभिहन्तर्मधुरिमसन्तर्पितजगदन्तर्मृदुल वसन्तप्रिय सितदन्त स्फरित-दृगन्त प्रसरदुदन्त प्रभवदनन्तप्रियसख सन्तस्त्वाभिरतिमन्त स्वमुदहरन्त प्रभुवर'' इत्यादि (२७) (गोविन्दविरुदावली)। ऐसे ही अनेक प्रयोग इस कृति में महत्त्वपूर्ण हैं।

यहीं चित्रकवित्व रूप स्तोत्र में — द्व्यक्षर, एकाक्षर, चक्र, सर्प, पद्म, प्रातिलोम्यानुलोम गोमूत्रिका, मुरज, सर्वतोभद्र और बृहत्पद्मबन्ध भी चित्रालङ्कार के अंश को पूर्ण करते हैं। इसके पश्चात् अनेक शास्त्रीय राग-रागिनियों में गीत भी दिये गये हैं।

जीवदेव गोस्वामी ने इसकी टीका निर्मित की है और एक स्थान पर रूप गोस्वामी की प्रशंसा करते हुए ठीक ही कहा है कि —

सत्काव्यसद्मसु य एव हरिप्रियेषु शब्दार्थरत्ननिकरैःस्तनुतेऽतिभव्यैः।
शिल्पक्रियां बहुविधां कविविश्वकर्मा रूपाभिधो रसिकचित्तहरः स जीयात् ॥[1]

चित्रबन्धावतारिका — म० म० रामावतार शर्मा (सन् १८७७ से १९२९ ई०)

श्री शर्माजी ने अनेकविध साहित्य की रचना द्वारा संस्कृत-साहित्य की सेवा की है किन्तु उनके द्वारा रचित चित्रकाव्यात्मक स्तुति-पद्यों का संग्रह कहीं भी न तो उद्धृत हुआ है और न प्रकाशित ही। प्रस्तुत सङ्कलन में हमने कुल ५५ पद्यों को दिया है । ये सभी चित्रकाव्यात्मक है। **गोमूत्रिका**, **कमल**, **आभरण**, **शस्त्रास्त्र और प्रकीर्ण चित्रबन्धों** को यहाँ स्थान मिला है। लेखक ने इसमें विभिन्न देवताओं की स्तुति की है। रचना पूर्ण प्रौढ है। यथा —

सा शैलाधीशबाला पशुपतिदयिता स्कन्दहेरम्बमाता,
भद्रं मे भूरि दत्तां घनभवनधरापत्यनित्याप्ति-जन्यम्।
याशः स्वाधीनबाणैः परिपतदहितानन्ददा रम्यमाना,
भग्नां मेनेऽरिमत्तां जनमवति धनैः पक्ष्मनिक्षिप्तधन्यम् ॥ २ ॥

इस पद्य से '**अयुग्मार्ध-गोमूत्रिकाबन्ध**' बनता है। कुछ चित्रबन्धों की आपने नवीन उद्भावनाएं भी की हैं तथा कुछ के पूर्वविरचित प्रकारों में ही वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है ।

यह सङ्कलन इन पंक्तियों के लेखक (रुद्रदेव त्रिपाठी) ने स्वरचित हिन्दी '**वन्दना-वृत्ति**' सहित सम्पादित कर प्रकाशित किया है और ग्रन्थनाम भी स्वयं ही निर्धारित किया है क्योंकि मूल लेखक ने ऐसा कोई नाम नहीं दिया था।

महिम्नःस्तोत्र — पुष्पदन्त (प्राचीन अज्ञात काल)

भाषा के लालित्य और भावों की दार्शनिकता से ओतप्रोत यह शिवस्तोत्र अत्यधिक लोकप्रिय है। शिखरिणी एवं कतिपय अन्य छन्दों में निबद्ध ४० पद्यों के इस स्तोत्र में शब्दालङ्कार का प्रयोग भी रमणीय है। अनुप्रास पद-पद पर परिलक्षित होता है। यथा —

स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः, (२) किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं किमाधारो धाता सृजति किमुपादानमिति च। (५) प्रभिन्ने प्रस्थाने पर-मिदमदः पथ्यमिति च, (७) रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथ-चरणपाणिः शर इति (१८), त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम

---

१. इस 'स्तवमाला' पर हमारे निर्देशन में विद्यावारिधि-पी० एच० डी० का शोधकार्य **श्री हरिदास स्वामी जयपुर** द्वारा सम्पन्न हो रहा है। (लेखक)

त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च (२६) तथा **नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर ! महिष्ठाय च नमः** (२९) इत्यादि पद्यांशों से अनुप्रास के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। यमक का प्रयोग प्रायः नहीं है।

इस स्तोत्र की लोकप्रियता के कारण ही इसके अनुकरणरूप स्तोत्र एवं समस्यापूर्ति-रूप स्तोत्र भी बने हैं। इसकी श्लिष्ट-टीकाएं भी प्राप्त हैं जिनमें शिवजी के अतिरिक्त विष्णु आदि देवों के अर्थों को भी व्यक्त किया गया है।[1]

शिवताण्डवस्तोत्र — लङ्केश्वर रावण (अज्ञात)

लङ्केश्वर रावण-विरचित इस स्तोत्र में दस पद्य हैं। पुष्पिका के दो पद्यों को छोड़ कर शेष पञ्चाचमर छन्द में रचित है। इसमें मनोहर पदावली द्वारा अनुप्रास का प्रयोग अत्यन्त मधुर हुआ है। एक पद्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत है —

अगर्वसर्वमङ्गला कलाकदम्बमञ्जरी—
रसप्रवाहमाधुरी-विजृम्भणामधुव्रतम् ।
स्मरान्तकं पुरान्तकं भवान्तकं मखान्तकं,
गजान्धकान्तकान्तकं तमन्तकान्तकं भजे ॥

चन्द्रशेखराष्टक — मार्कण्डेय (अज्ञात)

मृकण्डसूनु-मार्कण्डेय मुनि द्वारा यमराज से अपनी रक्षा के लिये भगवान् शिव की प्रार्थना में रचित यह अष्टक आस्तिक-समाज में अतिप्रिय है। इसमें तूणक छन्द में आठ पद्य निर्मित हैं। एक पद्य इस प्रकार है —

पञ्चपादपपुष्पगन्धपदाम्बुजद्वयशोभितं,
भाललोचन-जातपावक दग्धमन्मथविग्रहम् ।
भस्मदिग्धकलेवरं भवनाशनं भवमव्ययं,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर पाहि माम् ।
चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर रक्ष माम् ॥

कल्याणमन्दिर स्तोत्र — सिद्धसेन दिवाकर (चौथी-पाँचवीं शती ईसवी)

सम्मति-प्रकरण, न्यायावतार, द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका तथा **शक्रस्तव** आदि ग्रन्थों के निर्माता सिद्धसेन दिवाकर का यह स्तोत्र जैनधर्मानुयायी जनों का प्रिय स्तोत्र है। इसमें

---

१. इस **'महिम्नः स्तोत्र'** से सम्भवतः पूर्ववर्ती और भी कुछ महिम्नः स्तोत्र प्राप्त होते हैं जिनमें **१- विष्णुकृत शिवमहिम्नःस्तोत्र तथा २- अत्रिपुत्र दुर्वासा मुनि-रचित श्रीत्रिपुरामहिम्नः स्तोत्र'** प्रमुख हैं। इनमें प्रथम यमकालङ्कारमय है तथा द्वितीय में विभिन्न शब्दालङ्कार प्रयुक्त हैं।

४४ पद्य हैं जो पार्श्वनाथ की स्तुति में रचित हैं। इस स्तोत्र की भाषा प्रासादिक तथा शब्दालङ्कारों से पूर्ण है। साथ ही इसमें मन्त्रशास्त्रीय विषय का भी समावेश है जिसके कारण टीकाकारों ने इसके पद्यों की मन्त्रमयता सिद्ध कर उनके लिये मन्त्र-विधान भी प्रदर्शित किया है। इस स्तोत्र पर प्राय १६ टीकाएं हैं तथा इसके अंग्रेजी और जर्मन अनुवाद भी हुए हैं। स्तोत्र की महत्ता इससे स्पष्ट है कि इसके आधार पर **समस्यापूर्ति-काव्यों** की रचनाएं भी बहुत हुई हैं जिनका परिचय 'एक शब्दालङ्कार गर्भ' स्तोत्रों में दिया गया है।

श्रीशङ्कराचार्य जी के अन्य स्तोत्र (आठवीं शती ईसवी से पूर्व)

आचार्य प्रवर ने ऐसे अनेक स्तोत्र लिखे हैं जिनमें प्रायः सभी शब्दालङ्कारों का मधुर प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं —

१- शिवापराधक्षमापन स्तोत्र, २- देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र, ३-भवान्यष्टक, ४- आनन्दलहरी, ५- चतुःषष्ट्युपचार मानसपूजा स्तोत्र, ६- चर्पटमञ्जरी स्तोत्र, ७- शिवानन्दलहरी, ८- विष्णुपादादिकेशान्तवर्णन स्तोत्र ९- शिवपादादि केशान्तवर्णन स्तोत्र, १०- अन्नपूर्णाष्टक, ११- कनकधारास्तव, १२- दक्षिणामूर्त्यष्टक, १६- षट्पदी, १४- पञ्चटिकास्तोत्र (महाविद्याओं के) **१५- लक्ष्मीनृसिंह स्तोत्र** आदि।

इन स्तोत्रों में ललित पदावली तथा अनुप्रास और यमक अलङ्कार के प्रयोगों का उदाहरण दो इन पद्यों से परिचेय है —

**१- श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा,
निरातङ्को रङ्को विहरति चिरं कोटिकनकैः।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं,
जनः को जानीते, जननि ! जपनीयं जपविधौ ॥ (देव्यपराधक्षमापन)**

**२- अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशन-विहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥ (चर्पटमञ्जरी)**

आचार्यप्रवर के नाम से इतने अधिक स्तोत्र प्राप्त होते हैं कि उनका यह निर्णय करना भी कठिन है कि कितने स्तोत्र वस्तुतः उनके द्वारा रचित हैं ?

भक्तामर-स्तोत्र — मानतुङ्ग सूरि (आठवीं शती ई०)

भवजलपतित जीवों के आलम्बन को लक्ष्य में रखकर श्रीमानतङ्गसूरि ने ४४ पद्यों में इस स्तोत्र की रचना की है। इस स्तोत्र में कवि ने वसन्ततिलका छन्द को माध्यम बना कर प्रासादिक पदविन्यास तथा नादसौन्दर्यसमन्वित शब्दों का रुचिर गुम्फन किया है। शब्दालङ्कारों में वर्णमैत्री, स्थानमैत्री एवं अनुरणन-प्रधानता से युक्त छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग बहुत हुआ है। **'आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं, नात्यद्भुतं भुवनभूषणभूतनाथ चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभिः'** जैसे पद इसके साक्षी हैं। यमक का प्रयोग नहीं है। श्लेषालङ्कार मृग, मुनीश, भूत, पयस् जैसे एकाधिक अर्थों की उपलब्धि के लिए प्रयुक्त

है । इसी में एक पद्य है —

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ, तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय, तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६ ॥

इस पद्य से क्रमशः **'ओङ्कार-बन्ध, स्वस्तिकबन्ध, चतुर्दलकमल बन्ध, और दीपिका-बन्ध'** की रचना होने से चित्रालङ्कार का भी इसमें समावेश हो जाता है, जबकि चारों पदों के आरम्भ भाग तथा पूर्वार्ध-उत्तरार्ध के अन्तिमांश की समानता से अनुप्रास तो है ही।

इस स्तोत्र की एक और विशेषता यह है कि इसके चरणों का आश्रय लेकर प्रायः **२६ समस्या-पूर्ति काव्य** भी बनाये गये हैं। जिनका परिचय एकशब्दालङ्कार-गर्भ स्तोत्रों के परिचय में दिया गया है।

शिवस्तोत्र — उत्पलदेव (नौवीं शती ईसवी)

काश्मीरवासी त्रिकदर्शन के प्रतिष्ठापक उत्पलदेव ने अनेक शिवस्तोत्र लिखे हैं, जो **'शिवस्तोत्रावली'** में सङ्गृहीत हैं। इन सब का एक ही विषय है —भगवान् शङ्कर के अनन्त गुणों का वर्णन तथा उनके कमनीय रूप की मधुर झाँकीं। भगवान् शङ्कर से सम्पर्क रखने-वाली छोटी से छोटी वस्तु भी कवि को प्रिय है किन्तु उनके सम्पर्क से शून्य प्रशस्त वस्तु भी हेय है। यथा —

कण्ठकोण-विनिविष्टमीश ते, कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥

यहां क और म वर्ण का अनुप्रास है। ऐसे ही शब्दालङ्कारपूर्ण अन्य स्तोत्र भी हैं।

कुन्दमाला — कुलशेखर (दसवीं शती का आरम्भ)

वैष्णव कवि कुलशेखर की यह कृति विष्णु की स्तुति में रचित है। वैष्णव स्तोत्र-साहित्य में यह सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। इसमें ३४ पद्य हैं। पदावली बड़ी ही हृदय-ग्राहिणी एवं ललित है। यथा —

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो, नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ, चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

आलवन्दार-स्तोत्र — यामुनाचार्य (दशमशतक ईसवी)

श्रीरामानुजाचार्य के गुरु श्री यामुनाचार्य का यह स्तोत्र अतिप्रसिद्ध है। शैवों में पुष्पदन्त के 'महिम्नःस्तोत्र' के समान ही यह रामानुजसम्प्रदाय में नित्यपाठोपयोगी स्तोत्र बना हुआ है। इसकी भाषा प्राञ्जल तथा शब्दालङ्कारपूर्ण है। दक्षिण की अनुप्रासशैली का निर्वाह भी इसके सौष्ठव को बढ़ाता है। यथा —

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हि मां, कृपया केवलमात्मसात् कुरु ॥

भारतीच्छन्दांसि — रत्नवर्धनगणि (अज्ञात)

प्रस्तुत कृति में भारती देवी की स्तुति में कुल ३६ पद्य रचित हैं जिनमें ३३ पद्य मात्रिक वृत्तों में हैं। शब्दालङ्कार की दृष्टि से इसमें सिंहावलोक-यमक का प्रयोग हुआ है। तृतीय चरण में निर्वाह का अभाव चिन्त्य है। यथा —

कमलालङ्कृतवरकरकमलाकरकमलालङ्कृतकर कमला।
या सा ब्रह्मकलाकुलकमलाश्छ्रुतदेवी दिशतु श्रितकमलाः॥ २॥

यह पद्धति न केवल यमक की ही पूर्ति करती है, अपितु अनुप्रास तथा श्लेष की भी पर्याप्त पूर्ति करती है। रचनाकार के बारे में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। श्री कापड़िया ने केवल सम्भावना व्यक्त की है।[1]

भगवती पुष्पाञ्जलि-स्तव — रामकृष्ण कवि (अज्ञात)

भगवती महिषासुरमर्दिनी की स्तुति में विरचित यह पुष्पाञ्जलि-स्तव शब्दालङ्कार और यमक के भेदों से मण्डित अतीव सुन्दर कृति है। इसमें कवि ने मात्रिक छन्द का प्रयोग करके भी पद्ययोजनाएं की हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

अयि सुमनः सुमनः सुमनः सुमनोहरकान्तियुते,
श्रितरजनी रजनी रजनी रजनीचरवक्त्रवृते।
सुनयनविभ्रमरभ्रमरभ्रमरभ्रमराधिपते,
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥[2]

इस प्रकार अनेक शब्दालङ्कार-स्तोत्रों की संख्या भी अनन्त है। प्रत्येक स्तोत्र में शब्दालङ्कार से सम्बद्ध कोई न कोई वैशिष्ट्य तो विनिविष्ट है ही। अतः यहाँ संक्षिप्त रूप से ही परिचय दिया गया है।

स्तोत्रकाव्यों में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों का मूल्याङ्कन

स्तोत्र-साहित्य का आरम्भ ऋग्वेद से ही हुआ है। वहां की ऋचाओं में वैदिक मन्त्र-द्रष्टाओं के हार्दिक भावों के प्रस्फुरण के साथ ही भक्ति-निवेदन के अनेक प्रकारों का आविर्भाव भी स्पष्ट प्रतीत होता है। तब से ही पद्यात्मक, गद्यात्मक और उभयात्मक स्तुतियों की रचना होती आ रही है। ये स्तुतियाँ जैसे **स्वाश्रयी** होती हैं — अर्थात् स्वयं कवि अपनी विचारधारा के अनुरूप उनका निर्माण करता है, वैसे ही **पराश्रयी** भी होती हैं — अर्थात्

---

१. द्रष्टव्य — श्रीभक्तामर-पादपूर्तिरूपकाव्य-संग्रह, भाग- २, आगमोदयसमिति, सूरत, ग्रन्थाङ्क- ५४।

२. यह रचना सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय की **'सारस्वती सुषमा'** के अङ्क में सटीक प्रकाशित हुई है। अनेक विद्वान् इसे आद्य शङ्कराचार्य की कृति मानते हैं।

किसी प्रसिद्ध कवि अथवा प्रसिद्ध स्तुतिकार की स्तुति को अवलम्बन के रूप में स्वीकृत कर उसकी पादपूर्ति अथवा अन्य प्रकार के द्वारा अनुकरण करके अपनी कृति को नवीन रूप से प्रस्तुत करता है ।

समस्त धर्मानुयायी तो स्तुति करते ही हैं धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति भी इससे वञ्चित नहीं रहते । वे भी अन्यान्य विभूतियों की स्तुति में प्रवृत्त देखे जाते हैं । **'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च'** इस गीतावाक्य के अनुसार चारों प्रकार के व्यक्ति अपनी आर्तता, जिज्ञासा, अर्थप्राप्ति एवं ज्ञानलिप्सा के शमन के लिए सर्वप्रथम् अपने इष्टदेव की स्तुति करते हैं । इन स्तुतियों में कहीं अनुनय-विनय है तो कहीं रोष-घोष भी, कहीं गुणानुगान है तो कहीं विशिष्ट चरित्र-चित्रण भी । कहीं अनुग्रह-भाव हैं तो कहीं निग्रहभाव भी । कुछ कवच बने हैं तो कतिपय अस्त्र भी । इन सब में अलङ्कार प्रयोग विहित हैं । शब्दालङ्कार के प्रयोगों का तो यह राजमार्ग ही है । इष्टदेव के लिये जो कह दिया जाए, जैसे कह दिया जाए, सभी न्यून ही है ।

स्तुति के लिये स्तोत्रकाव्य के प्रति निष्ठा ही प्रमुख प्रेरिका है । न केवल इष्टदेव की ही स्तुति की जाती है अपितु जो-जो विभूतिरूप वस्तु है उसकी स्तुति में कवि का मन रम जाता है । **"अनन्ता हि वाग्विकल्पाः"** — जैसे वाणी के विकल्प-प्रयोग अनन्त हैं उसी प्रकार स्तुति के प्रकार भी अनन्त हैं । कोई **छन्दों का आश्रय** लेकर रचना करता है तो कोई **अलङ्कारों** का । कुछ **विषय-वस्तु** पर कल्पना-भवन खड़ा करते हैं तो कुछ **नाम-कीर्तन** में ही आनन्द मनाते हैं । **एक पद्य से हजारों पद्यों तक की स्तुतियाँ** बनी हैं । **सहस्रक हैं, शतक है, पञ्चाशिका, द्वात्रिंशिका, चतुर्विंशतिका, दशक, अष्टक, पञ्चक** आदि भी तो स्तुति-सङ्ग्रह के ही रूप ।

अतः यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि 'काव्य-रचना का मूल स्रोत स्तोत्रकाव्य ही है ।'

यहाँ शब्दालङ्कार- पूर्ण स्तुतियों के कुछ प्रकार उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं जिनके प्रमुख तीन वर्ग बनाकर और भी स्पष्ट किया गया है । इन्हें देखकर सहज अनुमान हो जाता है कि स्तोत्र-काव्यों में शब्दालङ्कारों को पर्याप्त परिपोष मिला है और इसके साहचर्य से रचना में विचित्र आकर्षण उत्पन्न हुआ है जो कि सर्वांश में महत्त्वपूर्ण है । अतः यह कथन उचित है कि —

स्तुतिरेव महीयसी कृतिः, प्रथते यत्र सदा ह्यलङ्कृतिः ।
वचसां च विभूतिरुज्ज्वला, जगतो जीवनमाप्रकाशते ।। (रुद्रस्य)

(::—::)

अध्याय ५

मुक्तकों में शब्दालङ्कारों का संयोजन

□

काव्यकर्ता अपनी विशिष्ट प्रतिभा से महाकाव्य, खण्डकाव्य अथवा कतिपय अन्यान्य पद्धति के काव्यों की रचना तो करता ही है, किन्तु कभी-कभी वह कोई स्वतन्त्र पद्य भी बना लेता है। ऐसे पद्यों का परिचय हमें दो रूपों में प्राप्त होता है — पहला **'स्फुट-पद्य'** के रूप में तथा दूसरा **'सुभाषित सङ्ग्रह'** के रूप में। इसमें शब्दालङ्कार का विचार इस प्रकार है—

१- एकशब्दालङ्कार-गर्भ मुक्तक

स्फुट पद्यों में यत्र-तत्र किसी एक शब्दालङ्कार-विशेष का प्रयोग होने पर उसे **'एक शब्दालङ्कार-गर्भ मुक्तक'** की संज्ञा देना उचित होगा। ऐसे पद्यों में अनुप्रास, यमक पुनरुक्तवदाभास और वक्रोक्ति के प्रयोग पर्याप्त प्राप्त होते हैं। श्लेष का प्रयोग भी साधारणतः होता रहा है, किन्तु कुछ ऐसे पद्य भी हैं जिनके श्लिष्टार्थों की टीकाएं करके आचार्यों ने उनके स्वतन्त्र महत्त्व को प्रस्तुत किया है। ये पद्य किसी ग्रन्थ-विशेष के अङ्ग होकर भी अपना वैशिष्ट्य रखते हैं और स्वतन्त्र रहकर भी। इसी प्रकार अनेक पद्य चित्रालङ्कार के रूप में भी प्राप्त होते हैं जिनमें **समयोपयोगिता** और **चित्रबन्धात्मकता** का समावेश है। यह परम्परा वैदिक काल से ही चली आई है। यथा —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।

इस प्रसिद्ध मन्त्र के अर्थ वैदिकप्रकरणार्थ के अतिरिक्त **व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद** आदि शास्त्रों के अनुकूल भी वर्णित हैं। यद्यपि ये अर्थ स्पष्टरूप में श्लेष से प्राप्त न होकर मन्त्र-निर्देशों के आधार पर साधित हैं तथापि इसकी अनेकार्थिता निर्देशक तो है ही। वैसे धीरे-२ इस परम्परा ने और भी प्रसार पाया तथा श्लिष्ट-टीकाओं के रूप में इसके अनेक रूप हमारे समक्ष आये। चूंकि यह विषय शोध-प्रबन्ध की सीमा से बाहर चला जाता है, अतः इसका यहाँ विस्तार न करके कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहें हैं।

१- श्रीमद्भागवत के प्रथम पद्य के सौ अर्थ

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृवा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा ,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

इस पद्य के खरड़ (पंजाब) निवासी पं० वंशीधरजी द्वारा एक सौ अर्थ किये गये हैं जिनमें विभिन्न देवताओं के वर्णन आदि साधित हैं।

ऐसे ही नैषध्रीय-चरित के **'देवः पतिर्नैषधराजगत्या'** (सर्ग १३) इत्यादि पद्य के भी **'नारायणी टीका'** में १३ अर्थ किये गये हैं जो श्लेष द्वारा ही प्राप्त हैं।

जैन कवियों ने ऐसी रचनाओं में विशेष उत्साह दिखाया है, जिनमें से कुछ के परिचय इस प्रकार हैं :—

२-अष्टोत्तर-शतार्थी गाथा — बप्पभट्टिसूरि (नौवीं शती का मध्य भाग)

तत्ती सी अलीमेलावा केहा, धण उत्तावली पिय मंद सिणेहा।
विरहिहिं माणुसु जं मरइतसु कवण निहोरा, कंति पवित्तडीजणुं जाणइं दोरा।।

इस एक गाथा के एक सौ आठ अर्थ श्री बप्पभट्टिसूरि ने किये हैं जो सार्थक होने के साथ ही आश्चर्यकारक हैं।

३-शतार्थी पद्य—श्रीपाल (ग्यारहवीं शती का अन्तिमभाग)

गुजरात के **'पाटण'** ग्रामवासी सेठ लक्ष्मण के पुत्र श्रीपाल गुजरात के नृपति सिद्धराज के 'बालसखा' और 'कविचक्रवर्ती' के रूप में प्रसिद्ध थे, इन्होंने निम्नलिखित पद्य की रचना की है —

भूभारोद्धरतो रसातलगमः स्वर्गेऽप्यशोभावनः,
सारद्योगपरः प्रभावसविता सत्यागवेष्टोदितः।
व्यापन्नौरस-सिद्धराजवसुधा मद्रक्षरामेवली,
सन्नागः सहरीर-साहितमहोराज्याय साधूरसेः ।

इसके क्रमशः सौ अर्थ होते हैं। यथा १- सिद्धराज, २- स्वर्ग, ३- शिव, ४- ब्रह्मा, ५- विष्णु, ६- भवनपति, ७-कार्तिकेय, ८- गणेश, ९- इन्द्र १०- वैश्वानर आदि।

इनकी कविता का रचना काल ई० १०९३ से ११६३ माना जाता है।[1]

४-षोडशोत्तर शतार्थक पद्य — वर्धमानगणि (सन् ११३२ ई०)

'कुमार-विहार-प्रशस्ति' नामक एक जिनालय की प्रशस्ति के एक पद्य (सं० ८७) **'गम्भीरः श्रुतिभिः सदाचरणतः'** इत्यादि के स्वयं रचयिता ने ११६ अर्थ किये हैं, जिनमें ब्रह्मा, वैदिक देव, गौरी, नवग्रह, चार पुरुषार्थ, तीन लोक, रत्नत्रय, चार तीर्थंकर आदि के अतिरिक्त गुरु और कुमारपाल राजा का वर्णन भी सम्मिलित है। यह रचना मूलवैशिष्ट्य एवं श्लेषालङ्कार के संयोजन से अनुप्राणित है।

---

१. द्रष्टव्य — **जैन परम्परानो इतिहास**, प्रकरण ४१।

५- शतार्थवृत्त — सोमप्रभसूरि (सन् ११६८)

कल्याणसारसविता न हरेक्षमोह, कान्तारवारणसमान जयाद्य देव ।
धर्मार्थकामवद महोदय वीर धीर, सोमप्रभाव परमागम सिद्धसूरे ।।

इस पद्य के एक सौ एक अर्थों का निर्देश भी कवि ने 'स्वोपज्ञ वृत्ति' में किया है जिसमें २४ तीर्थंकर, ११ गणधर, ५ महाव्रत, ४-पुरुषार्थ, ब्रह्मादिदेव, नवग्रह आदि प्रमुख अर्थ किये गये हैं।

(क) अन्य अनेकार्थी कृतियां

इसी प्रकार '**दोससमद्ध**' गाथा के शतार्थ (दो आचार्यों द्वारा), **रत्नावतारकारिका, आद्यपद्यशतार्थी, हर्षकुलीय शतार्थी, योग शास्त्र पद्य (२, ८५) शतार्थी, योगशास्त्राद्यपद्य पञ्चशतार्थी, योगशास्त्राद्यपद्य सप्तशतार्थी, षड्दर्शन समुच्चयाद्यपद्य विविधार्थी**' आदि भी इसी पद्धति के महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

६- अर्थरत्नावली अथवा अष्टलक्षार्थी — समयसुन्दरगणि (सन् १५९२ ई०)

अनेकार्थी पद्य साहित्य की परम्परा में एक अद्वितीय और वह भी पूरे पद्य की नहीं अपितु एक चरण '**राजा नो ददते सौख्यम्**' मात्र की कृति पर आठ लाख से अधिक अर्थों का प्रदर्शन करके सहस्रावधानी मुनि समयसुन्दर गणि ने समस्त संस्कृतवाङ्मय की अद्वितीयता विश्व के समक्ष प्रस्थापित की है। '**अर्थरत्नावली**' यह उक्त चरण की टीका का नाम है। **इसमें—'सौख्यम्' पद से पूर्व अवग्रह जोड़कर आठ अक्षरों के पृथक्-पृथक् पदच्छेद करके, सन्धिविच्छेद करके, कुछ अक्षरों के एकाक्षरी कोश के आधार पर, चित्रकाव्य के अनुरूप रल डल का अभेद मानकर और काकु को लक्ष्य में रखकर, कुल दस लाख बाईस हजार चार सौ सात अर्थ किये** हैं और वहीं कहा गया है कि '**इन आठ लाख अर्थों में जो अर्थ असंगत प्रतीत हों, उनके स्थान पर इन अतिरिक्त अर्थों की योजना कर लें।**' अन्त में ३३ पद्यों में प्रशस्ति दी गई है। यह रचना काश्मीर पर आक्रमण के लिये प्रस्थान करते समय स्वयं रचनाकार ने मुगल सम्राट अकबर को (वि० सं० १६४९ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को) सुनाई थी और इसे सुनकर बादशाह ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।[1]

७- शतार्थ-विवरण — मानससागर गणि (१७वीं शती)

यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्यकृत '**योगशास्त्र**' के एक पद्य—

परिग्रहारम्भ-मग्नास्तारयेयुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः ।।

की टीका है। इसकी रचना हेतु — तपागच्छाधिपति श्री हीरविजयसूरि द्वारा रचित '**शतार्थ-**

१. इसका प्रकाशन '**देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था**' अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित 'अनेकार्थरत्नमञ्जूषा' (पृ० १-७०) में हुआ है।

परीक्षा' है। प्रस्तुत कवि बुद्धिसागर गणि का शिष्य था। इसमें २४ जिन, जिनवाणी, शासनदेवी, पञ्चपरमेष्ठी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, ज्ञान, काम, विजय हीरसूरि, विजयसेनसूरि, अकबरनृपति, नवग्रह, सूरि, अष्टदिक्पाल, राम, १४ स्वप्न और बुद्धिसागर (अपने गुरु) का वर्णन स्पष्ट किया है।

पद्य के अर्थों की सिद्धि के लिये **एकाक्षरकोष, स्वरभवित,** एवं **पदभवित** के साथ ही **अनेकार्थकोश** का भी उपयोग हुआ है।

८- चतुर्विंशति-सन्धान (पद्य) — जगन्नाथ (सन् १६४२ ई०)

दिगम्बर जैन श्री नरेन्द्र कीर्ति के शिष्य जगन्नाथ पण्डित ने इस पद्य की रचना की है तथा पद्य के चौबीस अर्थ किये हैं। पद्य इस प्रकार है —

श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमार्कोऽथ धर्मो,
हर्यङ्कः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनन्तवाक् श्रीसुपार्श्वः।
शान्तिः पद्मप्रभोरो विमलविभुरसौ वर्धमानोऽप्यजाङ्को,
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मां सुमतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम् ॥

इस पद्य की स्वोपज्ञ टीका भी बनाई गई है, जिसमें पद्य के विभिन्न अर्थों की प्राप्ति के लिये लिखा गया है कि—

वरैकाक्षरार्थैर्महायुक्तियुक्तैः सुवृत्तिं च तेषां नुतेश्चर्करीमि ॥१॥
अप्रसिद्धनिनादेषु नात्र कार्या विचारणा।
एकाक्षरसुकोषस्य पद्यं दृष्ट्वावगम्यताम् ॥

इसमें चौबीस तीर्थङ्कर तथा एक सामुदायिकस्तुतिरूप अर्थ से युक्त पचीसवां अर्थ भी किया गया है। टीका का नाम '**एकार्थप्रकाशिका**' दिया है।

इस प्रक्रिया के आधार पर भी अन्य पद्यों की आश्चर्यपूर्ण टीकाएं प्राप्त होती हैं जिनका निदर्शन विस्तारभय से नहीं किया जा रहा है।

इसी प्रकार मुक्तकों में चित्रबन्धात्मक पद्य भी अनेक बने हैं और बनते रहते हैं। इनमें से दो चमत्कार-पूर्ण मुक्तकों के बारे में ही यहां संक्षिप्त परिचय देकर इस प्रकरण को हम समाप्त कर रहे हैं।

९- कङ्कण-बन्ध-रामायणम् — कृष्णमूर्ति कवि (१९वीं शती)

संस्कृत शिलष्ट-काव्य की परम्परा में उद्भूत प्रयासरूप यह मुक्तक-रचना है। ३२ अक्षरों के एक ही पद्य में रामायण की कथा को इस प्रकार ग्रथित किया गया है कि पद्य के वर्णों के गृहीत-मुक्तक-पद्धति से बने ६४ पद्यों में सम्पूर्ण समावेश हो गया है। पद्य इस प्रकार है—

"नेतादेवालीनामाशा धानाधीना नेकालोकी।
भास्यानभाख्यायोगीशं पायादेतं रामेराजा ॥"

इसे प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ने के पश्चात् द्वितीय पद्य के लिये दूसरे अक्षर से **'तादेवा लीना'** इत्यादि रूप में पढ़ना चाहिये तथा **'ने'** अक्षर को अन्त में जोड़ लेना चाहिये । ऐसा करने से क्रमशः ३२ पद्य बन जाते हैं । तदनन्तर पद्य के अन्तिम अक्षर से विपरीत-पठन पूर्वक पूर्ववत् पढ़ने से अन्य ३२ पद्य बन जाते हैं ।

कृष्णमूर्ति की माता का नाम गौरी तथा पिता का नाम सर्वांग था और गोत्र था वसिष्ठ । इसके अर्थज्ञान के लिये **कवि ने स्वोपज्ञ टीका भी लिखी है** । टीका में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

ननु कङ्कण-बन्धकृतिः कृतिनामपि नो सुकरा यदि वा कविभिः ।
कविभिर्घटिताऽस्ति तथापि कथाक्रमसङ्घटिता न चकास्ति भुवि ।।

और इस क्रम को समझाने के लिये निम्न पद्य भी दिये हैं—

चतुःषष्ट्यर्थसम्बन्धो, बन्धो द्वात्रिंशदक्षरः ।
सतां मुदे विजयतां, नितान्तमतिदुष्करः ।।
द्वादशांशं प्रथमतो, द्वितीये तु त्रयोदश ।
तृतीये षट् चतुर्थे स्युरेकादश ततो दश ।।
पञ्चमे द्वादश तथा षष्ठे काण्डक्रमात् कृताः ।। इत्यादि ।।

इस पद्धति से निर्मित यह पद्य अपने ढंग का एक अपूर्व उदाहरण है ।

१०- कङ्कण-बन्धरामायण — चारलु भाष्यकार शास्त्री (बीसवीं शती पूर्वार्ध)

कृष्णा जिला के काकरपाली गांव के निवासी भाष्यकार शास्त्री ने पूर्वोक्त **'कङ्कण-बन्धरामायण'** की रचना से और भी महत्त्वपूर्ण रूप में इस पद्य को प्रस्तुत किया है । इनका पद्य इस प्रकार हैं —

रामानाथा भारा सारा चारावारा गोपाधारा ।
धाराधारा भीमाकारा पारावारा सीतारामा ।।

इसकी पठन-पद्धति पूर्ववत् **गृहीत-मुक्ताक्षरानुलोम-विलोम-पाठात्मक** तो है ही । साथ ही प्रत्येक पद के दो-दो अर्थ होने से यह १२८ **अर्थवाला** पद्य बन गया है । इस दृष्टि से यह पूर्वोक्त पद्य की अपेक्षा और अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है ।[1]

भारतीय विद्वज्जनों की प्रतिभा इतनी गम्भीर और आश्चर्यपूर्ण रही है कि वे किसी कोटि के रचना-विधान को पा लेने पर उसकी चोटी पर पहुंचने का प्रयास करते रहे हैं । ऐसे और भी बहुत से पद्य मुक्तक रूप में प्राप्त हैं जिनमें कहीं **'छन्दोमय चित्र-पद्धति'** के माध्यम से

१. इसके अतिरिक्त और भी **'कङ्कण-बन्धों'** की रचना हुई है किन्तु वे स्वतन्त्र न होकर अन्यान्य ग्रन्थों के अन्तर्गत हैं जिनका परिचय यथावसर दिया गया है ।

एक ही पद्य से अनेक पद्यों की उपलब्धि होती है। भोज के **सरस्वती-कण्ठाभरण** में प्रदत्त **'कोटिधेनु बन्ध'** — **'स्थूलं दत्से सूक्ष्मं धत्से'** इत्यादि (२।३४३) और **'या गीः शी श्रीर्धीः स्त्री'** इत्यादि (२।३४४) **असंख्यपदप्रसू 'कामधेनु-बन्ध'** इसके परमोत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिसके लिये वहां कहा गया है कि —

> **पदग्रहाद् यथालाभं, कामधेनुरियं तु नः।**
> **परार्धानां परार्धानि, प्रसूते श्लोकतर्णकान्** ।। २। १२४।। **वहीं।**

और ऐसे ही **कामधेनुबन्ध, सागरबन्ध, गति-चित्रादि-प्रक्रियात्मक मुक्तक** इस परम्परा के सर्वोत्तम निधि बनकर संस्कृत-साहित्य का गौरव बढ़ाते रहते हैं।

२- अनेक-शब्दालङ्कार —- मुक्तकगर्भ

मुक्तक-रचनाओं का कोई विषय-बन्धन नहीं होता है। मानसिक उल्लास से कवि मुक्तकों की रचना करता है। ऐसे मुक्तकों में जो सुभाषितरूप माने जाते हैं, उनका संग्रह **"सुभाषित-संग्रह"** के रूप में यत्र-तत्र हुआ है। सुभाषित-संग्रहों में भी दो पद्धतियां स्वीकृत हुई हैं, पहली **स्वरचित विभिन्न सुभाषितादि का संग्रह** और दूसरी **विभिन्न कवियों के मुक्तकों का संग्रह**। यह संग्रह कहीं-कहीं विशेष सङ्कलनात्मक ग्रन्थ में भी दिया गया है।

स्फुट मुक्तकों की प्राप्ति तो यत्र-यत्र ग्रन्थों से ही हो जाती है किन्तु इनमें भी कुछ पद्यों के विशिष्ट-प्रकार अथवा प्रभाव के कारण भी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सङ्कलन हुए हैं। इन ग्रन्थों में प्रायः एक प्रकरण ही ऐसा सङ्गृहीत मिलता है जिनमें शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेद से युक्त पद्य भी दिये गये हैं। अतः उनका कुछ परिचय यहां दिया जा रहा है —

(१) कविकर्पटिका रचना — शङ्खधर (सन् ११९२-११४३ ई० के निकट)

शङ्ख, शङ्खधर, शङ्खचड शङ्कर नामक कवि की इस रचना में –**'काव्य-प्रबन्ध में काम आनेवाली सूक्तियों का संग्रह'** हुआ है। एक ही विचार को अनेक प्रकार के छन्दों में व्यक्त करने के साधन दिखाने के साथ ही चित्र-काव्य से सम्बद्ध अनेकविध उदाहरणों का भी सङ्कलन इसमें शंसनीय है। कूटपद्यों का संग्रह भी सटीक दिया है।

शङ्खकवि कान्यकुब्ज के **'महामाण्डलिकाधिराज' गोविन्द नृपति के राजकवि** थे। इनकी एक अन्य रचना **'लटकमेलकप्रहसन'** भी अपने ढंग का अच्छा प्रहसन है।

(२) कवीन्द्र-रससमुच्चय — अज्ञात (१२वीं शती)

सुभाषित-साहित्य की दृष्टि से संगृहीत यह ग्रन्थ सर्वप्रथम उपलब्ध माना जाता है। इसमें ५२५ पद्य हैं जो कि विभिन्न कवियों द्वारा रचित हैं। इनमें शब्दालङ्कार के पोषक अनेक पद्य संगृहीत हैं।

(३) सदुक्तिकर्णामृत — श्रीधरदास (सन् १२०५ ई०)

बंगाल के प्रसिद्ध ४४६ कवियों की स्फुट रचनाओं तथा उद्धरणों का यह संग्रह भी

अनुप्रास एवं यमकपूर्ण पद्यों से अलङ्कृत है।

(४) सुभाषितमुक्तावली[1] — जल्हण (सन् १२५७ ई० के निकट)

नियति, उदारता, धन, सेवा, प्रेम, दुःख आदि अनेक विषयों के आधार पर विभिन्न कवियों की रचनाओं का यह सङ्कलन भी पूर्ववत् महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रसादगुण-सम्पन्न रचनाओं में अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति आदि शब्दालङ्कारों के अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं।

जल्हण संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि हैं। ये दक्षिण भारत के राजा कृष्ण के मन्त्री थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीदेव था।

(५) शार्ङ्गधर-पद्धति — शार्ङ्गधर (सन् १३६३ ई०)

प्रस्तुत सुभाषित-सङ्ग्रह दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर ने १६३ वर्गों में विभक्त ४६८९ पद्यों में किया है। इसी में यत्र-तत्र स्वयं लेखक ने स्वरचित पद्यों का भी समावेश कर दिया है। शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों से सम्बद्ध उदाहरणों का सङ्कलन इसमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

(६) सुभाषितावली — वल्लभदेव (१५वीं शती)

१०१ वर्गों में विभक्त ३५२७ पद्यों का यह संग्रह है जिसमें ३५० से अधिक कविया की रचनाएं हैं और पूर्ववत् ही शब्दालङ्कार पूर्ण पद्य भी सङ्कलित हैं।

(७) सुभाषितावली — श्रीवर (१५वीं शती)

शब्दालङ्कार की दृष्टि से अनेक पद्य इसके सङ्ग्राह्य हैं।

(८) पद्यावली — रूपगोस्वामी (सन् १४९० ई०)

(९) पद्य-रचना — लक्ष्मणभट्ट (सन् १६०० ई०)

(१०) पद्यामृत-तरङ्गिणी — हरिभास्कर (सन् १८८७-९१ ई०)

इस कृति में भी विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखित **'चित्रकाव्यमूलक'** पद्यों का संग्रह विस्तार से दिया है। **कूटपद्य, व्याकरण शास्त्रीय पद्य** एवं **समस्यापूर्तिमूलक पद्य भी** पर्याप्त प्राप्त होते हैं।

(११) पद्यामृत-सरोवर — (अज्ञात)

अज्ञात नाम एवं कालवाली यह कृति अनेक सूक्तियों के संग्रह से पूर्ण है किन्तु अभी अप्रकाशित ही है। इसके 'चित्राख्यान-तरङ्ग' में चित्रालङ्कार के अनेक भेदों के पद्य संगृहीत हैं। कमलबन्धों में द्विदल, त्रिदल, चतुर्दल आदि पद्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. इसका अपरनाम 'सूक्तिमुक्तावली' भी है।

(१२) बृहज्ज्योतिषार्णव-मिश्रस्कन्ध — हरिकृष्ण (१८वीं शती का मध्य भाग)

प्रस्तुत ग्रन्थ में ८ स्कन्ध और १०० अध्याय हैं। औरंगाबाद (महाराष्ट्र) में रहते हुए इस लेखक ने अनेक विषयों से युक्त इस संग्रह ग्रन्थ में छठा स्कन्ध **'मिश्र स्कन्ध'** बनाया है, जिसके ५० से ५३वें अध्याय तक क्रमशः— **गुप्त-अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, चित्राख्यान, प्रश्न, अन्यभाषाचित्र, अनेकार्थी** पद्य, **दुर्घट काव्य तथा भिन्न-भाषाभास** पदों का भी संग्रह दिया है, जो चित्र के विभाग में भी आ सकते हैं। अन्तिम भाग **'सुभाषिताख्यान'** कहलाता है। इसी माध्यम से अन्य ग्रन्थों का भी लेखक ने निर्माण किया है।

(१३) सुभाषितरत्नभाण्डागार — के० पी० परब (१९वीं शती)

श्री परब ने इसमें अपने समय तक के उपलब्ध कवियों के शब्दालङ्कार-मूलक पद्यों का भी एक प्रकरण में संग्रह किया है। जिनमें चित्रालङ्कार के **प्रहेलिका, च्युत, कूट, समस्या** आदि भेद भी पर्याप्त दिये हैं।

(१४) सुश्लोकलाघवम् — बिठोवा अण्णा दफ्तरदार (विठ्ठल पन्त)

(सन् १९१७ में प्रकाशित)

आधुनिक कवि विट्ठल पन्त का यह काव्यसंग्रह सुभाषित साहित्य में महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रायः ५०० **से अधिक पद्य श्लेषगर्भ** हैं तथा इनमें अनेक नवीन विषयों का समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ —

यो रामदासः स्यात् तस्य, कल्याणस्थितिरालये।
सभाजयति तं प्रेम्णा, दुर्गाधीशः सदाशिवः॥ ३३४॥

यहां **'दुर्गाणाम् अधीशः शिवराजः'**, और **दुर्गायाः अधीशः सदाशिवः'** ऐसा श्लेष है।

इस प्रकार के सुभाषित संग्रहों में संगृहीत-साहित्य का सोदाहरण विवेचन यहाँ विस्तार-भय से नहीं दिया गया है, किन्तु इसके सम्वन्ध में यह कहना असङ्गत नहीं होगा कि सूक्तिकार कवि शब्दालङ्कारों के प्रति सदा सजग रहा है तथा उसकी अभिवृद्धि में उसने पर्याप्त योग दिया है।

विभिन्न सामयिक-साहित्य में उर्वरित पद्यों में शब्दालङ्कारों की संयोजना

संस्कृत-साहित्य को पल्लवित करने के लिये तथा कृतिकार अपनी कृति को सर्व-साधारण तक पहुंचाने के लिये सदा ही प्रयत्नशील रहा है। इस कार्य के लिये उसके पास तात्कालिक दो माध्यम थे जिनका उपयोग उसने यथासमय किया है। इनमें पहला था —

१-पत्र-पत्रिकाओं का माध्यम तथा दूसरा था २-समयोचित रचना समर्पण। इन दोनों माध्यमों से संस्कृत-साहित्य के अनेक प्रतिभासम्पन्न कवियों की महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाश में आती रही हैं, जिनमें शब्दालङ्कार-सम्बन्धी साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित हुआ है, जिसका कुछ विवरण इस प्रकार है —

(१) पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शब्दालङ्कारयुक्त मुक्तक

संस्कृत-पत्रिकाओं का इतिहास **'काशीविद्यासुधानिधिः'** नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन सन् १८६६ ई० से आरम्भ होता है। इसके पश्चात् समय-समय पर कई पत्र-पत्रिकाएं प्रकाश में आईं और विलीन हो गईं।[1] इसमें काशी से ही प्रकाशित **'अमरभारती'** पत्रिका (शासकीय संस्कृत कालेज, वाराणसी १९३४ ई०) में अनेक चित्रबन्ध के पद्य, समस्यापूर्तियां और प्रहेलिकाएं छपती थीं। इसी के एक अङ्क में निम्नलिखित **त्रिंशद्दल कमल बन्ध** का पद्य भी छपा था—

मतिमदमलमर्त्यामर्त्यमध्ये मतं मद्विमल मदमथं मत्कामदं मत्समः स्याः।
मतिमदमद मत्वा मर्त्यमत्प्रेमधामन्, कमलमसमभीम श्रीमरुन्मध्वमन्त्रम् ।।

यह **वरखेडकरोपाह्व नरसिंहाचार्य** की रचना है। इसी प्रकार एक **'श्रीः बन्ध'** का भी सचित्र प्रकाशन इसी में हुआ था। यथा—

श्रीध्यानधीरतम भो अभिनन्द्यबोध-स्तव्यस्तवा जनधनं जयति स्म भासा।
सा भव्यभास्वरयतीन्द्रपवित्रिताङ्का, प्राकाशि काशिकबुधैरमरौघवाणी ।।

इसके रचयिता **वरखेडकर नारायणाचार्य थे**। इसमें उक्त पत्रिका के प्रकाशन का भी संकेत है।

अप्पाशास्त्री के सम्पादकत्व में **'समस्यापूर्तिः'** नामक एक पत्रिका १९०० ई० से आरम्भ हुई थी, जिसमें समस्यापूर्तियां ही मुख्यरूप से छपती थीं। इस प्रकार अन्य पत्रिकाओं में भी समस्यापूर्ति, प्रहेलिका, चित्रकाव्यादि छपते रहे। हमने अपने द्वारा सम्पादित संस्कृत मासिक पत्र **'मालवमयूरः'** में भी इस प्रकार के अनेक पद्य मुद्रित किये हैं। देहली से प्रकाशित **'संस्कृतरत्नाकरः'** (पहले जयपुर तथा वाराणसी से प्रकाशित) तथा बम्बई से प्रकाशित **'बालसंस्कृतम्'** आदि में भी ऐसा साहित्य प्रकाशित होता रहा है।

(२) समयोचित रचनाओं में शब्दालङ्कारयुक्त मुक्तक

हमारी यह परम्परा रही है कि हम अपने आदरणीय तथा समाज द्वारा सम्मान्य व्यक्तियों का यथावसर सम्मान करें। इस दृष्टि से कविगण पूज्य महात्माओं, राजाओं, वरिष्ठ नेताओं तथा गण-मान्य विद्वज्जनों के सम्मान में अपनी **'वाक्यपुष्पाञ्जलियाँ'** अर्पित करते रहे हैं। ये कृतियाँ जब अच्छे स्तर पर बढ़ती हैं तो अभिनन्दन-ग्रन्थों में अथवा लघु ग्रन्थों में प्रकाशित हो जाती हैं किन्तु बहुधा अमुद्रित ही रहती हैं।[2] इनमें कवि का कौशल पूरे स्वत्व के

---

१. संस्कृत-पत्र-पत्रिकाओं का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये द्रष्टव्य है—
'संस्कृत-पत्रकारिता का इतिहास' **'डा० रामगोपाल मिश्र'** देहली

२. इस दिशा में स्वतन्त्र प्रयास की अत्यन्त आवश्यकता है। जितने भी बड़े लोग, साधु-

साथ अभिव्यक्त होता है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में स्तव्य की प्रसन्नता और लोक में ख्याति का उद्देश्य भी बना रहता है। ऐसे साहित्य में शब्दालङ्कार को अत्यधिक प्रश्रय मिलता है क्योंकि उसमें सद्योहृदयावर्जकता उर्वरित रहती है।

कई अभिनन्दन-ग्रन्थों में चित्रबन्ध रूप पद्य मुद्रित हुए है और अनेक शब्दालङ्कार पूर्ण रचनाएं उपर्युक्त सम्मान्यजनों के संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं जिनका स्वतन्त्र संकलन एवं परिचय नितान्त अपेक्षित है।

उपलब्धि और सम्भावनाएं

मुक्तकों की रचना में कवि पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है, उसकी प्रतिभा को तात्कालिक घटना अथवा आवश्यकताओं से बल मिलता है तथा वह अपने भावों को स्वच्छन्द रूप से अभिव्यक्त कर सकता है। इतना अवश्य है कि, ये रचनाएं विशृंखलित होती हैं, चिरस्थायिता की इनमें कमी रहती है और कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व भी इनमें निखर नहीं पाता है। तथापि जो प्रबन्ध-रचना में अक्षम होते हैं अथवा जिनको इतना लिखने का अवसर उपलब्ध नहीं होता, वे इन मुक्तक-मौक्तिकों से ही अपनी आभा फैला देते हैं एवं उनकी यह देन भी हमारे लिये स्मरणीय बन जाती है। इस उपलब्धि को भी **इतिहास की दृष्टि से, रचना-वैभव की दृष्टि से, पृथक्-पृथक् वैयक्तिक वैशिष्ट्य से तथा प्रासङ्गिक महत्त्व** से साहित्य के कोश की अमूल्य सम्पत्ति ही कहा जाएगा। साथ ही इस सम्भावना से भी निषेध नहीं किया जा सकता कि ऐसे साहित्य का यदि कालक्रम से गवेषणा-पूर्वक संकलन किया जाए तो अनेक नई विधाएं ज्ञात होंगी, भूले बिसरे कवियों का ज्ञान होगा तथा इतिहास की विशृंखलित कड़ियां जोड़ने में सहायता मिलेगी।

गवेषकवर्ग का इस ओर किया गया प्रयास संस्कृत रचना की दृष्टि से अत्यन्त श्लाघनीय होगा।

::—::

सन्त, मठाधीश, आचार्य, श्रेष्ठिगण, राजा-महाराजा, नेता आदि हुए हैं, और उनके सम्पर्क में विद्वज्जन रहे हैं, उनके यहाँ ऐसा साहित्य भरा पड़ा है।

(गद्यबद्ध काव्य, खण्ड—२)

पहला अध्याय

प्रागालोच्य गद्यबद्ध-वाङ्मय में शब्दालङ्कार

□

१- वैदिक गद्यवाङ्मय में शब्दशय्या (स्वरूप-दर्शन)

संस्कृत-साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से होता रहा है। वैदिक-साहित्य में कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिता में जिस गद्य के दर्शन होते हैं, वही गद्य का आद्य स्वरूप है। इसी संहिता की काठक, मैत्रायणी आदि संहिताओं में भी गद्य का प्रयोग हुआ है। तदनन्तर अथर्ववेद में और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में गद्य का क्रमशः विकसित रूप प्रकटित होता रहा है।

प्रारम्भ में जो गद्य था वह छान्दसप्रयोगों की बहुलता से युक्त व्यवहार की भाषा में निबद्ध था। समासाधिक्य, प्रौढपदविलास, श्लेषाद्यलङ्कार-विच्छित्ति आदि उसमें उपलब्ध नहीं होते हैं। यथा—

भृगुर्वै वारुणिः वरुणपितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत् प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविदन्ति। तद् विजिज्ञासस्व"। (तैत्तिरीयसंहिता)

यहां छेकानुप्रास से युक्त शब्दशय्या व, र, ज आदि वर्णों की बहुलता से मानी जा सकती है। अथर्ववेद में यह प्रवृत्ति कुछ आगे बढ़ी है। यथा —

"व्रात्य आसीदीयमान एवं स प्रजापतिं समैरयत्। स प्रजापतिः सवर्णमात्मात्मन्यपश्यत्। तदेकमभवत्, तल्ललाममभवत् तन्महदभवत्, तज्ज्येष्ठमभवत्, तद्ब्रह्माभवत्, तत्तपोऽभवत्, तत्सत्यभवत् तेन प्राजायत।" (१५ का० १ सू०)

यहां वर्णसाम्य के साथ ही एक ही प्रकार की क्रिया का पुनः पुनः प्रयोग आवर्तन-धर्म की ओर अग्रसर होने लगा।

'ब्राह्मणों' और **'आरण्यकों'** में इस पदशय्या को और प्रोत्साहन दिया गया जिससे गद्य में सौन्दर्य और माधुर्य का समावेश होने लगा। यथा —

"स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच। अथैनमुवाच वरुणं राजानमुपधाव पुत्रो मे जायतां तेन त्वां यजे इति। तथा —इति स वरुणं राजानमुपससार, पुत्रो मे जायतां तेन त्वां यजे इति। तथेति। (एतरेय ब्राह्मण)

"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसः प्रजा न कामयन्त।" (आरण्यक)

इनमें क्रमशः वाक्यावृत्ति और प्रारम्भिक पदावृत्ति गद्य के स्वरूप को कुछ सरस बना रही हैं।

उपनिषदों में यही गद्य हृद्य बनकर व्याकरण के नियमानुसार निष्पन्न पदों में प्रत्ययसाम्य, विभक्तिसाम्य, वचनसाम्य और क्रिया-कालादिसाम्य से प्रयुक्त होने लगा था। यथा—

"तस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। (तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक १)

यहां प्रथमा विभक्ति के एक वचन और बहुवचन तथा पञ्चमी विभक्ति के एकवचन तथा बहुवचन के विन्यास के साथ ही शृंखला के रूप में पदावृत्ति होने से शब्दालङ्कार का अपूर्व रूप प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार 'ऐतरेयोपनिषद्' में भी वर्तमानकाल की क्रिया के प्रयोग गद्य की शोभा बढ़ाते हैं। यथा —

"कतरः स आत्मा येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति॥" (३। १)

अन्य उपनिषदों के गद्य भी इसी प्रकार शब्दालङ्कार के पोषकतत्त्वों से अनुप्राणित पदशय्या से साहजिक रूप में विकास को प्राप्त होते हुए प्रेरणाप्रद बनते रहे हैं।

२- पौराणिक तथा शास्त्रीय गद्य-साहित्य में शब्दालङ्कार संयोजन

(क) पौराणिक गद्य

पुराणों की रचना मूलतः पद्यमयी ही है किन्तु कुछ पुराणों में यत्र-तत्र गद्य का प्रयोग भी हुआ है। वैदिक गद्य एवं लौकिक संस्कृत के गद्य को साथ मिलाने का कार्य पौराणिक गद्यों में हुआ है यह गद्य आलङ्कारिक और प्रासादिक है। भागवत के पञ्चम स्कन्ध तथा अन्य स्थलों पर हमें पौराणिक गद्य का जो रूप मिलता है उसमें साहित्यिक गद्य की सुन्दरता और यत्र-तत्र गाढबन्धता के दर्शन होते हैं। यथा—**"तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धि-बहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति। यदुपजोषणाद् भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति।"**

यहां पूर्वार्ध में अनुप्रासपूर्ण शब्दविन्यास के साथ ही नाद-सौन्दर्यमूलक वर्ण-विन्य स भी रमणीय है।

भागवत में ही गद्यात्मक स्तुतियां भी प्राप्त होती हैं जिनमें शब्दालङ्कार के अनुप्रास और यमक के अतिरिक्त श्लेषालङ्कार का प्रयोग भी हुआ है। वेदस्तुति इसका निदर्शन है।

विष्णुपुराण में भी गद्य प्रयोग हुआ है। यथा—

"यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किंचिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्षयामीत्युक्तेन भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्च स्यमन्तकं नाम महामणिमवतार्यैकान्ते न्यस्तम्।"

यह गद्य पूर्णतः सीधे सादे वचनों में प्रस्तुत है तथापि छेकानुप्रास तो यहाँ म-ग आदि वर्णों के प्रयोगता से स्पष्ट ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी द्रष्टव्य है।

(ख)- शास्त्रीय गद्य

शास्त्रीय गद्य की परिधि में दर्शनग्रन्थों में विषय-प्रतिपादन के लिये गद्य का प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ है। साथ ही कतिपय भाष्यकार तथा टीकाकारों ने भी प्रादासिक भाषा का प्रयोग करते हुए गद्य का ही आश्रय लिया है। इनके प्रयोग गद्य की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है किन्तु शब्दालङ्कार की दृष्टि से इनका विचार करना उचित नहीं है, क्योंकि इनका लक्ष्य साहित्यिक नहीं था।

आयुर्वेद के ग्रन्थ 'चरकसंहिता' में प्रयुक्त गद्यविधा शब्दालङ्कारों के निकट है। वहाँ विभक्तियों के वचनों के समान प्रयोग से 'कारकानुप्रास' का अच्छा स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। यथा—"अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्, क्षीरं जीवनीयानाम्, लवणमन्नद्रव्यसूचिकराणाम्, व्यायामः स्थैर्यकराणाम्, ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्, परदारगमनमनायुष्याणाम्, विषादो रोगाणाम्, स्नानं श्रमहराणम्, शोकः शोषणानाम्, लौल्यं क्लेशकराणाम् "इत्यादि।[1]

इसी प्रकार वहां 'कारकानुप्रास' भी महत्त्वपूर्ण पद्धति से प्रयुक्त है। यथा—नातिसमयं जह्यात्। नियनमं भिन्द्यात्। न नक्तमदेशे चरेत्। न गुह्यं विवृणुयात्। न कञ्चिदवजानीयात्।"[2] इत्यादि। यहां विधिलिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन के प्रयोगों का बाहुल्य है।

ऐसी पद्धति कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में बहुधा अपनायी गई है। जब विप्रसमुदाय उनका पाठ करता है तो सुनने में अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। यथा—

"शान्तिरस्तु। पुष्टिरस्तु। तुष्टिरस्तु। वृद्धिरस्तु। अविघ्नमस्तु। आयुष्यमस्तु।

---

१. चरकसंहिता, सूत्र स्थान २५, २०

२. वही, सूत्रस्थान-८

आरोग्यमस्तु। शिवमस्तु। शिवं कर्मास्तु। इत्यादि।

यहां प्रयुक्त शब्दावली भी क्रमशः पहले दो-दो वर्णों के पदों से प्रारम्भ होती है किन्तु बाद में बढ़ती हुई—"उत्तरोत्तराः क्रियाः शुभाः शोभनाः सम्पद्यन्ताम्" में जाकर पूर्ण होती है।

उपदेशतरङ्गिणी—रत्नमण्डनगणि, कौटिलीय अर्थशास्त्र, वर्णकसमुच्चय, योग-वाशिष्ठ, नीतिवाक्यामृतम्, चाणक्यसूत्राणि आदि अनेक ग्रन्थों में ऐसे नये गद्यप्रयोग उपलब्ध होते हैं जिनमें शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों के दर्शन सुलभता से किये जा सकते हैं।

(३) शिलालेखीय गद्य-साहित्य में शब्दालङ्कार (एक विहगावलोकन)

संस्कृत-साहित्य के अचल-ग्रन्थ के रूप में अपनी गाथाओं को अभिव्यक्त करनेवाले अभिलेख हमारे यहां शिलाओं, स्तम्भों, फलकों आदि पर अंकित हैं। इन अभिलेखों का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। इसमें न केवल राजा-महाराजाओं की प्रशस्तियां ही उत्कीर्ण हैं और न ही भौगोलिक वर्णन, यात्रावर्णन, नगरचर्चा, युद्धवर्णन, विजयवर्णन, वंशवर्णन आदि ही हैं अपितु कवि की अन्तरात्मा का ओज भी निहित है। समसामयिक स्थिति का काव्यमय वर्णन और ऐतिहासिक तथ्य का सङ्कलन इनका महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इनमें वर्णित सामाजिक स्थिति के साथ ही कवित्व का अनूठा पुट भी इसके गौरव को बढ़ाने में सदा सक्षम रहा है।

शिलालेखों की भाषा सुसंस्कृत, आलङ्कारिक तथा काव्यकला से परिपूर्ण होती है। ये साहित्य के गद्य, पद्य और मिश्र — तीनों रूपों में विरचित प्राप्त होते हैं। इनमें १-धार्मिक लेख, २-प्रशंसात्मक लेख, ३-स्मारक लेख, ४-आज्ञापत्र और ५-दानपत्र प्रमुख हैं।

अब तक के प्राप्त अभिलेखों में प्राचीनतम गिरिनगरस्थ रुद्रदामन् का प्रस्तराभिलेख है। इसमें केवल गद्य का ही प्रयोग हुआ है। इसका समय १५० ई० माना गया है। महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने जूनागढ़ में पूर्वनिर्मित सुदर्शन झील का पुनरुद्धार करवाने के उपलक्ष में यह लेख उत्कीर्ण करवाया था। कवि का नाम ज्ञात नहीं है किन्तु वह अवश्य ही उच्च कोटि का कुशल कवि रहा होगा। इसकी भाषा सशक्त और प्राञ्जल है तथा ओजोगुण से युक्त समासशाली गद्य का प्रयोग किया है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास के प्रयोग अधिक मिलते हैं — विशेषकर वर्णानुप्रास के। कहीं-कहीं पद, पदांश और वर्णों की आवृत्ति भी हुई है।

पदावृत्ति यथा—कामविषयाणां विषयाणाम्।

पदांशावृत्ति यथा—पारणधारण, विधेयानां योधेयानाम्।

वर्णावृत्ति यथा—आर्येण आहार्येण, गद्य-पद्य, नाम्ना दाम्ना।

तथा — गिरिशिखरतरुतटाट्टालिकोपतल्पद्वारशरणोच्छ्रयविध्वंसिना······। यहां स्वर एवं व्यञ्जनों की आवृत्ति कुशलतापूर्वक हुई है। ऐसे ही अन्य प्रयोग — शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां, परबललाघवसौष्ठवक्रियेण अहरहर्दानमानानवशानशीलेन स्थूललक्षेण-इत्यादि वाक्यों में भी है। इस शिलालेख से ही—'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारा-

लङ्कृतगद्यपद्य' का उल्लेख तत्कालीन अलङ्कारशास्त्र में शब्दालङ्कार के चित्रालङ्कार भेद के प्रयोग की ओर भी संकेत प्राप्त होता है। शिलालेख से ही सम्बद्ध एक अन्य गद्य का उदाहरण हमें इलाहाबाद के किले में स्थित स्तम्भ पर खुदी हुई हरिषेणकृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में मिलता है जिसका समय सन् ३६० ई० है। इस प्रशस्ति के लेखक हरिषेण ने—'एतच्च काव्य-मेषामेव' कह कर काव्य की संज्ञा दी है। इसमें आरम्भ के आठ श्लोक और अन्त में एक श्लोक है इसी के बीच में एक ही वाक्य में समाप्त होने वाला एक लम्बा गद्यांश है। यथा— "सर्व-पृथिवीविजय-जनितोदयव्याप्त-निखलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललित-सुखविचरणामाचक्षाण इव बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।" इसमें वर्णों का विन्यास अनुप्रास-पूर्ण है और एक विचित्र नादसौन्दर्य के साथ पदशय्या की योजना हुई है, पौराणिक प्रसङ्गों को गर्भित किया गया है तथा एक के बाद एक विशेषणों का प्रयोग है।

सन् ३८८ ई० वलभी के ताम्रपत्र लेख से जो निम्नलिखित गद्य प्राप्त होता है इसमें भी सानुप्रास शब्दविन्यास पूर्वापेक्षा अधिक पुष्ट प्राप्त होता है। यथा—"**तस्य सुतस्तत्पादस-पर्यावाप्तपुण्योदकः शैशवात्प्रभृति खङ्गद्वितीयबाहुरेव समदपरगजघटास्फोटनप्रकाशितसत्त्व-निकषस्तत्प्रभावप्रणताराातिचूडारत्नप्रभासंसक्तसव्यपादनखपङ्क्तदीधितिः सकलता—स्मृतिप्र-णीतमार्गसम्यक् परिपालनप्रजाहृदयरञ्जनादन्वर्थराजशब्दो रूपकान्तिस्थैर्यबुद्धिसम्पद्भिः स्मरशशाङ्काद्रिराजादधित्रिदशगुरुधनेशागतिशयानः······महाराजश्रीगुहसेनः।**"

इसी प्रकार दानपत्रों में भी गद्य का प्रयोग हुआ है। आठवीं शती ईसवी के अन्तिम चरण के लगभग किसी अज्ञातनामा कवि द्वारा तीवरदेव का दानपत्र साहित्यक दृष्टि से महत्त्व पूर्ण है। यह लेख $५\frac{७}{८} = ५\frac{७}{८}$ इंच परिणाम के तीन ताम्रपत्रों पर खुदा हुआ है।[१] इसमें श्रीतीवरदेव द्वारा किये गये दान का उल्लेख है। इसका गद्य अत्यन्त पुष्ट, प्रौढ़ तथा समस्तशैली में है। यथा —

"**स्वस्ति श्रीपुरान् समधिगतपञ्चमहाशब्दानेकनतनृपति-किरीटकोघृटिष्टचरणनखद-र्पणोद्भासितोऽपि कण्ठादुन्मुख-प्रकटरिपुराजलक्ष्मीकेशपाशाकर्षणदुर्ललितपाणिपल्लवो निशित-निस्त्रिंशधनपात-पातितारिद्विरदकुम्भ-मण्डलगलद्-बहलशोणितसदासिक्तमुक्ताफलप्रकरमण्डित-रणाङ्गणविविधरत्नसम्भारलाभलोभ—विजृम्भमाणारिक्षारवारिदावानलाश्चन्द्रोदय इवाकृत-करोद्वेगः**" इत्यादि।

यहां भाषा को नादगत वैशिष्ट्य के साथ ही अनुप्रास-निबद्ध भी बनाया गया है जो छेकानुप्रास के क्षेत्र की वस्तु है। ऐसे ही अन्य उदाहरण कम्बोज देश से प्राप्त शिलालेखों में भी उत्तम शब्दालङ्कारनिष्ठ गद्यों के प्रयोग से पूर्ण प्राप्त होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि पद्यों के समान ही शिलालेखीय गद्यों में भी शब्दालङ्कार सर्वथा आदरपात्र बना है।

---

१. यह दानपत्र मध्यप्रदेश के राजिम नगर के पास मिला था और सर्वप्रथम १८२५ ई० में एशियाटिक रिसर्चेज (वाल्यूम १५, पृ० ४९९) में छपा है।

उपर्युक्त गद्यसाहित्य में नियोजित शब्दालङ्कारों का मूल्याङ्कन

आलङ्कारिक गद्य-विकास की परम्परा का आरम्भ जिस रूप में हुआ उसका ज्ञान हमें उपर्युक्त संक्षिप्त विमर्श से ज्ञात हो जाता है । हमने देखा है कि वैदिक गद्यवाङ्मय न तो इतना विस्तृत है और न इतना अलङ्कृत । सीधी-सादी भाषा में सर्वसाधारण को ज्ञात हो सकने वाले गद्य का प्रयोग वैदिकसाहित्य में है । विहित वहां इतना अवश्य है कि पदों को और क्रियाओं को बार-बार आवृत्त किया है, किन्तु इन आवृत्तियों में अलङ्कार का समावेश उत्तरकाल के गद्य की समता में सामान्य ही है ।

पौराणिक गद्यों में कुछ नवीनता के साथ सुवद्धता का भी परिपाक हुआ और वह गद्य आलङ्कारिकता की ओर उन्मुख होता हुआ प्रतीत हुआ । उत्तरवैदिक साहित्य में नवीन प्रकारों ने प्रवेश पाया और रचनागत परिष्कार भी होने लगा । शिलालेखों के काल में साहित्यकार आलङ्कारिक तत्त्वों से सुपरिचित हो गए और अपनी रचनाओं में गद्य को दीर्घसमासशाली वनाने में सक्षम बने, इतना ही नहीं; अपितु अलङ्कार को पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति देने में भी सफल हुए । इसी दाय को प्राप्ति से गद्यविधा में निखार आया और उत्तरकाल में गद्य का परिनिष्ठित रूप भी स्थिर हो गया ।

संस्कृत-साहित्य में गद्य-विधान की अलङ्कार-पूर्ण शैली की मूलभित्ति की आधार-शिलाओं का विन्यास शिला-लेखों के लेखनकाल में ही व्यवस्थित रूप में हुआ है' —यदि यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । समास-प्रधान गौडशैली में चित्रोपम गद्यविधान श्लेष तथा विरोधाभास के परिधान में शब्दालङ्कारों के विभिन्न स्वरूपों का उन्मीलन भ: इसी काल की देन है । पौराणिक सङ्केतों के माध्यम से कथ्य-तत्त्व की पुष्टि और सरसस्वर-वर्ण-पदावली का प्रयोग करते हुए शिलालेखीय गद्य-शिल्प की विशेषता में प्राथमिक भूमिका प्रस्तुत करते हैं । इन सभी दृष्टियों से इस साहित्य का विस्तारपूर्वक अनुशीलन अपेक्षित है ।

::—::

अध्याय —२

गद्यबद्ध कथा-साहित्य में शब्दालङ्कार

□

अमरकोष के—"प्रबन्धकल्पना कथा" (१-३२१) इस कथन के आधार पर कथा का विषय कल्पित होता है। इस कथा-साहित्य का निर्माण बहुत प्राचीन काल से होता आया है, किन्तु उपलब्ध सुबन्धु की 'वासवदत्ता' से पूर्ववर्ती कोई ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं है।

कथा के विभिन्न लक्षणों की परम्परा में रुद्रट ने कहा है कि—

सानुप्रासेन ततो भूयो लघ्वक्षरेण गद्येन।
रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन्॥

(काव्यालङ्कार १६।२०)

इसके अनुसार कथा में लघु अक्षरवाले अनुप्रास (शब्दालङ्कार) का प्रयोग भी प्रारम्भ से ही मान्य था। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में शब्दसङ्घटना पर विचार करते हुए आख्यायिका में शब्द-योजना कैसी हो, इसका विचार भी किया है। तदनुसार— आख्यायिका तु भूम्ना मध्य-समासा दीर्घसमासा एव सङ्घटते।' इत्यादि (तृतीय प०) कहकर यह संकेत दिया है कि आख्यायिका के अतिरिक्त कथा में भी दीर्घसमासादि का प्रयोग होता है, पर वह रसानुकूल हो। और इस प्रकार क्लिष्ट गद्य का प्रयोग भी कथा का आश्रय बन गया।

यहां पूर्वस्वीकृत पद्धति के अनुसार ही हम पहले 'एक शब्दालङ्कारगर्भ कथा' और तदनन्तर 'अनेक शब्दालङ्कारगर्भ कथा' का विवेचन दे रहे हैं, जो इस प्रकार है—

एक शब्दालङ्कार-गर्भ कथा-साहित्य

१- वासवदत्ता — सुबन्धु (सातवीं शती ई० का प्रारम्भ)

संस्कृत के उपलब्ध गद्य-काव्यों में 'वासवदत्ता' सर्वप्रथम गद्यकाव्य है। चिन्तामणि नामक राजा के पुत्र कन्दर्पकेतु और श्रृङ्गार-शेखर की पुत्री वासवदत्ता की प्रणय-कथा का इसमें रोचक वर्णन हुआ है। सुबन्धु की शैली गौडी है तथा अनुप्रास, यमक और श्लेष का प्रयोग

बड़ी चतुराई से किया गया है। स्वयं सुबन्धु ने कहा है कि—यह कथा "प्रत्यक्ष र-श्लेषमयी" हैं।[1] श्लेषसिद्धि के लिये शब्दों का अभिनव विन्यास, पुराणों के संकेत एवं विभिन्न अन्यान्य अलङ्कारों का उपयोग करते हुए शब्दचमत्कृति और वर्णन-विस्तार भी कहीं-कहीं अधिक किया है। एक क्रिया पर आश्रित विपुलकाय वाक्य की रचना करने में सुबन्धु सिद्धहस्त हैं। संवाद और भाव-प्रधान अंशों में छोटे-छोटे वाक्यों की योजना भी सुन्दर हुई है।

वासवदत्ता में पद्यों की योजना भी मनोरम हुई है। 'समासबहुला गौडी' के अनुसार दीर्घसमासाश्रयी प्रयोग पद्यों में भी परिलक्षित होता है। यथा—

पश्योदञ्चदवाञ्चदवञ्चितवपुः पूर्वार्ध-पश्चार्धभाक्—
स्तब्धोत्तानितपृष्ठनिष्ठितमनाग् भुग्नाग्रलाङ्गूलभृत्।
दंष्ट्राकोटिविशङ्कटास्यकुहरः कुर्वन् सटामुत्कटा—
मुत्कर्णः कुरुते क्रमं करिपतौ क्रूराकृतिः केसरी।।

इस प्रकार के सजीव वर्णनों में अनुप्रास के विविधरूपों के दर्शन सहज हो जाते हैं और यमक भी इसी प्रकार ललित परिलक्षित होता है। यथा —

विषधरतोऽप्यतिविषमः खल इति मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः।।

गद्य में तो सुबन्धु सिद्धहस्त हैं ही। अतः वहां अनुप्रास, यमक और श्लेष की भरमार है। यथा—

"अभूदभूतपूर्वः **सर्वोर्वीपतिचक्रचूडामणि-श्रेणीशाणकोणकषणनिर्मलीकृत-चरण-नखमणिः।**" इत्यादि में अनुप्रास का निपुण प्रयोग है।[2]

'राजसेनरहितो राजसेनरहितो ध्रुवम्। विशारदाविशारदाभ्रविशदा विशदातमनीन-महिमामहिमानरक्षणक्षमा क्षमातिलक। धीरता मनसि भूतता भूतता वचसि, साहसेन! साहसेनकमलाकमलापराजिता पराजिता'[3] तथा—विश्वस्य विश्वस्य व्यवस्थां समासाद्य समासाद्य-नेककालं सङ्गीतसङ्गी तनुषे तनुषे कमनङ्गखपुष्पेषु पुष्पेषु रुजा तरसा जातरसा मन्दा समन्दा

---

१. सुबन्धु ने स्वयं कहा है —

प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्।
सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।।

(वासवदत्ता, प्रास्ताविक पद्य)

२. —वही—, पृ० २३४
६. —वही—, पृ० १८३-८४

क्षणं भ्रमन्ती मुह्यति ।[१] इन उदाहरणों में यमकालङ्कार के प्रयोग दर्शनीय हैं । श्लेष की तो यह रचना आगार ही है ।

सुबन्धु की यह **'वासवदत्ता'** कथा प्राचीन है और इसके साथ ही **'बृहत्कथा'** का भी उस समय पूरा प्रभाव था । इसीलिये वाण भट्ट ने कादम्बरी के प्रास्ताविक पद्य में **''धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा'** (श्लोक २०) लिखकर अपनी कथा की महत्ता प्रतिपादित की है ।

इस प्रकार की 'एकशब्दालङ्कारगर्भ कथा' की परम्परा आगे नहीं बढ़ पाई है तथापि 'शास्त्रकाव्य' के रूप में एक रचना और निम्नलिखित प्राप्त होती है ।

२- कौमुदीकथा-कल्लोलिनी — -पं० रामशरणशास्त्री ((सन् १९६० ई०)

मुरादाबाद के स्नातकोत्तर महाविद्यालय में संस्कृत विभागाध्यक्ष श्री शास्त्री जी ने इस रचना में शास्त्र-काव्य की परम्परा का निर्वाह करते हुए नरवाहनदत्त की कथा को इस प्रकार गूंथा है कि इसमें कौमुदी के व्याकरण-सम्बन्धी सभी प्रयोगों का आवर्जन हो गया है। इस प्रकार गद्यकाव्यों की परम्परा में यह रचना प्रथम है । इसमें कुल ११ कल्लोल हैं जिन्हें पूर्वार्ध में पांच और पश्चार्ध में छह इस प्रकार विभक्त कर दिया गया है । सन्धिप्रकरण से आरम्भ करके उत्तरकृदन्त तक के उदाहरण इसमें गुम्फित हैं ।

अनेक शब्दालङ्कारगर्भ कथा.साहित्य

१-कादम्बरी —;बाणभट्ट (सातवीं शती का पूर्वार्ध)

वाणभट्ट ने कादम्बरी की रचना में पाञ्चाली रीति का अवलम्बन लिया है । कुतूहल-संवलित कथा की पर्याप्त जटिलता रहते हुए भी विशद चरित्र-चित्रण, वर्णन की प्राज्य पेशलता और भाषा के अतुल वैभव के साथ-साथ शव्द और अर्थ का असाधारण सामञ्जस्य किया है । इनका पदविन्यास कहीं कठिन और कहीं सरल है जब कि उसमें अनुप्रासों का माधुर्य विलक्षण है। 'इभकलभकोल्ललनपल्लववेल्लितलवलीवलयैः' तथा 'मधुकरकुलकलङ्कालीकृतकालेयक-कुसुमकुड्मलेषु' जैसे अनेक गद्य खण्डों में अनुप्रास के सभी प्रकार उर्वरित हुए हैं। पूर्णोपमा, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलङ्कारों में किये गये श्लिष्ट-शव्द-प्रयोग[२] सुबन्धु की अपेक्षा सरल और चमत्कारपूर्ण हैं । इसी प्रकार यमक का प्रयोग भी सहज ही हो गया है । शव्दा-लङ्कार के चित्र-नामक भेद और उसके प्रभेदों—'बिन्दुमती, प्रहेलिका, समस्यापूर्ति' से भी वाण पूर्ण परिचित थे। गोष्ठी में इनका प्रयोग होता रहता था । वाण को 'चन्द्रदेव कवि' ने कविकुम्भिकुम्भभिदुरपञ्चानन' कहा है और उसमें श्लेष, रस, अलङ्कार, सार्थकपद प्रयोग तथा

---

१. —वासवदना—, पृ० १८८

२. विन्ध्याटवीवर्णन, शालमल्लीतरु वर्णन आदि-अनेक अंश इसके साक्षी हैं ।

कथा-वर्णनरूप पाँच बातों के वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। बाण की प्रशंसा में 'पाणिपरामृष्टवीणानिक्वाणहारिणी'[१] और 'रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती'[२] वाणी का धनी होने का वर्णन हुआ है और इसी दृष्टि से 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वं' कह कर आलोचकों ने इन्हें महत्त्व दिया है।

बाण की शैली 'पाञ्चाली-रीति-संवलित' है जिसका तात्पर्य है शब्द और अर्थ का समान गुम्फन। इसमें वे पूर्ण सफल हुए हैं। वर्ण्यवस्तु के अनुरूप पद-विन्यास इनकी रचना का विशिष्ट गुण है। हर्षचरित में इनके द्वारा गद्य काव्य के लिये आवश्यक तत्त्वों का भी निर्देश—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षर-बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥

कह कर किया गया है जिसे यहां प्रत्यक्ष कर दिखाया है। इस रचना के उत्तर भाग की पूर्ति इन्हीं के पुत्र 'पुलिन्द भट्ट' ने की है और वह भी उतना ही सफल माना जाता है।

२- (क) दशकुमारचरित — दण्डी (आठवीं शती ईसवी)

'पूर्वपीठिका, उत्तरपीठिका तथा उपसंहार' रूप तीन भागों में विभक्त दण्डी का यह गद्यकाव्य दस कुमारों की कथा के वर्णन में रचित है। समाज के वास्तविक चित्र को उपस्थित करते हुए दण्डी ने इसमें चरित्र-चित्रण अत्यन्त सजीव किया है। संस्कृत-गद्यलेखन में दण्डी सिद्धहस्त हैं। यह मनोरम वैदर्भी रीति में आलिखित है। **'दण्डिनः पदलालित्यम्'** इस उक्ति की चारितार्थता इनके गद्य में सहज, प्रभावपूर्ण, मुहावरेदार, ललित एवं सरल भाषा के प्रयोग से स्पष्ट परिलक्षित होती है। अनुप्रास का प्रयोग मनोहर हुआ है। प्रथम पद्य— **'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः'** इत्यादि में दण्ड शब्द का चारों चरणों में प्रयोग, **अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति' 'असत्येनास्य नास्यं संसृज्यते' 'स पुण्यैः कर्मभिः कर्मभिः प्राज्ये पुरुषायुषं पुनरपुण्येन प्रजानामगण्यतामरेषु'** आदि पद-विन्यासों में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। **'कुमारा माराभिरामा रामस्त्रपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसित'** जैसे अनेक प्रयोगों में यमक की प्रयोगपेशलता पाठक को प्रभावित किये बिना नहीं रहती है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहां शब्द-चित्रों को शब्दालङ्कार के आश्रय से ही सजीव बनाया गया है। दण्डी का भाषा पर असाधारण अधिकार था जिसका प्रमाण दशकुमारचरित का सातवां उच्छ्वास है जिसमें ओष्ठ्य **प-फ-ब-भ-म** वर्णों के प्रयोग का सर्वथा अभाव है। यह भी शब्दालङ्कार के 'निरोष्ठ्य-

---

१. वाणी पाणिपरामृष्ट-वीणानिक्वाणहारिणी।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम् ॥ नलचम्पू, त्रिविक्रम भट्ट।

२. रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥ (धर्मसूरि)।

वर्णप्रयोगजनित वर्णनियम'रूप चित्रालङ्कार का उदाहरण है।

आचार्य दण्डी ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भामह के पश्चात् अपने 'काव्यादर्श' ग्रन्थ द्वारा जैसा स्थायी प्रभाव शब्दालङ्कार के **'यमक और चित्र-प्रभेदों'** के द्वारा स्थापित किया है वैसा ही इस गद्यकाव्य द्वारा भी इस क्षेत्र में स्थापित हुआ है।

(ख) **'अवन्ति-सुन्दरी कथा'** इनकी द्वितीय रचना है, जो इसी के समान शब्दालङ्कार से परिपूर्ण है।

३- तिलकमञ्जरी — धनपाल (दसवीं शती ईसवी)

वाणभट्ट के गद्यकाव्य लेखन की परम्परा का अनुकरण करते हुए धनपाल ने 'तिलक मञ्जरी' में श्लाघनीय प्रयास किया है। इनकी भाषा बड़ी ओजस्विनी और प्राभवशालिनी है। ये भोजराज के सभासद् थे। इनके गद्य में प्रचलित शब्दों के प्रयोग तथा दीर्घसमासपूर्ण पदावलीके प्रयोगाभाव से प्राञ्जलता आ गई है। सन्दर्भानुसारभाषा तथा तदनुरूप शैलीविन्यास द्वारा शब्दालङ्कार के प्रयोग में भी साहजिक सौन्दर्य निखरा है। युद्ध की भयङ्करता का एक उदाहरण इस प्रकार है —

"दर्शकक्षुभितानां च वाजिनां हेषितेन, हर्षोत्तालमूलताडिततुरङ्गबद्धरंहसा च स्पन्दनानां चीत्कृतेन, निष्ठुरधनुर्यन्त्रनिष्ठ्यूतामुक्तानां च निर्गच्छतां नाराचानां सूत्कारेण, समरभेरीणां झाङ्कारेण, निर्भराध्मातसकलदिक्चक्रवालं यत्र साक्रन्दमिव साट्टहासमिव सास्फोटनरवमिव सकलं ब्रह्माण्डमभवत्।"

इस गद्यखण्ड में छेकानुप्रास के प्रयोग के साथ ही युद्धवर्णन के अनुकूल वर्ण-योजना तथा विविधि ध्वनियों का वर्णन स्वाभाविक है।

'क्रियानुप्रास' का प्रयोग भी इनकी रचना में पर्याप्त हुआ है। यथा—

"यथा न धर्मः सीदति, यथा नार्थः क्षयं व्रजति, यथा न राज्यलक्ष्मीरुन्मनायते, यथा न कीर्तिर्मन्दायते, यथा न प्रतापो निर्वाति, यथा न गुणाः श्यामायन्ते, यथा न श्रुतमुपहस्यते, यथा न परिजनो विरज्यते, यथा न मित्रवर्गो म्लायति, यथा न शत्रवस्तरला भवन्ति तथा सर्वमन्वतिष्ठत्।

यहाँ यद्यपि क्रियाओं में विशेष साम्य तो नहीं है किन्तु वचनसाम्य के द्वारा ही इसका महत्त्व परिलक्षित है।

बाण के समान ही परिसंख्यालङ्कार तथा विरोधाभास के प्रयोगों में श्लेषालङ्कार का प्रयोग भी उत्तमरूप से हुआ है।

४- उदयसुन्दरीकथा— सोड्ढल (सन् १००० ई०)

लाटदेश के निवासी कायस्थ कवि सोड्ढल ने कोंकण के राजा मुम्मुणिराज के आश्रम में

इस कथा की रचना की है। इसके छह उच्छ्वासों में नागवंशीय राजकुमारी उदयसुन्दरी और प्रतिष्ठानपुर के मलयवाहन के प्रणय की कथा निवद्ध है। यहीं कवि ने बाण के **'हर्षचरित'** के अनुकरण पर अपने वंश का वर्णन भी किया है। रचनाशैली मनोरम है। कवि के विविध प्रकारों पर भी यहां लिखा गया है। गद्य प्रभावशाली है। शब्दालङ्कार के 'अनुप्रास, यमक **और श्लेष'** नामक भेद और प्रभेदों का समावेश सहज ही हुआ है।

५- अभिनवकादम्बरी — ढुण्ढिराज व्यास (सन् १९२४ ई०)

त्र्यम्बकेश्वर (नासिक-महाराष्ट्र) निवासी, चिन्तामणि भट्टाचार्य तथा शिउबाई के पुत्र ढुण्ढिराज की यह कादम्बरी (वाणभट्ट) के गद्यों के अनुकरण में रचित गद्यपद्यमयी यह कृति है। इसमें पुराणोपन्यासशैली पूर्ण रोचक है। कवि ने अपनी प्रतिभा से एक-एक पद्य के प्रकरणोपयुक्त सात-आठ अर्थ भी किये हैं। इस तरह यह कथा शब्दालङ्कार के प्रमुख भेद श्लेष की प्रयोगगत बहुलता से अलङ्कृत है।

६- मन्दार-मञ्जरी — पर्वतीय पं० विश्वेश्वर पाण्डेय (सन् १७८० ई० जन्मकाल)

अलङ्कार-कौस्तुभ, अलङ्कारप्रदीप, कवीन्द्रकण्ठाभरण आदि ग्रन्थों के लेखक श्री पाण्डेय ने कादम्बरी की गद्यशैली पर यह गद्यग्रन्थ लिखा है। इसमें 'पुष्पपुर' नगरी के राजा 'राजशेखर' का 'मन्दार-मञ्जरी' के साथ दैवसम्बन्ध वर्णित हैं। श्लेषालङ्कार के प्रयोग में कवि ने अपने दार्शनिक पाण्डित्य को भी व्यक्त किया है। यहाँ कुमारशिक्षा, प्रधानामात्य का उपदेश, मदयन्ती की कामदशा आदि कादम्बरी के समान ही वर्णित हैं। इसका पूर्वार्ध ही कवि ने लिखा है। उतरार्ध इन्हीं के शिष्य ने पूर्ण किया है, जो अमुद्रित है।

७- कथामुक्तावली — पण्डिता क्षमा राव (सन् १८९० से १९५४ ई०)

आधुनिक युग में सरस संस्कृत कहानियों द्वारा संस्कृत-साहित्य को समृद्ध बनाने का श्रेय पण्डिता क्षमाजी को है। इन्होंने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएं की हैं। इनकी गद्यात्मक कहानियों का संकलन 'कथामुक्तावली' के नाम से प्रकाशित है। इसमें आधुनिक पद्धति की १५ कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ सरस और घटनावैचित्र्य से युक्त होने के साथ ही शब्दालङ्कार से पूर्ण हैं। अनुप्रास का प्रयोग सर्वत्र उदारता से किया गया है। प्रसाद और माधुर्य गुण सभी गद्यों में व्याप्त है। **'तापसस्य पारितोषिकम्'** शीर्षक कहानी में उर्मिला के सम्बन्ध में लिखित गद्य का एक अंश इस प्रकार है —

"प्रस्फुरच्चन्द्रकलाकलिकाविलोकनेन झिल्लीभ्रमरादिझङ्कारनिशमनेन समुन्मीलितमालतीकुसुमसुगन्धघ्राणेन, वन्यपाटल-पटलपरागपुञ्जसुरभितविलोलशीतलसमीरस्य संस्पर्शनेन, सान्द्रद्रुमनिकरेषु वह्निकणदीप्तिजित्वरखद्योतद्युतिविलोकनेन पयःफनेसाराच्च विसदृशया ज्योत्स्नया धवलितस्य समीपवर्तिनस्तडागस्यावलोकनेन द्विगुणितविषादाऽभूदुर्मिला।"

यहाँ पदवन्ध की सान्द्रता अनुप्रासनिष्ठ है। वर्णानुप्रास की विशदता से गद्य में लालित्य आ गया है।

इसी प्रकार एक अन्य कथा **'मायाजालम्'** में लिखा है—

"नगरीयममरावती सौन्दर्याधरीकारिणी वसुधातलनिखिलनगरीललालभूता बुवाद-बुलोयन्-तुलरीनामक-विविधरम्यतमोपवनजितनन्दनवनरामणीयकशोभिता, कूजन्नानाविध-सुन्वराण्डजविलसन्नीलोत्पलजलाशयसुषमानिधेर्देवता" इत्यादि । यहां भी उसी पद्धति का निर्वाह हुआ है ।

अन्य लघुकथाएं

वर्तमान युग में संस्कृतभाषा में लघुकथाओं के लेखन का अच्छा विकास हुआ हैं । इसका मुख्य कारण अन्य भाषा-साहित्य की अनुकरण-प्रवृत्ति है । इसके लेखन में एक विशिष्ट-कारण पत्न-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी है । पत्रिकाओं में पद्यात्मक साहित्य प्रकाशित होता है वहीं गद्यकृतियाँ भी बहुत प्रकाश में आती हैं । इसी प्रसंग से अन्य भाषा की बहुचर्चित प्रतिनिधि कहानियों के अनुवाद भी संस्कृत-भाषा में हो रहे हैं । **महामहोपाध्याय श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री, श्रीगणेशराम शर्मा** आदि अनेक विद्वानों ने लघुकथाएं लिखी हैं । ये कहानियां संस्कृत गद्य के महत्त्व को तो प्रस्तुत करती ही हैं साथ ही इनमें हुए शब्दालङ्कारप्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है ।

प्रकीर्ण गद्यसाहित्य और शब्दालङ्कार

संस्कृत भाषा के प्रारम्भिक साहित्य में पद्य-रचना का ही अधिक प्रचलन रहा जब कि मध्यकाल में इस ओर कुछ ध्यान गया और गद्य-रचना के कतिपय काव्यात्मक प्रकार निर्धारित होकर उन पर रचनाएं की गईं । ऐसी रचनाओं में कथा, **'आख्यायिका'** तथा चम्पूकाव्यों में गद्य का प्रयोग हुआ तथापि कथा और आख्यायिकाएं उतनी मात्रा में निर्मित नहीं हुई । हाँ, मिश्ररूपात्मक चम्पूकाव्यों के निर्माण में अवश्य ही कवियों ने उत्साह दिखलाया है जिससे उसके अनेक रूप प्रस्तुत हुए हैं ।

तदनन्तर उत्तरकाल में गद्य-प्रयोग का क्षेत्र विस्तृत वनता गया । वस्तुविवेचन और शैली की दृष्टि से संस्कृत गद्यकाव्य में अनेक धाराओं ने विकास पाया । स्तुति व प्रशस्ति, उपन्यास. जीवनी, यात्रावर्णन, कहानी और लघुकथा, यिबन्ध और प्रबन्ध, आलोचना, पत्रलेखन आदि सभी ने गद्य के क्षेत्र को विकसित किया । इनमें भावप्रवण गद्यसाहित्य, स्तुति, प्रशस्ति, अभिनन्दन-पत्रादि का है । इसमें प्रयुक्त दण्डक-गद्य शब्दालङ्कार के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं ।

उपन्यासों की रचना में अन्य भाषा से अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार के उपन्यास निर्मित हुए हैं । **क्षत्रियरमणी, दुर्गेशनन्दिनी, इन्दिरा, लावण्यमयी, कपाल-कुण्डला, दत्ता** आदि बंगाली भाषा से अनूदित हैं । अंग्रेजी से भी कुछ नाटक और उपन्यास अनूदित होकर **"उद्दालचरितम्, कनकलता, भारतविलासम्, देवराज्यं"** आदि आए हैं । **"सौदामिनी, सरला, वीरमती, मकरन्दिका, कुन्दमाला, सती छाया"** जैसे मौलिक उपन्यास संस्कृत में निर्मित हैं । जीवनियां, यात्रावर्णन, लघुकथाएं, निबन्ध आदि सभी का साहित्य संस्कृत में पर्याप्त विकसित

रूप में प्राप्त होता है और इन सभी में शब्दालङ्कार के अनुप्रास और यमक भेदों का यथोचित समावेश होता रहा है।

संस्कृत गद्य-काव्य की धारा वैदिक गद्य से प्रारम्भ होकर कहीं रुकी नहीं है। तथापि इसके रूप में परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक गद्य वहाँ सीधा-सादा, बोलाचाल का गद्य था जिसमें न लम्बे-लम्बे समासों का और न अलङ्कारों का प्राधान्य था, वाक्य छोटे-छोटे सरल एवं सुबोध थे। बाद के दार्शनिक ग्रन्थों में गद्य का कुछ विकास हुआ। यहां सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति के लिये गद्य को प्रौढ तथा सुसंगठित बनाया गया किन्तु अलङ्कारों का प्रयोग यहां आवश्यक नहीं था। केवल कतिपय नवीन परिभाषिक शब्दों के प्रयोग से इस गद्य में आलङ्कारिक तत्त्वों का प्रवेश अवश्य हो गया। इसके पश्चात् गद्य-काव्य की दो धाराएं चल पड़ीं जिनमें **१- गद्यकाव्य** और **२-नीतिकथासाहित्य** की परम्परा बहने लगीं। इनके अतिरिक्त गद्य का प्रयोग नाटकों और चम्पूकाव्यों में भी हुआ है।

गद्यकाव्य की प्राचीन कथाएं आज उपलब्ध नहीं हैं, तथापि पतञ्जलि (ई० पू० द्वि० शतक) के **'अधिकृत्य कृते ग्रन्थें बहुलं लुग् वक्तव्यः।' 'वासवदत्ता' सुमनोत्तरा न च भवति भमरथी'** इस वचन से ज्ञात होता है कि उस समय ये कथाएं वर्तमान थीं। इतना ही नहीं, इससे पूर्व वार्तिककार कात्यायन (ई० पू० चतुर्थ शतक) भी कथाओं से परिचित थे। उस समय **आख्यान, उपाख्यान, आख्यायिका, कथा, इतिहास, पुराण** आदि एक समृद्धिशाली गद्य-साहित्य की धरोहर थे। यही प्रक्रिया आगे बढ़ी और इसमें कथा-साहित्य ने अपनी अलङ्कृत-पद्धति, द्वारा जनमोहन का कार्य किया। शब्दालङ्कार इनमें व्यवहृत होकर इनकी शोभावृद्धि करता है पाठकों को कथा के साथ ही आनन्द प्रदान करता है तथा यह अपनी प्रयोग-माधुरी द्वारा आकर्षण का केन्द्र बन गया है।

:: × ::

आख्यायिकाओं में शब्दालङ्कारों का संयोजन

□

(१) हर्षचरित — बाणभट्ट (सातवीं शती का पूर्वार्ध)

गद्यकाव्य के महान् लेखक बाणभट्ट की यह प्रथम कृति आख्यायिका के रूप में लिखी गई है। इसके आरम्भ में कवि ने तीन उच्छ्वासों में अपने वंश का वर्णन किया है तथा शेष पांच उच्छ्वासों में अपने आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्धन के जीवन का कुछ अंश सुनाया है। कथा-वर्णन से पूर्व पद्यात्मक प्रस्तावना है, जिसमें गद्यशैली का परिचय भी दिया है। बाण ने ऐतिहासिक कथानक को काव्यरूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है। इसी प्रकार कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण में भी कौतूहल-वर्धन के हेतु घात-प्रघात की योजना की है।

रस और भाव व्यञ्जना के अनुकूल वर्णों का प्रयोग होने से रचना का महत्त्व बहुत श्लाघनीय है। यथा —

"**आशावारणोत्क्षिप्त इवालानलोहस्तम्भः, महाबाहु-पीवरस्कन्धपीठो नरकासुर इव भुवो गर्भादुद्भूतः, बभ्रिलदानव इव भित्त्वोत्थितः पातालम्, स्थिरस्थूलोरुदण्डः, भूमिभङ्ग-भयेनेव मन्थराणि स्थापयन् पदानि**"[1] इत्यादि वीर-रसात्मक वर्णन में रसानुकूल वर्णों का प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार अनुप्रासप्रधान पदावली का प्रयोग भी निम्न गद्यों में दर्शनीय है—

"**हूणहरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गूर्जरप्रजागरो गान्धाराधिकगन्धद्विपकूटपालको लाटपाटवपाटच्चरो मालवलक्ष्मीलतापरशुः**"[2] इत्यादि। तथा—

सकलचापचापलदुर्ललितनरपतिचरणरणरणायमाननिगडां निर्गौडां न करोमि मेदिनीं ततस्तनूनपान्निपीतसर्पिषि पतंग इव पातकी पातयाम्यात्मानम्।[3]

इनमें यत्र तत्र यमकालङ्कार के प्रयोग भी सहज हो गये हैं। **'ओज गुण और समास की बहुलता** गद्य का जीवन है' इस तथ्य को मानो सामने रखकर ही बाण ने अपने गद्य-विधान का निर्णय किया है। इतना ही नहीं, गद्य के ही अन्य अनेक प्रकारों का मानों यहां निर्धारण

---

१. हर्षचरित, २ उच्छ्वास, पृ० ५१-५२

२. वही, ४ उ०,

३. वही ४ उ०

किया जा रहा हो, उस दृष्टि से प्रयोग दिये हैं। यथा—

"रटत्पटहे········द्रुतद्रुघणघातघट्यमानकोणिका कीलकोलाहलकलितककुभि बलाधिपतिबध्यमानपाटीपतिपेटके···, कटुककटुनिर्देशनस्योन्निद्रोन्मिषान्निपादिनी···रटत्कटकमुखरखनित्रखन्यमानक्षोणीपाशे'[1] इत्यादि प्रयोगों में जहां अनुप्रासयुक्त दीर्घसमासशाली पद-प्रयोग है, वहीं—

"नन्दन्नान्दीके गुञ्जद्गुञ्जे कूजत्काहले शब्दायमानशङ्खे लेशिकमुच्यमानमदस्यन्दिदन्तिसन्दानभृङ्खलाखनखननिनादनिर्भरभरितदशदिशि'[2] जैसे चूर्णकरूप गद्यों का प्रयोग भी हुआ है।

पूर्णोपमा, विरोधाभास और **परिसंख्या** में श्लेषालङ्कार-प्रयोगों की भी कमी नहीं है। यथा —

"संनिहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च, पुण्डरीकमुखी हरिणलोचना च, बालातपप्रभाधरा कुमुदहासिनी च "[3] तथा— अस्मिंश्च राजनि यतीनां योगपट्टिकाः, पुस्तकर्मणां पार्थिवविग्रहाः, षट्पदानां दानग्रहणकलहाः"[4] इत्यादि।

वाणभट्ट ने शब्दालङ्कार-पोषक तत्त्वों में **वर्ण, शब्द, विभक्ति, वचन** और **क्रियागत साम्य** के जो रूप प्रस्तुत किये हैं, वे सर्वथा सराहनीय हैं। विषयानुकूल अलङ्कार योजना के लिये वाण की प्रसिद्धि सर्वविध सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

२- गद्यचिन्तामणि — वादीभसिंह (सन् १००० ई०)

कथानक और शैली की दृष्टि से कादम्बरी तथा तिलकमञ्जरी का अनुकरण करते हुए वादीभसिंह ने इस ग्रन्थ की रचना की है। ये दिगम्बर जैन मुनि थे। जिनसेन के महापुराण में वर्णित जीवन्धर की कथा का वर्णन यहां ११ लम्बकों में किया गया है। इनका गद्य अलंकृत-शैली का हृदयावर्जक गद्य माना जाता है। कवि का अपर नाम **'ओमद्देव'** भी प्राप्त होता है।

इस ग्रन्थ में प्रयुक्त गद्य का एक उदाहरण इस प्रकार है —

"रिक्तस्य न वचो जीवति, नाभिजात्यं जागर्ति, न पौरुषं परिस्फरति, न विद्या विद्योतते, न शीलमुन्मीलति, न शेमुषी समुन्मिषति, न धार्मिकता सम्भाव्यते, नाभिरूप्यं निरूप्यते, न प्रश्रयः प्रशस्यते, न कारुण्यं गण्यते, पाकः पलायते, विवेको विनश्यति, किमन्न्यन्न भ्रश्यति ?

---

१. वही, ७ उ० पृ० ५४
२. वही।
३. वही १, पृ० १२ तथा
४. वही, पृ० ३५

प्रस्तुत गद्यांश में वर्णगत अनुप्रास का पूरा निर्वाह है साथ में वर्तमान काल के प्रथम पुरुष की एक वचनान्त क्रियाओं का निरन्तर-प्रयोग भी **'क्रियानुप्रास'** के स्वरूप को प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार इसी काल की वहुवचनान्त क्रिया का प्रयोग इस प्रकार है —

"आकाशेऽपि विचरन्त्यम्बुनाथमप्यतितरन्ति, पातालमपि प्रविशन्ति, असुरविवरण्यावसन्ति, मेरुशिखरमप्यारोहन्ति, विषधरैरपि क्रीडन्ति, कुपुरुषैरपि व्यवहरन्ति, कुण्डरानपि वशीकुर्वन्ति, मृगपतीनपि बध्नन्ति, विलासिनीहृदयान्यप्यावर्जयन्ति, दुर्हृदयान्यप्याराधयन्ति नियतपृष्ठोद्यमा मनुष्याः।"

यहाँ मानव के पुरुषार्थ की महत्ता वताते हुए स्फुट गद्य का उत्तम स्वरूप प्रस्तुत है। इसी प्रकार दीर्घ समासवाले पद तथा श्लेषपुष्ट अलङ्कृत गद्यों के प्रयोग भी रमणीय बने हैं।

३- वेमभूपालचरित — वामनभट्ट बाण (सन् १५०० ई०)

वाण के हर्षचरित की अनुकृति में रचित यह गद्यकाव्य भी उत्तर काल के गद्यकाव्यों में अच्छा स्थान रखता है। इसमें वर्णित वेमभूपाल--वीरनारायण केवल भूपाल ही न थे, अपितु स्वयं सरस्वती के उपासक भी थे। उन्होंने **सप्तशतीसार, साहित्यचिन्तामणि** तथा **अमरुशतक की टीका 'शृङ्गारमञ्जरी'** की भी रचना की है। इन्हीं के सभाकवि वामन भट्ट की यह कृति है। कवि ने स्वयं की प्रशंसा में कहा है कि —

> **वाणादन्ये कवयः, काणाः खलु सरसगद्यसरणीषु।**
> **इति जगति रूढमयशो वामनवाणोऽपमार्ष्टि वत्सकुलः॥** श्लोक ६, पृ० २॥

कवि को **'षड्भाषावल्लभ, कविसार्वभौम** और **अभिनव भट्टबाण'** जैसी उपाधियों से विभूषित किया गया था। इसमें गद्य और पद्य दोनों ही सरस तथा अलङ्कार से युक्त हैं। शब्दालङ्कारों का निर्वाह पूर्व गद्यों के समान ही हुआ है। कवि ने अन्य अनेक काव्य रचनाएं भी की हैं जिसमें **'नलाभ्युदय, रघुनाथचरित, पार्वतीपरिणय, कनकलेखा"** आदि प्रमुख हैं।

४- शिवराज-विजय — अम्बिकादत्त व्यास (सन् १६५८ ई० जन्मकाल)

घटिकाशतक, शतावधानी, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की यह रचना संस्कृतगद्यकाव्य की परम्परा में एक नवीन प्रयोग के रूप में प्रसिद्ध है। स्वलिखित **'गद्यकाव्यमीमांसा'** ग्रन्थ के गद्यकाव्य के भेद-प्रभेदों का जो उल्लेख व्यास जी ने किया है, उस दृष्टि से यह **'ऐतिहासिक उपन्यास'**—गद्यकाव्य है। तत्कालीन हिन्दी साहित्य में प्रचलित उपन्यासशैली ही आपके लिये प्रेरक रही है। रचना की भाषा में शब्दालङ्कारों का प्रयोग बड़ा ही मनोहर है। भारत की दुरवस्था का वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है —

"अद्य हि वेदा विच्छिद्य वीथिषु विक्षिप्यन्ते, धर्मशास्त्राण्युद्धूय धूमध्वजेषु ध्मायन्ते पुरा-

णानि पिष्ट्वा पानीयेषु पात्यन्ते, भाष्याणि भ्रंशयित्वा भ्राष्ट्रेषु भर्ज्यन्ते"[1]

यहां विषयानुसारी वर्णन के साथ ही जिस आद्य अक्षर से शब्द आरम्भ किये हैं उनका प्रतिवाक्य में वैसा ही निर्वाह है। पदाद्यनुप्रास की यह प्रवृत्ति व्यासजी ने बहुधा निभाई है। ऐसे प्रयोग भी यहां बहुत हैं जिनमें प्रयुक्त शब्दों की काव्यानुगुणता अक्षुण्ण रही है। यथा—**'कदा तव कौमोदकी मोदं जनयिष्यति, कदा तव नन्दको नन्दयिष्यति।'** यहां अनुप्रास के साथ ही वस्तु के सामर्थ्य का वर्णनौचित्य भी विशिष्ट है।

शोणितशोणधाराभिः,[2] लुण्ठका यथा न लुण्ठेयुः,[3] कटिपाच्छन्नच्छुरिकाम्,[4] दारुणदानवोदन्तोदीरणैर्न दीर्यते,[5] नितान्तविरहक्लान्तपरमदान्तशून्यस्वान्तकान्तजनज्वालाजटालदावज्वलनजाज्वल्यमानाङ्गारककदम्बमिव'[6] असावेव चर्करीति बर्भर्ति जर्हर्ति च जगत्,[7] गावो हन्यन्ते, वेदा विदीर्यन्ते, स्मृतयः सम्मृद्यन्ते, मन्दिराणि मन्दुरीक्रियन्ते, सत्यः पात्यन्ते सन्तश्च सन्ताप्यन्ते'[8] जैसे अनेक प्रयोगों में छेक, वृत्ति और अन्त्यानुप्रास की भरमार है।

यमक के प्रयोग भी यहाँ—**शारदशर्वरीशर्वरीसार्वभौमकिरणकिरणोद्भूतकीलालालीव्यालीढचन्द्रकान्तजालीभूतलोचनः,[9] कोमलतमवेषेशेषे शेषे,[10] अष्टापदरचितमष्टापदम्,[11]** जैसे वाक्यखण्डों में प्रयुक्त है। इसी प्रकार श्लेष का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है।

४- प्रकीर्ण गद्य-कथानिकाओं में शब्दालङ्कार

'गल्प, लघुकथा, कथानिका' आदि प्रकार भारतीय प्राचीन कथाओं की ही सन्तति हैं, किन्तु विदेशी संस्कारों से इनका स्वरूप छोटा होता गया है। युग की आवश्यकता, सामायिक साहित्य-प्रवाह एवं पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर की दृष्टि से पाठकों के क्षणिक मनोरञ्जन तथा ज्ञान-वर्धन के साधन के रूप में कथानिकाओं का विकास हुआ है।

इन कहानियों में प्राचीन कहानियों की अपेक्षा अनेक नवीनताएं आ गई हैं। संस्कृत कथाओं में जो अन्तःकथाएँ दृष्टान्त के रूप में प्रसङ्गवश प्रविष्ट की जाती थीं उनसे इनका स्वतन्त्र उद्भव हुआ हो, यह भी कहा जा सकता है। प्राचीन समय में ग्रामवृद्ध जो कि कोविद होते थे, वे चौपाल में अवकाश के समय ऐसी कथाओं का आख्यान करते थे इसका प्रमाण हमें हमें कालिदास के 'उदयनकथाकौविदग्रामवृद्धान्' (पूर्वमेघ ३२) से प्राप्त होता है।

'पञ्चतन्त्र' की कहानियों में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग होते हुए भी वहां गद्य का प्रयोग यत्र-तत्र अलङ्कृत रहा है। इसके पात्र पशु-पक्षी ही हैं और उसके माध्यम से नीति-शिक्षा की

---

१. शिवराज विजय पृ० १४
२. शिवराज विजय पृ० १७ ३. वही, पृ० २००, ४. वही, २४१,
५. वही, पृ० १७, ६. वही, पृ० ३१८, ७. वही, पृ० ३,
८. वही, १८, ९. वही, पृ० १७९, १०. वही, पृ० १७३-७४,
११. वही, पृ० २८०

पल्लवित किया गया है। इसी का अनुकरण **'हितोपदेश'** में भी हुआ है। जिसमें **मित्रलाभ** और **मित्रभेद** सम्बन्धी नीतियों पर आधारित कहानियां है। किन्तु केवल गद्यात्मक कहानियों का विस्तार से प्रयोग इसी शताब्दी की देन है। ऐसी कहानियों की परिभाषा —''जीवन के किसी एक पक्ष की झाँकी मात्र''—है। एक निश्चय लक्ष्य या प्रभाव को रखकर लिखे गये नाटकीय-आख्यान की भांति स्वतः पूर्ण और केन्द्रित घटना के उत्थान-पतन से पात्रों के चरित्र को विकसित कर पाठक को अभिभूत करने का कार्य इन कहानियों से सिद्ध होता है।

जातक-कथाओं में भी इस पद्धति का विकास हुआ है। जातकों की भाषा यद्यपि पाली रही है किन्तु गद्य का जैसा प्रयोग वहां हुआ है, वह संस्कृत से ही प्रभावित है। आर्यशूर की **'जातक-माला'** में कई कथाओं को काव्य शैली में प्रस्तुत किया गया हैं। इसमें अनुप्रास आदि शव्दालङ्कारों के प्रयोग मधुर हैं। यथा—

'ततश्चकम्पे सधराधरा धरा, व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः।' इत्यादि।

इसी प्रकार गद्य में लम्वे-लम्वे अलङ्कृत पद भी प्रयुक्त हैं।

मिलिन्द पह्नो (मिलिन्द प्रश्न) में ऐसे गद्य का विकास अधिक है। अतः कुछवि द्वानों ने संशय किया है कि 'ये गद्य पहले संस्कृत में रहा होगा और वाद में पाली में अनूदित किया होगा।'[1] इसी प्रकार जातक कथाओं में दन्तकथा और लोककथाओं को भी प्रवेश मिला है। ऐसी कतिपय कृतियों का परिचय इस प्रकार हैं।

१- उपमितिभवप्रपञ्चकथा — (सन् ९०६ ई०)

यह एक जैन कृति है। इसमें आलङ्कारिक भाषा के माध्यम से आत्मा का समग्र वर्णन किया गया है। इसमें उद्धरण के रूप में यत्र-तत्र पद्य का प्रयोग है किन्तु यह मूलतः गद्य कृति ही है। इसका गद्य अलङ्कार पूर्ण है तथा इसमें शव्दालङ्कारों को प्रश्रय मिला है।

२- वेतालपञ्चविंशति— में रोचक कथाएं हैं। इसके गद्यात्मक संस्करण भी अनेक हैं। शिवदास (सन् १४८७ ई० से पूर्व) के संस्करण में बीच-बीच में श्लोक भी हैं. जवकि **जम्भलदत्त** का संस्करण विशुद्ध गद्यात्मक ही है। इसकी २५ कहानियों में गद्य-प्रयोग अलङ्कारपूर्ण है।

६- सिंहासन-द्वात्रिंशिका — (ले० अज्ञात)(१४वीं शती ई०)

विक्रमादित्य से सम्वद्ध इस द्वात्रिंशिका का अपरनाम **'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका'** भी है। इसमें प्रयुक्त गद्य का उदाहरण इस प्रकार है —

''···तदा पिता ह्यात्मनो जरां ज्ञात्वा मुख्यामात्यमाहूय मुञ्जनामानमनुजं महाबलमालोक्य पुत्रं च बालं वीक्ष्य विचारयामास — यद्यहं राजलक्ष्मीभारधारणसमर्थं सोदरं मुञ्जमपहाय राज्यं पुत्राय प्रयच्छेयम्'' इत्यादि।

ऐसे गद्यों में यत्र-तत्र शव्दालङ्कार के प्रथमभेद अनुप्रास का प्रयोग होता रहा है।

---

१. द्रष्टव्य — **''संस्कृत साहित्य का इतिहास''** वलदेव उपाध्याय, पृ० ३७८

४- भोज-प्रबन्ध — बल्लालदेव (सोलहवीं शती)

इस ग्रन्थ का गद्य पूर्वोक्त ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक अलङ्कृत है।

उन्नीसवीं शती का अन्तिम दशक और बीसवीं शती का काल लघुकथाओं के विकास का काल है। इसमें सहस्राधिक लघुकथाएं लिखी गई हैं। अम्बिकादत्त व्यास के **'रत्नाष्टक'** में हास्य व उपदेशप्रधान आठ कहानियाँ हैं। इन्हीं का अन्य संग्रह **'कथाकुसुमम्'** है। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर ने **'अरेबियन नाइट्स'** का अनुवाद **'कथाकल्पद्रुम'** के नाम से किया है। मेरी लम्ब के **'टेल्स फ्राम शेक्सपीयर'** का अनुवाद **'शेक्सपीयरनाटककथावली'** के नाम से **मेडपल्ली वेंकटरमणाचार्य** का प्रस्तुत है। इसी प्रकार—

१- **कथा संग्रह** (केरल वर्म वलिय कोइतम्बुरान), **२- कथामञ्जरी** और **३-नाटक कथासंग्रह** (अनन्ताचार्य कोडम्वकम्) ४- **कथासप्तति** (मन्दिकल रामशास्त्री) और ५. गद्य-कथा (तिरुनारायण अयंगार) की प्रकाशित है।

इन संग्रह ग्रन्थों के अतिरिक्त सैकड़ों कहानियां समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं, इनमें कुछ का विषयानुसार विवरण इस प्रकार है—

(क) पौराणिक कहानियां— **उदाहरणम् (उपेन्द्रनाथ सेन), शिवहास्यम् (मनुजेन्द्रदत्त), सत्यदेवकथा (रामावतार शर्मा), भद्रसोमा (चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय), मणिकुण्डलोपाख्यान, दधीच्युपाख्यान, पौराणिकी काचित्कथा (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर)।**

(ख) उपदेशप्रधान— **व्याघ्री-विवाहार्थी शृगालः, वशीकृतभूतः, धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः, ईश्वरस्य धनदानक्रमः, राक्षसप्रश्नम्, बुद्धिमाहात्म्यग्, (जयचन्द्र सिद्धांतभूषण भट्टाचार्य), अदूरदर्शिता, संशयात्मा विनश्यति (द्वारकानाथ शर्मा), शत्रुसङ्कीर्णे कथं वस्तव्यम् (नन्दलाल शर्मा), दशापरिणतिः, चित्रकारचातुर्यम्, कुटिलमतिर्नाम गोमायुः, बकचापलम्, भगवद्भक्तः किमर्थं सद्गुरुः, (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर)।**

(ग) भावनात्मक और **मनोवैज्ञानिक— साधुमणिः (के० श्रीनिवास), रामो नास्तीह भूतले (उपेन्द्रचन्द्र व्याकरणतीर्थ), छायापथः (चन्द्रचूड शर्मा), प्राधान्यवादः, विप्रलब्धा (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर), मदीयः स्वप्नः (रामनाथ शास्त्री,) सत्यो बालचरः, विषमा समस्या तथा बालकभृत्यः (भट्ट मथुरानाथ शास्त्री)।**

(घ) **हास्य और व्यङ्ग्यपरक—दर्दुरविलापः (चन्द्रचूड़ शर्मा), वेषमाहात्म्यम्, व्यसनविमोक्षः, पुरोहितधौर्त्यम् (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर), लालाव्यायोगः, चपण्डुकः शिष्याः, फाल्गुनगोष्ठी (भट्ट मथुरानाथ शास्त्री), कलिप्रादुर्भावः (वाई० महालिंग शास्त्री)।**

(ङ) **सामाजिक— मम गृहरहस्यम् (विश्वेश्वर शर्मा), पल्लिच्छविः (उपेन्द्रनाथ सेन), श्रीमती विद्यासुन्दरी देवी (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर), चरितम्, नैष्ठिकब्रह्मचारी (चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय), अपत्यविक्रमः, क्षुत्कथा, दीनकन्यका (विधुशेखर भट्टाचार्य), वासन्ती (दिवेन्द्र ब्रह्मचारी), एकवारं दर्शनम्, दयनीया, अनावृता (भट्ट मथुरानाथ शास्त्री)।**

(च) प्रणयसम्बन्धी-- यथार्थप्रेमिकः, आदर्शपतिः (चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय) प्रेम्णः प्रतिदानम्, दीक्षा (भट्ट मथुरानाथ शास्त्री)।

(छ) ऐतिहासिक— बहूपचिकीर्षा— (पन्ना धायसम्बद्धा) (द्वारकानाथ शर्मा), क्षत्र-कथा (गौतम बुद्धः) (विधुशेखर भट्टाचार्य), संयोगितास्वयंवरम् (परशुराम शर्मा वैद्य), क्षत्रिय-पराक्रमः (हरिप्रसाद नर्मदेश्वर), अङ्गुलिमालः, पुरुराजपौरुषम्, आल्हा च ऊदलश्च, सिंहदुर्गे सिंहवियोगः, पीरवाणी, कृत्रिमबून्दी, चिरममरे द्वे बलिदाने, सामन्तसङ्ग्रामः, अनुतापः (भट्ट मथुरानाथ शास्त्री)।

(ज) विविध— परिहासाचार्य : (परशुराम शर्मा वैद्य), दानी दिनेश, तथा करुणा कपोती च युवती च (भट्ट मथुरानाथ शास्त्री)।

इस युग के लेखकों ने मौलिक-लेखन व अनुवाद की पद्धति के अतिरिक्त सारप्रस्तुती-करण की पद्धति को भी स्वीकार किया है। कुछ प्रकाशित सारग्रन्थ इस प्रकार हैं—

रघुवंशसार (१९००)—दत्तात्रय वासुदेव निगुडकर

भासकथासार—(१८९७-१९६५) वाई० महालिङ्ग शास्त्री

कादम्बरीकथासार (१९००)—नन्दलाल शर्मा

चन्द्रापीडचरितम् (१९०९)—व० अनन्ताचार्य

कादम्बरीकथासार (१८७४-१९४४) आर० वी० कृष्णमाचार्य

कादम्बरीकथासार (१९१६)— त्र्यम्बकशर्मा काले

संक्षिप्तकादम्बरी (१९१६)—काशीनाथ शर्मा

हर्षचरितसार—व० अनन्ताचार्य ।

हर्षचरितसार—(१८७४-१९४४) आर० वी० कृष्णमाचार्य

उदयनचरितम् (१८ अध्याय)—व० अनन्ताचार्य

इन सब का सामूहिक परिशीलन करने से यह कहना सहज सरल हो जाता है कि इनमें भी यथारुचि एवं यथावसर भाषा को प्राञ्जल और अलङ्कृत बनाने के लिए लेखकों ने शब्दालङ्कारों का पर्याप्त प्रयोग किया है।

गद्यसाहित्य में शब्दालङ्कार-संयोजना का मूल्याङ्कन

पद्य और गद्य दोनों के लेखकों की अपनी-अपनी प्रणालियां है। पद्यलेखक के लिए छन्दों के नियमित अक्षर तथा लघु-गुरु वर्णमूलक योजना का बन्धन विशिष्ट महत्त्व रखता है। अत एव पद्यों में शब्दालङ्कारों की समायोजना किसी सीमा तक ही की जा सकती है। गद्य-साहित्य में इस प्रकार का कोई निश्चित आकारगत बन्धन नहीं रहता है। इस बन्धन से मुक्त रहने से एक लाभ तो यह है कि शब्द-प्रयोग स्वतन्त्र रहता है, चाहे दो वर्ण का शब्द हो अथवा चार वर्ण का। वह केवल ह्रस्ववर्णों का हो अथवा दीर्घवर्णों का। दूसरा लाभ यह होता है कि

कवि अपनी अभिरुचि के अनुसार अपने कथन को संक्षिप्त अथवा विस्तृत बना सकता है। तीसरा एक अन्य लाभ यह भी होता है कि वाक्य-रचना में समस्त अथवा असमस्त पदों के प्रयोगों में भी उसे स्वतन्त्रता मिल जाती है।

इसके अतिरिक्त मञ्जुल शब्दविन्यास, रमणीय पद-शय्या और श्लेषपूर्ण शैली का प्रयोग करने के लिए कवि स्वच्छन्दतापूर्वक कथा-बन्ध की योजना कर सकता है। किन्तु गद्य-काव्य की पद्धति के इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर गद्यलेखन को इतना सरल भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि गद्य-कवित्व के पारखी विद्वानों का कहना है कि—**'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'**—गद्य कवियों की कसौटी है। यह सत्य भी लगता है; क्योंकि प्रत्येक सुबुद्ध व्यक्ति कुछ पद्य बना कर कवि तो बन सकता है पर गद्यकवि नहीं। गद्य में **'वर्णयोजना, शब्दयोजना** तथा **वाक्ययोजना'** सभी में एक प्रकार का सन्तुलन नितान्त आवश्यक होता है। यह सन्तुलन कई प्रकार का हो सकता है जिसमें व्याकरण और साहित्य के साथ-साथ प्रासङ्गिक वर्णन के अनुकूल वर्णप्रयोग सबसे अधिक महत्त्व रखता है। शब्दालङ्कार ऐसे गद्यकाव्य को रुचिकर बनाते हैं, नाद-मूलक सौन्दर्य प्रदान करते हैं तथा काव्यसौष्ठव को उज्ज्वल बनाते हैं। गद्यकाव्य में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों में सर्वाधिक प्रयुक्त अनुप्रास है, जो कभी छेकानुप्रास के रूप में तो कभी वृत्त्यनुप्रास के रूप में। श्रुत्यनुप्रास इन दोनों के बीच घुलामिला रहता है। यमक कहीं शृङ्खला के रूप में आता है तो कहीं सामान्य रूप में। गद्य में **पदगत, पादगत, अर्धश्लोक** अथवा **श्लोकगत** यमक को कोई स्थान नहीं होता क्योंकि ये विभाजन पद्यों पर ही आधृत हैं। तीसरा शब्दालङ्कार श्लेष है जो गद्य के महत्त्व को उच्च सीमा पर पहुंचा देता है। श्लेष केवल अकेला रहकर तो अपने सौन्दर्य को बढ़ाता ही है किन्तु जब वह पूर्णोपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास, परिसङ्ख्या जैसे अन्य अलङ्कारों के साथ आता है तो और भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है। गद्यकाव्य में चित्रालङ्कार के भेद-प्रभेदों का प्रयोग भी सम्भव नहीं है तथापि शास्त्रकाव्य की पद्धति को अपनाकर इसका अपवाद **'कथाकौमुदी-कल्लोलिनी'** में प्रस्तुत किया गया है। यथा—**"इतरत्र पौरपुरन्ध्रीवर्गाश्वास्यमाना शिश्वीमतिरतिरूपाङ्गनोपहस्यमानमृषाकपायीं नयमनिरूपणविदूषितराधरीक्रियमाणमनार्यी सदा न भोगमयीभिरिव हर्यांभिः कौशाम्बीमनुप्रतस्थे।"** यहां स्त्रीप्रत्ययान्त प्रयोगों की बहुलता के साथ-साथ अनुप्रास और श्लेष का प्रयोग भी किया गया है। इस प्रकार गद्य में शब्दालङ्कार-**प्रयोग** की महत्ता अक्षुण्ण है और वह उसकी शोभावृद्धि में पूर्ण सहायक बनता है।

::—::

गद्य एवं पद्यबद्ध मिश्रकाव्य खण्ड—३

अध्याय ३

गद्य एवं पद्यबद्ध (मिश्र) साहित्य में शब्दालङ्कार

□

संस्कृत-काव्य-परम्परा के विकास में मिश्र-काव्य का बड़ा महत्त्व है। गद्य और पद्य को अलङ्कृत रूप में प्रस्तुत करने की जो राजपद्धति क्रमशः विकसित हो रही थी उसे पूर्णतः उन्नति के शिखर पर पहुंचाने का कार्य **चम्पूकाव्यों** ने किया है। **'प्रौढगद्य'** और उसी के समान **'सुश्लिष्ट समासाढ्य पद्यों की योजना चम्पूकाव्य का प्राण है।'**

भारतीय राजकुलों के संरक्षण में इस प्रकार के साहित्य का आलेखन पूर्ण तीव्रता से हुआ। अपार शब्दराशि का उपयोग और उसका यथावश्यक प्रयोग वाणी के धनी आचार्य बहुत अच्छी तरह जानते थे, यह इसका प्रमाण है और उसी दाय को आज भी संस्कृतज्ञ-समाज सम्हाले हुए है।

'कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, विचार, उपदेश और अन्तःकथाएं' आदि सभी विषय इन चम्पूकाव्यों में प्रस्फुटित हुए हैं। भारतीय-साहित्य के मूलस्रोत वेद, वेदाङ्ग, रामायण, महाभारत, पुराण, साधुचरित और राजचरितों को इस पद्धति, में उतारने का प्रयास भी बहुत सफलता से हुआ है।

इस पद्धति में **'एक शब्दालङ्कारगर्भ चम्पूकाव्य'** और **'अनेक शब्दालङ्कार-गर्भ-चम्पूकाव्य'** के रूप में पूर्वपद्धति के अनुसार ही विभाजन किया जा रहा है, किन्तु इसके प्रथम विभाग में अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गये प्रतीत होते हैं। अतः यहां उपलब्ध केवल दो कृतियों का ही परिचय दिया जा रहा है।

१- निरनुनासिक-चम्पू — नारायण भट्टपाद (सोलहवीं शती)

नारायण कवि की यह रचना शूर्पणखा के वृत्तान्त को लेकर निबद्ध हुई है। जिस समय दण्डकारण्य में लक्ष्मण ने इस राक्षसी के नाक और कान काट दिए थे तब वह अपने भाई रावण के पास जाकर उसकी शिकायत करती है। उस प्रसङ्ग के अनुसार कवि ने कल्पना की है कि 'जिसकी नाक कट चुकी हो, वह अनुनासिक स्वर का उच्चारण कैसे कर सकती है?' अतः उसके कथन में **निरनुनासिक वर्णों** का ही प्रयोग होना चाहिए।' इसी

आशय से यह चम्पूकाव्य बनाया गया है। इसमें प्रस्तुत स्वर, एवं वर्ण-नियमन से चित्रालङ्कार का निर्वाह होता है, जबकि चम्पूकाव्यगत रचनाविधान के अनुसार अन्य शब्दालङ्कारों का प्रयोग भी हुआ ही है। एक पद्य इस प्रकार है—

हा हा राक्षसराज ! दुष्परिभवग्रस्तस्य धिक् ते भुजा,
विद्युज्जिह्वविपत्तिरेव सुकरा क्षुद्रप्रताप ! त्वया।
ध्वस्तापत्रप ! पश्य पश्य सकलैश्चक्षुर्भिरेतादृशी,
जाता कस्यचिदेव तापसशिशोः शस्त्रात् तदैव स्वसा॥

यह प्रक्रिया दण्डी के दशकुमार चरित के एक उच्छ्वास में **निरोष्ठ्यवर्णप्रयोगों** से प्रेरित है तथा काव्यों में प्रयुक्त **निर्दन्त्य, निरोष्ठ्यादि वर्णनियमचित्र** पद्यों की समकक्षता में अत्यन्त श्लाघनीय है। इन्होंने २२ अन्य चम्पूकाव्य भी लिखे है जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१-राजसूयचम्पू	२-दूतवाक्य-चम्पू
३-पाञ्चालीपरिणय-चम्पू	४-द्रौपदीपरिणय-चम्पू
५-सुभद्राहरणचम्पू	६-किरातचम्पू
७-भारतयुद्धचम्पू	८-स्वर्गारोहणचम्पू
९-मत्स्यारोहणचम्पू	१०-नृगमोक्षचम्पू
११-गजेन्द्रमोक्षचम्पू	१२-स्यमन्तकचम्पू
१३-कुचेलवृत्तचम्पू	१४-अहल्यामोक्षचम्पू
१५-दक्षयागचम्पू	१६-पार्वतीस्वयंवरचम्पू
१७-अष्टमीचम्पू	१८-गोष्ठीनगरवर्णनचम्पू
१९-कैलास-शैलवर्णनचम्पू	२०-शूर्पणखाप्रलापचम्पू
२१-नलायनीचरितचम्पू	२२-रामकथा-चम्पू।

इस प्रकार के चम्पूकाव्यों में कवि ने अपने विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान को गुम्फित किया है। कहा जाता है कि इनकी विद्वत्ता की कीर्ति से प्रभावित होकर **'भट्टोजि दीक्षित'** काशी से प्रवास करके इनके निवासस्थान मलाबार प्रान्त के **मेलकुत्तूर** ग्राम आना चाहते थे, किन्तु मध्य-प्रवास में ही इनकी मृत्यु (१०७ वर्ष की आयु में) हो जाने के समाचार पाकर दुःखित हो, वापस लौट गये।

२- पञ्चकल्याण चम्पू— चिदम्बर कवि (सत्रहवीं शती का पूर्वार्ध ई०)

प्रस्तुत चम्पूकाव्य में चिदम्बर कवि ने **१-राम, २-कृष्ण, ३-विष्णु, ४-शिव** और **५-सुब्रह्मण्य** इन पांच देवों के विवाहोत्सव का एक साथ वर्णन करते हुए **'पञ्चसन्धानकाव्य'** की रचना की है। अपने पूर्वलिखित त्रिसन्धान काव्य **'राघव-यादव-पाण्डवीयमम्'** की अपेक्षा इसमें श्लेष द्वारा ५-५ अर्थों का समावेश कवि की अपूर्व मेधा का परिचायक है। इस चम्पूकाव्य पर स्वयं कवि ने **'स्वोपज्ञ टीका'** भी लिखी है।

इस प्रकार के एक-शब्दालङ्कार-गर्भ चम्पूकाव्यों की रचना को अधिक प्रश्रय नहीं मिला है। **कवि वेङ्कटाचार्य** द्वारा लिखित एक **'श्लेषचम्पूरामायण'** का नामोल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है किन्तु अन्य नहीं। कलकत्ता के **श्रीनिवासशास्त्री** ने **'चन्द्रमहीपतिचरित'** नामक चम्पूकाव्य में चित्रकाव्य के भी कतिपय प्रयोग किए हैं। इस दिशा में अन्य रचनाओं की न्यूनता होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि 'चम्पूकाव्य में वैसे ही इन शब्दालङ्कारों के प्रयोगों की बहुलता रहती है, अतः स्वतन्त्र-लेखन का महत्त्व नहीं के बराबर माना जा सकता है।

यमक, पुनरुक्तवदाभास वक्रोक्ति और चित्र-नामक शब्दालङ्कारों में स्वतन्त्र चम्पू-काव्य के लेखन की प्रक्रिया वस्तुतः सम्भव भी नहीं कही जा सकती। हां, अनुप्रास और श्लेष अलङ्कार चम्पूकाव्य की विधा को प्रस्तुत करने में अवश्य ही समर्थ हैं। इस दिशा में विशेष अध्ययन करने पर और भी कतिपय एकशब्दालङ्कार-गर्भ चम्पूकाव्यों की उपलब्धि सम्भव है।

अनेक-शब्दालङ्कार-गर्भ चम्पूसाहित्य

१- नलचम्पू—त्रिविम भट्ट (दसवीं शताब्दी का पूर्वभाग, ९१५ ई०)

श्रव्यकाव्य के तृतीय भेदरूप चम्पूकाव्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ **'नलचम्पू'** ही प्राप्त होता है। सात उच्छ्वासों में निबद्ध इस काव्य में अनेकविध शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ है। प्रत्यक्षर-श्लेषमयता, चमत्कार-प्रधानता, प्रौढोक्ति-प्रचुरता तथा पाण्डित्य-प्रधान पदबन्धता आदि के कारण रचना में औज्ज्वल्य है। कवि की मान्यता है कि—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो, नाना श्लेष-विचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचिद् पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥१-४॥

इसके अनुसार श्लेष-पुष्ट पदविन्यास पुण्य-फलोपलब्धि-तुल्य है और—

किं कवेस्तेन काव्येन, किं काण्डेन च धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं, न घूर्णयति यच्छिरः॥१-५॥

इस उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि **'काव्य में ऐसे तत्त्वों का समावेश अवश्य होना चाहिए कि जिससे सहसा पाठक का सिर चमत्कृत होते हुए घूर्णित होने लगे।'** इन्हीं उक्तियों के आधार पर त्रिविक्रम ने पद-विन्यास में अपनी दृष्टि को केन्द्रित करते हुए सभङ्ग श्लेष अलङ्कार को अधिक प्रश्रय दिया है[1] और साथ ही पद-पद पर अर्थगुरुता, मृदुता एवं मसृणता से युक्त सूक्तियां भी प्रस्तुत की हैं।[2] चमत्कार ही अलङ्कार का बीज है, इस आधार पर इस

---

१. **वाचः काठिन्यमायान्ति, भङ्गश्लेषे विशेषतः।**
नोद्वेगस्तत्र कर्तव्यो, यस्मान्नैको रसः कवेः॥१।१६॥

२. **कस्यान्यस्य निर्यान्ति वदनारविन्दादेवंविधाः पदे पदेऽर्थसमर्था मृद्व्योऽमृष्टा वाचः ?**
(वहीं, चतुर्थ उच्छ्वास में वीरसेन की उक्ति।)

चम्पू में— **श्लिष्टपदों का अश्रान्त-प्रयोग, काव्यार्थ-सङ्घटना के अनुकूल शब्दार्थ-विधान; लिङ्ग, वचन तथा प्रत्ययश्लेषों के माध्यम से अद्भुत-विच्छित्ति-सम्पादन, गद्य-पद्यान्तर्गत शब्दशिल्पपूर्ण अनुप्रास एवं यमकादि शब्दालङ्कारों की संयोजना बहुत ही उत्तम हुई है।** एक उदाहरण दर्शनीय है—

भूमयो बहिरन्तश्च, नानारामोपशोभिताः।
कुर्वन्ति सर्वदा यत्र, विचित्रवयसां मुदम्॥ (प्र० उ० ३०)

यहाँ **'नाना+आराम+उपशोभित'** एवं **नाना+रामा+उपशोभित'** पद तथा **'विचित्रवयस्'** पद के भिन्नार्थों से बाह्य एवं आन्तरिक भूमि का वर्णन छोटे से पद्य में बड़ी चतुराई से निहित है। इसी प्रकार लिङ्ग-श्लेय, वचन-श्लेष के अक्लिष्ट प्रयोग भी पर्याप्त उपलब्ध होते हैं।[1]

श्लेषमयी भाषा पर कवि का ऐसा अधिकार है कि वह वाग्व्यवहार की समस्त विधियों में श्लेष का बड़ी सफलता से प्रयोग करता है। **'राजन्! रामाजनः पद्म इव वारितः'** में वारितः पद का तः, क्त और तसिल् प्रत्यय के श्लेष को 'पानी से तथा निषेध' अर्थ के द्वारा व्यक्त करता है जो अद्भुत विच्छिति-सम्पन्न कहा जा सकता है।

ऐसे अपूर्व कवि की रचना में अनुप्रास और यमक की छटा सर्वत्र व्याप्त हो यह स्वाभाविक ही है। इनकी **गद्यगत शब्द-शिल्पविधा** अनुप्रास के विविध प्रकारों को आवर्जित करने में पूर्ण सफल हुई है। एक उदाहरण दर्शनीय है—

राजाप्येकशर-प्रहार-पातितमत्तमातङ्ग-सर्वतो-विहारि-हरिहरिणशशकशम्बर—वराह-हननहेलया विचरन्नितस्ततस्तरुणतरतमालमञ्जरीजालनीलोद्घुषितस्कन्धकेसरमूर्ध्वस्तब्ध-कर्ण-सम्पुटमश्वचक्राय क्रुध्यामानाधुर्णितघोणमनवरतकृतघनघोरघर्घररवमुत्क्षिप्तपुच्छगुच्छमभिमुख-मेकस्मिन्नतिसान्द्रभद्रमुस्तस्तम्बभाजि पङ्किलपल्वलप्रदेशे तं शूरशूकरमपरमिव दवदहनदग्धाद्रि-मद्राक्षीत्। (प्र० उ० पृ० ६८)

कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष एवं माघ की तरह ही इनके रचनाकौशल एवं अर्थ-वैशिष्ट्य पर मुग्ध होकर विद्वानों ने इन्हें **'यमुना-त्रिविक्रम'** की उपाधि से मण्डित किया है।

इतना ही नहीं, सभङ्गश्लेष को सरल एवं सरस बनाकर कहने की अद्भुत क्षमता इन्हें प्राप्त है। त्रिविक्रम का लक्ष्य केवल श्लिष्टपद का प्रयोग ही नहीं, अपितु उन्होंने पद-पद पर अर्थ गुरुता, मृदुलता एवं मसृणता से मण्डित होकर उनकी सूक्तियां भी प्रस्तुत की हैं। जैसा कि उन्होंने स्वयं चतुर्थ उच्छ्वास में वीरसेन के मुख से नल को समझाते हुए कहलाया है—

---

१. (क) बहुलक्षणाः सुधावन्तो दृश्यन्तेऽन्तः प्रचुराः प्रासादा बहिश्च वारणेन्द्राः।
यहां **बहु+लक्षणाः, बहुल+क्षणा, सुधा—वन्तः, सु(उपसर्ग) धावन्तः** इत्यादि।

(ख) **राजन्!···पद्म इव वारितः** में क्त और तसिल प्रत्ययों के योग से **'वारितः—पानी से'** तथा **'वारितः—निषेध किया'** अर्थों को व्यक्त किया है।

इस प्रकार के एक-शब्दालङ्कार-गर्भ चम्पूकाव्यों की रचना को अधिक प्रश्रय नहीं मिला है। **कवि वेङ्कटाचार्य** द्वारा लिखित एक **'श्लेषचम्पूरामायण'** का नामोल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है किन्तु अन्य नहीं। कलकत्ता के **श्रीनिवासशास्त्री** ने **'चन्द्रमहीपतिचरित'** नामक चम्पूकाव्य में चित्रकाव्य के भी कतिपय प्रयोग किए हैं। इस दिशा में अन्य रचनाओं की न्यूनता होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि 'चम्पूकाव्य में वैसे ही इन शब्दालङ्कारों के प्रयोगों की बहुलता रहती है, अतः स्वतन्त्र-लेखन का महत्त्व नहीं के बराबर माना जा सकता है।

यमक, पुनरुक्तवदाभास वक्रोक्ति और चित्र-नामक शब्दालङ्कारों में स्वतन्त्र चम्पूकाव्य के लेखन की प्रक्रिया वस्तुतः सम्भव भी नहीं कही जा सकती। हां, अनुप्रास और श्लेष अलङ्कार चम्पूकाव्य की विधा को प्रस्तुत करने में अवश्य ही समर्थ हैं। इस दिशा में विशेष अध्ययन करने पर और भी कतिपय एकशब्दालङ्कार-गर्भ चम्पूकाव्यों की उपलब्धि सम्भव है।

अनेक-शब्दालङ्कार-गर्भ चम्पूसाहित्य

१- नलचम्पू—त्रिविम भट्ट (दसवीं शताब्दी का पूर्वभाग, ९१५ ई०)

श्रव्यकाव्य के तृतीय भेदरूप चम्पूकाव्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ **'नलचम्पू'** ही प्राप्त होता है। सात उच्छ्वासों में निबद्ध इस काव्य में अनेकविध शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ है। प्रत्यक्षर-श्लेषमयता, चमत्कार-प्रधानता, प्रौढोक्ति-प्रचुरता तथा पाण्डित्य-प्रधान पदबन्धता आदि के कारण रचना में औज्ज्वल्य है। कवि की मान्यता है कि—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो, नाना श्लेष-विचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचिद् पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः ॥१-४॥

इसके अनुसार श्लेष-पुष्ट पदविन्यास पुण्य-फलोपलब्धि-तुल्य है और—

किं कवेस्तेन काव्येन, किं काण्डेन च धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं, न घूर्णयति यच्छिरः ॥१-५॥

इस उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि **'काव्य में ऐसे तत्त्वों का समावेश अवश्य होना चाहिए कि जिससे सहसा पाठक का सिर चमत्कृत होते हुए घूर्णित होने लगे।'** इन्हीं उक्तियों के आधार पर त्रिविक्रम ने पद-विन्यास में अपनी दृष्टि को केन्द्रित करते हुए सभङ्ग श्लेष अलङ्कार को अधिक प्रश्रय दिया है[1] और साथ ही पद-पद पर अर्थगुरुता, मृदुता एवं मसृणता से युक्त सूक्तियां भी प्रस्तुत की हैं।[2] चमत्कार ही अलङ्कार का बीज है, इस आधार पर इस

---

१. **वाचः काठिन्यमायान्ति, भङ्गश्लेषे विशेषतः।**
नोद्वेगस्तत्र कर्तव्यो, यस्मान्नैको रसः कवेः ॥१।१६॥

२. **कस्यान्यस्य निर्यान्ति वदनारविन्दादेवंविधाः पदे पदेऽर्थसमर्था मृद्व्योऽमृष्टा वाचः ?**
(वहीं, चतुर्थ उच्छ्वास में वीरसेन की उक्ति।)

चम्पू में— श्लिष्टपदों का अश्रान्त-प्रयोग, काव्यार्थ-सङ्घटना के अनुकूल शब्दार्थ-विधान; लिङ्ग, वचन तथा प्रत्ययश्लेषों के माध्यम से अद्भुत-विच्छित्ति-सम्पादन, गद्य-पद्यान्तर्गत शब्दशिल्पपूर्ण अनुप्रास एवं यमकादि शब्दालङ्कारों की संयोजना बहुत ही उत्तम हुई है। एक उदाहरण दर्शनीय है—

भूमयो बहिरन्तश्च, नानारामोपशोभिताः।
कुर्वन्ति सर्वदा यत्र, विचित्रवयसां मुदम्॥ (प्र० उ० ३०)

यहाँ **'नाना+आराम+उपशोभित'** एवं **नाना+रामा+उपशोभित'** पद तथा **'विचित्रवयस्'** पद के भिन्नार्थों से बाह्य एवं आन्तरिक भूमि का वर्णन छोटे से पद्य में बड़ी चतुराई से निहित है। इसी प्रकार लिङ्ग-श्लेय, वचन-श्लेष के अक्लिष्ट प्रयोग भी पर्याप्त उपलब्ध होते हैं।[1]

श्लेषमयी भाषा पर कवि का ऐसा अधिकार है कि वह वाग्व्यवहार की समस्त विधियों में श्लेष का बड़ी सफलता से प्रयोग करता है। **'राजन्! रामाजनः पद्म इव वारितः'** में वारितः पद का तः, क्त और तसिल् प्रत्यय के श्लेष को 'पानी से तथा निषेध' अर्थ के द्वारा व्यक्त करता है जो अद्भुत विच्छिति-सम्पन्न कहा जा सकता है।

ऐसे अपूर्व कवि की रचना में अनुप्रास और यमक की छटा सर्वत्र व्याप्त हो यह स्वाभाविक ही है। इनकी **गद्यगत शब्द-शिल्पविधा** अनुप्रास के विविध प्रकारों को आवर्जित करने में पूर्ण सफल हुई है। एक उदाहरण दर्शनीय है —

राजाप्येकशर-प्रहार-पातितमत्तमातङ्ग-सर्वतो-विहारि-हरिहरिणशशकशम्बर—वराह-हननहेलया विचरन्नितस्ततस्तरुणतरतमालमञ्जरीजालनीलोद्घुषितस्कन्धकेसरमूर्ध्वस्तब्ध-कर्ण-सम्पुटमश्वचक्राय क्रुध्यामानाघुर्णितघोणमनवरतकृतघनघोरघर्घररवमुत्क्षिप्तपुच्छगुच्छमभिमुख-मेकस्मिन्नतिसान्द्रभद्रमुस्तस्तम्बभाजि पङ्किलपल्वलप्रदेशे तं शूरशूकरमपरमिव दवदहनदग्धाद्रि-मद्राक्षीत्। (प्र० उ० पृ० ६८)

कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष एवं माघ की तरह ही इनके रचनाकौशल एवं अर्थ-वैशिष्ट्य पर मुग्ध होकर विद्वानों ने इन्हें **'यमुना-त्रिविक्रम'** की उपाधि से मण्डित किया है।

इतना ही नहीं, सभङ्गश्लेष को सरल एवं सरस बनाकर कहने की अद्भुत क्षमता इन्हें प्राप्त है। त्रिविक्रम का लक्ष्य केवल श्लिष्टपद का प्रयोग ही नहीं, अपितु उन्होंने पद-पद पर अर्थ गुरुता, मृदुलता एवं मसृणता से मण्डित होकर उनकी सूक्तियां भी प्रस्तुत की हैं। जैसा कि उन्होंने स्वयं चतुर्थ उच्छ्वास में वीरसेन के मुख से नल को समझाते हुए कहलाया है—

---

१. (क) बहुलक्षणाः सुधावन्तो दृश्यन्तेऽन्तः प्रचुराः प्रासादा बहिश्च वारणेन्द्राः।
यहां **बहु+लक्षणाः, बहुल+क्षणा, सुधा—वन्तः, सु(उपसर्ग) धावन्तः** इत्यादि।

(ख) **राजन्!···पद्म इव वारितः** में क्त और तसिल प्रत्ययों के योग से **'वारितः—पानी से'** तथा **'वारितः—निषेध किया'** अर्थों को व्यक्त किया है।

तात, मुक्तमुक्तोऽसि सालङ्कायनेन । कस्यान्यस्य निर्यान्ति वदनारविन्दादेवंविधाः पदे पदेऽर्थसमर्थाः मृद्व्योऽमृष्टाः श्लिष्टाश्च वाचः ? इत्यादि ।

श्लिष्टपदों का अश्रान्त प्रयोग कवि की स्वाभाविक प्रतिभा का परिचय देता है । काव्यार्थसङ्घटना के अनुकूल शब्द और अर्थप्रयोग, दो-दो चार-चार पङ्क्तियों पर पदप्रयोगों का परिवर्तन प्रेक्षाचित्र की द्रुत-विलम्बित गति से बदलती हुई रील के समान पाठकों के साक्ष्यर्थ अनुरञ्जन करती हैं । अलङ्कारगत चमत्कृति के आधार पर श्लिष्टपदों का संघटना-मूलक वैविध्य 'नलचम्पू' की विशेषता है । श्लिष्ट-पदों का प्रयोग-प्रकार एक ही तरह की शब्दार्थ-योजना में भी बड़ी तेजी से बदल कर पाठक को ऊब से बचाने का स्पृहणीय कार्य भी इन्होंने किया है जो अग्रिम कवियों के लिए मार्गदर्शक बना है ।

२- यशस्तिलक-चम्पू — सोमदेव (सन् ९६० ई०)

'गौड'--संघ के दिगम्बर सोमदेव का यह चम्पूकाव्य उज्जयिनी के पौराणिक राजा यशोदेव के वृत्तान्त से अनुप्राणित है । इसमें सात आश्वास हैं । जैन-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए कवि ने इस रचना को चम्पूकाव्योपयोगी तत्त्वों[1] से समलङ्कृत किया है । त्रिविक्रम के **'नल-चम्पू'** के कुछ समय पश्चात् ही इसकी रचना हुई है । अतः यह **'चम्पू-काव्य'** अपनी शैली में अधिक परिष्कृत माना गया है । इसमें अलङ्करण की प्रवृत्ति का भी अच्छा परिपोष हुआ है । गद्य और पद्य दोनों ही भागों में शब्दालङ्कारों पर विशेष बल देते हुए अपनी रचना को रमणीय बनाने का आग्रह उत्तरोत्तर बलवान् ही हुआ है ।

३- चम्पूरामायण — भोजदेव (सन् १००५ से १०६२ ई०)

चम्पूकाव्यों की परम्परा में रामायण पर आधारित भोज के इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है । यह तो स्पष्ट ही है कि चम्पूकाव्य-शैली का आरम्भ भोज से कुछ ही समय पूर्व हुआ था और कविगण इन दिनों इस रचना-प्रक्रिया को परिष्कृत करने के लिए उद्यत थे । ऐसी स्थिति में संस्कृत-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण लेखन करनेवाले महाराजा भोज ने भी एक चम्पूकाव्य का प्रणयन करना उचित समझा । उन्होंने कहा भी है—

गद्यानुबन्धरसमिश्रित-पद्यसूक्तिर्हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः ।
तस्माद् दधातु कविमार्गजुषां सुखाय, चम्पूप्रबन्धरचना रसना मदीया ।।

(३ चं० रा० बा० का०)

इसके अनुसार गीति के साथ वाद्यगत-माधुर्य का जो आनन्द होता है वही आनन्द चम्पू-काव्य से मिलता है । चम्पूकाव्यों के रचना-विधान में अलङ्करण की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से पायी

---

१. चम्पूकाव्यों के उपयोगी तत्त्व ये माने गए हैं—**१-वर्ण्यविषय, २-कथावस्तु, ३-मूलस्रोत, ४-विभाजन, ५-नायक, ६-अन्यपात्र, ७-रस, ८-शैली, ९-अलङ्कृति, २०-आकृति, ११-प्रारम्भ और १२-उपसंहार ।** द्रष्टव्य—**'चम्पूरामायण का साहित्यिक परिशीलन'** भूमिका पृ० ११, डॉ० करुणा श्रीवास्तव ।

जाती है। उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में भी भोज ने छः काण्डों[1] में कथा का विभाजन करते हुए अनुप्रास, यमक और श्लेष का विस्तार से प्रयोग किया है। यथा —

"ततस्तस्यास्तटवने नानानोकहनिवहपरिष्कृते निभृतेतरभ्रमणपरभृतव्रात-चञ्चूमय-समुदञ्चित-पञ्चमाञ्चिता सन्तताकुञ्चित-पञ्चशरशरासनवञ्चितपथिकजनसञ्चारप्रपञ्चा-प्रमदचञ्चलचञ्चरीककुलकञ्चुकितमाधवो माधवीमूर्तिरुदजृम्भत।"[2]

यहां अनुस्वारोत्तर चकार-प्रयोगों की आनुप्रासिक छटा वृक्षसमुदाय से सुशोभित पम्पातटवर्ती वन की वासन्ती शोभा अपनी स्वर-लहरी से मानस को आनन्दित कर रही है। ऐसे ही अनुप्रासों में **"नीलाम्बरं निह्नुतराजवेष वर्षानिशीथवादविशेषवेषम्"**[3] जैसे वाक्य-खण्डों से 'लाटानुप्रास' का प्रयोग भी किया है।

यमक के प्रति भी कवि का पूर्ण अनुराग है तभी तो **"बलिनियमन-हेतोर्वामनः काननेऽस्मिन् बलिनियमपरः सन् ब्रह्मचारी चचार"**[4] तथा पद्यों में—

या तु नः पदवी सैषा, यातुनश्चास्य लक्ष्मण।
यातुकामं तथैवेदं, यातु कामं न हन्यताम्।।आ० का० ४।।
जननीतिविहीना मे, जननीति स धर्मवित्।
निरयान्निरयाद् वीरो, निरयादिव सानुजः।। अयो० का० ७१।।

स्थान-स्थान पर सन्दंश, युग्म, पादावृत्ति सन्दष्टक, अनियतपादभागावृत्ति आदि यमकभेदों का प्रशस्त विन्यास किया है। बहुत से स्थानों में **विरोधाभासानुप्राणित** यमक का चमत्कारी गुम्फन भी हुआ है।

भोज ने सभङ्ग और अभङ्ग दोनों ही प्रकार के श्लेषों का प्रयोग किया है तथा वे अपनी विलक्षण प्रतिभा से केवल कुतूहलजनक श्लेष ही नहीं है; अपितु उनके स्पष्ट और सजीव होने से वे आनन्दजनक भी बने हैं। यथा—

"तत्काले पिशिताशनाशपिशुना सन्ध्येव काचिन्मुनेरध्वानं तरसा रुरोध रुधिररक्षोदारुणा दारुणा" (बा० का० ४१।) यहां ताडका और सन्ध्या के पक्षों को लेकर **'पिशिताशनाश और पिशिताशन+आश'** पदों के द्वारा श्लेष व्यक्त किया है। पद्यों में भी यह प्रक्रिया अभिव्यक्त हुई है। यथा —

आजानपावनक्षीरां, वृषानन्दविधायिनीम्।
श्रुतिप्रणयिनीं सोऽयमापगामापगामिव[5]।।

---

१. भोज ने पांच काण्डों की ही रचना की है। छठा काण्ड लक्ष्मणसूरि ने बनाया है।

२. चम्पूरामायण—पृ० २५४।

३. वही, बालकाण्ड ९६।

४. वही, बा० का० ४५।

५. बालकाण्ड ५४।

यहां क्षीर-दूध और जल तथा वृष-बैल और धर्म, जैसे शब्दोंद्वारा श्लेष व्यक्त है। इसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों से अनुप्राणित श्लेष भी बहुधा आए हैं। भोज की शब्दालङ्कार-प्रियता और पोषकता दोनों ही उनकी रचनाओं से पूर्ण स्पष्ट है।[1]

भोज के रामायणचम्पू पर प्रायः छः टीकाएं लिखी गई हैं। जिनमें—**बुधेन्द्र** की **'साहित्य-मञ्जूषा'** सर्वप्रथम टीका है। अन्य हैं **करुणाकरकृत टीका**, **कामेश्वरसूरिकृत 'विद्वत् कौतूहल टीका'**, **नारायण कृत व्याख्या**, **मानदेवकृत टीका** और **रामचन्द्रमिश्र रचित 'प्रकाश'** नामक संस्कृत-हिन्दी टीका। भोज के उत्तरवर्ती कवियों ने रामायण पर आधार रखनेवाले चम्पूकाव्यों की रचना को पर्याप्त महत्त्व दिया हैं और उनमें तीन पद्धतियां अपनाई हैं।

१-जिनमें रामायण के सम्पूर्ण कथानक को संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया गया है। जैसे—**रामायण चम्पू, अमोघ-राघव, काकुत्स्थविजय, रामचन्द्र चम्पू, रामाभ्युदय आदि।**

२-जिनका आधार रामायण का कोई काण्डविशेष है। जैसे—**रामायणयुद्धकाण्ड चम्पू, उत्तररामायण चम्पू, सीताविजय चम्पू** आदि।

३-जिनमें रामायण के ही (राम के अतिरिक्त) किसी अन्य पात्र का चित्रण किया है। यथा—**मारुतिविजय, हनुमदापादन, चूडामणिचम्पू, उत्तररामचरित चम्पू, कामवीर्य-प्रबन्ध आदि।**

इस प्रकार के चम्पूकाव्य प्रायः ७७ हैं।[2] इनके अतिरिक्त १-महाभारत पर ३५, २-कृष्णकथा पर ४७, ३-पौराणिक कथाओं पर ७५, ४-महापुरुषों के जीवन चरित्र पर ३४, ५-व्रत, उत्सव, पर्व आदि पर ७ एवं ६-काल्पनिक कथाओं पर आधारित कुछ चम्पूकाव्य प्राप्त होते हैं। यह संख्या इतनी ही है यह भी नहीं समझना चाहिए क्योंकि इस दिशा में आज भी लेखनकार्य अवरुद्ध नहीं हुआ है।

इसी कारण अन्य चम्पूकाव्यों का विवरण न देकर कुछ के कालक्रमानुसार नाम और संक्षिप्त परिचय देना ही यहां उचित माना है क्योंकि सभी में शब्दालङ्कार से सम्बद्ध रचना-प्रक्रिया प्रायः समान प्राप्त होती है।

कतिपय प्रमुख चम्पूकाव्य

ग्रन्थनाम	लेखक	समय	विषय
१. **भागवतचम्पू**	अभिनवकालिदास	(१०५० ई०)	भागवत कथा
२. **कीर्तिकौमुदी**	सोमेश्वर	(११७६ से १२६२ ई०)	वस्तुपाल चरित्र

---

१. सरस्वती-कण्ठाभरण, और शृङ्गारप्रकाश जैसे काव्यशास्त्र तथा अन्यान्य काव्यग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

२. द्रष्टव्य, भूमिका—**'चम्पूरामायण का साहित्यिक परिशीलन** पृ० २० से २३।

३. गङ्गावंशानुचरित	वासुदेवरथ	(१४२० ई०)	कलिंग शासकवंश
४. भारतचम्पू	अनन्तभट्ट	(१५०० ई० के निकट)	महाभारतकथा
५. वरदाम्बिकापरिणय-चम्पू	तिरुमलाम्बा	(१५२६-४० ई०)	वरदाम्बिका-विवाह-वर्णन
६. आनन्दकन्द-चम्पू	मित्रमित्र	(१६वीं शती)	बालकृष्ण चरित
७. भागवतचम्पू	चिदम्बर	(१६०० ई०)	भागवत कथा
८. पारिजातहरणचम्पू	शेषकृष्ण	(१६०० ई०)	पारिजातहरण कथा
९. आनन्द-विलास-चम्पू	कवि कर्णपूर	(")	कृष्ण की बाललीला
१०. गोपालचम्पू	जीवगोस्वामी	(")	"
११. नीलकण्ठविजयचम्पू	नीलकण्ठ दीक्षित	(१६३७ ई०)	शिव के वीरकर्म
१२. भारत-चम्पू	राजचूडामणि	(")	महाभारत कथा
१३. द्रौपदीपरिणय-चम्पू	चक्र कवि	(")	द्रौपदीचरित्र
१४. विश्वगुणादर्शचम्पू	वेङ्कटाध्वरि	(१६५० ई०)	तमिलप्रदेश वर्णन
१५. वरदाभ्युदय	"	(")	कांची के देव की स्तुति
१६. उत्तरचम्पू	"	(")	रामायण कथा
१७. श्रीनिवास-चम्पू	"	(")	तिरुमलाई देवस्तुति
१८. स्वाहासुधाकर-चम्पू	नारायण कवि	(१७वीं शती)	अग्नि और चन्द्र की कथा
१९. चित्र-चम्पू	बाणेश्वर	(१८वीं शती)	चित्रसेन वर्णन
२०. शङ्करचेतोविलास चम्पू	शङ्कर कवि	(")	चेतसिंह का चरित

इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने चरित्र के अतिरिक्त वस्तुविशेष, कालविशेष और घटनाविशेष को लक्ष्य में रखकर भी कतिपय चम्पूकाव्य बनाए हैं। '**विशाखतुलाप्रबन्ध-राजराजवर्मा, विशाखसेतुयात्रा-गणपतिशास्त्री, महीशूराभिवृद्धिप्रबन्ध-वेङ्कटरामशास्त्री, शरावती-जलपातवर्णन-कुक्के सुब्रह्मण्यशास्त्री, केरलाभरण-रामचन्द्र दीक्षित, मार्गसहायचम्पू नवनीत-कवि, वज्रमुकुटविलासचम्पू-अलसिंग, जम्पेशोत्सव-चम्पू-अप्पलाचार्य** आदि अनेक चम्पूकाव्य इस साहित्यधारा के पोषण में निर्मित हुए हैं।

वर्तमानकाल में भी यह प्रवाह चल रहा है तथा शब्दालङ्कार के भेद-प्रभेदों को पूर्ण-रूपेण प्रश्रय मिल रहा है। इनमें एक चम्पूकाव्य का परिचय निदर्शन के रूप में देना अनुप-

युक्त नहीं समझा जाए।

१- प्रताप चम्पू — हरिदत्तशास्त्री (वर्तमान काल)

चम्पू-काव्यों की रचना आज भी यथावत् चल रही है इसका उदाहरण हम शास्त्रीजी के प्रस्तुत चम्पू के रूप में प्राप्त करते हैं। महाराणा प्रताप के चरित्र को वर्णित करनेवाला यह चम्पूकाव्य बड़ी रोचक रचना है। इसमें १० निःश्वास हैं तथा पद्यों की रचना के लिए विविध नए छन्दों का प्रयोग भी किया है। गद्य-रचना-चातुरी से परिपूर्ण है। शब्दालङ्कार के प्रारम्भिक तीन प्रकारों का समावेश भी यहां कौशलपूर्ण हुआ है। एक आल्हा (वीर) छन्द का पद्य इस प्रकार है—

> **वेतण्डाः शुण्डादण्डेन मदमत्ता धावं धाववं,**
> **कर्णशष्कुली-दारुणरावं निरन्तरं भावं भाम्।**
> **श्रोत्रताल-सन्धुतमधुलेहा गिरिकूटाभाः सैन्यानां,**
> **तर्जयन्त इव सिंहगर्जनं रेजुरहो पृथुजन्यानाम्॥ इत्यादि॥**

इसमें अनुप्रास की छटा वस्तुतः स्पृहणीय है। अन्यत्र शिवस्तुति में भी अन्त्यानुप्रास का प्रयोग किया है। यथा —

> **मङ्गलमयमपि कण्ठे कालं, दोषाकरकरराजितभालम्।**
> **आशुतोषमानततितपालं, वन्दे भवितुं भव्यामालम्॥**

यहां दोषाकर में श्लेष तथा अन्यत्र विरोधाभास भी प्रयुक्त है। इसी प्रकार परिसंख्या में भी श्लेषालङ्कारप्रयोग पर्याप्त हुआ है।

इस प्रकार यहां न केवल गद्य और पद्य के पारम्परिक प्रयोग को अपनाया गया है अपितु नये-नये प्रयोगों से भी उन्हें अलङ्कृत किया गया है। कहीं-कहीं चित्रालङ्कारों का प्रयोग भी चम्पू-काव्यों में उपलब्ध होता है।

चम्पूसाहित्य में शब्दालङ्कार-संयोजन का मूल्याङ्कन

मिश्रकाव्य की 'चम्पू' शैली कविजनों के लिए अत्यधिक प्रिय रही है। इसमें छन्दोबन्धन से जकड़े हुए **पद्यकवि** और गद्य-विधा के आयामों से उलझे हुए **गद्यकवि** के लिए प्राप्त होनेवाली वैचारिक स्वतन्त्रता का प्रकटन अतिसरल बन जाता है। जब जैसी अभिरुचि हुई, रचना-प्रक्रिया को उधर ही मोड़ लेने की इसमें बहुत सुविधा है।

कवि के गद्यलेखन और पद्य-निर्माण से सम्बद्ध उभयविध कौशल को प्रस्तुत करने की यह एक अत्युत्तम विधा है। **'यथास्मै रोचते विश्वं तत्तथा परिवर्तते'** इस उक्ति का पूर्ण परिपाक इसी शैली में उदारता से किया जा सकता है।

चम्पूकाव्य की रचना-प्रक्रिया के मूल में स्वातन्त्र्य रहने से कवि अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही रचना को अलङ्कृत करता रहा है। इसमें मञ्जुल शब्दविन्यास,

रमणीय पदशय्या, कोमल अथवा कठोर वर्ण-विन्यास द्वारा वाक्यगत गाढबन्धता एवं चमत्कार-पूर्ण श्लेष का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक बन गया है। इन प्रयोगों के आधार पर कमनीय-काव्यकला और अलङ्कृत शैली को पूर्ण विकसित करने का अवसर प्राप्त होता है तथा विविध परिस्थितिजन्य मानवीय भावों का भव्य विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। **'सहृदयता तथा विदग्धता का अपूर्व मिलन'** इस प्रक्रिया की विशेषता है। कवि इसके माध्यम से मानवीय अन्तःप्रकृति के मर्म को सहृदय पाठकों के समक्ष आह्लादपूर्ण शब्दों के विन्यास से ही उपस्थित करता है तथा विभिन्न स्थितियों में उत्पन्न होनेवाले हृद्गत भावों की सटीक और सजीव अभि-व्यञ्जना कर तत्तद्भावाश्रित रसों की प्रतीति कराने में सक्षम होता है।

अतः यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि—**'चम्पूकाव्यों में काव्य के अन्यान्य तत्त्वों के साथ ही शब्दालङ्कार-संयोजन भी इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में तथा पाठकों के आह्लाद को मूर्त बनाने में पूर्ण सहायक होता है।**

(::—::)

दृश्यकाव्य खण्ड—३

पहला अध्याय

□

१- दृश्यकाव्यगत शब्दालङ्कार

सम्पूर्ण काव्य-सम्पदा के "दृश्य" और "श्रव्य" नाम से दो भेद किए गए हैं। दृश्य-काव्य उसमें प्रथम है। नाट्यशास्त्र इस भेद का विवेचनशास्त्र है और उसमें इस भेद के रचना-विधान पर विस्तार से विचार किया गया है। यह केवल पद्याश्रित न होकर **'गद्य-पद्य-मिश्रित'** होता है अतः इसे **'मिश्रकाव्य का एक भेद'** भी कहा जाता है। संवाद इस शैली का महत्त्वपूर्ण अंग है जिसके कारण गद्य का प्रयोग यथावश्यक न्यूनरूप में होता है।

दृश्यकाव्य को रस-संवलित ही माना गया है। रसात्मवादी आचार्य इसमें अलङ्कारों का होना आवश्यक भी नहीं मानते हैं। उनकी मान्यता है कि—

> **अलङ्कारमृदुः पन्थाः, कथादीनां सुसञ्चरः।**
> **दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य, रसकल्लोलसङ्कुलः॥**[1]

और इस प्रकार वे नाट्य का मार्ग रसकल्लोलसङ्कुल होने के कारण अत्यन्त कठिन भी मानते हैं और प्रकारान्तर से रस को ही काव्य का अनिवार्य धर्म मानते हैं, अलङ्कार को नहीं। यदि कुछ आचार्य अलङ्कार के प्रति सद्भाव रखते भी हैं तो वह उसके अनुचित प्रयोग को रसास्वादन का बाधक मानते हैं।

वैसे यहां यह कहना असङ्गत नहीं होगा कि **"अलङ्कारवादियों ने सभी काव्यशोभाकर धर्मों को "अलङ्कार" की संज्ञा देते हुए किसी विशेष काव्याङ्ग की काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं किया है। उनकी दृष्टि में न केवल अनुप्रास एवं उपमा आदि ही अलङ्कार थे, अपितु गुण, रीति, रस, ध्वनि, नाट्यवृत्ति आदि ये सभी काव्यशोभाकर होने के कारण "अलङ्कार" के नाम से अभिहित किए गए थे। अतः उनके अनुसार यदि किसी काव्याङ्ग को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत किया गया तो वह "अलङ्कार" ही था। चाहे वह अनुप्रास, उपमा आदि का बाचक हो, अथवा रीति रस और ध्वनि का।**

---

१. नाट्यदर्पण—रामचन्द्रगुणचन्द्र, १-३

इस प्रकार प्रारम्भ में "अलङ्कार" शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था और यही कारण था कि दृश्यकाव्य सहृदयनिष्ठ होते हुए भी "अलङ्कार" से युक्त कहा जाता था। किन्तु रसवादियों ने अलङ्कार शब्द के अर्थ को सङ्कुचित बनाकर केवल शब्दार्थ का विभूषक धर्म मानते हुए रस को ही दृश्यकाव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया और अलङ्कारों को अनित्यरूप से रस का उत्कर्षक घोषित किया। अनित्य इसलिए कि जैसे अलङ्कार कभी तो कामिनी के शरीर के उत्कर्ष-शोभा-वर्धन के कारण बनते हैं और उसकी मनःस्थिति के अनुसार आत्मा का उत्कर्ष करते हैं और कभी नहीं करते; तथा कभी अपकर्ष भी कर देते हैं। उसी प्रकार ये अलङ्कार भी कभी काव्य का शोभावर्धन करते हैं और कभी नहीं करते हैं; तथा कभी अतिप्रयोग के कारण अपकर्ष भी कर बैठते हैं। इसीलिए नाट्यदर्पणकार का कथन है कि—

नानार्थशब्दलौल्येन, पराञ्चो ल्ये रसामृतात् ।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम् ॥१।६॥
न तथार्थशब्दोत्प्रेक्षाः, श्लाध्याः काव्ये यथा रसः ।
विपाकक्रमप्याम्रमुद्वेजयति नीरसम् ॥३।२२॥

किन्तु अलङ्कारवादी रस को अङ्गीभूत और अङ्गभूत दोनों रूपों में स्वीकार करते हुए रस, भाव आदि को रसवादी अलङ्कारों में अन्तर्भूत करते थे। अतः दृश्यकाव्य में एकान्ततः अलङ्कार का अभाव भी हो यह सिद्धान्त नहीं बना और दृश्यकाव्य ही क्या, कोई भी रचना अलङ्कार-शून्य तो हो ही नहीं सकती। किसी न किसी अंश में कोई न कोई अलङ्कार तो रहता ही है। केवल दृष्टि चाहिए। इनमें भी शब्दालङ्कारों का प्रयोग बहुधा रस का परिपोष करने के लिए ही उपादेय माना गया है। आभूषणों के आदर्श-प्रयोग के लिए जिस प्रकार अचेतन शव, यति का शरीर अथवा यौवन-वन्ध्या नारी का वपु अधिकारी नहीं होता उसी प्रकार काव्य-शरीर यदि रसहीन है, औचित्य से शून्य है और अभिव्यञ्जना से रहित है तो उसके लिए अलङ्कार निरर्थक हैं। इसलिए सजीव, स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर की भांति जो काव्य-रचना रसादि से युक्त होकर अलङ्कारधारण की पात्रता रखती है उसमें शब्दालङ्कार अपने कोमल वर्ण-विन्यास, उक्तिवैचित्र्य, एवं समुचित स्थान-सन्निवेश के द्वारा—**"दीर्घापाङ्गं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्रीस्तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्पिता हारयष्टिः"**— के अनुसार शोभा-वर्धक होते हैं।

दृश्यकाव्यगत शब्दालङ्कार इसी पद्धति से विन्यस्त होकर अपने रूपों को इस काव्य-प्रभेद में भी पुरस्कृत करते हैं जिनका यत्किञ्चिद् निदर्शन आगे किया जा रहा है।

२- नाटक लक्षण और शब्दालङ्कार

नाट्यलक्षण से पूर्व भरत ने इसकी महत्ता के बारे में कहा है कि—

सर्वशास्त्रार्थ-सम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम् ।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं, सेतिहासं करोम्यहम् ॥ १।१५ ॥

और इसके अनुसार यह नाट्य 'पञ्चम वेद' माना गया। तथा वहीं भरत ने पुनः —

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं, न सा विद्या न स कला।
न स योगो न तत्कर्म, नाटके यन्न दृश्यते ।।

कह कर इसकी सर्वशास्त्रात्मकता भी सिद्ध की।

इसी सर्वशास्त्रात्मकता की सिद्धि के लिए नाट्यशास्त्र में भरत ने कहा है कि —

शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिधेयान्,
नाट्याश्रयासु कृतिषु प्रयतेत कर्तुम्।
तैर्भूषिता बहु विभान्ति हि काव्यबन्धाः,
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः ।।१७-११९।।

इस दृष्टि से नाट्य में हर्षवर्धक तथा उदार-मधुर शब्दों का प्रयोग विहित माना है। इसी प्रसंग में विकृत शब्द-प्रयोग के प्रति अपनी असहमति दिखाकर अन्त में पुनः मृदु और ललित पदार्थों की योजना की ओर सङ्केत भी किया है। यथा—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं, जनपदसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयोग्यं, भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।।
१७।१२१।।

इस कथन में **'बुद्धिमत्'** पद से अलङ्कार-योजना का निर्देश प्राप्त होता है। इसी तथ्य को **'नाट्यदर्पण'** में **रामचन्द्रगुणचन्द्र** ने भी स्वीकार किया है। यथा—

एकाङ्गिरसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः।
अलङ्कृतमलङ्कार-कथाङ्गैरगलद् रसम् ।।१।१५।।

यहां रसोचित अथवा रसपरिपोषक अलङ्कारों का प्रयोग ही नाटक में वैध माना गया है किन्तु इस बन्धन में कोई भी कवि बंधा रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रत्येक नाटक में कुछ न कुछ शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों के प्रयोग अवश्य होते रहे हैं जिनका निदर्शन हम आगे करेंगे। वैसे नाटक-नाट्य का ऐसा सूचक लक्षण भी नहीं मिलता है, सभी ने उसकी विधाओं के ही लक्षण दिए हैं।

३- काव्य और नाटक में शिल्प-साम्य

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि हमारे यहां काव्य को ही दो भागों में विभाजित किया गया है जो दृश्य और श्रव्यरूप हैं। इसका तात्पर्य यह है कि **'नाटक का काव्य से सर्वथा स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है, यह काव्य का ही उत्कृष्ट एक प्रकारान्तर है।** इसीलिए अभियुक्तों ने **'नाटकान्तं कवित्वम्'** कहा है। यही कारण है कि नाटक का काव्य-लक्षण के समान कोई पूर्ण लक्षण भी नहीं मिलता है।

काव्य से भिन्न नाटक की मान्यता न होने से ही हम देखते हैं कि—'काव्य के सामान्य प्रवाह में जो-जो प्रवृत्तियां तथा शैलीगत एवं भावगत नवीनताएं समय-समय पर प्रकाशित हुईं और पुनः निर्वापित होती रहीं, उन सबका प्रतिबिम्बन भारतीय काव्य की इन नाटकादि विधाओं पर भी समानरूप से होता रहा। भारतीय काव्य-निर्माण के प्रथमोदय काल से आज तक जिन-जिन काव्यरचना-विधानों का प्रयोग हुआ उनका समसामयिक प्रभाव नाटकों में भी अवश्य प्रतिबिम्बित हुआ है। यही कारण है कि कालिदास के समय के नाटक और उनके उत्तरवर्ती काव्य के नाटकों के रचना-विधान में पर्याप्त अन्तर आया है। यहां तक कि मध्यकाल के नाटकों में तात्कालिक शैलीगत-चमत्कार ने भी प्रसार पाया है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों के समान ही पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य और नाटक को अलग-अलग नहीं मानते हुए केवल काव्य का प्रकारान्तर ही माना है। अरस्तू के काव्यशास्त्र में **'महाकाव्य और नाटक में मूलभूत अन्तर'** यही बताया है कि—**"जहाँ पहले (महाकाव्य) में अनुकरण-समाख्यान द्वारा होता है वहीं दूसरे (नाटक) में कवि अपने पात्रों को जीते-जागते तथा चलते-फिरते प्रस्तुत करता है,**[1] **किन्तु यह अनुकरण नटकर्म तक ही सीमित है, कविकर्म में नहीं। अतः कवि चाहे महाकाव्यकार हो या नाटककार उनकी कारयित्री-प्रतिभा अपना वैशिष्ट्य दिखलाये बिना नहीं रहती।"**

४- नाट्य-लक्षण, नाट्यालङ्कार और शब्दालङ्कार

काव्य में अलङ्कारों की मान्यता का सङ्केत सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में ही प्राप्त होता है। उन्होंने सत्रहवें अध्याय में रूपकों की भाषाशैली पर प्रकाश डालते हुए चार अलङ्कारों—**'उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक'**—का सूचन किया है, जो कि अग्रिम काव्य-शास्त्रों में आदृत होकर पूर्णरूपेण पल्लवित हुए हैं।

इनके अतिरिक्त वे छत्तीस नाट्यालङ्कारों का भी सूचन करते हैं, जिन्हें वे अलङ्कार न कह कर **'लक्षण'** कहते हैं। इन लक्षणों में अनेक धीरे-धीरे लक्षणों की सीमा को पार करके अलङ्कारों में प्रवेश करते दिखाई पड़ते हैं। ३६ लक्षणों में वे सर्वप्रथम लक्षण **'भूषण'** बतलाते हैं और वहीं उसकी परिभाषा में वे गुण और अलङ्कार का सङ्केत करते हुए बताते हैं कि—**"भूषण वह लक्षण है जो गुणों और अलङ्कारों से अलङ्कृत हो और 'भूषण' के समान 'चित्र'** अर्थात **सुन्दर अर्थों से युक्त हो।"**

---

1. "For the medium being the same, and obJects the same, poet may imitete by narration......or he may persent all his characters as lining and moving befor us."

ऐरिस्टोट्रिल्स थिअरी आफ पोएट्री एण्ड फाइन आर्ट्स—एस० एच० बुचर, पृ० १३

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव, बहुभिः समलङ्कृतम् ।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम् ॥—नाट्यशास्त्र, १७।६॥

इसी प्रकार भरत के तीन नाट्यालङ्कार—**हेतु, लेश** तथा **आशीः**—भामह के समय तक अलङ्कार माने जाने लगे थे। इनके सम्बन्ध में विद्वानों का यह विचार है कि—'**भामह से पूर्ववर्ती और भरत के उत्तरवर्ती कुछ अज्ञात काव्यशास्त्रियों ने भरत के इन लक्षणों को अलङ्कार मान लिया होगा जिनके मत से भामह सहमत न थे।**' इसी प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि भामह ने शब्दालङ्कारों के प्रति भी उपेक्षा से ही काम लिया है और '**यमक**' (भरत के १० विभेदों से युक्त) उनके सामने उपस्थित रहते हुए भी उपेक्षा का पात्र बना है। इतना ही नहीं, वे अपने निकट के ही पूर्ववर्ती की रचना में प्रयुक्त यमक और प्रहेलिका का सङ्केत देकर अवहेलना भी करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-लक्षण से ही शब्दालङ्कार उद्भूत होकर स्वीकृत हुए हों किन्तु वे प्रस्तुत नहीं किए गए हों।

हेतु, लेश तथा आशीः को भामह ने काव्यालङ्कारों में अलङ्कार मानने के पक्ष में हेतु और लेश को अलङ्कार मानने का खण्डन किया है तथा आशीः को वे अलङ्कार मानते हैं।[1] आगे चलकर दण्डी ने तीनों को अलङ्कार मान लिया है। उद्भट भामह का ही अनुसरण करते हैं और रुद्रट '**हेतु**' को वास्तव कोटि के अलङ्कारों में स्थान देते हैं। 'मम्मट' इन तीनों को अलङ्कार नहीं मानते हैं किन्तु आगे चलकर 'जयदेव' और 'अप्पय दीक्षित' पुनः 'हेतु' और 'लेश' की अलङ्कार-कोटि में परिगणना कर लेते हैं पर '**आशीः**' को अलङ्कार नहीं मानते।

भरत ने लक्षणों में '**संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, निरुक्त** और **अर्थापत्ति**' इन पांच लक्षणों का भी सङ्केत किया है जो आगे चलकर अलङ्कार ही माने जाने लगे। इस दृष्टि से निम्नलिखित '**छत्तीस लक्षण**' ज्ञातव्य हैं—

भूषणाक्षरसङ्घातौ, शोभोदाहरणे तथा ।
हेतुसंशयदृष्टान्ताः, प्राप्त्यभिप्राय एव च ॥१॥
निदर्शनं निरुक्तं च, सिद्धिश्चाथ विशेषणम् ।
गुणातिपातातिशयौ, तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥२॥
दिष्टं चैवोपदिष्टं च, विचारस्तद्विपर्ययः ।
भ्रंशश्चानुनयो माला, दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥३॥
अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च, पृच्छा सारूप्यमेव च ।
मनोरथश्च लेशश्च, संक्षोभो गुणकीर्तनम् ॥४॥
ज्ञेया ह्यनुक्तसिद्धिश्च, प्रियं वचनमेव च ।
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं, काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥५॥
—(अध्याय १७ नाट्यशास्त्र

---

१. आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता ।
सौहृद्यया विरुद्धोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा ॥३।५५॥

इन लक्षणों में से कुछ लक्षण —'भूषण, अक्षर-सङ्घात, शोभा, माला, पृच्छा, मनोरथ, लेश आदि शब्दालङ्कार के रूप में प्रेरक हैं, क्योंकि इनमें क्रमशः 'अलङ्कृत वर्ण-विन्यास, श्लिष्ट शब्द-प्रयोग, श्लिष्ट-कथन, पुनरुक्ति, प्रश्न, गूढार्थ, प्रहेलिका' आदि के लक्षण घटते हैं। वहीं भरत ने यह भी कहा है कि—

एतानि काव्यस्य च लक्षणानि, षट्त्रिंशदुद्देश्यनिदर्शनानि।
प्रबन्धशोभाकरणानि तज्ज्ञैः, सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसानि ॥१७-४२॥

इनके अतिरिक्त भरत द्वारा निर्दिष्ट काव्य के दस गुण और भारती आदि वृत्तियां भी शब्दालङ्कार के लिए उपयोगी हैं।

इसी में नाटकों में प्रयोग करने योग्य तैंतीस **'नाट्यालङ्कारों'** के भी निर्देश नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने किए हैं, जो इस प्रकार हैं —

आशीराक्रन्दकपटाः क्षमा गर्वोद्यमाश्रयाः। उत्प्रासनस्पृहाक्षोभपश्चात्तापोपपत्तयः ॥
आशंसाध्यवसायौ च विसर्पोल्लेखसंज्ञितौ। उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥
प्रोत्साहनं च साहाय्यमभिमानोऽनुवर्तनम्। उत्कीर्तनं तथा याच्ञा परिहारो निवेदनम् ॥
प्रवर्तनाख्यानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम्। इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्य-भूषणहेतवः ॥

(—साहित्यदर्पण, ६ परिच्छेद, १०५१०८)

और इन्हीं के सम्बन्ध में विश्वनाथ ने यह भी कह दिया है कि—

"एषां च लक्षणनाट्यालङ्काराणां सामान्यत एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डलिकाप्रवाहेण। एषु च केषाञ्चिद् गुणालङ्कार-भावसन्ध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्न-कर्त्तव्यात्तद्विशेषोक्तिः।"

इसके अनुसार इन लक्षणों और अलङ्कारों का विशेष महत्त्व न होते हुए भी जो कथन हुआ है वह विशेष-सूचन मात्र है। वस्तुतः यह कथन उचित भी प्रतीत होता है तथा इनसे नाटकों में किए जाने वाले वर्णनों के निर्देश के अतिरिक्त कोई विशेष आलङ्कारिक प्रभाव नहीं पड़ता।

५- वृत्ति, वीथ्यङ्ग और लास्याङ्ग की समायोजना में शब्दालङ्कार का योगदान

वचन और चेष्टाओं के सम्मिलन को **'नाट्य'** कहते हैं। इनमें अभिनेता वचनों के द्वारा मनोगत भावों को प्रकाशित करता है। अतः वचन से सम्बन्धित वृत्ति को **'भारती'** कहते हैं और इस वचन के साथ जो सात्त्विक चेष्टा होती है उसे **'सात्त्वती-वृत्ति'** कहते हैं। इस प्रकार इन दो वृत्तियों की पूर्ति के लिए कवि वचन-विन्यास की ओर विशेष सावधान रहता है। इसके साथ ही ३६ लक्षण, तैंतीस नाट्यालङ्कार, तेरह वीथ्यङ्ग और दस लास्याङ्गों के नाटक में यथासम्भव प्रयोग के लिए भी शास्त्रकारों ने निर्देश किए हैं—

षट्त्रिंशल्लक्षणान्यत्र नाट्यालङ्कृतयस्तथा।
त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥
लास्याङ्गानि दश यथालाभं रसव्यपेक्षया।

— (साहित्यदर्पण, ६।१७०-७१)

इनमें ३६ लक्षण और ३३ नाट्यालङ्कृतियों के बारे में पहले विचार किया जा चुका है। अन्य दो अंगों के सम्बन्ध में विचार इस प्रकार हैं—

वीथ्यङ्ग—ये नाटक के ही एक अन्तिम भेद—**"वीथी"** को लक्ष्य करके उसके तेरह अङ्ग बतलाए हैं जिनमें—**१-उद्घात्यक**, २-अवलगित, **३-प्रपञ्च**, **४-त्रिगत**, ५-छल, **६-वाक्केलि**, **७-अधिबल**, ८-गण्ड, ९-अवस्यन्दित, **१०-नालिका**, **११-असत्प्रलाप** १२-**व्याहार** और **१३-मार्दव** हैं।' इनमें **त्रिगत अनेकार्थी की योजना से, वाक्केलि-दूसरे के अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर होने से, गण्ड-प्रकृतार्थ** से सम्बन्ध रखने वाले **त्वरायुक्त अन्यार्थक वाक्य के कारण, अवस्यन्दित-स्वाभाविक उक्ति का** अन्यथा व्याख्यान करने से **तथा नालिका-प्रहेलिकारूप होने से शब्दालङ्कार के लिए उपयोगी** हैं।

लास्याङ्ग— इसके दस प्रकारों में **१-गेयपद, २-स्थित पाठ्य, ३-आसीन, ४-पुष्पगण्डिका, ५-प्रच्छेदक, ६-त्रिगूढ, ७-सैन्धव, ८-द्विगूढ, ९-उत्तमोत्तमक** तथा **१०-उक्त-प्रत्युक्त** का समावेश है। इनमें भी **त्रिगूढ, द्विगूढ, उत्तमोत्तक और उक्तप्रत्युक्त** भेद शब्दालङ्कारों से सम्बद्ध हैं, क्योंकि इनमें होनेवाली वाक्ययोजनाओं में **गूढता, चित्रश्लोकनिबन्धन** तथा **उक्ति-प्रत्युक्ति** का समावेश है।

६- नाटक और उसके भेदोपभेदों की प्रयुक्त विधाओं में निहित शब्दालङ्कारों के तत्त्व

किसी भी नाटक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करने के लिए उसके तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक होता है। इस दृष्टि से उनकी यहां संक्षेप्त चर्चा करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। प्रत्येक नाटक में तीन तत्त्व होते हैं, **१-वस्तु, २-नेता** और **३-रस**। इनमें वस्तु का वर्णन विशेष महत्त्व रखता है। वस्तु के दो भाग होते हैं—**१-आधिकारिक** और **२-प्रासङ्गिक**। इन दोनों को कथावस्तु के अनुरूप प्रधान और प्रसङ्गानुसार नियोजित किया जाता है। प्रासङ्गिक-वस्तु के **१-पताका** एवं **२-प्रकरी** ऐसे दो भेद और किए गए हैं। इनमें पताका नाटक में दूर तक चलती है तथा प्रकरी प्रकीर्ण रूप से छोटे-छोटे कथानकों को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार नाटक की कथा-वस्तु के और भी विभाजन करने पर तीन भेद हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं **१-प्रख्यात-इतिहासावलम्बित, २-उत्पाद्यकविकल्पित** एवं **३-मिश्र**—दोनों पर अवलम्बित।

धनञ्जय और विश्वनाथ ने नाटकीय कथावस्तु के पांच तत्त्व प्रतिपादित किये हैं और उन्हें **अर्थप्रकृति** कहकर **'प्रयोजनसिद्धिहेतवः'** बतलाया है। इसी प्रकार नाटक में जो कार्य प्रारम्भ किया जाता है उसकी प्रगति के विभिन्न विश्रामों को **'अवस्था'** का नाम दिया है। ये

अवस्थाएं भी पांच हैं। उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृतियों को पांचों अवस्थाओं से जो सम्बद्ध करती हैं, उन्हें सन्धियां कहते हैं। ये सन्धियां भी पांच हैं। इन सबके नाम इस प्रकार हैं—

अर्थप्रकृतियां	अवस्थाएं	सन्धियां
१-बीज	१-आरम्भ	१-मुख
२-बिन्दु	२-यत्न	२-प्रतिमुख
३-पताका	३-प्राप्त्याशा	३-गर्भ
४-प्रकृति	४-नियताप्ति	४-विमर्श
५-कार्य	५-फलागम	५-उपसंहृति

इनके साथ ही कथावस्तु को रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करने की दृष्टि से उसे दो प्रकार की बतलाई है जो १-सूच्य और २-दृश्यश्रव्य हैं। सूच्यकथावस्तु नीरस होती है जिसका रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन नहीं होता। ऐसी वस्तुओं का केवल सूचन ही कर दिया जाता है। दृश्यश्रव्यात्मक कथावस्तु को जिन उपायों से सूचित किया जाता है उन्हें **'अर्थोपक्षेपक'** कहते हैं और इनके भी क्रमशः पांच प्रकार हैं **१-विष्कम्भक, २-प्रवेशक, ३-चूलिका, ४-अङ्कास्य** और **५-अङ्कावतार।** इसके अतिरिक्त कथावस्तु के पुनः तीन विभाग किए जाते हैं जिनमें **१-सर्वश्राव्य २-अश्राव्य-स्वगत** और ३-**नियतश्राव्य** होते हैं। **नियतश्राव्य कथावस्तु** (क) **जनान्तिक** और (ख) **अपवारित** के रूप में दो प्रकारों से साध्य है।

इन्हीं सब पर नाटक और नाटक के भेद-प्रभेदों का पूरा वितान तना हुआ है। ये नाटक के शिल्पविधान में उपयोगी तत्त्व हैं जिनके बल पर नाटक का भव्यभवन बनता है। इनसे स्पष्ट है कि कवि इन बातों को ध्यान में रखकर गद्य और पद्य से नाटक का अङ्ग तैयार करता है किन्तु इनमें गद्य अथवा पद्यों की रचना कैसी हो, इसका कोई सूचन नहीं मिलता। अतः इस प्रकार के लिए काव्यशास्त्रीय लक्षणों का ही अवलम्बन आवश्यक होता है।

काव्य-रचना में अलङ्कार-विधान (चाहे वह न्यूनाधिकरूप में ही क्यों न हो) सभी के द्वारा स्वीकृत है। अतः नाटकों में भी अलङ्कारों का प्रयोग उपादेय मानना पड़ेगा।

नाटकों के भेद-प्रभेदों की चर्चा हमने की है। इन प्रकारों में **रसानुकूल वर्णयोजना, पद-विन्यास** एवं **वाक्यनियोजन** सभी आचार्यों को अभिप्रेत हैं। अनुप्रास-शब्दालङ्कार तो रस का पोषक ही है। इसके भेदों में वृत्त्यनुप्रास वृत्तियों से सम्बद्ध होने के कारण रचना को तद-नुकूल प्रस्तुत करने के लिए सर्वत्र समादृत है। वाणी को अलङ्कृत करने के लिए कवि सायास अथवा अनायास जिन पदों का विन्यास करते हैं उनमें भावगत प्रभविष्णुता, अभि-व्यक्तिगत स्पष्टता एवं सौन्दर्यगत प्रेषणीयता लाने के लिए विभिन्न अलङ्कारों का आश्रय स्वा-भाविक हो जाता है। यही कारण है कि उन सभी भेद-प्रभेदों में शब्दालङ्कार का भी प्रयोग

हुआ है। रूपकों में **'रूप-सिद्धान्त'** का समावेश भी मान्य रहा है। अतः इसका विचार भी ग्राह्य है।

रूपसिद्धान्त और शब्दालङ्कार

साहित्य के रूपों को विभिन्न रचना-कौशल की योजना के अनुसार व्यक्त करने के लिए भाषा का संयोजन किस प्रकार किया जाए ? इस प्रश्न के समाधान के लिए जिस विधा का प्रयोग किया जाता है, उसे आचार्यों ने **'शैली'** की संज्ञा दी है। यद्यपि शैली शब्द का अर्थ व्यापक दृष्टि से 'अभिव्यक्ति की पद्धति' ही होता है, तथापि इसका साम्प्रतिक रूढार्थ भाषा-शैली है। शैली शब्द अभिव्यक्ति के अतिरिक्त रूप के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। रूप का तात्पर्य 'मानसिक दर्शन' अथवा 'बिम्ब' होता है जिसे **'रूप-सिद्धान्त'** भी कहा जाता है।

रूपात्मक-तत्त्व

रूप-सिद्धान्त में **'रूप'** और **'सामग्री'** का समावेश किया जाता है। जैसे अंगूठी के निर्माण के लिए सोना और हीरा आवश्यक हैं, ये दोनों सामग्री हैं और इनके द्वारा ही सामग्री उंगली में पहने जानेवाले आभूषण का रूप धारण करती है। इसलिए रूप केवल बाह्य आकार ही नहीं, अपितु वह तत्त्व भी है जो उसे आकार प्रदान करता है। अतः **'अर्थ'** या **अभिव्यक्तित्व** तथा **बनावट** या **रचना** वास्तव में रूपात्मक तत्त्व हैं, किन्तु अर्थ स्वयं रचनायुक्त होते हुए और रचना करने की शक्ति होते हुए भी स्वयं एक बनावट का प्रकार है। इस दृष्टि से जिसे अर्थ प्रदान किया जाता है तथा जिसकी रचना की जाती है वह भी रूप ही है, इसी को रूपात्मक की संज्ञा दी जाती है।

भाषा, शब्द और उनका संयोजन

जिस सामग्री से कृति बनाई जाती है वह **'भाषा'** है। यह भाषा रूपहीन सामग्री ही नहीं है, अपितु कुछ अंश में कलाकृति भी है। भाषा में मूल सामग्री ध्वनि है, इसी को विशेष चयन के साथ रूप दिया जाता है, इसमें स्वर और व्यञ्जन का भेद किया जाता है, पद और वाक्य की रचना की जाती है, इसमें विशिष्ट अर्थ डाले जाते हैं। क्योंकि शब्दों में ही अर्थ होते हैं, अतः शब्दों का संयोजन रूप-सिद्धान्त का एक साधक तत्त्व माना जाता है। इस दृष्टि से **आमुख, प्रस्तावना, विष्कम्भक, प्रवेशक, नान्दी, नेपथ्य, अङ्क** और **भरत-वाक्यादि** की योजना में भी नाट्यशास्त्राचार्य विशिष्ट निर्देश देकर इनके बारे में रचनाकार को सावधान करते हैं। इनमें नान्दी की योजना में **'पत्रावली'** नामक नान्दी श्लेषालङ्कार से युक्त होती है। **'नाट्य-दर्पण'** में कहा गया है कि—

> **यस्यां बीजस्य विन्यासो, ह्यभिधेयस्य वस्तुनः।**
> **श्लेषेण वा समासोक्त्या, नान्दी पत्रावली तु सा॥**

इस दृष्टि से अभिज्ञान-शाकुन्तल में **'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या'**[1] इत्यादि पद्य के भिन्न-भिन्न पदों से अग्रिम कथा का सूचन किया गया है तथा **'मुद्राराक्षस'**[2] में भी ऐसी ही नान्दी है। **नन्दयति आनन्दयति लोकानिति नान्दी** यह इसकी व्युत्पत्ति है।

कतिपय प्रसिद्ध रूपक और उपरूपकों में उपलब्ध शब्दालङ्कारों का सर्वेक्षण

संस्कृत का रूपकसाहित्य भी अत्यधिक विशाल है। सैकड़ों की संख्या में पूर्वाचार्यों ने नाटकों की रचना की है और यह प्रवाह आज भी अवरुद्ध नहीं हुआ है। लौकिक जन-जीवन के आदर्शों तथा अनेकानेक प्राचीन आख्यानों को अपनी-अपनी शैली के अनुसार अभिनवरूप में कविगण प्रस्तुत करते ही रहते हैं। उनमें यद्यपि शब्दालङ्कार को स्वतन्त्ररूप से स्थान तो नहीं मिला है तथापि यत्र-तत्र प्रयुक्त अंशों का चयन करके यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१- भास के नाटकों में शब्दालङ्कार (ईसा से पूर्व चौथी शती)

संस्कृत नाटक-साहित्य में सबसे प्राचीन उपलब्ध नाटक महाकवि भास के हैं। इसीलिए इन्हें **'आद्य नाटककार'** का सम्मान दिया जाता है। भास की रचनाएँ संविधान, सवाद, पाठ्यक्रम आदि के आधार पर निम्नांकित रूप में प्राप्त हैं —(१) **दूतवाक्य**, (२) **कर्णभार**, (३) **दूतघटोत्कच**, (४) **ऊरुभङ्ग**, (५) **मध्यमव्यायोग**, (६) **पञ्चरात्र**, (७) **अभिषेक**, (८) **बालचरित**, (९) **अविमारक**, (१०) **प्रतिमा**, (११) **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**, (१२) **स्वप्नवासदत्त** और (१३) **चारुदत्त**, इनके अतिरिक्त एक नाटक (१४) **'यज्ञफल'** भी इन्हीं का माना जाता है।

इस प्रकार चौदह नाटकों का प्रणयन नाटक-साहित्य के उदयकाल के समय ही करके भास ने संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि में अपूर्व योगदान किया है। शब्दालङ्कार का प्रयोग कवि

---

१. **या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥** (अभि० शाकु० १।१)

२. **धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किं नु नामैतदस्या,
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु—
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद् विभोर्वः ॥१।१४**

अपि च—

**पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः,
सङ्कोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते—
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ॥१।२ ॥**

की स्वतःस्फूर्त प्रतिभा के द्वारा यहाँ सहज रूप में हुआ है। अनुप्रास के प्रभेदों में छेकानुप्रास का प्रयोग तथा **'यमकच्छाया'** का उदाहरण भास के **'दूतवाक्य'** के मङ्गलाचरण में देखा जा सकता है—

पादः पायादुपेन्द्रस्य सर्वलोकोत्सवः स वः।
व्याविद्धो नमुचिर्येन तनुताभ्रमुखेन खे ॥१।१॥

यहां वर्णावृत्ति के अतिरिक्त **'सवः स वः'** और **'नंखे न खे'** की आवृत्ति दर्शनीय है। यही प्रवृत्ति उनके— **''विद्युल्लताकपिलतुङ्गजटाकलापाम्**[1], **'सकलनृपतिमान्यं मान्यकाम्बोजजातम्,**[2] **अयं तु बालः कुरुवंशनाथश्छिन्नोऽर्जुनस्य प्रथमः प्रवालः,**[3] **मध्ये तनुर्गरुडपक्षविलिप्तपक्षः,**[4] **मम शरवरवातपातभग्ना,**[5] **रजनिचरशरीरनीरकीर्णा**[6] **सौवर्णकान्ततरकन्दरकूटकुञ्ज;**[7] **अद्यापि हस्तिकरशीकरशीतलाङ्गीं बालां भयाकुलविलोलविषादनेत्राम्''**[8] इत्यादि पद्यांशों में अनुप्रास-प्रियता के रूप में प्रस्फुट हुई है। यमक का प्रयोग बहुत सीमित है। पुनरुक्तवदाभास का प्रयोग **'ऊरुभङ्ग'** के प्रथम अङ्क के पांचवें पद्य में हुआ है जबकि **'प्रतिमा-नाटक'** में २।११ में श्लेष का प्रयोग भी हुआ है। कहीं-कहीं उपमा को पुष्ट करने के लिए भी श्लेष का उपयोग किया गया है।

भास ने **'मुद्रालङ्कार'** का प्रयोग भी अपने नाटकों में किया है जो शब्दालङ्कार के निकट है। **'सूच्यार्थ-सूचनं मुद्रा'** इस लक्षण के आधार पर ग्रन्थ और पात्रादि का गुप्तरूप से सूचन इसका उद्देश्य है। इस प्रकार नाटकों में शब्दालङ्कार के प्रयोग की भूमिका इन नाटकों में प्रस्तुत हुई है।

२- कालिदास के नाटकों में शब्दालङ्कार (ईसवीय प्रथमशती)

कालिदास काव्यकार एवं नाटककार दोनों ही रूपों में प्रसिद्धिप्राप्त महाकवि हैं। इनके तीन नाटक प्राप्त हैं—**१-मालविकाग्निमित्र, २-विक्रमोर्वशीय** और **३-अभिज्ञानशाकुन्तल**।' इन तीनों में कवि ने अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास पुरस्कृत किया है।

(क) मालविकाग्निमित्र — कालिदास का यह प्रथम नाटक है। इसमें पाँच अङ्क हैं। इसका कथानक अग्निमित्र और मालविका को लक्ष्य करके प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में कालिदास ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं जिनमें पहली है—''किसी रचना की प्राचीनता के कारण उसकी अच्छाई और नवीनता के कारण अनुत्तमता कोई कसौटी नहीं है. अपितु उसे

१- **कर्णभार** १।६। २ - वही १।१६, ३ -**दूतघटोत्कच** १।११,
४- **मध्यमव्यायोग** १।२७, ५- **अभिषेक** ४।१८, ६-वही ६।२, ७-**बालचरित** २।६,
८- **अविमारक** २।१ ।

परीक्षा करके ही उसको स्वीकृत करना चाहिए[1] और दूसरी है नाटक के सम्बन्ध में वहां कहा गया है कि—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम् ।।१-४।।

तात्पर्य यह कि—

"**नाटक ही एक ऐसी विधा है कि जो भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए एक-समान आनन्द प्रदान करती है।**" इस नाटक में कालिदास ने शब्दालङ्कार को बहुधा प्रयुक्त किया है जिसके एक दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे, भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः ।। (१।११)

तथा— **पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणात्,**
सरसि सहसा बाह्वोर्मध्यं गताऽपि सखी तव।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया,
कथमिव सखे विस्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः ।।४।११।।

यहां कालिदास की उसी कोमलकान्त पदावली और प्रसन्न-मधुर वर्णविन्यास का प्रयोग है। कहीं-कहीं अनुप्रास से आगे यमक का प्रयोग भी किया है। कहीं कालिदास ने कादम्बरी के गद्य का पूर्वाभास भी दिया है। यथा —

तुणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापवारि ।।
कोदण्डपाणिविनदत्प्रतिरोधकानामासातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम् ।।५।१०।।

यह वर्ण-योजना वीर-रसोचित है।

(ख) **विक्रमोर्वशीय**—यह कालिदास का 'त्रोटक' संज्ञक नाटक है। इसमें भी पांच अङ्क हैं तथा पुरूरवा और उर्वशी का कथानक वर्णित है। अपनी पूर्व-पद्धति के अनुसार ही यहां भी—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविधिः शेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ।।२।३।।
तथा— **नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा, वनेऽस्मिन् वनिता त्वया।**
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ।।४।२२।।

---

१. **पुराणमित्येव न साधु सर्वं नवीनमित्येव न चानवद्यम्।**
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।१।२

की स्वतःस्फूर्त प्रतिभा के द्वारा यहाँ सहज रूप में हुआ है। अनुप्रास के प्रभेदों में छेकानुप्रास का प्रयोग तथा **'यमकच्छाया'** का उदाहरण भास के **'दूतवाक्य'** के मङ्गलाचरण में देखा जा सकता है—

पादः पायादुपेन्द्रस्य सर्वलोकोत्सवः स वः ।
व्याविद्धो नमुचिर्येन तनुताभ्रमुखेन खे ॥१।१॥

यहां वर्णावृत्ति के अतिरिक्त **'सवः स वः'** और **'नखे न खे'** की आवृत्ति दर्शनीय है। यही प्रवृत्ति उनके— **"विद्युल्लताकपिलतुङ्गजटाकलापाम्**[1], **'सकलनृपतिमान्यं मान्यकाम्बोजजातम्,**[2] **अयं तु बालः कुरुवंशनाथश्छिन्नोऽर्जुनस्य प्रथमः प्रवालः,**[3] **मध्ये तनुर्गरुडपक्षविलिप्तपक्षः,**[4] **मम शरवरवातपातभग्ना,**[5] **रजनिचरशरीरनीरकीर्णा**[6] **सौवर्णकान्ततरकन्दरकूटकुञ्ज;**[7] **अद्यापि हस्तिकरशीकरशीतलाङ्गीं वालां भयाकुलविलोलविषादनेत्राम्"**[8] इत्यादि पद्यांशों में अनुप्रास-प्रियता के रूप में प्रस्फुट हुई है। यमक का प्रयोग बहुत सीमित है। पुनरुक्तवदाभास का प्रयोग **'ऊरुभङ्ग'** के प्रथम अङ्क के पांचवें पद्य में हुआ है जबकि **'प्रतिमा-नाटक'** में २।११ में श्लेष का प्रयोग भी हुआ है। कहीं-कहीं उपमा को पुष्ट करने के लिए भी श्लेष का उपयोग किया गया है।

भास ने **'मुद्रालङ्कार'** का प्रयोग भी अपने नाटकों में किया है जो शब्दालङ्कार के निकट है। **'सूच्यार्थ-सूचनं मुद्रा'** इस लक्षण के आधार पर ग्रन्थ और पात्रादि का गुप्तरूप से सूचन इसका उद्देश्य है। इस प्रकार नाटकों में शब्दालङ्कार के प्रयोग की भूमिका इन नाटकों में प्रस्तुत हुई है।

२- कालिदास के नाटकों में शब्दालङ्कार (ईसवीय प्रथमशती)

कालिदास काव्यकार एवं नाटककार दोनों ही रूपों में प्रसिद्धिप्राप्त महाकवि हैं। इनके तीन नाटक प्राप्त हैं—**१-मालविकाग्निमित्र, २-विक्रमोर्वशीय** और **३-अभिज्ञान-शाकुन्तल।'** इन तीनों में कवि ने अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास पुरस्कृत किया है।

(क) मालविकाग्निमित्र — कालिदास का यह प्रथम नाटक है। इसमें पाँच अङ्क हैं। इसका कथानक अग्निमित्र और मालविका को लक्ष्य करके प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में कालिदास ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं जिनमें पहली है—"किसी रचना की प्राचीनता के कारण उसकी अच्छाई और नवीनता के कारण अनुत्तमता कोई कसौटी नहीं है. अपितु उसे

१- **कर्णभार** १।६। २ - वही १।१६, ३ -**दूतघटोत्कच** १।११,
४- **मध्यमव्यायोग** १।२७, ५- **अभिषेक** ४।१८, ६-वही ६।२, ७-**बालचरित** २।६,
८- **अविमारक** २।१ ।

परीक्षा करके ही उसको स्वीकृत करना चाहिए [1] और दूसरी है नाटक के सम्बन्ध में वहां कहा गया है कि—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं ऋतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्॥१-४॥

तात्पर्य यह कि—

"नाटक ही एक ऐसी विधा है कि जो भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए एक-समान आनन्द प्रदान करती है।" इस नाटक में कालिदास ने शब्दालङ्कार को बहुधा प्रयुक्त किया है जिसके एक दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे, भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥ (१।११)

तथा— **पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणात्.**
सरसि सहसा बाह्वोर्मध्यं गताऽपि सखी तव।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया,
कथमिव सखे विस्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः॥४।११॥

यहां कालिदास की उसी कोमलकान्त पदावली और प्रसन्न-मधुर वर्णविन्यास का प्रयोग है। कहीं-कहीं अनुप्रास से आगे यमक का प्रयोग भी किया है। कहीं कालिदास ने कादम्बरी के गद्य का पूर्वाभास भी दिया है। यथा —

तुणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापवारि॥
कोदण्डपाणिविनदत्प्रतिरोधकानामासातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्॥५।१०॥

यह वर्ण-योजना वीर-रसोचित है।

(ख) विक्रमोर्वशीय—यह कालिदास का 'त्रोटक' संज्ञक नाटक है। इसमें भी पांच अङ्क हैं तथा पुरूरवा और उर्वशी का कथानक वर्णित है। अपनी पूर्व-पद्धति के अनुसार ही यहां भी—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविधिः शेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥२।३॥

तथा— **नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा, वनेऽस्मिन् वनिता त्वया।**
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत्॥४।२२॥

---

१. **पुराणमित्येव न साधु सर्वं नवीनमित्येव न चानवद्यम्।**
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥१।२

अथवा— **रथाङ्गनामन् वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया ।**
अयं त्वां पृच्छति रथी, मनोरथशतैर्वृतः ॥ ४।३७ ॥

— जैसे पद्यों में अनुप्रास तथा यमक का सामान्य वर्णावृत्तिमूलक रूप प्राप्त होता है। एक स्थान पर यह यमक और आगे बढ़ा है । यथा—

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा, श्रयति पर्वतपर्वसु संनता ।
इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना, पृथुनितम्बनितम्बवती तव ॥४।४६॥

कहीं-कहीं विकटाक्षरबन्ध भी प्रयुक्त है जो— **उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छदः'** जैसे चरणों से शब्दालङ्कार की परिधि में आता है। तथा पञ्चमाङ्क का अन्तिम पद्य भी इस पद्धति के प्रति अनुराग का साक्षी बना है। यथा —

सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥२५॥

प्रस्तुत त्रोटक में प्राकृत का प्रयोग बहुत हुआ है तथा वहीं प्राकृत के पद्य भी बहुत हैं उनमें भी अनुप्रास का प्रभाव व्यापक ही है।

(ग) अभिज्ञान-शाकुन्तल— यह तृतीय नाटक कालिदास की विश्वविश्रुत कीर्ति का साक्षी है। इसमें सात अङ्क हैं तथा दुष्यन्त और शकुन्तला के कथानक का पुरस्करण इसमें हुआ है। इसकी रचना में कालिदास ने नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का पालन भी सर्वांश में किया है। वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र, नीति, धनुर्वेद, आयुर्वेद, कामशास्त्र, व्याकरण और ज्योतिष-शास्त्र के अपूर्व ज्ञान का इसमें समावेश है। अन्यान्य अलङ्कारों के साथ शब्दालङ्कार भी प्रायः सर्वत्र व्याप्त है। अनुप्रास का प्रयोग बहुधा मिलता है। यथा—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥१।१॥

इसमें सृष्टि, स्रष्टु, वहति विधि, हवि होत्री जैसे पदों से छेकानुप्रास का प्रयोग है तथा प्राणिनः प्राणवन्तः पदों में पुनरुक्तवदाभास है जो कि जीव और प्राणयुक्तार्थ के सूचक हैं। इसी पद्य में कवि ने पूरे नाटक से सम्बद्ध घटनाओं का चित्र भी गुप्तरूप से प्रस्तुत कर दिया है जिसे हम 'गूढ-चित्र' के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार **'सुभगसलिलावगाहा०** (१।३), **न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्** (१।१०), **तीव्राघातप्रतिहततरु०** (१।३३) **स्निग्धं वीक्षितमन्मथोऽपि** (२।२), **स्तनन्यस्तोशीरं** (३।६), **इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्** (३।१०) जैसे अनेक पद्यों में अनुप्रासालङ्कार मुखरित हुआ है। यमक का प्रयोग भी यहां—**क्षामक्षामकपोल** (३।७) तथा **'प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा०** (५-५) आदि पद्यों में प्रयुक्त है। श्लेष-योजना भी शाकुन्तल में बहुधा हुई है। यथा—**अनवरत-धनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्व०** (२।४) इस पद्य में एक अर्थ राजा के शरीर के पक्ष में और दूसरा हाथी के पक्ष में है। धनुष्-धनुष और प्रियाल

ज्या-डोरी और भूमि, ये शब्द द्व्यर्थक हैं। **शमप्रधानेषु तपोधनेषु** (२।७), **अध्याक्रान्ता** (२।१४), **तव न जाने हृदयं** (६।१३), **किं शीतलैः** (३।१८) तथा कुछ अन्य पद्यों में श्लेष का प्रयोग है। इस तरह कालिदास के नाटकों में अनुप्रास, यमक और श्लेष का सीमित प्रयोग प्राप्त होता है।

३- शूद्रक के प्रकरण में शब्दालङ्कार (ईसवीय १-२ शती)

शूद्रक का **'मृच्छकटिक'** नाटक के भेदों में प्रकरणस्थानीय है। इसमें दस अङ्क हैं तथा भास के प्रियपात्र चारुदत्त का कथानक वर्णित है। संस्कृत-नाटकों में 'मृच्छकटिक' अपने ढंग का अनूठा नाटक है। यहां नाटककार ने प्रणयकथानक को बड़ी कुशलता के साथ राजनीतिक घटनाओं से सम्पृक्त किया है। यह सामाजिक नाटक होने से भी अभिनव माना गया है। इसमें शूद्रक ने सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग किया है तथा बड़े छन्दों का प्रयोग भी बहुत कम है। प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण, एवं ऋतुवर्णन हृदयग्राही है। यहाँ वर्णनों में ललित-पद विन्यास का प्रयोग दर्शनीय है—

किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना, रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती,
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती, टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा ॥ (१।२०)

इसी प्रकार प्रकृतिवर्णन में भी अनुप्रास का उत्तम निर्वाह है। एक पद्य इस प्रकार है—

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव,
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छिवैः।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः,
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ॥५।५॥

यहां इव का प्रयोग एक ओर तो उत्प्रेक्षा का बोधक है ही किन्तु दूसरी ओर पूर्वार्ध में चार बार प्रयोग होने से वह शब्दालङ्कार का भी पूरक है। यहां भी अन्य शब्दालङ्कारों का प्रयोग नहीं के बराबर है। इसका प्राकृत गद्य भी अलङ्कारपूर्ण है।

४- विशाखदत्त के नाटक में शब्दालङ्कार (४-५वीं शती)

राजनीतिविषयक नाटकों में विशाखदत्त के **'मुद्राराक्षस'** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें सात अङ्क हैं। इसका कथानक इतिवृत्तात्मक है जिसे कवि ने अपने शास्त्रवैदुष्य और वैयक्तिक प्रतिभा के द्वारा सुसंश्लिष्ट रूप से संस्कृत किया है। स्वयं कवि ने राक्षस के मुंह से नाटककार के कर्तव्यधर्म के पालन से उत्पन्न क्लेश की चर्चा करवाई है। यथा —

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्,
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतिमपि पुनः संहरन् कार्यजातं,
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥४।३॥

इसके अनुसार छोटे कार्य का मुखसन्धि में सर्वप्रथम उपक्षेप, प्रतिमुखसन्धि में उसका विस्तार, गर्भसन्धि में उसके फल का विस्तार तथा विकीर्ण व्यापारों का उपसंहार नाटककार के क्लेशकारक धर्म हैं, जिनका पालन विशाखदत्त ने अपने नाटक में किया है।

रचना पूर्ण प्रौढ है। भाषा प्रसादपूर्ण है। किन्तु वह प्रसादपूर्ण होकर भी गौडी रीति का अनुसरण करती है। आनुप्रासिक स्वरसरणी बहुत ही रमणीय है। यथा —

नन्दकुलकाव्यभुजगीं कोपानलबहललोलधूमलताम्।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥१।६॥

तथा— पृथिव्यां किं दीर्घाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः,
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती।
प्रकृत्यां वाकाशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला,
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥२।७॥

इन पद्यों में अनुप्रास की सुषमा दर्शनीय है। ऐसा ही अनुप्रास विशाखदत्त द्वारा गद्य में भी प्रयुक्त है। यथा—

"ततः प्रथममेव प्रकाशिते ··· विमलमुक्तागुणपरिक्षेपोपरचितचित्रपटवारबाणप्रच्छादितशरीरे मणिमयमुकुटनिषितनियतरुचिरतरमौलौ सुरभिकुसुमदामवैकक्षिकावभासितविपुलवक्षस्स्थले" इत्यादि।[1] अथवा —"प्रगतसम्भ्रमसमुच्चलितभूमिपालमौलिमालामाणिक्य-शकलशिखापिशङ्गीकृतपादपद्मयुगल"[2]० इत्यादि।

यमक का प्रयोग इस नाटक में नहीं हुआ है। केवल दो-तीन स्थानों पर 'मुहुः' 'जयति' जैसे पदों की चरणगत आवृत्तियां हुई हैं। श्लेष का प्रयोग पूर्णोपमा और अन्य अलङ्कारों की पुष्टि के लिए किया गया है। तथापि कवि की वाणी की प्रौढता बहुत ही आकर्षक है। यथा—

संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयाऽपि,
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमिव पुनःपिङ्गया: नेत्रभासा।
मन्ये रुद्रस्य रौद्रे रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्याः,
सञ्जातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥१।३०)

विशाखदत्त ने अन्य नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त'[3] और 'राघवानन्द' का भी निर्माण

---

१. द्वितीयाङ्क पृ० ९७, विराधगुप्त की उक्ति।

२. तृतीयाङ्क पृ० १३७ कञ्चुकी की उक्ति।

३. यह नाटक कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त हुआ है तथा इससे यह भी विदित होता है कि कवि का स्थितिकाल कन्नौज के मौरवीर राजा अवन्तिवर्मा के समय था, अतः ये छठी शती के भी माने जाते हैं।

किया था। इस नाटक पर विशेष अनुशीलन चल रहा है।

५- हर्षवर्धन के नाटकों में शब्दालङ्कार (सन् ६०६ से ६४५ ई० शासनकाल)

कालिदास की— **'निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च'** इस सूक्ति के अनुसार महाराज हर्षवर्धन श्री और सरस्वती दोनों से परिपूर्ण थे। इनकी **१-'रत्नावली, २-प्रियदर्शिका** और **३-नागानन्द'** नामक तीन नाट्यकृतियां प्राप्त होती हैं। ये सभी काव्य-कला से ओतप्रोत हैं।

(क) **रत्नावली**—यह नाटिका है। इसमें चार अंक हैं तथा भास के **'स्वप्नवासवदत्त'** नाटक की कथा के समान ही इसमें यौगन्धरायण लावाणक में वासवदत्ता के जलने की झूठी बात फैलाकर सिंहलराजदुहिता रत्नावली को उदयन के विवाहार्थ मांगता है। नाटक और प्रकरण के मिश्रण से निर्मित यह संस्कृतसाहित्य की प्रथम नाटिका है। हर्ष की रचना-शैली प्रसाद-गुणवती है, यत्र-तत्र प्रसङ्गानुसार स्फीत एवं दीर्घ समासयुक्त भी बनी है। प्रणय और प्रकृति के कोमल चित्रों में अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों का प्रयोग भी मधुर हुआ है। एक-दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन् ।
सम्प्रत्येव सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेकितुं,
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोदीक्ष्यते ॥१।२३॥

तथा— **उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा—**
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥२।४॥

वहीं अनुपम सुन्दरी रत्नावली की सृष्टि कर स्वयं विधाता को आश्चर्य हुआ, इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष-
श्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम् ।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा,
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ।,२।१४॥'

१, वहीं, अन्तःपुर में लगी अग्नि का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है—

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चिषामादधानः,
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूम्रपातै—
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥६।१४॥

यहां की अनुप्रास-योजना भी दर्शनीय है।

(ख) प्रियदर्शिका- हर्ष की यह दूसरी रचना भी नाटिका है, इसमें चार अङ्क हैं। यह भी उदयन के कथाचक्र से सम्बद्ध है। दृढवर्मा की पुत्री 'प्रियदर्शिका' के नाम पर इस नाटिका का नामकरण किया है। इस रचना में भी पूर्ववत् शब्दालङ्कार के अनुप्रास नामक प्रथम भेद का ही प्रयोग बहुलता से हुआ है। ग्रीष्मकाल की दुपहरी का वर्णन निम्न पद्य में द्रष्टव्य है —

आभात्यर्कांशुतापक्वथदिव शफरोद्वर्तनैर्दीर्घिकाम्भ—
श्छत्राभं नृत्तलीलाशिथिलमपि शिखी बर्हभारं तनोति।
छायाचक्रं तरूणां हरिणशिशुरुपैत्यालवालाम्बुलुब्धः,
सद्यस्त्यक्त्वा कपोलं विशति मधुकरः कर्णपालीं गजस्य ॥१।१२॥

इसी प्रकार अन्य वर्णनों में भी हर्ष ने प्रसङ्गानुसार वर्णयोजना एवं रीति-निर्वाह किया है।

(ग) **नागानन्द**— हर्ष की यह तीसरी कृति नाटकरूप है। इसमें पाँच अङ्क हैं। यह किसी बौद्ध अवदान की कथा पर आश्रित है। जीमूतवाहन और मलयवती के चरित्र से मण्डित इस रचना में हर्ष ने शान्तरस के अनुरूप प्रसादपूर्ण एवं मनोहर शैली का ही प्रयोग किया है। नवोढा के के अनुभाव तथा सञ्चारी भाव का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है —

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमालापिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया॥ ३।४॥

जीमूतवाहन की मृत्यु पर उसके पिता का शोक वर्णित करते हुए भी इसी प्रासादिकता का अनुसरण हुआ है। यथा —

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः,
क्षमः क्षान्तिं बाढं क इह विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगज्जातं सत्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते॥ ५।३१॥

इस प्रकार हर्ष की शैली में अनुप्रास अन्तर्निहित कान्ति के समान यदा-तदा अपनी चमक दिखाता-सा प्रतीत होता है।

(६) भवभूति के नाटकों में शब्दालङ्कार (आठवीं शती का प्रथम भाग)

महावीर-चरित – यह भवभूति का दूसरा नाटक है। इसमें सात अङ्क हैं जिनमें रामायण की कथा को नये ढंग से प्रस्तुत किया है। किन्तु इसे पहले स्थान देने का कारण

यह है कि 'कवि की आदर्शवादी विचारधारा के समर्थ प्रतीक राम के वीरोचित चरित्र को समझे बिना 'उत्तररामचरित' के लोकाराधक राम को समझ पाना कठिन होता है तथा कथाक्रम से भी महावीर राम प्रथम हैं।

प्रस्तुत नाटक की भाषाशैली के सम्बन्ध में महावीरचरित की पङ्क्तियाँ स्वयं इङ्गित करती हैं —

महापुरुषसंरम्भो, यत्र गम्भीर-भीषणः ।
प्रसन्न-कर्कशा यत्र, विफलार्था च भारती ।। १ ।।

इसके अनुसार गम्भीर अर्थ और प्रसन्न-कर्कश (यथावश्यक प्रयोग से परिपूर्ण) वाणी का प्रयोग भवभूति की अपनी विशेषता है। इस दृष्टि से प्रकृति-वर्णन में जिस प्रकार की पदावली प्रयुक्त हुई है उसका कुछ परिचय इन पद्यों से प्राप्त हो सकेगा—

एता भुवः परिचिनोषि मिलत्तमालच्छायान्धकारिततुषारनिकुञ्जपुञ्जाः ।
उन्मूर्च्छदच्छमलयाचलतुङ्गशृङ्गप्राग्भारनिष्पतितनिर्झरपूरभाजः ।। ७।११ ।।

तथा— **गर्जाजर्जरितासु दिक्षु बधिरे तत्स्फूर्जथुस्फूर्जितै—**
व्योम्नि भ्राम्यति दुष्प्रभञ्जनजवादभ्रेऽप्यदभ्रे मुहुः ।
आक्षिप्यान्धयति द्रुमान्धतमसे चक्षुः प्रविश्य क्षपा,
यत्रासीत् क्षपिता क्षरज्जलधरे त्वक्सारलक्षीकृते ।।७।१२।।

भवभूति की इस शैली की यह विशेषता है कि—'इस पद्य के शब्दों में सटीकता एवं अनुपम नादसौन्दर्य है।' मेघ के गर्जन से जब दिशाएँ फल रही थीं 'इस अभिप्राय के लिये लिये गर्जा, जर्जरित और दिक् पदों का प्रयोग अपने आपमें प्रपूर्ण है। वज्रनिर्घोष के लिये '**स्फूर्जथुस्फूर्जित**', आँधी के लिये, दुष्प्रभञ्जन, मेघ के लिए अभ्र, तथा **चक्षु, क्षपा, क्षपिता, क्षरत्** आदि पद नादसौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये पूर्ण सक्षम है। यही 'अनुप्रास का माहात्म्य' है।' ऐसे ही प्रयोग यहाँ गद्य में भी किये गये हैं।

(ख) मालतीमाधव—यह १० अङ्कों का प्रकरण है। इसमें भवभूति ने कल्पित इतिवृत्त को आधार बनाकर वस्तुसंविधान किया है। माधव और मालती की प्रणय-कथा का वर्णन यहाँ बड़ा सजीव है। नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार कवि के प्रकाण्डवैदुष्य की प्ररोचना में नाटकों के लिए वाणी की प्रौढि, उदारता एवं अर्थगौरव को ही अलम् समझता है। (१।८)। यह नाटक शूद्रक के मृच्छकटिक की म्रियमाण परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का ऐतिहासिक प्रयत्न है। इसमें शृङ्गाररस प्रधान है। इसमें भी वैसी ही सानुप्रासिक समासान्त पदावली का प्रयोग हुआ है। यथा—

व्योम्नस्तापिच्छगुच्छावलिभिरिव तमोवल्लरीभिर्व्रियन्ते,
पर्यन्ताः प्रान्तवृत्त्या पयसि वसुमती नूतने मज्जतीव ।

वात्या संवेगविष्वग्विततवलयितस्फीतधूम्या प्रकाशं,
प्रारम्भेऽपि त्रियामा तरुणयति निजं नीलिमानं वनेषु ।।५।६।।

यहाँ प्रथम और तृतीय पदों की वर्णयोजना संश्लिष्ट है और द्वितीय-चतुर्थ की विश्लिष्ट। कवि ने बीभत्सरस का वर्णन भी बड़ी ही निपुणता से किया है। यथा —

उत्कृत्त्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयाँसि माँसा—
न्यंसस्फिक् पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतानि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का—
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।।५।१६।।

कितनी उत्तम पदयोजना है तथा कैसा जागृत वर्णन है? ऐसे वर्णन संस्कृत-साहित्य में विरले ही हैं। मालतीमाधव की गद्य-योजना भी महत्त्वपूर्ण है। यथा—

माधवः— अथ ताः सलीलमुत्तालकरतालिकातरलवलयावलीकमुत्त्रस्तकलहंसविभ्रमाभिरामचरणसञ्चरणरणरणायमान-मञ्जुमञ्जीररणितानुबिद्धमेखलाकलापकलकिङ्किणीरणत्कारमुखरं प्रतिनिवृत्य—इत्यादि (पृ० २८)

इस प्रकार भवभूति ने 'नाटकान्तं कवित्वं' और 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' इन दोनों पर विजय प्राप्त की और संस्कृतसाहित्य में अपूर्व रचनाएं प्रस्तुत की हैं।

(ग) उत्तररामचरित—इस तृतीय नाट्यकृति के सम्बन्ध में विद्वानों की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।' इसके अनुसार भवभूति ने इस नाटक के सात अङ्कों में वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड की कथा को उपजीव्य बनाकर प्रस्तुत किया है। यह भी कहा जाता है कि भवभूति की यह कृति नाट्यप्रतिभा के चूडान्तनिदर्शन से परिपूर्ण होने के कारण सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम है। जो भी हो, इसका रचनाशिल्प बहुत ही श्लाघनीय है। यहाँ 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' वाली उक्ति स्वयं भवभूति पर घटित होती प्रतीत होती है। दाम्पत्यप्रणय के संयोग और वियोग दोनों अवस्थावाले चित्र इस नाटक में प्रस्तुत हैं। संयोगशृङ्गार का यह प्रसिद्ध पद्य अनुप्रास के साथ ही अपनी रचनागत विशिष्टता से कितना प्रभावशाली है —

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियो गादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्
।।१।२७।।

आर वियोगवर्णन भी किसी कोटि में कम नहीं है—

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ।।३।३१।।

इनके गद्य का स्वरूप भी ऐसी ही अनूठी पदयोजना से अनुप्राणित है। दण्डकारण्य की प्रशान्त और गम्भीर प्रकृति का वर्णन निम्नलिखित गद्य से पहचाना जा सकता है—

"अथैतानि मदकलमयूरकण्ठकोमलच्छविभिरवकीर्णानि पर्यन्तैरविरलनिविष्टनील-बहुलच्छायतरुखण्डमण्डितान्यसम्भ्रान्तविविधमृगयूथानि पश्यतु महाभागः प्रशान्तगम्भीराणि श्वापदकुलशरण्यानि महारण्यानि।" (द्वितीय अङ्क)

वीररसोचित उक्ति में निखार लाने के लिये भी तदनुकूल पदावली का प्रयोग किया गया है। यथा—

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम्॥४।२६॥

भवभूति की कला में पाण्डित्य और प्रतिभा का अपूर्व समन्वय मिलता हैं। ये समासान्त पदसङ्घटना, आनुप्रासिक चमत्कार तथा गौड़ी रीति के सफल प्रयोक्ता हैं। किन्तु साथ ही यमक और श्लेष के प्रति भवभूति ने कहीं अनुराग नहीं दिखाया है। वर्णों की योजना में अपूर्व सङ्गीत अनुरणन करता प्रतीत होता है। वर्ण्यविषय की नैसर्गिकता का एक उदाहरण और दर्शनीय है। यथा —

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥ २।२०॥

७- हनुमन्नाटक में शब्दालङ्कार (आठवीं शती अनुमानित)

इस नाटक के रचयिता का नाम अज्ञात है। इसका अपरनाम **'महानाटक'**[1] भी है और कुछ विद्वान् इसे छायानाटक भी मानते हैं। इसके दो संस्करण प्राप्त हैं जिनमें प्रथम **दामोदर मिश्र** का है जिसमें १४ अंक और ५४८ पद्य हैं। एक अन्य संस्करण बंगाल का अथवा पूर्व-भारत का है जिसमें १० अंक और ७२० पद्य हैं। राम के जीवनचरित्र का वर्णन यहां बड़ी मार्मिक शैली से किया गया है। पद्य-रचना बड़ी आकर्षक है। संवादशैली का प्रयोग भी पद्यों में ही है। कुछ पद्यों में अनुप्रास का प्रयोग इस प्रकार हुआ है —

तारा सन्त्यक्तहारा गिरिशिखरचरा त्रस्तधम्मिल्लभारा,
शोकाब्धिप्राप्तपारार्पितमदनशरा वीरसुग्रीवदाराः।
नारा नाराचधारा निजरमणरता — तापिनः पापिनोऽस्य,
प्राणच्छाणावतीर्णा हरतु कलिकलाशालिनो बालिनोऽद्य॥५।५०।

---

१. महानाटक का लक्षण 'भावप्रकाशन' में इस प्रकार दिया है —

सर्ववृत्ति-विनिष्पन्नं, सर्वलक्षण-संयुतम्।
समग्रे तत्प्रतिनिधिर्महानाटकमुच्यते॥

तथा— निद्रालुस्त्रीनितम्बाम्बरहरणरणन्मेखलारावधावत्—
कन्दर्पारब्धबाणव्यतिकरतरलाः कामिनो यामिनीषु ।
ताटङ्कोपान्तकान्तग्रथितमणिगणोद्गच्छदच्छप्रभाभि—
र्व्यक्ताङ्कास्तुङ्गकम्पा जघनगिरिदरीमाश्रयन्ते श्रयन्ते ।।२।१९।।

एक अन्य पद्य में टकारान्त पदों की योजना भी दर्शनीय है—

एषा पञ्चवटी रघूत्तमकुटी यत्रास्ति पञ्चावटी,
पान्थस्यैकघटी पुरस्कृततटी संश्लेषभित्तौ कटी ।
गोदा यत्र नटी तरङ्गिततटी कल्लोलचञ्चत्पुटी,
दिव्यामोदकुटी भवाब्धिशकटी भूतक्रियादुष्कुटी ।।३२२।।

एक ही शब्द की पुनः पुनः आवृत्ति भी कवि को प्रिय है । यथा—

का शृङ्गारकथा कुतूहलकथा गीतादि-विद्या-कथा,
माद्यत्कुम्भिकथा तुरङ्गमकथा कोदण्डदीक्षाकथा । इत्यादि ।।६।४१।।

कहीं नामधातु के बहुल प्रयोग से भी अनुप्रास की शोभावृद्धि की है । कुछ स्थानों पर यमक का प्रयोग भी है —

सुवर्णस्य सुवर्णस्य, सुवर्णस्य च मैथिली ।
प्रेषितं रामचन्द्रेण, सुवर्णस्याङ्गुलीयकम् ।।६।१५।।

इसी प्रकार प्रश्नोत्तररूप चमत्कार भी वर्णित है ।

८- भट्टनारायण के नाटक में शब्दालङ्कार (आठवीं शती)

भट्टनारायण ने 'वेणीसंहार' की रचना की है । इसमें महाभारत की एक महत्त्वपूर्ण घटना—द्रौपदी की वेणी बांधना—का बड़े कौशल से विन्यास हुआ है । इसमें छह अंक हैं । शास्त्रीय दृष्टि से यह एक आदर्शनाटक माना गया है । वीररसप्रधान आख्यान को कवि ने बड़ी ही सफलता से यहाँ प्रस्तुत किया है । सजीव चित्रण, प्रौढ भाषा, ओजोगुण, रसानुकूल वर्णविन्यास, समासबहुला शैली और अलङ्कृति से परिपूर्ण वाक्प्रवाह इसके वैशिष्ट्य को उज्ज्वल बनाते हैं ।

शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष का प्रयोग हुआ है । यथा—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः
।।१।२१।।

यहाँ भावानुरूप ही अनुप्रास से व्याप्त पदों का प्रयोग हुआ है । गौडी रीति के प्रयोग से इनकी भाषा में प्रौढता व्याप्त है । एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः,
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः,
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥१।२२॥

भट्टनारायण की कृति में पद-संरचना अलङ्कारपूर्ण है तथा वाणी सशक्त है जिससे ध्वनि और व्यञ्जना को भी बल मिला है। **गौडी** रीति और ओज गुण का जैसा उत्तम प्रयोग इस रचना में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।[1]

६- मुरारि कवि के नाटक में शब्दालङ्कार (आठवीं शती के निकट)

'अनर्घराघव' नाटक के रचयिता मुरारि मौद्गल्यगोत्र के **श्रीवर्धमानक** के पुत्र थे, इनकी माता का नाम तन्तुमती था। इनका स्थितिकाल आठवीं शती के निकट माना जाता है। ये माहिष्मती (आधुनिक नर्मदा नदी पर स्थित मान्धाता नगरी) के निवासी थे।

'अनर्घराघव' सात अङ्कों का नाटक है। यह भवभूति के **'महावीरचरित'** से प्रभावित है। मुरारि को **'बाल-वाल्मीकि'** कह कर आलोचकों ने सम्बोधित किया है तथा इनके पद-विन्यास में माघ कवि से भी अधिक महत्ता को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि—

मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ता चेत् तदा माघेरतिं कुरु॥

और कुछ ने तो भवभूति से भी विशिष्ट बतलाया है। यथा —

मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥

इन सबके अनुसार मुरारि ने विशाल शब्दराशि का प्रौढ पदशय्या के रूप में गम्भीरतापूर्वक विन्यास किया है। इनकी शैली का एक उदाहरण देखिए—

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर —
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तरीभूमयः।
याः कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात् तैरेव रेणूत्करै—
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवी निःशङ्कमेणीकुलम् ॥ ५।६ ॥

यहां भावप्रकाशन के अनुकूल वर्णों द्वारा अनुप्रास का निर्वाह तथा नादसौन्दर्यमूलक पदशय्या द्रष्टव्य है। एक अन्य पद में —

---

1. इसीलिये कहा गया है कि —

ओजःसंसूचकैः शब्दैर्युद्धोत्साह-प्रकाशकैः।
वेण्यामुज्जृम्भयन् गौडीं भट्टनारायणो बभौ॥

कल्पानाक्रूरसूरोत्कटविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध—
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयो विलक्षः ।
सम्भूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहाशस्त्रसम्पातभीमा—
मुर्वीं गीर्वाणगोष्ठीगुरुमदनिकषो नैकषेयः पिधत्ते ।। ६।३१ ।।

यहां युद्ध के वर्णन में शब्दपरिवेश पर्याप्त सहायता करता है । मुरारि अपनी पद-चिन्ता में माघ की तरह गम्भीर सङ्गीत, शब्दानुप्रास तथा जटिल व्याकरणसिद्ध पदों का प्रयोग करते हैं। **'उदरम्भरयश्चकोराः, गीर्वाणपाणिन्धमाः, प्रसभसुभगं भावुकभुजः, स्थूलं-करणः'** जैसे पाणिनीय प्रयोगमौक्तिक इसके उदाहरण हैं। वृत्त्यनुप्रास के साथ ही श्लेष का प्रयोग भी इनका अभिनव है। इस दृष्टि से निम्नलिखित एक पद्य अनुशीलनीय है —

पौलोमीकुचकुम्भ-कुङ्कुमरजःस्वाजन्यजन्मोद्धताः,
शीतांशोर्द्युतयः पुरन्दरपुरीसीम्नामुपस्कुर्वते ।
एताभिर्लिहतीभिरन्धतमसान्युद्ग्रथ्नतीभिर्दिशः,
क्षोणीमास्तृणतीभिरन्तरतमं व्योमेदमोजायते ।। २।७३ ।।

इस नाटक की विभिन्न टीकाओं से भी कवि के प्रौढ-पाण्डित्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। जैन आचार्यों ने भी इस पर टीका की रचनाएं की हैं। मुरारि कवि की एक गर्वोक्ति भी स्मरणीय है —

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं,
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः ।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता—
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ।।

१०- आश्चर्यचूडामणि — शक्तिभद्र (नौवीं शती का प्रारम्भ)

श्री शङ्कराचार्य के शिष्य शक्तिभद्र का यह नाटक **'उत्तर-रामचरित'** के बाद का सर्वोत्कृष्ट रामकथात्मक नाटक माना जाता है। इसकी भाषा सरल, आडम्बरशून्य तथा शब्दालङ्कार के प्रयोगों से पूर्ण है। प्रसाद और माधुर्य के सुन्दर-सन्निवेश से युक्त इस रचना के दो उदाहरण इस प्रकार हैं —

त्वरितगतिना सद्यः सीता त्वया न तु वञ्चिता,
नियतविधवाचारा दाराश्चिरं तव वञ्चिताः ।।३। ४०।।

तथा— क्वेदं वनं वनचरैरपि दुर्विगाहं,
क्वेयं वधूः कुवलयच्छविचोरनेत्रा ।
हेमारविन्दमकरन्दरसोपयोगा,
कः श्रद्दधीत जलधौ कलहंसकन्याम् ।।१।२१।।

इनमें अनुप्रास का सरल समावेश मनोरम है।

११- राजशेखर के नाटक में शब्दालङ्कार (नौवीं शती)

'बालकवि' एवं 'कविराज' जैसी उपाधियों से अलङ्कृत महाकवि राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की है १- **कर्पूर-मञ्जरी**, २- **विद्धशालभञ्जिका**, ३- **बालरामायण**, तथा ४- **बाल-भारत अथवा प्रचण्ड-पाण्डव** । इनमें —

(क) **कर्पूरमञ्जरी** प्राकृत में चार अङ्कों का **सट्टक** (नृत्यप्रधान नाटक) है। इसका कथानक रत्नावली के समान ही है। इसकी रचना में कवि ने अपने वैदुष्य का पूरा उपयोग किया है। प्राकृत के माधुर्य के साथ ही शब्दालङ्कारों के प्रति उदार अनुराग इसमें स्पष्ट रूप से व्याप्त है। एक पद्य द्रष्टव्य है —

रणंतमनिनेउरं झणझणंत-हारच्छदं,
कणक्कणिअकिंकिणीमुहलमेहलाडंबरं।
विलोलवलआवलीजणिअमंजुसिंजारवं,
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिंदोलणं ॥२।३२॥

(ख) **विद्धशालभञ्जिका**— यह चार अङ्कों की नाटिका है। इसका भी कथानक कर्पूरमञ्जरी के समान है। इसकी रचना बहुत प्रौढ है। भोज ने अपने सरस्वती-कण्ठाभरण में इसके अनेक उदाहरण देकर उनपर अपना वक्तव्य प्रकट किया है। एक-दो पद्य उदाहरण के लिये द्रष्टव्य हैं —

श्रियः प्रदुग्धे विपदो रुणद्धि, यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौचेन परं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥१।८॥

भोज ने यहाँ मुद्रा अलङ्कार का एक भेद **'विभक्ति-मुद्रा'** नामक शब्दालङ्कार माना है। इसमें **'सुब्विभक्ति'** और **'तिङ्विभक्ति'** दोनों का प्रयोग मनोहर है। एक अन्य पद्य इस प्रकार है --

सुधाबद्धैग्रासैरुपवन-चकोरैरनुसृतां,
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नवलबलिपाकप्रणयिनीम्।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना —
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥ १॥

यहां भी अनुप्रास का प्रयोग उत्तम है। इसी प्रकार यमक का प्रयोग भी हुआ है।

(ग) **बालरामायण**—यह दस अङ्कों का महानाटक है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इसमें रामायण की कथा बड़े विस्तार से वर्णित है। पूरे नाटक में शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे छन्दों में विरचित ७४१ पद्य हैं। इनके पद्यों में रमणीय गीतिसौन्दर्य, चारु शब्दविन्यास तथा ध्वन्यर्थक अनुप्रास दर्शनीय हैं। यथा —

त्रुट्यद्दोर्दण्डखण्डोड्डमर-पुरुपतत्कण्ठकोष्ठप्रकोष्ठ—
स्फारस्फिक्पृष्ठपीठं हठदलितशिराकन्दराकाण्डखण्डम् ।
सस्तम्भं क्षात्रडिम्भं चटदिति विचटन् मुण्डपिण्डं प्रचण्ड—
श्चण्डीशोच्चण्डदंष्ट्रा क्रकच इव दृढं चन्द्रहासस्तृणेढु ॥५।७६॥

यहाँ आरभटी वृत्ति, गौडी रीति और ओजोगुण का समन्वय अपूर्व है। अनुप्रास की संगीत-संगति भी निम्न पद्य में दर्शनीय है —

द्युतिजितकरवालः सूतवंशी प्रवालः,
स्फुटितकुटजमालः स्पष्टनीलस्तमालः ।
इह हि गतमरालः केतकाली-करालः,
शिखरिणि ! मम कालः सोऽभवन्मेघकालः ॥१०।५२॥

इस नाटक में गद्यप्रयोग भी शब्दालङ्कारपूर्ण हैं। यहीं कवि ने अपनी नाट्योचित शैली तथा कविता का निदर्शन कराते हुए कहा है—

सुवर्णबन्ध-विद्योति, कुरुते श्रवणाश्रयम् ।
सच्छायमुल्लसद्वृत्तं, काव्यं मुक्तामयं बुधाः ॥३।१५॥

(घ) बालभारत— बालरामयण के समान ही यह नाटक भी विस्तृत ही बना होगा किन्तु इसके दो अङ्क ही प्राप्त होते हैं जिनमें **'द्रौपदीस्वयंवर, द्यूतक्रीडा** तथा **द्रौपदीवस्त्रहरण'** की घटनाएँ वर्णित हैं । यहाँ राजशेखर ने अपनी शैली का परिचय देते हुए—**'अहो मसृणोद्धता सरस्वती यायावरस्य'** कहा है । यह उक्ति भवभूति की **'प्रसन्नकर्कशा वाणी'** का अनुकरण है। प्रस्तुत कृति में गद्य का प्रयोग भी दाहिने और बायें अनुप्रास-विन्यास से पूर्ण है। यथा — **"वत्स सोदर वृकोदर परपुरञ्जय धनञ्जय मण्डितपाण्डवकुल नकुल द्विषद्दुःसहसहदेव इह हि महाराजसमाजे न जाने कमवलम्बिष्यते राधावेधकीर्तिवैजयन्ती ?"**

इसी प्रगल्भता को देखकर कहा गया है —

समाधिगुणशालिन्यः, प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो, मुनीनामिव वृत्तयः ॥ (धनपाल)

काव्यमीमांसा के प्रणयन में निर्दिष्ट राजशेखर के काव्यप्रतिष्ठा-वर्धक तत्त्वों का इन कृतियों में पूर्ण परिपाक प्रस्तुत हुआ है, जो कि परिशीलनीय है ।

१२- तपतीसंवरण और सुभद्राधनञ्जय — कुलशेखर वर्मा (नौवीं शती)

केरल के महाराज कुलशेखर वर्मा ने उपर्युक्त दो नाटकों की रचना की है। तपती और संवरण की प्रणय-कथा में प्रथम नाटक तथा महाभारत की कथा से दूसरा नाटक अनुप्राणित है। इनकी रचना भी प्रौढगद्य और पद्य से विभूषित है तथा सर्वत्र प्रायः अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के समान हो गौडीरीति, ओजोगुण एवं अनुप्रासपूर्ण समस्तपदावली का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

उद्युक्ता वागुराद्यं रहरहरुचितैर्मत्स्यबन्धप्रकारै—
र्मर्त्यो निर्भास्यिगङ्गाहृदगतशफरीशेषमग्नावशिष्टः ।
आसन्नारूढकण्ठैरपचिततनवः प्रायशः प्राणशेषैः,
सङ्गृध्यद्गृध्रचञ्चुप्रजकुटिलशिरः कर्मकर्मान्तभूमिः ।।

यह अकाल का चित्रण कुलशेखर का अपूर्व है । यज्ञ का उदाहरण—**"राजा-- अत्र तावदनिर्वाणमाणिक्यदीपमालादूरीकृत-गर्भगृहान्धकार-जाम्बूनदाकल्पाकल्पितदिव्याकृतिवेषविशेषा सुधासौरभसुभगसुरतरुसुमनःसम्पादितभक्तिसन्ताना सेयं सपर्या सूचयति दिव्यजनसम्पातम् ।**

इसी प्रकार **'सुभद्राधनञ्जय'** में भी शब्दालङ्कारपूर्ण प्रयोग हैं । एक पद्य देखिये —

इमौ कर्णौ कर्णौ श्रुतिसुखनिविष्टेदृशगिरा—
वमू दृष्टी दृष्टी सपदि परिपीताकृतिसुधे ।
अमून्यङ्गान्यङ्गान्यवशमपतद् येषु गगना—
दिदं चित्तं चित्तं वहति यदि मां वामनयनाम् ।।२।१२।।

इसमें ऐसे और भी अनेक पद्य हैं जिनमें आनुप्रासिक सङ्गति कीसृष्टि का सन्निवेश हुआ है । यथा—

अतिलघयसि लज्जां, धैर्यबन्धं धुनासि,
प्रथयसि परितापं, प्रश्रयं प्रक्षिणोषि ।।२।२४ इत्यादि ।।

१३- कुन्दमाला — दिङ्नाग (१००० ई० के निकट अनुमानित)

'उत्तर-रामचरित' की परम्परा में निर्मित छः अङ्कों की यह नाटिका बौद्ध आचार्य से भिन्न दिङ्नागकवि द्वारा रचित है । इनके अन्य नाम **धीरनाग** अथवा **वीरनाग** भी प्राप्त होते हैं । प्रस्तुत रचना की शैली प्रासादिक तथा सरल है । कवि ने अनुप्रास की सरसता को सर्वत्र आवर्जित किया है । यथा —

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य,
हंसाश्च कोकविधुरा करुणं रुदन्ति ।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं,
तिर्यग्गतां वरमयीं न परं मनुष्याः ।।१।१८।।

प्रकृति के भयावह पटल का वर्णन भी इसी प्रकार सरल है, दुर्दान्त नहीं । यथा—

नादः पातालमूलात् प्रभवति तुमुलं पूरयन् व्योमरन्ध्रं,
पातक्लिष्टा इवैते दिशि दिशि गिरयो मन्दमन्दाश्चरन्ति ।
बद्धानन्दाः समन्ताल्लवणजलधयो मथ्यमाना इवासन्,
सीमामुलङ्घ्य वेगादुदनिधिसलिलैः स्वानि वेलावनानि ।।६।२४।।

इसके कुछ अंश खण्डित भी हैं तथा प्राकृतभाषा के प्रयोग भी कहीं-कहीं दुरूह हैं जिनकी संस्कृत छाया नहीं दी जा सकती। यहाँ वर्ण्य-विषय की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति के लिये शब्दालङ्कार का आश्रय कवि की गम्भीरता का परिचायक है।

१४- प्रबोध चन्द्रोदय — कृष्णमिश्र (११०० ई० के निकट)

संस्कृत-नाटकों में शान्तरस-प्रधान नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के रचयिता कृष्ण मिश्र जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में हुए थे। इनका यह नाटक रूपकात्मक नाटक है जिसमें वेदान्त अद्वैतवाद का प्रतिपादन बड़ी रोचकता से किया गया है। इसमें कवि ने विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्तभावों को पुरुष और स्त्री-पात्रों के रूप में कल्पित कर अध्यात्मविद्या का सुन्दर उपदेश किया है।

इसमें भाषा और भाव के साथ शब्दालङ्कारों के सुन्दर समन्वय की सृष्टि कवि के नैपुण्य को व्यक्त करती है। तीन उदाहरण निदर्शन के लिये प्रस्तुत हैं —

> **शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावली—**
> **निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ् मग्नोऽपि नाचामति।**
> **निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब—**
> **त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति ॥४।६॥**

यहां छेकानुप्रास के अतिरिक्त चतुर्थचरण में **क्रियानुप्रास** का प्रयोग उत्तम हुआ है। इसी प्रकार निम्नपद्यों में भी वर्णानुप्रास श्लाध्य है —

> **उप्यन्ते विषवल्लिबीजविषयाः क्लेशाः प्रियाख्या नरै—**
> **स्तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति न चिराद् वज्राग्निगर्भाङ्कुराः।**
> **येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतभुग्दाहा दहन्तः शनै—**
> **र्देहं दीप्तशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः ॥५।१६॥**
> **अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय।**
> **विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वाववोधादपरोऽस्त्युपायः ॥४।७॥**

१५- प्रसन्न-राघव में शब्दालङ्कार — जयदेव (१२-१३ शती ईसवी)

विदर्भ के कुण्डिननगर निवासी जयदेव की कृति **'प्रसन्नराघव'** सात अङ्कों का नाटक है। इसमें कवि ने रामायण के बालकाण्ड की कथा को अधिक महत्त्व दिया है। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास का **'रामचरितमानस'** इससे बहुत प्रभावित है। इसके अनेक पद्यों का यथावत् अनुवाद ही वहाँ प्रस्तुत है। इस दृष्टि से इस नाटक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। इसमें कवि ने गद्य और पद्य दोनों में अनुप्रास का निर्वाह किया है। यथा—

> **अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः,**
> **परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।**

निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः,
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ? ॥१।१८॥

एक अन्य पद्य में साङ्गरूपक के साथ ही समस्तपदावली का विन्यास चमत्कारपूर्ण है। यथा —

मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थली—
च्छलत्तरलतारकाकपटकीर्णमुक्ताकणः ।
पुरन्दर-हरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित—
स्तुषारकर-केसरी गगनकाननं गाहते ॥ पृ० १५९ ॥

'प्रसन्न-राघव' में कमनीय शब्दविन्यास निसर्गरमणीय है। उदाहरणार्थ— **युवतिलोकललामवल्ली, कलकण्ठोत्कण्ठसंवादभूमि, सततसुखसेवासवसति, केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ?** जैसी पदावली पर्याप्त है। इसी लिये कवि की यह गर्वोक्ति—

विलासो यद्वाचामसमरसनिःष्यन्दमधुरः,

तथा— येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती,
तेषां कर्कशतर्कवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता—
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥१।१६॥

जैसे तर्क विद्वज्जनों के आनन्दवर्धक बने हुए हैं।

दानकेलि-कौमुदी (भाणिका) — श्रीरूपगोस्वामी (१५वीं शती)

नृत्य-सङ्गीत के वैविध्य एवं नाटकीय घटनौचित्य से परिपूर्ण श्रीरूपगोस्वामी की यह भाणिका एक अङ्क में ही पूर्ण होती है। इसमें गोविन्दकुण्ड के निकट नवनीतविक्रय के लिये आई हुई श्रीराधिकाजी भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा घट्टशुल्क की मांग और उसके न देने पर राधा की ओर से विशाखा और ललिता के साथ तथा कृष्ण की ओर से सुबल और मधुमङ्गल का वाद-विवाद चलता है और अन्त में सान्दीपनि की जननी पौर्णमासी के माध्यस्थ्य से शुल्क के रूप में श्रीराधा के समर्पण की प्रतिज्ञा से प्रसङ्ग समाप्त होता है।

श्रीगोस्वामी प्रभुपाद की रचना में शब्दालङ्कार का परिपाक बहुत ही प्रशंसनीय होता है, यह अन्य रचनाओं के सन्दर्भ से हमने व्यक्त किया है। उसी प्रकार इस कृति में कवि ने जिस माधुरी से आलङ्कारिक प्रस्तुति की है, वह भी आस्वाद्य है। एक-स्थान पर राधिका प्रयत्नपूर्वक आकारशुद्धि का अभिनय करती हुई कहती है —

कुवलय-युवतीनां लेहयन्नक्षि-भृङ्गैः,
कुवलयदललक्ष्मीभङ्गिमाः स्वात्मभासः ।
मदकल-कलभेन्द्रोल्लङ्घिलीलातरङ्गः,
कवलयति धृतिं मे क्ष्माधरारण्यधूर्तः ॥३४॥

इसके कुछ अंश खण्डित भी हैं तथा प्राकृतभाषा के प्रयोग भी कहीं-कहीं दुरूह हैं जिनकी संस्कृत छाया नहीं दी जा सकती। यहाँ वर्ण्य-विषय की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति के लिये शब्दालङ्कार का आश्रय कवि की गम्भीरता का परिचायक है।

१४- प्रबोध चन्द्रोदय — कृष्णमिश्र (११०० ई० के निकट)

संस्कृत-नाटकों में शान्तरस-प्रधान नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के रचयिता कृष्ण मिश्र जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में हुए थे। इनका यह नाटक रूपकात्मक नाटक है जिसमें वेदान्त अद्वैतवाद का प्रतिपादन बड़ी रोचकता से किया गया है। इसमें कवि ने विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्तभावों को पुरुष और स्त्री-पात्रों के रूप में कल्पित कर अध्यात्मविद्या का सुन्दर उपदेश किया है।

इसमें भाषा और भाव के साथ शब्दालङ्कारों के सुन्दर समन्वय की सृष्टि कवि के नैपुण्य को व्यक्त करती है। तीन उदाहरण निदर्शन के लिये प्रस्तुत हैं —

शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावली—
निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ् मग्नोऽपि नाचामति।
निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब—
त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति ॥४।६॥

यहां छेकानुप्रास के अतिरिक्त चतुर्थचरण में **क्रियानुप्रास** का प्रयोग उत्तम हुआ है। इसी प्रकार निम्नपद्यों में भी वर्णानुप्रास श्लाघ्य है —

उप्यन्ते विषवल्लिबीजविषयाः क्लेशाः प्रियाख्या नरै—
स्तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति न चिराद् वज्राग्निगर्भाङ्कुराः।
येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतभुग्दाहा दहन्तः शनै—
र्देहं दीप्तशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः ॥५।१६॥
अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वाववोधादपरोऽस्त्युपायः ॥४।७॥

१५- प्रसन्न-राघव में शब्दालङ्कार — जयदेव (१२-१३ शती ईसवी)

विदर्भ के कुण्डिननगर निवासी जयदेव की कृति '**प्रसन्नराघव**' सात अङ्कों का नाटक है। इसमें कवि ने रामायण के वालकाण्ड की कथा को अधिक महत्त्व दिया है। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास का '**रामचरितमानस**' इससे वहुत प्रभावित है। इसके अनेक पद्यों का यथावत् अनुवाद ही वहाँ प्रस्तुत है। इस दृष्टि से इस नाटक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। इसमें कवि ने गद्य और पद्य दोनों में अनुप्रास का निर्वाह किया है। यथा—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः,
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।

निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः,
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ? ॥१।१९॥

एक अन्य पद्य में साङ्गरूपक के साथ ही समस्तपदावली का विन्यास चमत्कारपूर्ण है। यथा —

मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थली—
च्छलत्तरलतारकाकपटकीर्णमुक्ताकणः।
पुरन्दर-हरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित—
स्तुषारकर-केसरी गगनकाननं गाहते ॥ पृ० १५९ ॥

'प्रसन्न-राघव' में कमनीय शब्दविन्यास निसर्गरमणीय हैं। उदाहरणार्थ— **युवतिलोकललामवल्ली, कलकण्ठोत्कण्ठसंवादभूमि, सततसुखसेवासवसति, केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय** ? जैसी पदावली पर्याप्त है। इसी लिये कवि की यह गर्वोक्ति—

विलासो यद्वाचामसमरसनिःष्यन्दमधुरः,
तथा— **येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती,**
तेषां कर्कशतर्कवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता—
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥१।१६॥

जैसे तर्क विद्वज्जनों के आनन्दवर्धक बने हुए हैं।

दानकेलि-कौमुदी (भाणिका) — श्रीरूपगोस्वामी (१५वीं शती)

नृत्य-सङ्गीत के वैविध्य एवं नाटकीय घटनौचित्य से परिपूर्ण श्रीरूपगोस्वामी की यह भाणिका एक अङ्क में ही पूर्ण होती है। इसमें गोविन्दकुण्ड के निकट नवनीतविक्रय के लिये आई हुई श्रीराधिकाजी भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा घट्टशुल्क की मांग और उसके न देने पर राधा की ओर से विशाखा और ललिता के साथ तथा कृष्ण की ओर से सुबल और मधुमङ्गल का वाद-विवाद चलता है और अन्त में सान्दीपनि की जननी पौर्णमासी के माध्यस्थ्य से शुल्क के रूप में श्रीराधा के समर्पण की प्रतिज्ञा से प्रसङ्ग समाप्त होता है।

श्रीगोस्वामी प्रभुपाद की रचना में शब्दालङ्कार का परिपाक बहुत ही प्रशंसनीय होता है, यह अन्य रचनाओं के सन्दर्भ से हमने व्यक्त किया है। उसी प्रकार इस कृति में कवि ने जिस माधुरी से आलङ्कारिक प्रस्तुति की है, वह भी आस्वाद्य है। एक-स्थान पर राधिका प्रयत्नपूर्वक आकारशुद्धि का अभिनय करती हुई कहती है —

कुवलय-युवतीनां लेहयन्नक्षि-भृङ्गैः,
कुवलयदललक्ष्मीभङ्गिमाः स्वात्मभासः।
मदकल-कलभेन्द्रोल्लङ्घिलीलातरङ्गः,
कवलयति धृतिं मे क्ष्माधरारण्यधूर्तः ॥३४॥

तथा— **अभ्युक्ष्व निष्कं पतयालुना मुहुः, स्वेदेन, निष्कम्पतया व्यवस्थिता ।**
पञ्चालिकाकुञ्चितलोचना कथं, पञ्चालिकाधर्ममवाप राधिका ॥२॥२६॥

इन पद्यों में अनुप्रास और यमक की छटा के साथ-ही अर्थवैशिष्ट्य के लिये श्लेष का आश्रय भी प्रेक्षणीय है। उदात्त वाक्ययोजना एवं उत्तेजक संवादयोजना के प्राचुर्य से युक्त इस रचना में श्लेषालङ्कार के शब्दार्थोभयात्मक भेदों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। स्थान-स्थान पर पदों और पदांशों को तोड़कर अथवा जोड़कर संवादात्मक चमत्कृति को उपस्थित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। श्लेष को समझने के लिये विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका से पर्याप्त सहायता मिलती है। न केवल पद्यों में ही, प्रत्युत गद्य में भी श्लेषविलास दर्शनीय है। उदाहरणार्थ —

धर्षणेन कुलस्त्रीणां भुजङ्गेशः कथं क्षमः ।
यदेता दशनैरेष दशन्नाप्नोति सङ्गलम् ॥४२॥

यहाँ भुजङ्गेश पद के महासर्प और कामुक अर्थ द्वारा श्लेषकथन हुआ है। अग्रिम पद्य—'अप्रौढद्विजराजराजदलिका' (४१) इत्यादि पद्य में द्विजराज, कृष्णवर्त्मा, विशाखाञ्चिता, विदग्धता आदि पद श्लिष्ट हैं। गद्यांश में— दुर्मुखशिलीमुखपालिताभिः, में शिलीमुख-भ्रमर तथा शर; जातरूप—स्वर्ण तथा स्वरूप, **दीर्घतमा**—कृष्णपक्षीया रात्रि और अतिदीर्घ, जैसे अर्थगर्भ अनेक पद संवाद-सौष्ठव के साथ ही श्लिष्टार्थ से चमत्कृत करते हैं। कहीं-कहीं तो कादम्बरी के समान गद्य भी प्रयुक्त हैं। यथा—

राधिका— **हन्त ! फूत्कारदुर्विषेण हतायुतचक्रलक्षणनागरनाग मोहदायिनां विषाणां महासारं किमित्युल्लासयसि ?**

इसी प्रकार प्राकृत-प्रयोगों के संस्कृतरूपों में भी श्लेष के प्रयोग बहुत अच्छे हुए हैं।[1]

सुमति मानविक्रम[2] — **दामोदर भट्ट** (पन्द्रहवीं शती का उत्तर भाग)

इस नाटक के रचयिता श्रीदामोदर भट्ट केरल के नृपति मानविक्रम के आश्रित थे और नारायणाचार्य के शिष्य थे। अपनी असाधारण महिमा का वर्णन कवि ने नाटक के प्रारम्भ में इस प्रकार दिया है —

अस्त्यद्रिकन्यापतिपादपीठविचेष्टमानाशयपुण्डरीकः ।
नारायणाचार्य इति प्ररूढिं प्राप्तः परां प्राज्ञधियां पुरोगः ॥

तस्य चरणारविन्दयुगलगलितरेणुपरमाणुपातपूतचेतनासारः सारस्वतनिधिना साक्षाद्-द्रिसमुद्रनामकेनैवानेन बाल्यादेव वैपश्चितीं वृत्तिमधिकृत्य पराकाष्ठामारोपितः—अयं कविरसा-

---

१. **'दानकेलिकौमुदी भाणिका'** (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तिकृत टीका सहित) का प्रकाशन हमने अपने **'दशपुर साहित्य संवर्धन संस्थान, मन्दसौर (म० प्र०)** से सन् १९६७ में किया है।

२. इस नाटक की पाण्डुलिपि कोशिकोड स्थित के गुरुवयूरप्पन्न कालेज के कुट्टवेट्टन के पास और दूसरी प्रति त्रिचूर के नारायण पिशारेडी के पास है और यह अप्रकाशित है।

धारणमहिमैव । इत्यादि

कवि दामोदर भट्ट ने इस नाटक में शब्दालङ्कारों के अन्यान्य प्रयोगों के साथ ही प्रहेलिकाओं का प्रयोग भी बहुधा किया है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

कः खे चरति, का रम्याकिंजाप्यं किं च भूषणम् ।
को वन्द्यः कीदृशी लङ्का वीरमर्क्कटकम्पिता ।।

इसमें तीन चरणों में किये गये ६ प्रश्नों के उत्तर चतुर्थचरण में दिये गये हैं । अतः यह अन्तर्लापिका नामक प्रहेलिका का उदाहरण है । उत्तरों में 'आकाश में उड़ने वाली चिड़िया—**वी**, रम्या-रमणी-**रमा**, जप्य-**ऋक्**, भूषण—**कटक** और लङ्का-**वीरमर्कटकम्पिता** सूचक हैं ।

इनकी काव्य-प्रतिभा भी विशिष्ट थी । एक पद्य दर्शनीय है—

स्फुरन्ति गगनाङ्गणे नटनचण्डचण्डीपति—
भ्रमभ्रमितजाह्नवीसलिलबिन्दुसन्देहदाः ।
स्मरोत्सववशंवदत्रिदशवारणामेक्षणा—
कुचत्रुटितमौक्तिकभ्रमदविभ्रमास्तारकाः ।।

श्रीदाम-चरितम् —श्रीसामराज दीक्षित (सन् १६५५ से १७५० के बीच)

संस्कृत-सरस्वती के उपासक, दाक्षिणात्य ब्राह्मणकुल में उत्पन्न, 'बिन्दुपुरन्दरे' कुलोपाधि से विभूषित श्रीसामराज दीक्षित श्रीनरहरि दीक्षित के पुत्र थे । बुन्देलखण्ड के महादानी शासक आनन्दराय महाराजा के सभापण्डित होने के कारण उनके रञ्जन के लिये 'श्रीदामचरित' नाटक की रचना की है । श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित सुदामा की कथा को इस नाटक में रूपायित किया है । नाटक पांच अङ्कों में पूर्ण हुआ है ।

पात्रानुसारी भाषा-प्रयोग, वर्ण्य-विषयोचित वाक्यबन्ध और साहित्यिक सौन्दर्य समन्वित कथोपकथन नाटक की अपनी विशेषता है । शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष का प्रयोग उत्तम रूप से किया है । इनकी अनुप्रास-योजना कुछ विशेष प्रक्रिया को लिये हुए प्रस्तुत हुई है । यथा—

कुञ्चत् कल्पतरूणि मूकितगुरूण्यापन्नवित्ताधिपा—
न्याक्रन्दद् रिपुवल्लभानि विदलद् ब्रह्माण्डभाण्डानि च ।
कम्पद् दिग्दयिानि रज्ज्यदबलान्याह्लादिबन्धुव्रजा—
न्याकुञ्चत् कमठानि यस्य चरितान्यामोदयन्ते जगत् ।।१।१७।।

यहाँ शतृप्रत्ययान्त नादसौन्दर्यबोधक शब्दों की योजना और चरित के विशेषण बनाकर पुंल्लिङ्ग शब्दों को नपुंसकलिङ्गी बनाकर प्रयोग करने से अनुप्रास महत्त्वपूर्ण बन गया है । वृत्त्यनुप्रास के प्रयोग भी इनके हृदयग्राही हैं । दण्डकस्तुति की ये पक्ङ्तियां दर्शनीय हैं—

(क) जयाकृष्टकण्ठीरवाकुण्ठवैकुण्ठलुण्ठाकदैतेयकण्ठाटवी—
लोचनोत्कण्ठपाठीनवेषस्फुरत्कामठी० ।

(ख) देवदामोदरोदारदारारिरंसादरं सादरं साधयन् साधु० ॥२।२४॥

(ग) उच्छलद्बहलवीचिनिचयचुम्बितचपलवेला —
दलदेलादलदलननागरः सागरः ॥ (इत्यादि गद्य, ३ अंक)

अन्त्यानुप्रास के प्रयोग भी इनको प्रिय थे, तभी तो —

मरुति धृतकदम्बे कैरवे तोयलम्बे,
क्षतजमधरबिम्बे पश्यति स्त्रीकदम्बे ।
दिनकृति न विलम्बे दन्तपद्मावलम्बे,
चरमगिरिनिलम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे ॥४।२६॥

जैसे प्रयोग किये हैं। इस प्रकार के अनुप्रास को 'अष्ट-प्रास' भी कहा जाता है। श्लेषपुष्ट यमक का भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

उपनिषद्गहने हरिरूपि यत्, प्रणवनाकतले हरिरूपि यत् ।
दहरविष्णुपदे हरिरूपि यत्, किमपि धाम पुरो हरिरूपि यत् ॥३।६॥

यहां हरिशब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों का समावेश मननीय है । इस प्रकार यह नाटक आधुनिक युग के आरम्भ का प्रतीक कहा जा सकता है ।[1]

'विभक्ति-चित्र' और 'शास्त्रकाव्य' की परम्परा का निर्वाह भी इस नाटक में प्राप्त होता है । यथा —

यस्त्राता जगतां यमाह निगमस्तत्त्वञ्च येनाप्यते,
यस्मै योगिजनो नमः प्रकुरुते यस्मात् परो नापरः ।
यस्यैतत् सकलत्रजीवभुजगो यस्मिञ्जगद् दृश्यते,
सान्द्रानन्दमयः पुराणपुरुषः स्याच्चक्षुषोर्गोचरः ॥२।१०॥

यहां यत् शब्द की सातों विभक्तियों के एकवचन के रूपों का प्रयोग विभक्तिचित्र का द्योतक है । निम्नलिखित आर्या छन्द में छन्दःशास्त्र के नियमों का ग्रथन करते हुए विदूषक द्वारा किया गया श्रीदामा-सुदामा का स्वरूपवर्णन भी मनोरम है —

यो न स्वभावदीर्घः परसंयोगगोन यो गतो गुरुताम् ।
छन्दःशास्त्र इवास्मिन्नन्त्योऽपि लघुर्गुरुः क्रियते ॥५।१३४॥

---

१. इस नाटक का मूलसम्पादन प्रो० श्रीबाबूलालशास्त्री, उज्जैन ने तथा विस्तृत प्राक्कथन लेखनपूर्वक मुद्रण-सम्पादन हमने (रुद्रदेव त्रिपाठी) किया है तथा यह डा० मण्डन मिश्र के प्रधान-सम्पादकत्व में 'श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ-नई दिल्ली' से सन् १९८२ में प्रकाशित हुआ है ।

(क) धूर्तनर्तकम् — सामराज दीक्षित (पूर्ववत्)

दीक्षितजी का यह प्रहसन भी एक उत्तम रचना है। इसमें भी विषय प्रतिपादन के साथ-साथ शब्दालङ्कारपूर्ण पदावली का प्रयोग किया गया है तथा शिल्प-सौन्दर्य तो है ही।

दो सन्धियों में आवर्जित इस प्रहसन में १६ पात्रों के माध्यम से यहाँ दीक्षितजी ने विचार-विलास के साथ ही वाग्विलास भी बहुत अच्छा प्रस्तुत किया है। कवि ने अपनी प्रसिद्धि के अनुरूप सुधारसस्यन्दिनी वाणी को गद्य और पद्य दोनों में सफलता-पूर्वक प्रस्तुत किया है। शब्दालङ्कार के माधुर्यमूलक अनुप्रासादि भेदों का प्रयोग दीर्घ समासशाली और मृदुपदविन्यासपेशल शब्दकूटों के द्वारा समानरूप से यहां किया गया है। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

कालिन्दीपुलिने तमालमलिने भृङ्गैर्विहङ्गैर्युते,
क्रीडत्कोकिलपोतराजिविलसत्-कण्ठे मनोहारिणी।
अर्धग्रस्तशशाङ्कवन्निजमुखे राधाधरं धारयन्,
गोपीभिः परिवेष्टितो भवतु वो भव्याय नव्याकृतिः।१।२।।

तथा वहीं सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त गद्य —

"अद्य तावद् वन्दारुवृन्दारकवृन्दमौलिस्खलनमन्दमन्दारप्रसवमकरन्दसन्दोहामोदितपादकुसुमस्यातिविकटसटाकोटिकोटिपाटितनीरधरोदरस्खलन्नीरपीरितावनीरुहप्रसवविभूषितोत्तमाङ्गस्यातिखरनखरसरदावेशविदारितदर्पोद्दीर्णहिरण्यकशिपूदरदरीजृम्भमाणान्त्रसन्तानशोभिताङ्गस्य०" इत्यादि।

इन दोनों में कवि का अनुप्रासानुराग स्पष्ट प्रतीत होता है। यमक का प्रयोग भी इन्होंने किया है। यथा —

नरहरिकुलाब्धिचन्द्रो नरहरिमान्यो हि सामराजो यः।
नरहरिवन्द्यतनुः श्री नरहरिचरणाब्जरोलम्बः।।२।४।।

यहां भिन्न-भिन्नार्थोवाले नरहरि पद की चारों चरणों में आवृत्ति होने से व्यपेत पादादि यमक अलङ्कार है। इसी को भरत ने पङ्क्तियमक कहा है। अनुप्रास के अन्त्यशब्दानुवर्तन चरणद्विभागान्त्यानुवर्तन, चरणद्वयान्त्यानुवर्तन वर्णानुवर्तन और पदानुवर्तनरूप बहुत से भेदों को बड़े सहजभाव से प्रस्तुत कर श्रीसामराज दीक्षित ने काव्यकौशल का परिचय दिया है।

यथा— **इयं सा कर्णाटी त्रिभुवनवधूटी विजयिनी,**
तथा चेयं षाटी प्रचुरतरपाटीरकलिता।
तटीयं पम्पायाः पवनपरिपाटीवृतरुचि—
र्मनोधाटीमेतन्नटयति मनोभूरपि मुहुः।।२।११।।[1]

---

१. **'धूर्तनर्तकम्'** प्रहसन का विस्तृत उपोद्घात के साथ सम्पादन कर हमने इसे ध० विद्यापीठ से १९७८ ई० में प्रकाशन किया है।

नवमालिका — विश्वेश्वर पाण्डेय (अठारहवीं शती प्रारम्भ काल)

अलमोड़ा-निवासी पं. लक्ष्मीधर पाण्डेय के पुत्र श्री विश्वेश्वर साहित्यशास्त्र के प्रकाण्डपण्डित थे तथा इन्होंने साहित्य की विभिन्न धाराओं में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ संस्कृत-साहित्य में समर्पित की हैं। प्रस्तुत **'नवमालिका'** चार अङ्कों की नाटिका है। नाटिका की रचना में कवि ने अपने पाण्डित्य की प्रतिष्ठा को पूर्ण प्रगाढता के साथ पुरस्कृत किया है। सूत्रधार के मुख से कवि ने स्वयं कहलाया है कि —

वाग्देवता-हृदयभूषणपारिजातस्रग्गुम्फनानुगुणगीतगुणस्य तस्य ।
सम्भावनाभिरुपबिभ्रदशून्यमन्तर्विश्वेश्वरेति विदितस्तनयस्तदीयः ॥१।६॥

तथा— **वैदुष्ये परिनिष्ठितः प्रतिपदामग्रेसरो यद्गुरु —**
स्तत्तच्छास्त्रकृतश्रमा अपि बुधा यत्पक्षपातस्पृशः ।
विद्याभ्यासरतानुवृत्तिविदिते यस्य प्रसूतिः कुले,
भारद्वाजमुनेः कुतूहलकरं किं तस्य न स्याद् वच ॥१।७॥

इस कथन के अनुसार कवि के वचनों की कुतूहल-कारिता नाटिका में प्रयुक्त पद्य और गद्य दोनों ही से परिस्फुट हुई है। अन्य अलङ्कारों के साथ-साथ शब्दालङ्कार भी कवि को बहुत प्रिय थे। इसी कारण —

आमोदैरतिमेदुरैरथ पृथग् रूपैः प्रसूनैर्मिथ —
स्तत्तत्पुष्पमरन्दबिन्दुशिशिरैर्मन्दायितैर्मारुतैः ।
आरब्धैः पिकसुन्दरीभिरभितो दोलासु कोलाहलै —
रारामः करणाय कस्य न भवेदेष प्रियम्भावुकः ॥१।१६॥

इस पद्य में अनुप्रास का मञ्जुल समावेश मन को आनन्दित करने में सफल हो रहा है। आनुप्रासिक पदावली का उत्तम चयन करने में कवि अत्यन्त कुशल था इसका उदाहरण निम्नलिखित पद्य में प्राप्त करते हैं —

किं कार्यं केशवेशे सति सितचमरावेशनक्लेशलेशैः —
र्वक्त्रं चाक्षुण्णकान्तौ कुवलयमलकं नानने माननेन्दोः ।
नान्यौजस्कावुरोजद्वितयगिरिपुरो वारणेन्द्रस्य कुम्भौ,
शम्पाप्रत्यक्षसम्पादनमपि विफलं कान्तिरेकान्तिकी चेत् ॥३।७॥

यही प्रवृत्ति आगे और भी विविधता को लिये हुए कहीं एक वर्णानुप्रास, कहीं एक-प्रत्ययानुप्रास, कहीं समान-पदानुप्रास एवं कहीं वृत्त्यनुप्रास के रूप में व्यक्त हुई है। यमक के लिये कोई प्रयास नहीं किया गया है।[1]

---

१. यह 'नाटिका' हमने अपने संस्कृत मासिकपत्र-**'मालव-मयूरः'** के १८वें वर्ष के १२वें अङ्क (सं० २०२१ के भाद्रपदाङ्क) में सम्पादित करके प्रकाशित की है। इसके मूल सम्पादक— प्रा० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री हैं।

लीलावती (वीथी) — रामपणिवाद (सन् १७०७—१७८१ ई०)

दो पात्रों द्वारा प्रयोज्य, कृत्रिम इतिवृत्त पर आधारित इस वीथी की रचना में **'कुन्तलेश्वर वीरपाल'** नायक है तथा राजा की मनःकामना (लीलावती की प्राप्ति) में विदूषक उसका सहायक है। इस रचना में लालित्यपूर्ण पदों की योजना हुई है तथा शब्दालङ्कारों का प्रयोग भी मधुर हुआ है। यथा —

चलत्कलापं गलनालनिर्गलत्कलध्वनिव्याकुलनेत्रतारकम्।
मनोविनोदं वितनोतु तेऽधुना मनोहरं देवशिखण्डिताण्डवम्॥

यह मयूर के नृत्य का वर्णन है तथा इसमें पद-प्रयोग अनुप्रास पूर्ण है।

दौर्भाग्यमञ्जरी — रामपणिवाद (सन् १७०७—१७८१ ई०)

कवि रामपणिवाद का यह एकांकी अभी अप्रकाशित है इसकी पाण्डुलिपि तिरुवनन्तपुर के राजकीय संग्राहलय में सुरक्षित है। इसमें शब्दालङ्कार की दृष्टि से **भाषासमचित्र** और **भाषाद्वयरूप मणिप्रवालशैली** का आश्रय लेकर **संस्कृत और मलयालम के श्लोक तिलतण्डुलवत्** प्राप्त होते हैं। इसका नायक अर्घ्य नामक पण्डित और नायिका **दौर्भाग्यमञ्जरी** है। एक मिश्रभाषा पद्य का अर्धांश इस प्रकार है —

स्थूलस्थूलौ कपोलौ मटियिलतितरां जानुतुंगी किटर्कु
वक्षोजौ भङ्गभाजौ शिव-शिव जरया शुष्कबिम्बौ नितम्बौ॥ इत्यादि।

श्रृङ्गारतिलक (भाण) — मतुकुरूपि भास्करन् नम्बूदरी (सन् १८०५-१८३७ ई०)

प्रस्तुत भाण में कवि ने १२३ पद्यों की रचना की है, जिसमें अनुप्रास का प्रयोग पर्याप्त कुशलता से हुआ है। यथा —

लोलेक्षणाः किल समाकुलमीनजालां,
निष्पिष्ट-कोरककुलांश्च मृदुस्तनां च।
अभ्युल्लसत्कमल.चञ्चलचञ्चलीकां,
लोलालकावलिविराजितवक्त्रलक्ष्णाः॥

वैसे संस्कृत नाटक-साहित्य अतिविशाल है, लगभग ५०० नाटकों की सूची हमने भी तैयार की है। इन सभी में किसी न किसी प्रकार-विशेष से शब्दालङ्कारों का सहयोग प्राप्त करके ही नाट्यसम्पदा की काव्यश्री का श्रृङ्गार किया गया है।

इस प्रकार दृश्यकाव्यों के प्रथम भेद में शब्दालङ्कार-योजना का संक्षिप्त विवेचन स्थालीपुलाक न्याय से यहां प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार उपरूपकों में भी शब्दालङ्कारों के प्रयोग किये गये हैं और आज भी हो रहे हैं। पद्धति प्रायः सभी में समान ही है किन्तु रचनाकारों ने उनका अपने-अपने समय के अनुसार आलङ्कारिक सौन्दर्य की सृष्टि से कभी मुंह नहीं मोड़ा है।

आधुनिक काल में भी नाटकों और उनके भेद-प्रभेदों की रचना चल ही रही है। ऐसे भी नाटककार उन्नीसवीं-बीसवीं शती में हुए हैं कि जिन्होंने दो-चार ही नहीं, अपितु पचास-पचास अथवा सौ-सौ नाटक भी लिखे हैं। उन सबका विचार यहां करना कथमपि सम्भव नहीं है। अत: संक्षेप में ही उपर्युक्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

दृश्यकाव्यगत साहित्य में नियोजित शब्दालङ्कार का मूल्याङ्कन

जैसा कि हमने आरम्भ में स्पष्ट किया था कि— नाटककार और काव्यकार दोनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं अत: जिस प्रकार की रचना-विधि काव्यों में स्वीकृत हुई है वैसी ही नाटकों में भी हुई है? इतना अवश्य है कि काव्यों में वर्णन-स्वातन्त्र्य अधिक रहता है, जबकि दृश्य-काव्यों में अधिक सावधान रहना पड़ता है? उपर्युक्त नाटकों के विवेचनों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रचना-विधान में पदों और वाक्यों का विन्यास शब्दालङ्कारपूर्ण होता है।

नाटक केवल दृश्य ही नहीं होते, अपितु समाज के समक्ष रंगमञ्च पर जब प्रयोग होता है तो प्रेक्षक-समुदाय उसमें प्रयुक्त शब्दावली और वाक्यावली को सुनने के लिये भी आकुल रहता है। दृष्टि के माध्यम से जिस रसास्वादन में उसकी अभिरुचि रहती है उससे किञ्चिन्मात्र भी श्रवणों के माध्यम से उसके संवाद आदि के द्वारा रसास्वाद लेने में अभिरुचि कम नहीं होती। इसलिये **मञ्चसज्जा, पात्रसज्जा** और **अभिनय-सज्जा** नाटकों में जितनी आवश्यक समझी जाती है उतनी ही **वाक्सज्जा, उच्चारणसज्जा** और **प्रकटन-सज्जा** भी अत्यावश्यक होती है। हां, यह बात अवश्य स्मरणीय है कि नाटकों में श्लिष्ट-पद-प्रयोग होने से श्रोता तत्काल अर्थ नहीं लगा पाता है, अथवा चित्रात्मकता होने से उसमें निहित गूढतत्त्वों को समझने में कठिनाई होती है। सम्भवतः इसीलिये भरत ने सर्वप्रथम कह दिया है कि—**'मृदुललित-पदाढ्यम्'** अर्थात् नाटकों की रचना में मृदु और ललित पदों का विन्यास होना चाहिये। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिये कि श्रोता / प्रेक्षक नाटक देखने के पश्चात् अपने चिन्तन के लिये अथवा उस नाटक की पुन: प्रशस्ति के लिये अपने साथ कुछ नहीं ले जा सके। इसीलिये नाटककारों ने रचना-सौष्ठव के साथ-साथ उसमें ऐसे तत्त्व भी नियोजित किये हैं जो श्रुति-सुखद होने के कारण प्रेक्षक को अवकाश के समय में गुनगुनाने के लिये कुछ सामग्री प्रदान करते हैं।

यह आज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। आज के दृश्य-साधनों से चलचित्र-सिनेमा की भूमिका अतिमहत्त्व की है। जब सामाजिक आबाल-वृद्ध, पठित-अपठित सभी उसका अवलोकन करके आते हैं तो उसके पश्चात् उनके पास उसके गीत के बोल अवश्य साथ चले आते हैं और उनकी गुन-गुनाहट होते ही वे भी तन्मयता से गुन-गुनाने लगते हैं।

संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त पद्यों की भी यही स्थिति है, अनेक पद्य अपनी श्रुतिसुखदता के कारण पहले स्मृति में आवास बनाते हैं और दूसरी कोटि में आती है उनकी उपदेशप्रदता। इसलिये नादसौन्दर्य से मुखरित और शब्दालङ्कारों से मण्डित नाटकों की पदावली अधिक

उपादेय मानी जाती है और यही कारण है कि प्रत्येक नाटककार इस प्रयोग के लिये सावधान रहा है।

विद्वानों की यह मान्यता है कि —

शब्द ही विचारों के वस्त्र हैं। सुन्दर शब्द व्यवहारतः और वस्तुतः भावना के प्रकाश हैं। शब्दों की आत्मा अन्य शब्दों के सम्पर्क से व्यक्त होती है। शैली का प्रमुख गुण प्रभावोत्पादकता है और यह गुण चार उपायों से प्राप्त होता है —१-**भावकता**, २-**तर्क**, ३-**आवृत्ति** एवं ४-**प्रमाण**। इनमें आवृत्तिरूप उपाय शब्दालङ्कार में पूर्णतः ग्राह्य है। तथा भावकता-आवेगात्मकशैली की पोषक है यह वर्णयोजना के द्वारा परिस्फुट होती है। शेष दो विचार की दृढता एवं पुष्टि के लिये उपयोगी हैं।

वाक्यों की सजावट के लिये १-**'अलङ्करण शैली**, २-**लाक्षणिक शैली**, ३-**समर्थनात्मक शैली** एवं ४-**प्रतीकात्मक शैली** के प्रयोग किये जाते हैं। इसमें से प्रथम अलङ्करण-शैली पद-पद पर सुन्दर और कोमल शब्दावली से पूर्ण अलङ्कारों का रूप प्रस्तुत करती है। यदि कलात्मक दृष्टि से इस पर विचार करके देखा जाए तो सुन्दर से सुन्दर विचार भी तब तक व्यर्थ है, जब तक उसे उचित तथा सुन्दर भाषा का आवरण न पहनाया गया हो। भाषा का प्रयोग अभ्यास से आता है और यह अभ्यास निरन्तर सुसज्जित एवं सार्थक पदावली के प्रयोगों से ही निखरता है।

नाटककार अपनी रचना में इसी प्रकार की भाषाशैली, पदावली आदि का प्रयोग करता रहा है जिसमें आकर्षण, आसक्ति और आनन्द की उद्दीप्ति के सभी आवश्यक तत्त्व समाविष्ट कर चरमावस्था तक ले जाने का परमपुरुषार्थ भी अनुस्यूत है।

नाटकीय गीत और शब्दालङ्कार

नाटकीय गीत एक प्रकार से छन्दोमय आत्मचरित होते हैं जिन्हें किसी कथा के पात्र पृथक्-पृथक् आत्मानुभव अथवा आत्मभावना के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। संस्कृत-नाटकों में गीतियों का प्रयोग प्रारम्भिक काल में बहुत ही सामान्यरूप में होता था और वह भी बहुधा **'गायति'** पद से कहकर पद्य के द्वारा ही व्यक्त कर दी जाती थी। कहीं-कहीं प्राकृतादि भाषाओं के अनुरूप आर्या, गाथा अथवा गीति छन्द के माध्यम से यह कथन सार्थक किया जाता था तो कुछ मात्रिक छन्दों की योजना से पूर्ति होती थी।

आधुनिक युग में धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति का त्याग किया गया और सङ्गीत की पारम्परिक राग-रागिनियों को इसमें स्थान दिया गया। इससे प्रभावित होकर प्राचीन नाटकों का अभिनय करते समय आधुनिक पात्र भी संस्कृत-पद्यों को राग-रागिनियों में गाकर प्रस्तुत करने लगे। परम्परात्मक शास्त्रीय सङ्गीत की योजना में ध्रुवपद की प्रधानता तथा अन्य दो-दो पदों की योजना में शब्दालङ्कार निविष्ट तो रहा किन्तु मुखरित नहीं हो पाया क्योंकि उसमें ध्रुवपद की ही आवृत्ति होती थी। उत्तरकाल में इस पद्धति का भी प्रचलन शिथिल हो गया और अब मात्रानुसारी गेयपदावली का समावेश प्रसार पाने लगा है। गेयकाव्यों

की भाँति इनमें समस्त अथवा असमस्त पदों की योजना सहजरूप से होती है। अन्त्यानुप्रास तो आवश्यक होता ही है, उसके साथ-साथ अन्य अनुप्रासभेद, यमक और पुनरुक्तवदाभास भी प्रयुक्त होते हैं। श्लेष भी समान-पदों में झलक उठता है और सूच्यार्थ-सूचन के लिए मुद्रित नाम-धाम-कर्मादि की संयोजना उसमें और भी उदात्त होकर प्रस्फुटित होती है।

कुछ नाटक केवल गीति-नाटक ही बन रहे हैं। दक्षिण की गीतिशैली में निबद्ध नाटक-नाटिकाओं का अनुकरण संस्कृत में भी आने लगा है, इसमें भी भाषात्मक सौन्दर्य की सृष्टि में कवि का मनोयोग तीव्र बन रहा है। यह उचित भी है, क्योंकि —

"साहित्य में बाह्यतत्त्वों के आधार पर कविता को उद्दीप्त करने के लिये अर्थ के अतिरिक्त तीन रूपों की आवश्यकता भी मानी गई है, जिनमें —

१— सङ्गीतात्मक गुण,

२— दृश्यबिम्ब और

३— शाब्दिक अभिव्यक्ति के सभी रूपों के प्रति चेतना-जागरण अर्थात् शब्दों की सभा में बुद्धि का विलास समाविष्ट है।

शब्दालङ्कार की परिधि में इन सङ्गीतात्मक गुणों की उपस्थिति विभिन्न छन्दों के निर्माण-सौष्ठव से होती है। दृश्यबिम्ब अच्छी भावपूर्ण शब्द योजना से ही सम्भव है तथा शाब्दिक अभिव्यक्ति के बुद्धिनर्त्तन के विविध प्रयोग ही साधिकार-स्वाधिकार प्रस्तुत करते हैं।

नाटकीय छन्दःप्रयोग और शब्दालङ्कार

श्रव्य-काव्य के समान नाटकों में किसी एक ही छन्द का प्रयोग नहीं किया जाता है और न ही किसी एक सर्ग के समान एक अंक में एक छन्द का प्रयोग होता है। काव्य में वक्ता प्रायः एक ही होता है जबकि नाटक में संवाद की प्रधानता रहती है, अतः प्रत्येक पात्र अपनी-अपनी रुचि के अनुसार छोटे अथवा बड़े छन्द का प्रयोग करता है। इसके साथ ही कवि को यह भी स्मरण रखना पड़ता है कि कैसा प्रसङ्ग चल रहा है। प्रसङ्ग के अनुसार छन्दों का प्रयोग नाटक की गरिमा को बढ़ाता है, पात्र के चरित्र को ऊँचा उठाता है तथा दर्शकों को कथा के अनुरूप संवेदनशील भी बनाता है।

संस्कृत-साहित्य के आचार्यों ने छन्दों के प्रयोगों की समीक्षा करते हुए उन्हें विभिन्न रस और भावों की अभिव्यक्ति के लिये उपादेय और हेय समझाने का भी प्रयास किया है। यद्यपि यह व्यवस्था अब तक काव्यों की परिधि में ही स्वीकृत एवं परीक्षित है किन्तु इसे अब नाटकों के परिप्रेक्ष्य में भी परखा जाना चाहिये।[१]

---

१. वैसे क्षेमेन्द्र ने राजशेखर आदि कतिपय नाटककारों के द्वारा प्रयुक्त छन्दों के आधार पर उन के किसी एक छन्दोगत-विशिष्टता की परख करके उनका कुछ महत्त्व प्रतिपादित किया है।

संस्कृत नाटकसाहित्य में छन्दःप्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता रहा है। नाटककार इन प्रयोगों में पूरी सावधानी रखते आये हैं जिसमें प्रसाद और माधुर्यगुण-सम्पृक्त पदावली के साथ ही प्रसङ्गानुरूप वर्णावली पर विशेष सचेष्टता परिलक्षित होती है। कोमल और कठोर वर्ण, लघु और दीर्घ पद अथवा वाक्य, समस्त एवं असमस्त पदयोजना के साथ-साथ मृदु-ललित वर्णयोजना से अनायास उपस्थित हो जानेवाले शब्दालङ्कार नाटक-नाटिकाओं के आकर्षण की अभिवृद्धि में सहायक ही होते हैं।

छन्दों की शृङ्खला में ऐसे अनेक छन्द हैं, जिनकी रचना शब्दालङ्कार के बिना निष्प्राण-सी लगती है। भुजङ्गप्रयात, तोटक, स्रग्विणी, पञ्चचामर, द्रुतविलम्बित और प्रमाणिका आदि ऐसे ही छन्द हैं जिनमें हठात् शब्दालङ्कार आ ही जाते हैं, इस दृष्टि से भी एक समीक्षण की अपेक्षा है।

संस्कृत-नाटकों का ऐतिहासिक परिशीलन

नाटककारों का ऐतिहासिक परिशीलन करने के लिये समग्र-नाट्यवाङ्मय को तीन कालों में विभाजित किया जाता है — (क) **प्राग्युगीन**, (ख) **मध्ययुगीन** तथा (ग) **आधुनिक युगीन**। नाट्यकला की प्राचीन प्रवृत्ति में नृत्त, गीत, धर्मव्यवस्था, मनोरञ्जन, शृङ्गाररचना, चातुर्यप्रदर्शन तथा धैर्यपूर्ण कार्यों के लिये पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की नियुक्ति के प्रमाण वेदों में प्राप्त होते हैं।[१] मध्यवर्ती नाट्यकला की शिल्पविधियों के ऐतिहासिक पर्यालोचन से भी ज्ञात होता है कि नाट्यकला के विभिन्न अङ्ग उसके पात्रों का और उसके पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण विवरण अष्टाध्यायी, रामायण, अर्थशास्त्र, बौद्धजातक और महाकाव्यों में मिल जाता है। तत्कालीन कुशीलवों के द्वारा किये जानेवाले अभिनयों में कर्णसुखों को देनेवाली वाणी का प्रयोग सर्वप्रिय बतलाया गया है। यथा—

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः ॥रामा०॥

कर्णसुख का मूल आधार ध्वनि है। ध्वनि की समता, कोमलता मधुरता एवं चित्रात्मकता ध्वनि को और भी सुखद बनाती हैं। निरर्थक ध्वनि की अपेक्षा सार्थक ध्वनि से न केवल कर्ण ही सुखानुभव करते हैं अपितु मन भी सुख की अनुभूति करता है। मन को उसके माध्यम से वैचारिक शक्ति मिलती है और उस शक्ति से अन्य इन्द्रियां भी क्रियान्वित बनी रहती हैं, शरीर पुलकित हो जाता है तथा रोम-रोम में उसके आनन्द का विस्तार हो जाता है।

मानव रोगी की भांति जिस आनन्द के लिये छटपटाता है, वह आनन्द शब्दालङ्कार की सहायता से सहज ही प्राप्त होता है। जैसे नृत्य में पदसञ्चार से उसके साथ-साथ घुंघरुओं की मधुर ध्वनि विविध भावलहरियों को उत्पन्न करती है तथा उससे भाव-विभोर होकर

---

१. यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता, अ० ३०, मन्त्र ६ द्रष्टव्य है।

दर्शक-समुदाय आनन्दोदधि में गोते लगाने लगता है, ठीक उसी तरह शब्दालङ्कार-सङ्कुल संवादात्मक पदावलियों को सुनकर दर्शक दृश्य की सीमा को लांघकर सहज ही श्रव्य तथा श्रवणगत माधुर्य की तरङ्गों में डूबने-तैरने लगता है। यह और बात है कि वहां अर्थालङ्कारों से पूर्ण एवं रस-ध्वनि आदि से संयुक्त पदावली को तो दर्शक सुनते हैं तब क्या उनसे वे आनन्दित नहीं होते? इसका उत्तर भी हां ही है। तथापि श्रवणसमकालावच्छिन्न अर्थगत आलङ्कारिक तत्त्वबोध के तत्काल अभाव के कारण आनन्दानुभव में व्यवधान तो रहते ही हैं।

अस्तु; नाटकों की चतुरस्रानुरागिता में हम विभिन्न कारण मान लें, जिनमें कुछ स्थायी होंगे और कुछ अस्थायी। शब्दालङ्कार यदि अस्थायीरूप से भी आनन्द के कारण मान लिये जाएँ तो भी हमें कोई आपत्ति नहीं होगी।

नाटकों की परम्परा संस्कृत-साहित्य की एक अपूर्व धरोहर है, जो साहित्य के सभी आयामों को परिष्कृत रूप में जन-जन तक पहुंचाने में सदा सहायक हुई है, जिनमें शब्दालङ्कार भी एक है।

इस प्रसङ्ग को समाप्त करने से पूर्व एक बात और कहनी आवश्यक प्रतीत होती है और वह है—भोज के शब्दालङ्कारों की। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में शब्दालङ्कारों के २४ भेद माने हैं, उनके बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो प्रकार भी वहीं बतलाये हैं।

उनमें अभिनय से सम्बद्ध विषयों को भी शब्दालङ्कार ही माना है। **यथा—**

१- जाति, २-गति, ३-रीति, ४-वृत्ति, ५-छाया, ६-मुद्रा, ७-उक्ति, ८-युक्ति, ९-भणिति, १०-गुम्फना, ११-शय्या, १२-पठिति, १३-वाकोवाक्य, १४-अध्येय, १५-श्रव्यकाव्य, १६-प्रेक्षण, १७-अभिनेय और १८-क्रम आदि।[1]

इन सबका सम्बन्ध शुद्धरूप से नाट्यसाहित्य से ही अधिक है, क्योंकि इनमें कुछ तो पात्रों के द्वारा प्रयोजनीय प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ नाटकान्तर्गत रचना प्रक्रिया से।

इसी दृष्टि से नाटकों में शब्दालङ्कारों का यह मूल्याङ्कन किया गया है।

नाट्येऽलङ्कृतयः स्फुरन्ति सततं श्रुत्या समं तत्त्वतो,
व्यज्यन्तेऽनुपदं स्वकीयहृदयोद्गारास्ततो दर्शकैः।
आनन्दाम्बुनिधौ निमग्नमनसो नन्दन्ति चान्ये जनाः,
शब्दालङ्कृतिरेव तत्र जयति प्रत्यग्रमोदप्रदा॥

(रुद्रस्य)

——

१. इन अलङ्कारों का विस्तृत विचार हमने अपने एक स्वतन्त्र शोध-निबन्ध में **'शब्दालङ्कारों के अल्प चर्चित एवं अचर्चित भेद'** शीर्षक से किया है। द्रष्टव्य अध्ययनमाला

उपसंहार

कला और साहित्य :—

कला और साहित्य अनुभव तथा अभिव्यक्ति का सङ्गम माना गया है। देश, काल, परिवेश एवं परिस्थिति की परिधि में अनुभव और अभिव्यक्ति के आयाम परिवर्तित होते रहते हैं तथा इसी कारण उनमें सङ्कोच-विस्तार भी होता रहता है। सङ्कोच-विस्तार ही सृष्टि-प्रक्रिया के मुख्य कारण हैं। दृष्टि-भेद के साथ-साथ वस्तु-विशेष की परिज्ञान-पद्धति भी भिन्न-भिन्न परिधान धारण कर अपनी प्रेरणा और प्रभाव को उपस्थित करती है। कला और साहित्य के आनन्दास्वाद का आधार इसी पर स्थिरता प्राप्त कर लेता है, यह सर्वानुभवैकगम्य है।

साहित्य में रचना की अर्थनिरपेक्षता सम्भवतः अकल्पनीय है क्योंकि उसका माध्यम ही शब्दार्थ की अविच्छेद्यता लिये हुए होता है। साथ ही साहित्य में प्रत्यङ्कन और अमूर्त अङ्कन दोनों ही होते हैं, अतः उसका अन्तर्बाह्य-सन्दर्भों के साथ सम्बन्ध भी बना रहता है किन्तु बाह्य-बोध की एकरूपता रहे, यह सम्भव नहीं कहा जा सकता। शिक्षा और संस्कार की अपेक्षा से वस्तु-बोध और भाव-बोध में तन्मयता आती है तथा इसमें **'रुचि'** अपना अधिकार जमा कर बोधात्मक भिन्नता को व्यक्त करती है। मानस की अन्तःक्रिया से उद्भावना को बल मिलता है और उद्भावना में अनुभव ढलता है, अतः उसकी उपेक्षा न करते हुए साहित्य-सर्जन करनेवाले **'कवि'** अपनी रचना-रुचि के अनुसार रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं और पाठक-श्रोता उसके विभिन्न आस्वाद प्रकारों से अनुकूल / प्रतिकूल भाव-बोध प्राप्त करते हैं।

भगवती सरस्वती के स्वरूप की कल्पना अतिप्राचीन है तथा उसके एक हाथ में **'वीणा'** और दूसरे हाथ में **'पुस्तक'** धारण के माध्यम से **'कला'** और **'साहित्य'** दोनों की महत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इसे हम **विज्ञान** और **ज्ञान** की संज्ञा भी दे सकते हैं। वीणा-वादन में कला और विज्ञान की अपेक्षा रहती है, जबकि पुस्तक के अध्ययन में साहित्य और तत्सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता शाश्वत है। यदि इसी विचार-सरणि क और अधिक परिष्कृत रूप में कहने का साहस करें तो यह भी कह सकते हैं कि शब्दालङ्कार इन दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें निहित कला-तत्त्व विज्ञानमूलक है तथा आनन्द आश्चर्यमिश्र रचना-सौष्ठव ज्ञानमूलक है। इसीलिये कवियों ने शब्दालङ्कार को वाग्देवी के प्रिय दोनों उपादानों को प्रस्तुत करनेवाला मानकर

आत्मसात् किया है। और इसी को लक्ष्य में रखकर प्रतिभा के साथ-साथ दिव्य और पौरुष-यत्नों के द्वारा मालाकार[1] की भांति अवधान-समाधि-पूर्वक[2] की गई काव्य-रचनाओं में शब्दालङ्कार का आन्तर तथा बाह्य प्रसार जिस रूप में हमें दृष्टिगोचर हुआ, उसे यहां दिखाने का पूरा प्रयास किया गया है। **कवि, कवितर** और **कवितम** सभी ने—

'नव्यं नव्यं तन्तुमातन्वते दिवि समुद्रे अन्तः
कवयः सदीतयः' । (ऋ० १,१५९,४)

के अनुसार प्रकाशमय आकाश में शोभन प्रतिभायुक्त नये-नये छन्दों के तन्तुओं से काव्यरूप पटों का निर्माण किया है। काव्यरूप पट के वयन के लिये जिन छन्दों का वितान बनाया गया उनमें और लोकोत्तर-वर्णना-नैपुण्य के लिये प्रयुक्त वाक्य-विन्यासों में जिन शब्दालङ्कारों का साहचर्य साधा गया उसका 'समीक्षात्मक सर्वेक्षण' विभिन्न दृष्टि से यहां प्रस्तुत है।

संस्कृत-साहित्य का स्वरूप

हजारों वर्षों से अनवरत बहती हुई संस्कृत-वाङ्मय की सुरसरिता विश्व-वसुन्धरा को ज्ञानसिक्त करती आ रही है। इसकी शत-शत धाराएँ नाना शास्त्रों के रूप में व्याप्त हैं और प्रत्येक शास्त्र की अपनी पृथक्-पृथक् प्रसरण करनेवाली लघुधाराएँ भी अनेक हैं। साहित्य की धारा उन सब धाराओं में अतिवेगवती एवं बहुमुख-प्रवहणशील धारा है।

इस धारा के आयामों का आकलन साहित्यशास्त्र के चिन्तकों ने विविध रूपों में प्रस्तुत किया है। यहां उनका पूर्वाभास प्राप्त कराने के लिये निम्नलिखित तालिका प्रेक्षणीय है—

संस्कृत-साहित्य-सर्जना

पारम्परिक | नवीन

पारम्परिक साहित्य-सर्जना

विद्वत्कुलों की रचनाएं | राज्याश्रित रचनाएं | आश्रयों की सेवा

---

१. **एतद् ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं,**
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य ।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां,
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥१॥५९॥

—काव्यालङ्कार, भामह

२. **सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं, यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यम् ।**
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो, यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः ॥

—काव्यमीमांसा, राजशेखर पृ० ११

तीनों का समन्वित-साहित्य

१. महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, और उनके विभिन्न प्रकार,

२. नाटक और उनके विविध भेदमूलक साहित्य,

३. देवस्तुति, राजस्तुति, प्रशस्ति एवं चरित्र सृष्टि,

४. शास्त्र एवं शास्त्रीय विषयों पर प्रबन्ध तथा निबन्ध,

५. टीका और उपटीकाएँ आदि।

६. शोध-प्रबन्ध तथा लघु-प्रबन्ध।

नवीन साहित्य-सर्जना

आधुनिक शैली में निर्मित

१. उपन्यास, कथानिका, संस्मरण, पत्र, वार्ताएँ,

२. नाटक, प्रवासवर्णन, वस्तु अथवा व्यक्तिवर्णन,

३. विडम्बन-काव्य, स्फुटकाव्य, गीतिकाव्य (नूतन);

४. प्राचीन ग्रन्थों का शोधपूर्ण प्रकाशन;

५. पाण्डुलिपियों की खोज तथा सम्पादन;

६. पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन।

अनूदित-साहित्य

१. संस्कृत भाषा से अन्य भाषाओं में अनुवाद

२. अन्य भाषाओं से संस्कृत भाषा में अनुवाद।

३. मूलग्रन्थों पर जन-भाषाओं में व्याख्याएँ।

इस प्रकार विविध—लक्ष्यमूलक साहित्य की सृष्टि में रीति-सिद्ध, रीति-बद्ध एवं स्वैच्छिक शब्द-विलास को अनायास स्थान मिलता ही रहता है। ध्वन्यात्मक-वैचित्र्य, वर्णात्मक-वैचित्र्य तथा वर्णस्थापनात्मक-वैचित्र्य से आविर्भूत शब्दालङ्कार-परम्परा की यह धारा किसी विशेष देश, काल, व्यक्ति अथवा व्यसन से प्रसूत नहीं है, अपि तु निसर्गतः निःसृत वैदिक-वाङ्मय के मूल-स्रोत 'प्रणव' के साथ ही—श्वास-प्रश्वास-सहचर अजपा-मन्त्र 'हंसः सोहं' स्+ओ, ह+अम्=ओम् ॐ, के रूप में और अ+उ+म्=ॐ के रूप में श्लिष्ट बनकर मातृकामय विस्तार को प्राप्त हुई है। वेदमन्त्रों में इस प्रकार की योजनाएं अनन्त हैं। आदिवर्णचयन, बीजमन्त्रगोपन, सूक्ष्म-सङ्केत, वर्णसाम्य, शब्द-सङ्गति और पद-पादावृत्ति आदि का जो रूप वहां उपलब्ध होता है, उसका प्रासङ्गिक सङ्केत तो हमें मिल जाता है, किन्तु समुचित विश्लेषण तो शेष ही है।[1]

---

१. हिरण्यरूपः स हिरण्य सन्दृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात् परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥ (ऋ० २।३५।१०)

विश्लेषण की वीथियां

गीता के --- **'ये यथा माँ प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्'** कथनानुसार वाङ्मय के विश्लेषण में भी अपनी-अपनी रुचि और अपनी-अपनी दृष्टि का बड़ा महत्त्व रहता है। जिस वाक्यावली का एक साधारण मानव प्रयोग करता है उसी का विद्वान् चिन्तक कोई गम्भीर अर्थ निकाल लेता है, अथवा उस उक्ति में किसी ऐसे असामान्य तत्त्व की खोज कर लेता है जो युग-युगों तक शाश्वत-प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। उपनिषद् में देव, ऋषि, मनुष्य और असुरों के द्वारा उपदेश की प्रार्थना करने पर केवल 'द-द-द' वर्ण का उपदेश हुआ और उसका स्व-स्वाभिरुचि के अनुसार दया, दान और दमन आदि करने का उपदेश समझना विश्लेषण की ही तो महिमा है।

संस्कृत-साहित्य में ऐसे ही विश्लेषणों की परीक्षा करके उन्हें कुछ सीमा में बाँधने का यत्न किया गया, जिसके फल-स्वरूप **'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि'** के स्वरूप निर्धारित हुए। किन्तु इनमें भी वही विश्लेषण-परम्परा आगे बढ़ी और **'रस, अलङ्कार, गुण, रीति, पाक,** आदि ने अपना प्रभाव उपस्थित किया। ये सभी तत्त्व **'एकोऽहं बहु स्याम्'** की भावना से अनेक बने तथा **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** बनते गये, मुखर होते गये और निखरते गये।

भाषा साहित्य का परिधान है और शब्द साहित्य के व्यक्तरूप का निर्माण करते हैं। साहित्य का आरम्भ शब्दों से होता है। शब्दसृष्टि में अन्तर्लीन उद्दीप्त प्रत्यायन अथवा प्रगाढ अनुभूति को व्यक्त करने के लिये साहित्यकार विवेक की कसौटी पर उनका परीक्षण करता है, उनके सामर्थ्य, प्रेषणीयता और प्राणवत्ता का मूल्याङ्कन करता है तथा उनकी सशक्त संयोजना से उनमें आन्तरिक ओज की प्रतिष्ठा करता है।

वैसे रस और आनन्द का अनुभव नाद से होता है। संसार को अपनी ओर आकर्षित करने और ब्रह्माण्ड को विभोर कर देनेवाले सङ्गीत की उत्पत्ति भी नाद से ही होती है। यह नाद अनाहत-सूक्ष्म होता है जो कि नादब्रह्म के रूप में वर्णित है। इसी का द्वितीय रूप आहत नाद है, यह स्थूल होता है। इसके जीवजन्य तथा जडजन्य भेदों से प्रथम शब्द और दूसरा ध्वनि के नाम से ज्ञात है। इन दोनों में अमधुरता और सुमधुरता रहती है जो आनन्द और उदासी को व्यक्त करती हैं।

नाद का मुख्याङ्ग लय है। भाषा में लय को सुव्यक्त करने का साधन छन्द माना गया है। गणबद्ध वर्णसंयोजन एवं नियमित यति से यह आनन्द उत्पन्न होता है, इसीलिये छन्दों की उपयोगिता

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥

(ऋ० ९।९६।५)

ऋतूयन्ति ऋतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः।
इत्यादि अनेक मन्त्र द्रष्टव्य हैं। (वहीं १०।२४।२)

विश्व की सभी भाषाओं में मान्य है। प्रत्येक भाषा की अपनी २ विशिष्टता होती है, जिसके अनुसार छन्दों का उपयोग किया जाता है। वेग, विराम और चरण-विस्तार में यह छन्द-साधना, यति और प्रास के आधार पर उत्तरोत्तर सुखद होती है। यति का अर्थ विराम है किन्तु यह विराम भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द को प्रदान करता है।

किसी पथिक को किसी वृक्ष के नीचे मिलनेवाले विराम, किसी मित्र के घर में मिलनेवाले विराम और अपने सगे-सम्बन्धियों के यहाँ मिलनेवाले विराम से जैसे उत्तरोत्तर अधिक सुखानुभूति होती है वैसे ही छन्द के चरण के बीच में पड़नेवाली यति और यतिवर्ण की सजातीयता से पाठकों को श्रवणसुख का अनुभव होता है।

यति-मैत्री के लिये अनुनासिक व्यञ्जनों को छोड़कर पांचों वर्णों में प्रत्येक वर्ग के व्यञ्जन और अ-य-ह परस्पर यति की दृष्टि से सजातीय माने गये हैं। क-ख-ग-घ ये चारों वर्ण परस्पर मैत्री रखते हैं अतः यदि कोई चरण क से आरम्भ हो तो उस चरण के यतिस्थान पर चारों में से कोई अक्षर आ जाना चाहिये। इससे श्रवण-मधुरता आती है। 'उत्पलमाल छन्द' में इसका प्रयोग होता है, जहां प्रतिचरण के दसवें अक्षर पर यति होती है। वैसे यति के स्थान पर **'प्रास-यति'** का प्रयोग भी किया जा सकता है। किन्तु यह मात्रिक छन्दों में विशेष-रूप से सफल मानी जाती है। यहां प्रास से तात्पर्य प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर है। प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर एक व्यञ्जन होना चाहिये यह इसकी विशिष्टता है। यति और प्रास के नियम से छन्द की भाषा में नादसौन्दर्य आता है, जो कर्णप्रिय होता है। ऐसी ही सुखानुभूति अन्त्यानुप्रास से भी मिलती है। शब्द-विभाजन और पद-विभाजन भाव की तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। विभिन्न प्रान्तीय काव्य-प्रयोगों में प्रचलित छन्दों को संस्कृत में प्रयुक्त कर विद्वान् कवियों ने शब्दालङ्कार के आयाम को और भी विस्तृत बना दिया है।[1]

विस्तार विस्तार ही होता है, वह विस्तृत होते-होते इतना अधिक विस्तृत हो जाता है कि—उसकी परिगणना, वर्गणा, भेद-विभेदात्मक निदर्शना आदि की व्यवस्था के लिये पृथक्-पृथक् विश्लेषण की अपेक्षा बढ़ती ही रहती है। शब्दालङ्कार की भी यही स्थिति रही। पहले यह अन्य उपादानों की छाया में फलता-फूलता रहा और आज यह एक महान् वटवृक्ष के समान सर्वव्यापिनी स्वतन्त्र सत्ता को लिये हुए अपनी ही छाया में अन्य उपादानों को आश्रय दे रहा है पनपा रहा है, और फलने-फूलने का पूरा अवसर प्रदान कर रहा है।

इसी वटवृक्ष की विभिन्न शाखाओं, पत्रों, फलों और जटाओं के विस्तार तथा इसकी छाया में आश्रय पाकर विकसित होनेवाले साहित्य का समीक्षण यहां प्रस्तुत किया गया है।

---

१. छन्द की शब्दालङ्कारता और उसके विभिन्न प्रयोगात्मक कौशल के बारे में हमने 'संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार' नामक शोध-प्रबन्ध में विशेष रूप से लिखा है द्रष्टव्य-पृ० ४२१ से ४३२

विगत अध्यायों का सारांश

प्रस्तुत प्रबन्ध की योजना में काव्यशास्त्र और कवि दोनों की साहित्यिक सम्पदा के आलोक में शब्दालङ्कार के स्वरूप-परिज्ञापन का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से यहाँ पूर्वभाग लाक्षणिक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों से सम्बद्ध है और उत्तर भाग लक्ष्यग्रन्थ और ग्रन्थकारों से, पूर्वभाग में दो खण्ड तथा उत्तरभाग के तीन खण्ड हैं जिनमें स्वरूप, लक्षण, ग्रन्थ, भेद-प्रभेद तथा वर्गीकरण और गद्यबद्ध श्रव्य काव्व एवं गद्य-पद्योभयरूप काव्यों की परिगणना है। उपलब्ध साहित्य और शास्त्रीय प्रक्रियागत वर्गीकरणों के आधार पर लक्ष्यग्रन्थों के जो-जो स्वरूप सामान्यतः परिगणित होते आये हैं उन्हें यहाँ भी, महाकाव्य, खण्डकाव्य, स्तोत्र-काव्य एवं मुक्तककाव्य के रूप में पृथक्-पृथक् परखा गया है तथा इनमें भी जहाँ-जहाँ उपवर्गों की आवश्यकता हुई वहाँ उसी प्रकार के उपवर्ग बनाकर स्पष्टरूप से पर्यालोचित करने का प्रयास किया है। पूरे प्रबन्ध का कलेवर इस पद्धति से संकलित किया गया है कि संस्कृत-साहित्य के शास्त्र और तदनुमोदित रचनाओं का वास्तविक स्वरूप परिलक्षित हो सके। कहना न होगा कि यहाँ उन्हीं कृतियों को स्थान दिया गया है, जिनमें शब्दालङ्कार से सम्बद्ध कोई विषय प्रतिपादित हुआ हो। वह चाहे लक्षणात्मक हो अथवा लक्ष्यात्मक। इसीलिये जिन आचार्यों ने शुद्धरूप से अर्थालङ्कारों का ही विवेचन किया है अथवा उन अलङ्कारों से परिपूर्ण रचनाएँ निर्मित की हैं, उनका कोई उल्लेख हम नहीं कर पाये हैं। वैसे तो शब्द से रहित कोई रचना हो ही नहीं सकती किन्तु उन्हें बलात् इस क्षेत्र में ला बिठाने का प्रयास, मात्र हठ ही होता।

हमने प्रस्तुत प्रबन्ध की योजना को जिस रूप में कार्यान्वित किया है, उसका रेखाचित्र इस प्रकार है—

पूर्वभाग

प्रथम-खण्ड

१- विषय प्रवेश

२- स्वरूप-निरूपण

३- लक्षण-ग्रन्थ

४- भेदोपभेद-निर्धारण

द्वितीय-खण्ड

सर्वेक्ष्य साहित्य का वर्गीकरण

२- पद्यबद्ध

३- गद्यबद्ध

४- उभयरूप (मिश्र)

५- दृश्यकाव्य

उत्तर भाग

प्रथम खण्ड	द्वितीय खण्ड	तृतीय खण्ड
१- प्रागालोच्य पद्य वाङ्मय	प्रागालोच्य गद्य वाङ्मय	मिश्रचम्पूकाव्य
२- महाकाव्य	गद्य-कथा-साहित्य	एकशब्दालङ्कार
एकशब्दालङ्कार-गर्भ	एकशब्दालङ्कार	अनेकशब्दालङ्कार
अनेकशब्दालङ्कार-गर्भ	अनेकशब्दालङ्कार	
३- खण्डकाव्य	आख्यायिका०	दृश्यकाव्य
एकशब्दालङ्कार-गर्भ	एकशब्दालङ्कार	उपसंहार
अनेकशब्दालङ्कार-गर्भ	अनेकशब्दालङ्कार	
४- स्तोत्रकाव्य	प्रकीर्ण कथा-साहित्य	
एकशब्दालङ्कार गर्भ		
अनेकशब्दालङ्कारगर्भ		
५- मुक्तक		
एकशब्दालङ्कारगर्भ		
अनेक शब्दालङ्कारगर्भ		

इस प्रबन्ध में उपर्युक्त रेखाचित्र के अनुसार ही पूर्व और उत्तर भागों के पाँच खण्डों में भिन्न-भिन्न अध्यायों के रूप में जो विवेचन किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है —

□ पूर्वभाग-खण्ड-१

१- विषय-प्रवेश से आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम प्रस्तुत शोध की आवश्यकता और उपादेयता को स्पष्ट किया है तथा **प्रथम अध्याय** में शब्द और उसके स्वरूप से शब्दालङ्कार के स्वरूप तक का परिचय सात शीर्षकों में दिया गया है। इसमें यह स्पष्ट करने का प्रयत्न भी अन्तर्निहित है कि शब्दालङ्कार केवल अलङ्कार हीं नहीं अपितु सौन्दर्यवर्धक भी है और इसीलिये सर्वसाधारण और साहित्यिक समाज इसका आदर करता आया है।

२-द्वितीय अध्याव—शब्दालङ्कार को अलङ्कार मानकर उसके लक्षण बतानेवाले तथा भेदोपभेदों की मीमांसा करनेवाले आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का परिचायक है। यहां कुछ अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का भी उपयोग हुआ है।

३-तृतीय अध्याय— में प्रस्तुत अलङ्कार के भेदोपभेदों की मोमांसा, उनके कारण, व्यवस्था, सामान्यचर्चित और अचर्चित भेदों का प्रासंगिक दिग्दर्शन कराते हुए मुख्य छः शब्दालङ्कारों के सभी उपलब्ध भेदोपभेदों की व्यवस्थित सूची प्रस्तुत है।

☐ **पूर्वभाग-खण्ड-२**

४- चतुर्थ अध्याय—में सर्वेक्ष्य साहित्य का वर्गीकरण अभिप्रेत था। अतः यहां श्रव्य-काव्य, उसके—पद्यबद्ध, बन्धसापेक्ष, बन्धनिरपेक्ष और बन्धाबन्ध भेद का विचार है। इनमें भी महाकाव्य, खण्डकाव्य, विज्ञप्तिकाव्य एवं गीतिकाव्य के रूप में उनकी बन्धसापेक्षता का विमर्श किया गया है। बन्धनिरपेक्ष श्रव्यकाव्यों में स्तोत्र और मुक्तकों का वर्गीकरण है। इसी प्रकार गद्यबद्ध श्रव्यकाव्य और मिश्रकाव्य के भेद-प्रभेदों पर भी यहां चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

५-पंचम अध्याय—में दृश्यकाव्य के रूपक और उपरूपकों के लक्षणों का विचार करते हुए प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय कराया गया है और समीक्षादृष्टि का स्पष्टीकरण देकर अध्याय पूर्ण किया है।

☐ **उत्तरभाग-खण्ड-१**

१- प्रथम अध्याय में— यहां प्रागालोच्यवाङ्मय का परिचय कराते हुए वैदिक, पौराणिक, उत्तरवैदिक, आदिकाव्य रामायण और महाभारत में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों का दिग्दर्शन प्रस्तुत कराया है।

२- द्वितीय अध्याय में—महाकाव्यों में एकशब्दालङ्कार-गर्भ अनेकशब्दालङ्कार-गर्भ महाकाव्य ऐसे दो विभाग करके ऐतिहासिक क्रम से प्रमुख महाकाव्यों का सोदाहरण विवेचन किया है और यह स्पष्ट दिखाने का प्रयास किया है कि प्राचीन और अर्वाचीन कवि शब्दालंकार के प्रति कितनी आस्था रखते थे। यहीं महाकाव्य और खण्डकाव्यों के बीच प्रवाहित मध्यधारा का भी चिन्तन है।

३- तृतीय अध्याय में— खण्डकाव्यों में १- दूतकाव्य, २- अन्य खण्डकाव्य, ३- शतकमय खण्डकाव्य, ४- विज्ञप्तिकाव्य और ५- गीतिकाव्यों में नियोजित शब्दालङ्कारों का समीक्षण है। इनमें भी पूर्ववत् एक-शब्दालंकार-गर्भ और अनेक-शब्दालंकार गर्भ-काव्यों का पृथक् पृथक् विवेचन है।

४- चतुर्थ अध्याय—स्तोत्र काव्यों का विवेचक है। इसमें हमने १- सहस्रक, २- शतक एवं ३- अवान्तर नामाश्रित जैसे तीन विभाग बनाकर प्रत्येक में पूर्ववत् ही विवेचन किया है। इससे अनेक अप्रकाशित स्तोत्रों का परिचय प्रथम बार आया है।

५- पंचम अध्याय — में मुक्तकों के १- स्वतन्त्र मुक्तक और २- सुभाषितों के रूप में संगृहीत (ग्रन्थरूप) मुक्तक ऐसे दो विभाग करके पूर्ववत् दो श्रेणियों में सोदाहरणविवेचन दिया है।

☐ **उत्तर भाग खण्ड-२**

१- प्रथम अध्याय— में प्रागालोच्य गद्यबद्ध का परिचय कराते हुए वैदिक, पौराणिक, शास्त्रीय और शिलालेखीय गद्यों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है तथा इनमें से कतिपय के उद्धरण देकर उनमें शब्दालङ्कारों के दर्शन भी करवाये हैं।

२- **द्वितीय अध्याय** में— गद्यबद्ध काव्य के दो प्रमुख रूप १- कथा और २- आख्यायिका-रूप ग्रन्थों का परिचय देते हुए उनमें शब्दालङ्कार किस रूप में प्रयुक्त हुए हैं उनका दिग्दर्शन कराया है तथा वर्तमान काल की प्रकीर्ण गद्य कथानिकाओं में भी शब्दालङ्कार का प्रयोग हो रहा है इसका विश्लेषण भी किया है।

☐ **उत्तरभाग खण्ड- ३**

१. **प्रथम अध्याय में**—गद्य और पद्य दोनों के सम्मिलित स्वरूपधारी चम्पूकाव्यों का विमर्श है जिसमें शब्दालङ्कारों का प्रयोग बहुत ही रुचि से होता आया है। श्लेषालङ्कार के लिये चम्पूकाव्यों में विस्तृत मञ्च प्रस्तुत है अतः यहाँ इसका विलास स्वतन्त्ररूप से अतिरिक्त पूर्णोपमा, सांगरूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, विरोधाभास और परिसंख्या जैसे अर्थालङ्कारों के साथ भी होता रहा है और इसके कारण उनकी शोभा में जो उज्ज्वलता आई है वह भी चिरस्मरणीय है।

२. **द्वितीय अध्याय में**— दृश्यकाव्य के रूपक और उपरूपकों में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों को ध्यान में रखकर कुछ प्रसिद्ध नाटककारों के नाटकों का विवेचन प्रस्तुत किया है। साथ ही प्रत्येक नाटक से एक-दो उदाहरण देकर भी अपने विचारों की पुष्टि की है।

इस प्रकार इस शोध-प्रबन्ध में लक्षणग्रन्थ, लक्ष्यग्रन्थ और उदाहरण तीनों की त्रिवेणी का सङ्गम शब्दालङ्कार के प्रवाह और उसकी महनीयता को यावच्छक्य सीमा में रहते हुए प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन की उपलब्धियां

प्रस्तुत अध्ययन से चिर उपेक्षित शब्दालङ्कार के **क्षेत्र-विस्तार** और उसकी **प्रायोगिक उपादेयता** पर पूरा प्रकाश डाला गया है। अधिकाँश विद्वानों की यह बद्धमूल धारणा है कि—

१. शब्दालङ्कार एक सामान्य अलङ्कार है,

२. इस अलङ्कार का कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है,

३. कुछ ही आचार्यों ने अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में इसका विवेचन किया है,

४. लक्ष्य-ग्रन्थों में भी इसका विशेष प्रयोग नहीं हुआ है तथा

५. इसके प्रयोगों से कोई विशेष उपलब्धि नहीं होती, यह तो क्रीडामात्रोपयोगी है आदि।

इन सबका मण्डन करने के लिये यहां विस्तार से विवेचन किया है, उदाहरण दिये हैं, विद्वानों की पूर्वापर प्रवृत्ति का परिचय कराया है, क्रमबद्ध ऐतिहासिक पद्धति से ग्रन्थों का परिचय दिया है तथा इन सबसे सम्मिलित शब्दालङ्कारों के अनेक प्रकारों के उन्मीलन का प्रयास किया है।

इस सम्बन्ध में हमारा तो यह दृढ विचार है कि इस अलङ्कार-भेद के आश्रय से मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक विकास होता है, शास्त्रीय ज्ञान की सीमावृद्धि होती है और रचना-प्रक्रिया का परिष्कार होता है।

विश्वेश्वर कवि ने ठीक ही तो कहा है—

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण, काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते, लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनायाः ॥

शब्दालङ्कार से रस का पोषण होता है, चमत्कार की वृद्धि होती है तथा उसकी मधुरिमा से पाठक का आकर्षण बढ़ता है। इन्हीं बातों को स्पष्ट करते हुए यहां अनेक प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं का परिचय दिया गया है। इससे संस्कृत-साहित्य की उपेक्षित एवं लुप्तप्राय ग्रन्थसम्पत्ति की सुरक्षा होगी, पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढ़ेगी तथा भूली-बिसरी-कृतियों और कृतिकारों का सम्मान होगा। ऐसी पूर्ण आशा है।

अध्ययन की दिशा में अन्य सम्भावनाएं

मनुष्य कभी पूर्ण नहीं होता इसीलिये उसकी कृति को भी पूर्ण मानना एक बड़ी भूल होगी। **'गतानुगतिको लोकः'** इस किंवदन्ती के अनुसार पूर्ववर्ती स्थापनाओं के आधार पर पुनरीक्षण के प्रयास चलते ही रहते हैं। हमने भी अपनी शक्ति और ज्ञान के आधार पर इस दिशा में प्रयास किया है। यह पूर्ववर्ती चिन्तन को अपनी दृष्टि से आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति है। संस्कृत भाषा **'मरुद्वृद्धा भाषा'** है। इसका समस्त विश्व में प्रचार-प्रसार है और यह आज से नहीं, हजारों वर्षों से विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान को प्रकट करने का माध्यम रही है। एक समय था, जब कि—**'वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते'** इस उक्ति के अनुसार संस्कृतवाणी ही पुरुष को विभूषित करने का एकमात्र साधन थी। ऐसी स्थिति में इसका साहित्यभाण्डागार अपार है, अपूर्व है—इसलिये उसका परिशीलन होता ही रहा है तथा करते ही रहना चाहिये।

'मन्थन से ही अमृत निकलता है' इस सूक्ति के अनुसार प्रत्येक चिन्तक का कर्तव्य है कि वह साहित्य का परिशीलन करे। शब्दालङ्कार का साहित्य भी अपरिमेय है। देशविदेश के पुस्तकागारों में सुरक्षित ग्रन्थ, देशवासियों के निजी संग्रहालयों में सुरक्षित पाण्डुलिपियां तथा नित्य नये साहित्यनिर्माण का स्वाध्याय करते हुए उनकी अच्छाइयों को समाज के समक्ष लाना गवेषक का पवित्र कर्म है।

शब्दालङ्कार से समन्वित ग्रन्थों की भी न्यूनता नहीं है। प्रत्येक जाति, धर्म, सम्प्रदाय और समूह के व्यक्तित्व को निखारने के लिये कवियों ने आर्षपुरुषार्थ किये हैं। **'विद्वांसो वसुधातले परगुणश्लाघासु वाचंयमाः'** इस उक्ति के कारण अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकार आज भी अपरिचित ही हैं, बहुत-से ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं और हो रहे हैं। ऐसे शोधकार्यों से उनकी रक्षा होगी। इस लिये सामूहिक तथा व्यक्तिगत प्रयास होने चाहिए।

शब्दालङ्कार-सम्बन्धी साहित्य मन्दिरों और मठों के आचार्यों के पुस्तकागार में तथा भूतपूर्व राजा-महाराजाओं के संग्रहालयों में अब भी प्राप्त हो सकता है, उसकी प्राप्ति करके अनुसन्धान होना चाहिये ।

सनातन, जैन और बौद्ध-सम्प्रदाय तथा इन्हीं के अन्तर्गत छोटे-बड़े उपसम्प्रदायों का साहित्य भी इस दृष्टि से क्रमिकरूपेण अनुसन्धेय है ।

स्तोत्र-साहित्य इस अलङ्कार का अक्षय निधान है । उनका इतिहास आज भी अनिर्मित है इस ओर भी प्रयास किया जा सकता है ।

संस्कृत-साहित्य का परिचयात्मक महाकोश अभी तक निर्मित नहीं हुआ है तथा वर्तमान काल के कवियों की कृतियों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता, इनका भी राष्ट्रीय स्तर पर संग्रह होना अपेक्षित है । इससे बहुत विशाल साहित्य सामने आयेगा । यदि सम्भव हो तो शब्दालङ्कार के एक-एक भेद पर शोध-प्रबन्ध लिखने का भी उपक्रम होना चाहिये । क्योंकि साहित्य कभी न क्षीण होने वाला ज्योतिर्दीप है—

चन्द्रार्कावनिशं प्रकाश्य भुवनं यातोऽस्तशैलं पुनः,
शान्तिं याति कृपीटयोनिरपि किं नो वारिभारार्दितः ।
वात्या-वारि-भवान्तरायतिमिरं नालं परं यत्कृते,
साहित्यं सुमहस्तदेव नितरां विद्योतितं मन्महे ॥

इस ज्योतिर्मय दीप का ज्ञान-प्रकाश साहित्य-पथ के पथिकों का मार्ग निरन्तर आलोकित करता रहे तथा संस्कृत भाषा के अमर साहित्यकारों का यश युगयुगों तक व्याप्त रहे, इस मङ्गल-कामना के साथ यह प्रबन्ध भगवती विरूपाक्ष-वक्षोविहारिणी दाक्षायणी के पावन चरणों में अर्पित करता हूं और कामना करता हूं कि—

पूर्वं लक्षण-योजनास्तदनु तल्लक्ष्योत्थ - साहित्यतः,
शब्दालङ्कृतितत्त्वसञ्चयमयांशानां शुभा उद्धृतीः ।
व्याप्याव्याप्यविलक्षणक्षणचणा या याः कृतीर्व्यामृशं,
ताभिः साधु समूर्जितो विजयतां शोध-प्रबन्धो मम ॥

॥ इत्योम् ॥

—·—

श्लोकानुक्रमणिका

□

□

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

□

आ

भ

य

ल

व

ष

स

ह